भारतीय काव्य-शास्त्र के सिद्धान्त

(आलोचनात्मक अध्ययन)

लेखक

डॉ० राजकिशोर सिंह,

एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), पी-एच० डी०

प्रकाशन केन्द्र

रेलवे क्रासिंग, सीतापुर रोड, लखनऊ-226007

(Phone : 31858)

प्रातः स्मरणीय

परम पूज्य गुरुवर

पं० जगन्नाथ जी तिवारी

के

कर-कमलों

में

सादर समर्पित

विषय सूची

प्रश्न संख्या		पृष्ठ-संख्या
अध्याय १	कला एवं काव्य	१-८६
१	काव्यशास्त्र की आवश्यकता का संक्षेप में उल्लेख करते हुए यह बतलाइये कि आरम्भ में इस शास्त्र को किन नामों से अभिहित किया जाता था ? और सर्वाधिक लोकप्रिय नाम कौन-सा है ?	१
	कवि एवं काव्य का महत्व स्पष्ट कीजिए।	३
	'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः' की व्याख्या कीजिए।	३
	कला शब्द की व्याख्या करते हुए कलाओं का विभाजन तथा परिचय दीजिए।	५
	कलाओं में सर्वश्रेष्ठ कला कौन-सी है और क्यों ?	६
	कला का उद्देश्य क्या है—'कला कला के लिए' या 'कला जीवन के लिए' ? कला-विषयक इन दोनों मतों की समीक्षा कीजिए।	१०
	साहित्य और काव्य एक है अथवा भिन्न ? स्पष्ट कीजिए।	१४
	प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वानों के काव्य-लक्षणों की समीक्षा करते हुए अपना अभिमत व्यक्त कीजिए।	१८
	'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' रसात्मक वाक्य ही काव्य है आचार्य विश्वनाथ की काव्य-विषयक इस परिभाषा की सम्यक् परीक्षा कीजिए।	२७
	पंडितराज जगन्नाथ के काव्यलक्षण—"रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" की परीक्षा करते हुए उसके गुण-दोषों का अनुसंधान कीजिए।	३३
	प्राच्य एवं पाश्चात्य मतानुसार काव्य के प्रयोजनों पर विचार कीजिए।	३७

प्रश्न संख्या		पृष्ठ-संख्या
१२	काव्य-हेतुओं पर भारतीय विद्वानों के मतों का उल्लेख करते हुए एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए ।	४३
१३	काव्य-आत्मा-विषयक विभिन्न सम्प्रदायों की समीक्षा करते हुए, यह बतलाइये कि आप काव्य की आत्मा का पद किस तत्व को प्रदान करते हैं और क्यों ?	४८
१४	काव्य-दोषों के स्वरूप का विवेचन करते हुए काव्य-दोषों के भेदों का सामान्य परिचय दीजिए ।	५७
१५	विभिन्न दोषों का लक्षण उदाहरण देते हुए दोष परिहार का विवेचन कीजिए ।	६०
१६	कविता के उपकरण (तत्व) क्या हैं, इनका स्पष्ट विवेचन कीजिए ।	६४
१७	काव्य में कल्पना तत्व को स्पष्ट करते हुए उसका स्वरूप, कार्य और उसके भेदों का विवेचन कीजिए ।	६७
१८	काव्य में प्रकृति-चित्रण विषय पर एक लघु लेख लिखिये ।	७०
१९	यथार्थवाद एवं आदर्शवाद का परिचय दीजिए ।	७५
२०	'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' विषय पर एक लघु लेख लिखिए ।	८१
अध्याय २	**शब्दशक्ति**	८६-१०८
२१	शब्दशक्तियों का सामान्य परिचय दीजिए ।	८६
२२	अभिधा नामक काव्य की शब्दशक्ति का सोदाहरण विवेचन कीजिए ।	८७
२३	लक्षणा नामक शब्दशक्ति की परिभाषा लिखते हुए उसके भेदों का उदाहरण सहित विवेचन कीजिए ।	८९
२४	व्यंजना शब्दशक्ति का सामान्य परिचय देते हुए उसके भेदों का उदाहरण सहित विस्तार से विवेचन कीजिए ।	९७
२५	व्यंजना के भेदों का निरूपण कीजिए ।	९९
२६	आर्थी व्यंजना का निरूपण कीजिए ।	१०३
२७	मीमांसकों द्वारा प्रतिपादित 'तात्पर्या' नामक शब्दशक्ति (वृत्ति) का विवेचन कीजिए ।	१०६
अध्याय ३	**अलंकार**	१०८-१३९
२८	काव्य में अलंकारों का स्थान निर्धारित कीजिए, और यह भी स्पष्ट कीजिए कि क्या वे काव्य के अनिवार्य तत्व हैं ?	१०८
२९	अलंकारों का एक तर्कसम्मत वर्गीकरण प्रस्तुत कीजिए ।	११

प्रश्न संख्या		पृष्ठ-संख्या
३०	अलंकारों के क्रमिक विकास का परिचय दीजिए	११६
३१	प्रमुख अलंकारों का लक्षण उदाहरण दीजिए।	११९
३२	अलंकार सम्प्रदाय का समान्य परिचय दीजिए।	१३७
अध्याय ४	**रीति**	**१४०-१५६**
३३	(अ) रीति की व्युत्पत्ति करते हुए उसके अर्थ को स्पष्ट कीजिए। (ब) रीति सम्प्रदाय का सामान्य परिचय दीजिए। (स) काव्य की रीतियों का सोदाहरण परिचय दीजिए।	१४०
३४	रीति का वृत्ति, प्रवृत्ति, शैली एवं वक्रोक्ति से अन्तर स्पष्ट कीजिए।	१४५
३५	काव्य गुणों का परिचय देते हुये यह बताइए कि वामन निरूपित दस गुणों का भामह द्वारा निरूपित तीन गुणों में अन्तर्भाव कहाँ तक उचित है और क्यों ?	१४६
३६	माधुर्यादि तीन गुणों का सोदाहरण विवेचन कीजिए।	१५०
३७	गुण एवं अलङ्कारों के पारस्परिक अन्तर को सप्रमाण स्पष्ट कीजिये।	१५३
३८	शैली लेखक की वैयक्तिकता है ? विवेचन कीजिए।	१५५
अध्याय ५	**वक्रोक्ति**	**१५८-१७१**
३९	वक्रोक्ति सिद्धान्त का विकासात्मक परिचय देते हुए उसके शब्दार्थ तथा भेदों का विवेचन कीजिए। अथवा "वाणी के विलक्षण व्यापार का नाम वक्रोक्ति है।" इस कथन का विवेचन कीजिए।	१५८
४०	वक्रोक्ति के कुन्तक निर्दिष्ट भेदों का वर्णन कीजिए।	१६०
४१	काव्य के विभिन्न सिद्धान्तों से वक्रोक्ति का अन्तर स्पष्ट करते हुए वक्रोक्ति एवं स्वभावोक्ति का अन्तर भी स्पष्ट कीजिए।	१६२
४२	क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए वक्रोक्ति सिद्धान्त से उसका साम्य-वैषम्य भी बतलाइये।	१६७

प्रश्न संख्या		पृष्ठ-संख्या
अध्याय ६	**: रस**	१७१-२३१
४३	रस शब्द की व्याख्या करते हुए उसके स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।	१७१
४४	रसाङ्गों का विवेचन कीजिए।	
	अथवा	
	भाव, विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव, संचारीभाव और स्थायी भावों का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।	१७६
४५	रसनिष्पत्ति विषयक विभिन्न आचार्यों के मतों की समीक्षा करते हुए उनका मूल्यांकन दीजिए।	१८४
४६	रसनिष्पत्ति के प्रसंग में किस आचार्य का मत ग्राह्य है? कारण सहित उत्तर दीजिए।	१८४
४७	साधारणीकरण का विस्तार से विवेचन कीजिए।	१८९
४८	साधारणीकरण का तात्पर्य समझाइये और उसकी प्राचीन और नवीन व्याख्याओं में अन्तर स्पष्ट कीजिए।	१८९
४९	रस की मैत्री और विरोध को स्पष्ट कीजिए।	१९६
५०	प्राचीन आचार्यों के अनुसार रस की अलौकिकता को स्पष्ट कीजिए।	१९९
	अथवा	
	क्या रस अलौकिक है? स्पष्ट उत्तर दीजिए।	१९९
५१	रस एवं रससिद्धान्त का महत्व स्पष्ट कीजिए।	२०२
५२	'करुण रस का आस्वाद' विषय पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।	२०६
५३	'शान्तोऽपि नवमो रस:' विषयक विभिन्न आचार्यों की मान्यताओं को स्पष्ट करते हुए अपना मत स्पष्ट कीजिए।	२०९
५४	वात्सल्य या वत्सल को रस कहना कहाँ तक उचित है? स्पष्ट उत्तर दीजिए।	२१४
५५	शृङ्गार को रसराज कहना कहाँ तक उचित है? इस विषय में आपका क्या मत है? स्पष्ट कीजिए।	२१८
५६	क्या भक्ति को रस माना जा सकता है? तर्कपूर्ण विवेचन कीजिए।	२२१
५७	रस-दोषों का विस्तार से विवेचन कीजिए।	२२६

अध्याय ७ ध्वनि २३१-२४९

५८ ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ को स्पष्ट करते हुए उसकी परिभाषा दीजिये तथा यह भी बतलाइये कि ध्वनि सिद्धान्त को प्रेरणा कहाँ से मिली ? २३१

५९ ध्वनि का काव्य के अन्य तत्वों से साम्य तथा वैषम्य स्पष्ट कीजिए। २३३

६० ध्वनि के भेदों का सोदाहरण विवेचन कीजिए। २३४

६१ असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि के स्वरूप का विवेचन करते हुए उसके विभिन्न भेदों का सोदाहरण विवेचन कीजिए। २३९

६२ गुणीभूतव्यंग्य ध्वनि का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उसके विभिन्न भेदों का सोदाहरण विवेचन कीजिये। २४५

अध्याय ८ औचित्य २४९-२५६

६३ क्षेमेन्द्र के औचित्य तत्व का विवेचन कीजिए तथा यह भी स्पष्ट कीजिए कि क्या औचित्य तत्व काव्य की आत्मा का पद ले सकता है ? २४९

६४ काव्य के विभिन्न तत्वों के साथ औचित्य तत्व के साम्य-वैषम्य का निरूपण कीज़िए। २५२

अध्याय ९ छन्द २५६-२८४

६५ छन्दों के विकास का निरूपण करते हुए काव्य में छन्दों की महत्ता व उपयोगिता पर प्रकाश डालिए। २५६

६६ छन्द की परिभाषा लिखकर यति, गति, लघु-गुरु वर्ण का विचार कीजिए २६२

६७ वृत्त के भेदों का उल्लेख कर वर्णिक छन्दों के गणों का विश्लेषण कीजिए। २६२

६८ निम्नलिखित छन्दों के लक्षण तथा उदाहरण लिखिए—अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा, द्रुतविलम्बित, वशंस्थ, वसन्ततिलका, मालिनी, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा सवैया और कवित्त के प्रमुख भेद। २६६

मात्रिक गणों के स्वरूप का विवेचन करते हुए—मानव, हाकलि, चौपाई, पीयूषवर्ष, रोला, ताटंक, लावनी, हरिगीतिका, वीर, बरवै, दोहा, सोरठा, गीति, आर्या, कुण्डलिया और छप्पय छन्दों का सोदाहरण विवेचन कीजिए।

मुक्तछन्द के उद्भव तथा विकास का विवेचन करते हुए मुक्तछन्द को सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।

अध्याय १० : आलो...

३१ आलोचना शब्द की व्युत्पत्ति लिखकर उसकी परिभाषा लिखिए। २८

३२ आलोचक के कर्तव्य का निर्धारण कर उसके गुणों का संक्षेप में विवेचन कीजिए। २८

३३ आलोचना के विभिन्न प्रकारों की विस्तार से विवेचना कीजिए। २८

३४ हिन्दी आलोचना के क्रमिक विकास पर प्रकाश डालिए। २९

३५ 'समीक्षा के नये प्रतिमान' विषय पर एक लघु लेख लिखिए। ३०

३६ हिन्दी आलोचना के विकास में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (३१३), आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी (३१९), आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी (३२३), आचार्य नगेन्द्र (३२६) एवं डा० रामविलास शर्मा (३२९) के योगदान का मूल्यांकन कीजिए। ३०

अध्याय ११ : काव्य के रूप और विधा

३७ महाकाव्य के स्वरूप का विवेचन कीजिए और उसके तत्वों का उल्लेख कीजिए।

३८ खण्डकाव्य के स्वरूप का विवेचन कीजिए। ३३८

३९ मुक्तक काव्य के लक्षण व स्वरूप का विवेचन करते हुए मुक्तक काव्य की सामान्य विशेषताएँ निर्धारित कीजिए। ३३९

४० गीतिकाव्य की परिभाषाएँ लिखकर उसके स्वरूप और उसकी विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए। ३४०

८१ गीतिकाव्य के विभिन्न भेदों का सामान्य वर्णन करते हुए लोकगीत तथा साहित्यिक गीत का अन्तर स्पष्ट कीजिए। साथ ही मुक्तक काव्य और गीति के अन्तर का भी उल्लेख कीजिए। ३४४

८२ (१) निबन्ध शब्द की व्याख्या करते हुए निबन्ध की एक परिभाषा दीजिए।
(२) निबन्ध के तत्वों का विवेचन कर विभिन्न शैलियों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए। साथ ही निबन्ध के विभिन्न प्रकारों का परिचय दीजिए।
(३) निबन्ध, प्रबन्ध तथा लेख का अन्तर स्पष्ट कीजिए। ३४६

८३ कहानी की परिभाषा एवं स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहानी के तत्वों का विश्लेषण कीजिए। ३५३

८४ उपन्यास शब्द का प्रयोग और अर्थ स्पष्ट करते हुए उसकी परिभाषा लिखिए। ३५९

८५ उपन्यास के प्रमुख तत्वों का विवेचन कीजिए। ३६१

८६ "उपन्यास आधुनिक युग का महाकाव्य है।" उपन्यास और महाकाव्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए उक्त कथन के तात्पर्य को स्पष्ट कीजिए। ३६६

८७ (१) उपन्यास एवं कहानी के अन्तर को स्पष्ट कीजिए। ३६८
(२) "कहानी उपन्यास का लघु रूप नहीं है अपितु वह एक स्वतन्त्र साहित्यिक विधा है।" इस कथन को ध्यान में रखते हुए, कहानी और उपन्यास के साम्य और वैषम्य पर प्रकाश डालिए।
(३) "आज की कहानी उपन्यास से एक सर्वथा भिन्न एवं स्वतन्त्र साहित्यिक रूप है।" इस कथन को दृष्टि पथ में रखते हुए कहानी और उपन्यास के भेद को समझाइये।

८८ नाटक के तत्वों का विश्लेषण करते हुए संकलन तय, द्वन्द्व-योजना एवं रंगमंच की उपयोगिता तथा आवश्यकता पर विचार कीजिए। ३७२

८९ (१) नाट्यकला और उपन्यास कला का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए। ३८३
(२) नाटक तथा उपन्यास में कुछ साम्य होने हुए भी बहुत बड़ा अन्तर है। इस साम्य तथा वैषम्य का स्पष्टीकरण कीजिए।

९० एकाङ्की के स्वरूप, परिभाषा एवं तत्वों का विवेचन कीजिए। ३८५

६१	आधुनिक गद्य की निम्नलिखित विधाओं पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए— १. संस्मरण, २. रेखाचित्र, ३. रेडियो नाटक, ४. रिपोर्ताज, ५. इण्टरव्यू, ६. गद्यगीत, ७. लघुकथा, ८. डायरी विधा, ९. पत्र-साहित्य, १०. यात्रा साहित्य, ११. जीवनी साहित्य, १२. आत्मकथा साहित्य।	३८९
६२	हिन्दी के आँचलिक उपन्यास विषय पर एक लघु लेख लिखिए।	४०४
६३	व्यक्तिपरक अथवा 'ललित निबन्ध' के स्वरूप पर विचार करते हुए उसके विकास का इतिहास प्रस्तुत कीजिए।	४०८
६४	विम्ब-विधान पर एक लघु लेख लिखिए।	४१८

प्राक्कथन

"वाङ्मय के शास्त्र और काव्य दो महत्त्वपूर्ण अङ्ग हैं, काव्य-ज्ञान के लिए शास्त्र का ज्ञान परम आवश्यक है। जिस प्रकार बिना दीपक के पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार शास्त्र-ज्ञान के बिना काव्य-ज्ञान असम्भव है। अतः काव्यों के अध्ययन से पहले शास्त्र का अभ्यास परम आवश्यक है—इह हि वाङ्मयमुभयथा शास्त्रं काव्यं च।. शास्त्रपूर्वकत्वात् काव्यानां पूर्वं शास्त्रेष्वभिनिविशेत। नह्यप्रवर्त्तितप्रदीपास्ते तत्त्वार्थसार्थमध्यक्षयन्ति।" राजशेखर के उपर्युक्त कथन के अनुसार काव्यशास्त्र का अध्ययन साहित्य-संसार में प्रवेशार्थी के लिए नितान्त अपरिहार्य है।

भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्त विश्व साहित्य के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों से विशिष्ट हैं, किन्तु विशिष्ट होने के साथ-साथ दुर्बोध और जटिल भी हैं। भारतीय काव्यशास्त्र आज भारतीय विश्वविद्यालयों की स्नातकोत्तर कक्षाओं में अनिवार्यतः पढ़ाया जा रहा है। 'भारतीय काव्य-शास्त्र के सिद्धान्त' नामक यह कृति विश्वविद्यालयी छात्रों के दृष्टिकोण से लिखी गयी है। इस पुस्तक में ग्यारह अध्याय हैं जिनमें—**कला एवं काव्य, शब्दशक्ति अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, रस, ध्वनि, औचित्य, छंद, आलोचना, काव्य के रूप एवं विधाओं** का सरल तथा प्रामाणिक विवेचन किया गया है। इस पुस्तक को लिखते समय छात्रों की कठिनाइयों को दूर करने का विशेष ध्यान रखा गया है। इसीलिए विभिन्न विश्वविद्यालयों में आये काव्यशास्त्र विषयक प्रश्नों के इसमें समाधान दिये गये हैं। इस पुस्तक को लिखते समय लेखक ने सरलता और स्पष्टता के साथ विषयवस्तु की पूर्णता एवं प्रामाणिकता को अपना लक्ष्य माना है। इस कार्य में लेखक ने भारतीय काव्यशास्त्रियों के मन्तव्यों का यथास्थान प्रयोग कर विषय को अधिक प्रामाणिक एवं उपयोगी बनाया है। लेखक का अपना विश्वास यह है कि आलोचनात्मक अध्ययन होने पर भी यह पुस्तक महत्वपूर्ण सिद्ध होगी।

इस पुस्तक में काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक अध्ययन तो है ही, किन्तु इसमें काव्यशास्त्रीय निबन्धों के लिए भी यथेष्ठ सामग्री विद्यमान है। छात्र अपनी प्रतिभा से प्रस्तुत सामग्री का सदुपयोग करेंगे, ऐसा विश्वास है।

भारतीय काव्यशास्त्र के उन विद्वान् अनुसंधायकों का मैं हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने अपनी नवनवोन्मेषिनी प्रतिभा से काव्यशास्त्र को प्रोद्भासित किया है। विशेषतः स्वर्गीय पूज्य गुरुवर आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि का चिरऋणी

हूँ, जिनके ज्ञानदान एवं दिशानिर्देशन से अगाध ज्ञानराशि में से कुछ कण संचित कर सका हूँ।

लेखक उन सभी काव्यशास्त्रीय विद्वान् लेखकों का भी आभारी है जिनके ग्रन्थों से पुस्तक प्रणयन में सहयोग मिला है। साथ ही **'प्रकाशन केन्द्र लखनऊ'** के संचालक **पं० पद्मधर मालवीय** का भी आभारी हूँ, जिनके कारण पुस्तक सुन्दर रूप में प्रकाशित हो रही है। पुस्तक की सामग्री संकलन तथा पाण्डुलिपि तैयार करने में मेरी पत्नी डॉ० (श्रीमती) उषा यादव एम० ए०, पी० एच-डी० से विशेष सहयोग मिला है, किन्तु उन्हें 'रस्मअदायगी' के रूप में धन्यवाद देने में संकोच का अनुभव हो रहा है।

छात्रों की सफलता की कामना के साथ पुस्तक के विषय में सत्परामर्श सादर आमन्त्रित हैं।

भवदीय

(डा०) राजकिशोर सिंह

नवीन संस्करण के विषय में

'भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्त' नामक पुस्तक का नवीनतम संस्करण अपने पाठकों को सप्रेम समर्पित है। इस संस्करण में पुस्तक में यथास्थान आवश्यक संशोधन एवं परिवर्धन किया गया है। फलस्वरूप पुस्तक का कलेवर बढ़ गया है। वर्तमान रूप में काव्यशास्त्र के पाठक छात्र की समस्त समस्याओं का समाधान पुस्तक में उपलब्ध है। आशा है छात्र पुस्तक से लाभान्वित होंगे।

शुभ कामनाओं सहित

लेखक

अध्याय १

कला एवं काव्य

प्रश्न १—काव्यशास्त्र की आवश्यकता का संक्षेप में उल्लेख करते हुए यह बतलाइये कि आरम्भ में इस शास्त्र को किन नामों से अभिहित किया जाता था ? और सर्वाधिक लोकप्रिय नाम कौन-सा है ?

भारतीय काव्यशास्त्र का इतिहास पुरातन है। साहित्य की आलोचना का प्रारम्भ साहित्य के उदय के साथ ही हो जाता है क्योंकि काव्य की अपनी कुछ मान्यताएँ होती हैं, कुछ आदर्श होते हैं और संस्कृति के अनुरूप काव्यालोचन के मानदण्डों का उदय होता है। यहीं से काव्यशास्त्र के उदय की कहानी प्रारम्भ होती है। काव्यशास्त्र काव्य की श्रेष्ठता, काव्य के गुण-दोष और अन्यान्य तत्वों का समीक्षण करता है।

काव्य आज के बौद्धिक युग की नितान्त अपरिहार्य आवश्यकता है। काव्य आज के जीवन का अभिन्न अंग है वह हमें विभिन्न जीवन-मूल्यों का संकेत करता है। जीवन के लिए प्रेरणा रहती है, ऐसा प्रेरक काव्य लोक-मङ्गल-विधायक है या नहीं; इसके परीक्षण के लिए काव्यशास्त्र का उदय होता है।

काव्यशास्त्र की आवश्यकता के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विचारक काव्य को मानसिक उद्‌गारों का अभिव्यक्तीकरण मानते हैं, अतः काव्य की उपादेयता और अनुपादेयता का प्रश्न ही नहीं उठता है। दूसरे विद्वानों का विचार है कि निरन्तर परिवर्तनशील जीवन-मूल्यों और मान्यताओं के साथ काव्यालोचन के प्राचीन प्रतिमान न्याय नहीं कर सकते हैं, अतः काव्यशास्त्र की उपयोगिता प्रश्नचिह्नांकित है।

"एक सर्वमान्य एवं सर्वस्थायी मानदण्ड की स्थापना का प्रश्न अव्यावहारिक एवं भ्रमपूर्ण है। कारण, प्रत्येक युग के साहित्य को उस युग का अध्येता और सर्जक अपने ढंग से लिखता-पढ़ता है और उसका आकलन करता है।" किन्तु यह विचार तर्कसम्मत नहीं है। क्योंकि काव्य के बाह्य-तत्वों में तो परिवर्तन होता है किन्तु मानव-मन की मूल प्रवृत्तियों में विशेष अन्तर नहीं आता है। सुख-दुःख, हर्ष-शोक और क्रोधादि भावानुभूतियाँ एवं संवेदनाएँ शाश्वत हैं। अतः उनके स्वरूप एवं परिवेश में अन्तर हो सकता है, परिस्थितियाँ, स्थान एवं पात्र बदल सकते हैं किन्तु मूलभूत तत्व नहीं।

अतः काव्यशास्त्र की नितान्त आवश्यकता है। काव्य-संसार में अराजकता उत्पन्न न हो, वहाँ क्रमबद्धता बनी रही है। इन सभी समस्याओं का समाधान काव्यशास्त्र प्रस्तुत करता है।

काव्यशास्त्र का नामकरण—संस्कृत वाङ्मय में साहित्य एवं काव्य-समानार्थक हैं, अतः संस्कृत के लक्षणग्रन्थों में अलंकारशास्त्र, साहित्यशास्त्र, रीतिशास्त्र, काव्य-शास्त्र आदि शब्द प्रायः एक ही विषय के लिए प्रयुक्त हुए हैं। किन्तु रीतिविषयक लक्षण-ग्रन्थों के विकास के बाद इस दृष्टिकोण में अन्तर आ जाता है। परिणामस्वरूप रीति एवं अलंकार का अन्तर भी स्पष्ट हो जाता है और स्पष्ट हो जाता है अलंकार, काव्य एवं साहित्य आदि का स्वतन्त्र अस्तित्व तथा भिन्न व्यक्तित्व भी।

भारतीय 'काव्य-शास्त्र' जिसे 'साहित्य विद्या' या 'काव्य-क्रिया'[1] के नाम से भी अभिहित किया जाता रहा है, प्राचीन आचार्यों ने उसे सदा 'अलंकारशास्त्र' या 'काव्या-लंकार' का नाम प्रदान किया है। किन्तु काव्यशास्त्र का विकसनशील स्वरूप 'अलंकार' शब्द में पूर्णतः समाहित न हो सकने के कारण '**साहित्यशास्त्र**' कहलाता है। लेकिन 'साहित्यशास्त्र' नाम भी उपयुक्त सिद्ध न हो सका, क्योंकि साहित्य एक शास्त्र-विशेष न होकर 'ज्ञानराशि के संचित कोष' का नाम है अथवा अनेक शास्त्रों एवं अनेक विचारों का समन्वित रूप है। काव्यशास्त्र के उदयकाल में काव्य के सौन्दर्य की परीक्षा करने वाले शास्त्र का नाम '**काव्यालंकार**' भी रहा है। इसीलिए प्रारम्भिक समग्र काव्य-शास्त्र-विषयक ग्रन्थों के नाम काव्यालङ्कार रखे जाते थे; जैसे भामह का कारिकात्मक ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार', उद्भट का 'काव्यालङ्कार सारसंग्रह', रुद्रट का 'काव्यालङ्कार' वामन का 'काव्यालङ्कारसूत्र'। किन्तु काव्य-सौन्दर्य की परीक्षा करनेवाले इन ग्रन्थों में केवल अलङ्कारों का ही विवेचन नहीं था, अपितु गुण-दोष, रीति, रस, काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन-हेतु आदि भी इन ग्रन्थों के विवेच्य विषय थे। इसलिए काव्य-विषयक इन आलोचनात्मक ग्रन्थों को 'काव्यशास्त्र' कहा गया, जो कि अधिक समीचीन नाम था।

"संस्कृत साहित्य के काव्य या कविता के अंग की विविध-व्यवस्थाओं का विवेचन, समीक्षण करने वाला शास्त्र ही काव्यशास्त्र है। उसमें हमें काव्य का स्वरूप, लक्षण, स्वभाव, प्रवृत्ति और उसकी विभिन्न समस्याओं एवं विचार-विभेदों का वैज्ञानिक निरूपण देखने को मिलता है। वस्तुतः काव्य की विविध पद्धतियों की समालोचना, समीक्षा और उसके मूल स्वरूप का प्रतिपादन करना काव्यशास्त्र का प्रधान कार्य है।" पाश्चात्य आलोचना-साहित्य में 'काव्यशास्त्र' और 'अलङ्कारशास्त्र' को भिन्न-भिन्न स्वीकार किया गया है।

"वे भावाभिव्यंजन की पद्धति पर विचार-विमर्श करनेवाले शास्त्र को शैली-शास्त्र (Stylistics) के नाम से अभिहित करते हैं तथा साहित्य के गद्य-पद्य भेद के आधार पर गद्यशैली के प्रतिपादक शास्त्र को 'अलङ्कार शास्त्र' (Rhetoric) तथा पद्यशैली का विचार करने वाले शास्त्र को 'काव्यशास्त्र' (Poetics) नाम से पुकारते हैं। किन्तु भारत में अब इसके लिए काव्यशास्त्र, समीक्षाशास्त्र, साहित्यालोचन तथा

१. काव्यालङ्कार १.१०

आलोचनाशास्त्र आदि नाम प्रचलित हैं, किन्तु सर्वाधिक प्रचलित नाम **'काव्यशास्त्र'**

प्रश्न २—कवि एवं काव्य का महत्व स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न ३—'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः' की व्याख्या कीजिए।

कवि के कर्म को काव्य कहते हैं। मेदिनी कोष में काव्य की परिभाषा इस प्रकार लिखी हुई है—**'कवेरिदं कार्यभावो वा'** (ष्यञ्)। अर्थात् कवि के द्वारा जो कार्य सम्पन्न हो, वह काव्य है। आचार्य अभिनव गुप्त ने 'ध्वन्यालोकलोचन' में लिखा है कि **'कवनीयं काव्यं'**। इन दोनों ही व्युत्पत्तियों में कवि के कर्म को काव्य कहा गया है। अतः कवि किसे कहते हैं, उसका स्वरूप और महत्व क्या है, यह जानना भी अपेक्षित है। " **'कु' धातु में अच् प्रत्यय 'इ'** जोड़कर **'कवि'** शब्द की व्युत्पत्ति वतलायी गयी है और 'कु' का अर्थ है 'व्याप्ति', 'आकाश' अर्थात् 'सर्वज्ञता'। फलतः कवि सर्वज्ञ है, द्रष्टा है। श्रुति कहती है—**'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः।' 'परिभूः'** अर्थात् जो अपनी अनुभूति के क्षेत्र में अथवा दृष्टिक्षेप में सब कुछ समेट लें और **'स्वयम्भूः'** जो अपनी अनुभूति के लिए किसी का भी ऋणी न हो, अर्थात् काव्य उसी मनीषी की सृष्टि है, जो स्वयं सम्पूर्ण और सर्वज्ञ हो।" वैदिक साहित्य में कवि, द्रष्टा और ऋषि शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में हुआ है, जिसका अर्थ ज्ञानी अथवा सर्वज्ञ है। वेदों के प्रकाशक ब्रह्मा को इसीलिये आदिकवि भी कहा गया है।

लौकिक साहित्य में 'कवि' शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत संकुचित अर्थ में हुआ है। इस रूप में कवि उसे कहते हैं जो **'विशिष्ट रमणीय शैली में काव्य का रचयिता है।'** वैसे कवि को क्रान्तदर्शी भी कहा जाता है, क्योंकि वह अपनी नवनवोन्मेषिनी प्रतिभा से भूत, भविष्य और वर्तमान को हस्तामलकवत् साक्षात् कर देता है। प्रत्यक्ष चित्र के रूप में तीनों कालों को दिखा देता है—**'कवयः क्रान्तदर्शिनः।'** इसीलिए हिन्दी में कहा है—**"जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि।"** क्रान्तदर्शी सृष्टा की सर्वदा नवीन एवं अमर रचना का नाम काव्य है—**'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।"**

उत्तर-वैदिक काल में 'कवि' शब्द 'विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न एक विशेष प्रकार की शैली में रचना करने वाले विद्वान् के अर्थ में योगरूढ़ हो गया था और परवर्ती काल में वह इसी अर्थ में प्रयुक्त भी हुआ है।

कवि के पास **'नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा'** और **'वर्णननिपुणता'** का होना आवश्यक है। यही कवि विशेष सफल होता है। 'काव्य-प्रकाशकार' मम्मट ने स्पष्ट लिखा है कि **"लोकोत्तरवर्णनानिपुण कविकर्म।"** कवि के कर्म को काव्य और काव्य-संसार कहा गया है तथा कवि को इस संसार का रचयिता—

अपारे काव्य संसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्त्तते॥

(अग्निपुराण) ३३९/१०)

इस विस्तृत एवं अनन्तव्यापी काव्य-रूपी संसार का विधाता कवि है, वह

अपनी रुचि-विशेष के अनुसार इस विश्व (काव्य) का सृजन करता है। इस प्रकार कवि को प्रजापति कह कर उसके महत्व को स्वीकार किया गया है।

'काव्यप्रकाशकार' मम्मट ने भी कवि और उसके काव्य के महत्व की घोषणा करते हुए लिखा है कि कवि की वाणी विधाता के द्वारा रचित नियमों से रहित है, वह केवल आनन्दमयी है, वह अनन्य परतन्त्र है, वह नवरसों से रमणीय है, ऐसी कवि की वाणी सर्वोत्कृष्ट है—

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥ (का० प्र०, १/१)

इस कारिका के द्वारा **आचार्य मम्मट** ने कवि की सृष्टि और सामर्थ्य को ब्रह्मा की सृष्टि एवं सामर्थ्य से अधिक महत्व प्रदान किया है। विधाता की सृष्टि से कवि की सृष्टि में चार विशेषताएँ निम्न हैं—सर्वप्रथम विशेषता यह है कि ब्रह्मा की सृष्टि 'नियतिकृत नियमसहिता' है। परन्तु कवि की सृष्टि विधाता के नियमों से आबद्ध नहीं है। 'नियति' के दो अर्थ हो सकते हैं। प्रथम तो यह—जिसके द्वारा सौरभ आदि धर्मों का नियन्त्रण किया जाता है, ये पद्मत्वादि रूप असाधारण धर्म 'नियति' पद से कहे जाते हैं, उसके द्वारा किया गया नियम। ब्रह्मा की सृष्टि नियतिकृत नियम से युक्त है। परन्तु कवि की सृष्टि इन समस्त नियमों से मुक्त हैं। "उसकी सृष्टि में स्त्री के मुख से कमल की सुगन्ध, आँखों में कमल का सौन्दर्य आदि रहता है।" अतः कवि की सृष्टि **"नियतिकृत नियमरहितां"** है।"

'नियति' पद का दूसरा अर्थ है—अदृष्ट या धर्माधर्म। ब्रह्मा की सारी सृष्टि अदृष्ट के सिद्धान्त पर ही स्थिर है। प्राणियों के पूर्वकृत कर्म या अदृष्ट के फलभोग के लिए ही इस सारी सृष्टि की रचना हुई है और उसी के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को सुख-दुःख, स्वर्ग-नरक की प्राप्ति होती है। किन्तु कवि की सृष्टि इस बन्धन से परे है। वह तो कल्पना के सहारे जब चाहे तब अतर्कित रूप से मनोवांछित सामग्री से भी अधिक सुख-सामग्री प्रस्तुत कर देता है। वह इसी शरीर से सशरीर स्वर्ग में पहुँच सकता है। इसीलिए कवि-सामर्थ्य ब्रह्मा के सामर्थ्य से कहीं अधिक है।

कवि-सृष्टि की दूसरी विशेषता **'ह्लादैकमयी'** सर्वथा आनन्दमयी है। ब्रह्मा की सृष्टि में सुख-दुःख का अस्तित्व है, कोई प्राणी संसार में रहकर दुःख से बच नहीं सकता है। सांसारिक सुखों के साथ दुःख अवश्यम्भावी हैं। परन्तु कवि की सृष्टि में दुःख का सर्वथा अभाव है। कवि की सृष्टि 'रघुवंश' में हम राजा अज को इन्दुमती के वियोग में विलाप करते देखते हैं, और 'उत्तररामचरित' में कवि सीता के वियोग में राम को करुण विलाप करते देखता है, इन करुण-मार्मिक प्रसङ्गों में भी हम आनन्द का अनुभव करते हैं। इसीलिए कहा भी है कि—

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्॥ (साहित्यदर्पण ३/४-५)

इस प्रकार कवि-सृष्टि की दूसरी विशेषता यह है कि वह सुखमयी या आनन्दमयी है।

कवि-सृष्टि की तीसरी विशेषता **'अनन्य परतन्त्रता'** है। ब्रह्मा की सृष्टि प्रकृति-अथवा कारण आदि से नियन्त्रित है। परन्तु कवि-सृष्टि के लिए कवि को अपनी प्रतिभा और आस्था के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है। वह अन्य किसी के अधीन न होकर अनन्य परतन्त्र है। अतः ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा उत्कर्षशाली है।

ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा कवि की सृष्टि में चौथी विशेषता यह है कि ब्रह्मा की सृष्टि में मधुर, लवण, तिक्त, कटु, कषाय और अम्ल ये छः प्रकार के रस पाये जाते हैं। ये रस सभी को प्रिय नहीं होते हैं। कटु और तिक्त अप्रिय रस हैं। परन्तु कवि की सृष्टि में एक विशेषता यह है कि उसमें छः रसों के स्थान पर शृंगार, करुण आदि नौ या नौ से भी अधिक रस हैं। अन्य विशेषता यह भी है कि ये सभी रस आनन्दमय ही होते हैं। अतः कवि की सृष्टि **'नवरसा'** और **'रुचिरा'** होने के कारण भी ब्रह्मा की सृष्टि से उत्कृष्ट है।

मम्मट की इस कारिका से कवि और काव्य का महत्त्व स्पष्ट है।

संस्कृत के साहित्यशास्त्र में कवि को बहुश्रुत और सुशिक्षित होना आवश्यक माना गया है। आचार्य भामह ने लिखा है कि **"शब्दार्थ का ज्ञान प्राप्त कर, शब्दार्थ-वेत्ताओं की सेवा कर तथा अन्य कवियों के निबन्ध को देखकर काव्य-क्रिया में प्रवृत्त होना चाहिए।"** (काव्यालंकार १/१०)।

वामन कवि के लिए 'लोक-व्यवहार, शब्दशास्त्र, अभिधान, कोश, छन्दशास्त्र, कला, कामशास्त्र तथा दण्ड-नीति का ज्ञान काव्यशास्त्र का उपदेश करने वाले गुरुओं की सेवा आवश्यक मानते हैं' (काव्यालंकारसूत्र १/३/१/११)। काव्यमीमांसाकार राजशेखर ने "कवि-शिक्षोपयोगी विविध-विषयों, शास्त्र-परिचय, पदवाक्य विवेक, पाठ-प्रतिष्ठा, काव्य के स्रोत, अर्थव्याप्ति, कवि-चर्या, राजचर्या, काव्यहरण, कवि-समय, देश-विभाग, काल-विभाग का वर्णन किया है।" इसी प्रकार क्षेमेन्द्र, वाग्भट्ट, हेमचन्द्र आदि ने कवि-शिक्षा के विषय में काफी विस्तार से लिखा है, जो इस बात का प्रमाण है कि कवियों को बहुज्ञ होना चाहिए, तभी वह लोककल्याणकारी काव्य का सृजन कर सकता है। ऐसा बहुज्ञ कवि ही अपनी विश्वविहारिणी कल्पना से महान् काव्य का सृजन कर सकता है जिसके आधार पर कवि के महत्त्व को घोषित किया जा सकता है, तभी वह कवि भी **'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः'** कहा जा सकता है।

प्रश्न ४—कला शब्द की व्याख्या करते हुए कलाओं का विभाजन तथा परिचय दीजिए।

कला का उदय मानव की सौन्दर्य-भावना का परिचायक है। इस भावना की तृप्ति के लिए और मानसिक विकास के लिए विभिन्न कलाओं का उदय प्राचीन काल में हुआ था। प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वानों ने कला के सम्बन्ध में पर्याप्त विवेचन किया है। संस्कृत साहित्य में ज्ञान का विभाजन दो रूपों में किया गया है—विद्या और उप-

विद्या। विद्या के अन्तर्गत काव्य को स्थान दिया गया है और विभिन्न कलाओं को उप-विद्या के अन्तर्गत। भर्तृहरि ने काव्य एवं कला को भिन्न माना है। उसके अनुसार "**साहित्य संगीत कलाविहीनः साक्षात् पशु-पुच्छविषाणहीनः**" अर्थात् साहित्य, संगीत और कला के ज्ञान से रहित मनुष्य साक्षात् पशु ही है। अतः साहित्य और कला का महत्व स्वयं सिद्ध है।

कला शब्द की व्युत्पत्ति—कला शब्द की रचना **कल्+अच्+टाप्** धातु एवं प्रत्यय के संयोग से हुई है। कला का शाब्दिक अर्थ है—"**किसी वस्तु का छोटा अंश, चन्द्रमण्डल का षोडश अंश, राशि के तीसवें भाग का साठवाँ अंश।**" कल् धातु भी आवाज, गणना आदि अर्थों की सूचक है। आवाज अथवा ध्वनि से हमारा आशय अव्यक्त से व्यक्त की ओर उन्मुख होना है, क्योंकि कलाकार भी "**अपने अव्यक्त भावों को कतिपय साधनों के द्वारा व्यक्त करता है।**" डा० रामदत्त भारद्वाज के अनुसार 'कला' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

'कवि' और 'लास्य' इन दोनों के प्रथमाक्षरों से 'कला' शब्द निर्मित है। कवि का लास्य ही कला है। 'लास्य' शब्द का कोशार्थ है—"नृत्य अथवा उछल-कूद। कवि के काव्य में कवि के अव्यक्त भावों की अभिव्यक्ति होती है। उसके अव्यक्त भाव शब्दों के माध्यम से और आनन्दातिरेक के कारण नृत्य करने लगते हैं।" केवल कवि ही क्यों अन्य कलाकार (वास्तुकार, मूर्तिकार, चित्रकार आदि) भी अपने अव्यक्त भावों को अपनी रचना के माध्यम से व्यक्त करते हैं। कला की तृतीय व्युत्पत्ति इस प्रकार की जा सकती है : **क+ला=कला। क=कामदेव, सौन्दर्य, प्रसन्नता, हर्ष, आनन्द। ला=देना। कं लाति ददातीति कला,** अर्थात् सौन्दर्य की अभिव्यक्ति द्वारा सुख प्रदान करने वाली वस्तु का नाम कला है। इसी आशय से दण्डी ने कला को **नृत्य "गीत प्रभृतयः कला कामार्थसंश्रया"** कहा है।

क्षेमराज ने 'शिवसूत्रविमर्शिणी' में कला को वस्तु के रूप सँवारने वाली प्रतिभा या अभिव्यक्ति कहा है—"**कलयति स्वरूपं आवेशयति वस्तूनि वा।**" अर्थात् कला वस्तु के स्वरूप को सुशोभित या अलंकृत करती है। भारतीय विद्वानों ने कला को साहित्य, ज्ञान, विद्या आदि से भिन्न स्वीकार किया है। सम्भवतः भरत ने इसीलिए '**न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला**' कहा है। अभिनवगुप्त नाट्यशास्त्र की इस पंक्ति की व्याख्या करते हुए कला को '**कला गीतवाद्यादिका**' लिखते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'भारत में कला शब्द का प्रयोग ललित कलाओं (Fine Arts) के लिए भी होता था।'

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने Personality नामक पुस्तक में 'What is art' शीर्षक लेख में ज्ञान के दो पक्ष कला और विज्ञान स्वीकार करते हुए, इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—In art man reveals himself and not his object. His objects havetheir place in books of information and science. अर्थात् कला मनुष्य की बाह्य वस्तुओं की अपेक्षा स्वानुभूति की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार रवीन्द्रनाथ के मत

में कला का प्रधान लक्ष्य व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करना है। कला के कार्य का उल्लेख करते हुए रवीन्द्र लिखते हैं—कला का कार्य मानव के लिये सत्य और सौन्दर्य की एक सजीव सृष्टि करना है—'This building of man's true worlds, the living world of truth and beauty is function of art. पाश्चात्य विचारक रस्किन प्रत्येक महान कला को ईश्वरीय कृति के प्रति मानव के आह्लाद की अभिव्यक्ति मानते हैं—"All great art is the expression of man's great delight in God's work and not his own". फ्रायड के मत में **'कला अन्तःकरण में दमित वासनाओं का अव्यक्त रूप है।'** कला के सम्बन्ध में टाल्स्टाय ने विस्तार से विचार करते हुए लिखा है कि कला की प्रक्रिया अपने हृदय में उठी हुई भावनाओं की अनुभूति को क्रिया, रेखा, वर्ण, ध्वनि, शब्द आदि के सहारे दूसरे के हृदय तक पहुँचा देना ही है—'To evoke in ourself a feeling one has once experienced and hving looked it in oneslf, then, by means of movements, lines, colours, sounds or forms expressed in words so to transmit that is the activity of art." आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एक की अनुभूति को दूसरे तक पहुँचा देना ही कला का रहस्य स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार गुप्तजी "अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही को कला" कहते हैं।

विविध कलाएँ एवं उनकी संख्या—भारतीय साहित्य में चौंसठ कलाओं का उल्लेख मिलता है। उनके नाम निम्न हैं—गान, वाद्य, नृत्य, नाट्य, चित्र, बेल-बूटे, पूजोपहार-रचना, पुष्पशैया, अंगराग, मणि-फर्श, शैया-रचना, जल-बन्ध, सिद्धि-प्रदर्शन, माला-ग्रथन, पुष्पाभरण, वस्त्राभरण, प्रसाधन, कर्ण-पत्र-रचना, गंध-निर्माण, इन्द्रजाल, इच्छा-वेष, हाथ की कला, पाक, पेय, सूची-कार्य, काष्ठपुत्तलिका, प्रहेलिका प्रतिमा-निर्माण, कूटनीति, शिक्षण, नाटकाख्यायिकादि निर्माण, समस्या-पूर्ति, वेत-वाणादि निर्माण, गली वा-दरी-निर्माण, बढ़ईगीरी, भवन-निर्माण, रत्नधातु-परीक्षा, किमिया, मणि-रंग-परीक्षा, खनि-परीक्षा, वृक्षचिकित्सा, पशु-पक्षी-युद्ध, पशु-पक्षी-ध्वनि अनुकरण, उच्चाटन, केश-कर्म, मुट्ठी और मन की चीज या बात जानना, म्लेच्छ काव्यज्ञान, विभाषा-ज्ञान, शकुन-विचार, मातृका-यन्त्र, रत्न-कर्त्तन, सांकेतिक भाषा, कटक रचना, नव-वस्तु निर्माण, छल प्रयोग, कोष-ज्ञान, छन्दो-ज्ञान, वस्त्रगोपन-परिवर्तन, द्यूत क्रीड़ा, दूराकर्षण, बाल खेल, मंत्र-विद्या, विजय-विद्या, बेताल विद्या। वात्स्यायन के कामसूत्र में इन्हीं को कुछ नामान्तर से परिगणित किया है। इनके अतिरिक्त 'प्रबन्ध-कोष' में बहत्तर, बौद्धग्रंथ 'ललित विस्तर' में छियासी कलाओं का उल्लेख मिलता है। किन्तु चौंसठ कलाएँ ही अधिक प्रसिद्ध हैं। इन कलाओं में जीवन की उपयोगी एवं हमारी मानसिक भावना को सन्तुष्ट करने वाली दोनों प्रकार की कलाएँ हैं।

कलाओं का वर्गीकरण—आधुनिक काल में कलाओं का वर्गीकरण दो प्रकार से किया गया है—(क) उपयोगी कला एवं (ख) ललित कला। जीवन के लिये उपयोगी कलाओं का समावेश प्रथम में होता है। ये उपयोगी कलाएँ हमारी दैनन्दिन

आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं, उदाहरण के लिए भोजन-निर्माण, वस्त्र-निर्माण, आभूषण-निर्माण, स्वर्णकारी एवं बढ़ईगीरी। इन कलाओं के द्वारा हमारे जीवन को सुविधा प्राप्त होती है, इनके अभाव में जीवन कष्टमय हो सकता है। इन उपयोगी कलाओं के अतिरिक्त कुछ इस प्रकार की कलाएँ भी हैं, **जिनसे सौंदर्य की अनुभूति और आनन्द की प्राप्ति होती है।** उन्हें हम **ललित कलाएँ** कह सकते हैं। "अनुभूत सौंदर्य के जिस पुनर्विधान से हमारी आत्मा का विकास हो, हमारे मन का अनुरंजन हो, हमारी चेतना सजीव हो, उसे ही ललित कला के नाम से अभिहित किया जा सकता है।" इन कलाओं को प्राचीन भारतीय साहित्य में कहीं भी 'ललित कला' के नाम से अभिहित नहीं किया गया है। इतना अवश्य है कि कालिदास ने अपने 'रघुवंश' महाकाव्य में अज के इन्दुमती-विलाप-प्रसङ्ग में **"ललिते कलाविधौ"** शब्द का प्रयोग किया है, जो कि सम्भवतः गीति एवं नृत्य के लिए प्रयुक्त हुआ है। वस्तुतः 'ललित कला' शब्द पाश्चात्य Fine arts शब्द का हिन्दी रूपान्तर है।

पाश्चात्य विद्वानों ने मुख्य रूप से पाँच कलाएँ स्वीकार की हैं, जो कि क्रमशः स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, संगीत एवं काव्य हैं। वर्सफील्ड ने नाट्य, नृत्य, एवं भाषण नामक तीन कलाएँ और स्वीकार की हैं। हेगेल ने इन ललित कलाओं के मूर्त आधार और अमूर्त आधार नामक दो भेद भी बताये हैं। डा० श्यामसुन्दर दास ने 'साहित्यालोचन' में इन्हीं मूर्त और अमूर्त आधार वाली कलाओं को नेत्रेन्द्रिय के सन्निकर्ष से मानसिक तृप्ति प्रदान करने वाली तथा श्रवणेन्द्रिय के सन्निकर्ष से तृप्ति प्रदान करने वाली दो भेद किये हैं जो कि क्रमशः वास्तु, मूर्ति एवं चित्र प्रथम के अन्तर्गत तथा शेष दो संगीत और काव्य द्वितीय के अन्तर्गत आती हैं।

वास्तुकला—वास्तुकला को स्थापत्य कला भी कहते हैं। इस कला के अन्तर्गत भवन-निर्माण, मंदिर-मस्जिद, बाँध, पुल आदि के निर्माण का कार्य होता है। वास्तुकला के आधार-रूप में ईंट, पत्थर, सीमेंट, लोहा, लकड़ी आदि स्थूल पदार्थ हैं और साधन के रूप में कन्नी, बसूली, फावड़ा आदि हैं। वास्तुकला में लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई तीन तत्व होते हैं। स्थापत्य कला द्वारा व्यक्त भावों की अपेक्षा अन्य कलाओं द्वारा व्यक्त भाव अधिक आकर्षक होते हैं। स्थूलता स्थापत्य कला की विशेषता है तथा सूक्ष्मता अन्य कलाओं की विशेषता है।

मूर्तिकला—स्थापत्य की अपेक्षा मूर्तिकला अधिक उन्नत कला है। इसमें रूप, रंग एवम् आकार होता है। लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई भी होती है। यह कला वास्तु की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है क्योंकि इसके साधन अपेक्षाकृत वास्तुकला के अधिक सूक्ष्म हैं। यह कला वास्तु की अपेक्षा उत्कृष्ट मनोभावों को व्यक्त कर सकती है, और व्यक्त करती है। इसमें कलाकार के मनोभाव कल्पना के रंग से विशेष अनुरंजित रहते हैं।

चित्रकला—वास्तु एवं मूर्तिकला की अपेक्षा चित्रकला अधिक उत्कृष्ट एवम् सूक्ष्म कला है। यद्यपि वास्तु और मूर्तिकला के समान रूप, रंग और आकार इसमें भी

होता है, किन्तु इस कला के मान तीन—लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई न होकर केवल दो—लम्बाई और चौड़ाई ही होते हैं। रंग, कूची, लेखनी इसके साधन हैं। वास्तु एवम् मूर्ति की अपेक्षा चित्रकला मनोभावों को अधिक स्पष्ट करती है।

संगीतकला—प्रथम तीन कलाओं की अपेक्षा संगीतकला अधिक उत्कृष्ट है। इसका आधार नाद अथवा स्वर होता है। इस कला के द्वारा व्यक्त भाव अधिक सूक्ष्म और स्पष्ट होते हैं। संगीत कला का विशेषज्ञ अपनी कला से श्रोता को रुला भी सकता है और हँसा भी। इसमें पूर्वोक्त कलाओं की भाँति अनेक मान नहीं होते हैं। इसके प्रधान उपकरण स्वर और कर्णेन्द्रिय हैं।

काव्यकला—काव्य का स्थान ललित कलाओं में सर्वोत्कृष्ट है, इसके आधार शब्द और अर्थ हैं। जहाँ संगीतकला में केवल स्वरों का प्रयोग होता है, वहाँ काव्य-कला में स्वर और व्यंजन दोनों ही प्रयुक्त होते हैं। संगीत-विशेषज्ञ एक-दो स्वरों के आरोह और अवरोह के द्वारा श्रोता को भावविभोर कर सकता है, किन्तु यह भाव-विभोरता की स्थिति स्थायी नहीं होती, जबकि कवि व्यंजनों और स्वरों के प्रयोग तथा उनके अर्थ के द्वारा चिरस्थायी प्रभाव डाल सकता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि ललित कलाओं में निम्न तत्व सर्वसामान्य होते हैं—(१) **आधार तथा साधन**—जैसे ईंट, पत्थर, लोहा, कूची, कपड़ा, नाद, व्यंजन तथा शब्द। **साधनों** में छैनी, कूची, कंठ, वाद्य यंत्र, भाषा। (२) **उपकरण**—इन ललित कलाओं के उपकरणों में नेत्र और कर्ण हैं। वास्तु, मूर्ति और चित्र के उपकरण हैं नेत्र तथा संगीत और काव्य कला के उपकरण हैं कर्ण। (३) **सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण**—प्रत्येक कलाकार सौंदर्य की अनुभूति और अभिव्यक्ति करता है।

प्रश्न ५—कलाओं में सर्वश्रेष्ठ कला कौन-सी है और क्यों ?

कलाओं में सर्वश्रेष्ठ कला काव्यकला है क्योंकि जिस कला में मूर्त आधार जितना ही कम होगा वह कला उतनी ही श्रेष्ठ होगी। इसी सिद्धान्त के आधार पर काव्यकला को सर्वश्रेष्ठ कला माना जाता है। काव्यकला में मूर्त आधार का पूर्णतः अभाव रहता है, अतः वह श्रेष्ठ कला है और मूर्त आधार सर्वाधिक वास्तुकला में होता है अतः सबसे निम्न कोटि की मानी जाती है। ललित-कलाओं में जैसे-जैसे मूर्त आधार की मात्रा कम होती जाती है वैसे-वैसे कला श्रेष्ठ होती जाती है। वास्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत और काव्य कलाओं के आधार उत्तरोत्तर सूक्ष्म और कम होते जाते हैं अतः काव्यकला सर्वश्रेष्ठ कला है। काव्यकला में मूर्त आधार की आवश्यकता नहीं रहती है। उसकी उत्पत्ति शब्दों या वाक्यों से होती है। शब्द की रमणीयता की अपेक्षा काव्य की रमणीयता अर्थ-सौन्दर्य पर आधारित है; अर्थ की रमणीयता भावों पर निर्भर करती है। भाव अमूर्त होते हैं; अतः काव्यकला में मूर्त आधार का सर्वथा अभाव रहता है। इसके अतिरिक्त काव्यकला में संगीत, चित्र और मूर्तिकला की विशेषतायें नादात्मकता, चित्रोपमता, मूर्तिविधान या बिम्बग्रहण आदि भी विद्यमान रहती हैं। इसका क्षेत्र भी व्यापक

एवम् विस्तृत है। भूत, भविष्य और वर्तमान का इसमें चित्रण अन्य कलाओं की अपेक्षा अच्छी तरह होता है। इन्हीं सब विशेषताओं को लक्ष्य कर भामह ने कहा था—

"महाकवि की कविता में कोई भी ऐसा शब्द नहीं, जो उसका अंग-भूत बनकर उसमें समाविष्ट न हो, कोई भी ऐसा तत्व नहीं जो काव्य में अवर्णनीय हो।" अतः कवि का उत्तरदायित्व महान् है—**न स शब्दो न तद्वाच्यम् न स न्यायो न सा कला। जायते यन्नकाव्यांगमहोभारः महान् कवेः।** अतः निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि काव्य में स्थूल उपकरणों का प्रायः अभाव रहता है तथा मानव-जीवन के सम्पूर्ण भावों की अभिव्यक्ति इसमें सरलता से होती है अतः काव्यकला सर्वश्रेष्ठ कला है।

प्रश्न ६—कला का उद्देश्य क्या है—'कला कला के लिए' या 'कला जीवन के लिए'? कला-विषयक इन दोनों मतों की समीक्षा कीजिए।

कला के स्वरूप के सम्बन्ध में प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वानों के दृष्टिकोण भिन्न हैं। भारतीय विद्वान् कला और काव्य के क्षेत्र में भी अन्तर स्वीकार करते हैं। वे काव्य (साहित्य) को व्यापक एवम् उसके अस्तित्व को स्वतन्त्र मानते हैं; जबकि पाश्चात्य मत में काव्य कला के अन्तर्गत आता है। भारतीय विद्वान् कला को वस्तु का रूप सँवारने वाली विशेषता कहते हैं—**"कलयति स्वरूपं आवेशयति वस्तूनि वा"** अर्थात् कला वस्तु के स्वरूप को सुशोभित या अलंकृत करती है। कला के उद्देश्य के सम्बन्ध में विचारकों में मतभेद है। उसके अनेक प्रयोजनों की परिकल्पना की गई है, जैसे—१. कला कला के अर्थ, २. कला जीवन के लिए, ३. कला जीवन से पलायन के लिए, ४. कला जीवन में प्रवेश के लिए, ५. कला सेवा के अर्थ, ६. कला आत्मानुभूति के लिए, ७. कला आनन्द के लिए, ८. कला विनोद के लिए, ९. कला सृजन की अदम्य आवश्यकता-पूर्ति के लिए आदि कला-विषयक मत विद्यमान हैं। उपर्युक्त मतों के आधार पर हम देखते हैं कि ये विद्वान् कला का प्रधान लक्ष्य आनन्द-विधान मानते हैं। इसके लिए उन्होंने Pleasure, delight, joy, happiness आदि शब्दों का प्रयोग किया है। किसी-किसी ने कला का लक्ष्य Superme hapiness माना है तो किसी ने Joy for ever को ही उसकी कसौटी निर्धारित किया है। कोई Pure and elevated pleasure को ही उसका लक्ष्य मानते हैं। अरस्तू ने लिखा है कि The object of poetry as of all the fine arts is to produce an emotional delight a pure and elevated pleasure. भावात्मक, पवित्र एवम् उदात्त आनन्द की सृष्टि काव्य एवं कला का उद्देश्य है; बर्गसाँ का मत भी अरस्तु से मिलता-जुलता है। आशय यह है कि कला के उद्देश्य के सम्बन्ध में आज भी अनेक मत विद्यमान हैं। किन्तु उपर्युक्त मतों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण 'कला कला के लिए' या 'कला जीवन के लिए' मत हैं।

'कला कला के लिए' इस सिद्धान्त का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में फ्रांसीसी साहित्य में हुआ था। इसके प्रमुख प्रवर्त्तक आस्कर वाइल्ड नामक विद्वान् माने जाते हैं। 'कला जीवन के लिए' इस सिद्धान्त की प्रतिक्रियास्वरूप अनेक विद्वान् कला

को जीवन से निरपेक्ष सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। कला में नीति, सदाचार तथा मर्यादावाद को निषेधात्मक माना गया। कलावादियों ने अपने सिद्धान्त के समर्थन में अनेक तर्क दिये—जिस प्रकार विज्ञान, दर्शन, गणित आदि विद्याएँ सौन्दर्य के मानदण्ड से नहीं नापी जा सकतीं; उसी प्रकार कला को भी सत्य और नीति के बन्धन से बद्ध नहीं किया जा सकता। नीति को वे धर्म का विषय मानते हैं, कला का नहीं। कला का उद्देश्य, उनकी दृष्टि में, सहृदयों में रस और आनन्द का संचार करना ही है। **"निरंकुशाः हि कवयः"** वाली उक्ति के अनुसार वे भावनाओं की नग्न रूप में अभिव्यक्ति करने के पक्ष में हैं। क्रोचे का **अभिव्यंजनावाद** भी इस सिद्धान्त का पोषक बनकर अपनी अभिव्यंजना को जीवन से दूर ले जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान क्षेत्र के कुछ वादों ने भी इस मतवाद के पोषण में योगदान दिया है। इनमें **फ्रायड का काम सिद्धान्त (वासनावाद)** विशेष उल्लेखनीय है। पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव के कारण भारतीय विद्वान् भी इस सिद्धान्त का समर्थन करने लगे हैं। यह है 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का संक्षिप्त इतिहास।

कलावाद के समर्थकों के विचारों को देखिए—ब्रैडले महोदय ने लिखा है—

"कला की प्रवृत्ति बाह्य जगत् से साम्य स्थापित करने या उसकी अनुकृति उपस्थिति करने की नहीं है। उसका अपना एक स्वतंत्र, पूर्ण और निरपेक्ष जगत् होता है।" ब्रैडले के अनुसार कला स्वयं साध्य है, वे धर्म, संस्कृति तथा नैतिक शिक्षा इत्यादि से उसका कोई सम्बन्ध नहीं मानते हैं। इनके मत से सौंदर्यजन्य आनन्द ही काव्य-कला का चरम लक्ष्य है। वही काव्य का अंतरंग तत्व है। शिक्षा आदि उसके बहिरंग तत्व हैं अतः गौण हैं। ये आन्तरिक तत्व नहीं है और कला की कसौटी भी नहीं बन सकते। आस्कर वाइल्ड ने भी सदाचार की अवहेलना करते हुए कला को लोकहित के लिए बलिदान नहीं किया है।

"समालोचना में सबसे मुख्य बात यह है कि समालोचक को यह परख हो कि कला और आचार के क्षेत्र पृथक्-पृथक् हैं। कला के भीतर नैतिक-अनैतिक, सद्-असद् का भेद आ ही नहीं सकता।" **जे० ई० स्पिन्गार्न** का कथन है कि—

"शुद्ध काव्य के भीतर सदाचार या दुराचार ढूंढ़ना ऐसा ही है जैसा कि रेखागणित में समत्रिकोण त्रिभुज को सदाचारपूर्ण कहना और समद्विबाहु त्रिभुज को दुराचारपूर्ण कहना।" पुनः वे कहते हैं—

"कला की नैतिक दृष्टि से परीक्षा करना अन्ध-परम्परा है और हमने उसे समाप्त कर दिया है, कुछ कविता का उद्देश्य शिक्षा मानते हैं, कुछ आनन्दोत्पादन और कुछ आलोचक आनन्द तथा शिक्षा दोनों ही स्वीकार करते हैं। परन्तु कला का एक उद्देश्य है—अभिव्यक्ति। अभिव्यक्ति के पूर्ण होते ही कला का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। सौन्दर्य स्वयं अपना साध्य है, उसके अस्तित्व के उद्देश्य की खोज करना व्यर्थ है।" इस प्रकार स्पिग्गार्न **सौन्दर्य की अभिव्यक्ति को ही काव्य का उद्देश्य मानते हैं।**

आधुनिक काल के प्रसिद्ध कवि **टी० एस० इलियट** लिखते हैं—

"शब्दों के भयानक दुष्प्रयोग के बिना यह कहना असम्भव है कि कविता नीति की शिक्षा, राजनीति मार्ग-दर्शन अथवा धार्मिकता या उसके समकक्ष कुछ और है।" जो विद्वान् कला के सम्बन्ध में यह उक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं वे यह विस्मृत कर देते हैं कि जब कला का सम्बन्ध मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन से है, तब वह नीति, सदाचार, उपयोगिता की अवहेलना नहीं कर सकती। वास्तव में कला का अर्थ वास्तविक जीवन की अभिव्यक्ति है। रवीन्द्र ने 'What is art' में लिखा है— In art man reveals himself. वास्तव में कला में कलाकार जब अपने को अभिव्यक्त करता है उस कला को जीवन से दूर कैसे ले जाया जा सकता है ! किन्तु जो विद्वान् कला को ऐकान्तिक तथा लोकग्राह्य मानते हैं उनके विचार से कला एक काल्पनिक जगत् की वस्तु है। वे कला में सत्यं एवं शिवं को महत्व नहीं देते। वे कला का उद्देश्य केवल सौन्दर्य की अभिव्यंजना मानते हैं। बूचर ने लिखा है : Art employs method for the symmetrical formation of beauty, इस मान्यता ने कला को शृंगार की सहचरी और विकृत भावनाओं की अभिव्यक्ति तक सीमित कर दिया है।

हिन्दी साहित्य में भी इस कलावाद का प्रभाव पड़ा है। हिन्दी के यथार्थवादी कवि और लेखक, फ्रायडवादी आलोचक इलाचन्द्र जोशी लिखते हैं—

"विश्व की इस अनन्त सृष्टि की तरह कला भी आनन्द का ही प्रकाश है। उसके भीतर नीति अथवा शिक्षा का स्थान नहीं है। उसके मायाचक्र से हमारे हृदय की तन्त्री आनन्द की झंकार से बज उठती है, यही हमारे लिए परम लाभ है। उच्च स्तर की कला के भीतर किसी तत्व की खोज करना सौन्दर्य देवी के मन्दिर को कलुषित करना है।" (साहित्य सर्जना)

किन्तु 'कला कला के लिए' इस सिद्धान्त का साहित्य-संसार में पर्याप्त विरोध है। अनेक विद्वान् कला का जीवन से सम्बन्ध मानते हुए 'कला जीवन के लिए' इस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। इन विद्वानों में हैमिल्टन, रस्किन, मैथ्यू आर्नल्ड, प्रेमचन्द आदि उल्लेखनीय हैं। हैमिल्टन के अनुसार—

"कलाकार वह है जो अपनी विशेष भावनाओं और अनुभूतियों को अपने आनन्द के लिए और साथ ही साथ सबके हित के लिए रूपाकार प्रदान करता है। उसकी यह कल्पनामिश्रित अनुभूति पूर्णरूप से जनसंवेद्य होती है।"

रस्किन ने भी लिखा है—'कला में सारतत्व यही है कि वह एक आत्मा का दूसरी आत्मा के लिए निवेदन है' : 'All that is good in art is the expression of one soul talking to another.' मैथ्यू आर्नल्ड 'कला कला के लिए' इस सिद्धान्त का विरोध करते हुए 'कला जीवन के लिए' है; इस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। उनका कहना है कि यदि किसी काव्य में नैतिकता के प्रति विद्रोह है तो वह स्वयं जीवन के प्रति विद्रोह है और जो काव्य नैतिक भावनाओं के प्रति उपेक्षापूर्ण है वह जीवन के प्रति उपेक्षापूर्ण है : 'A poetry of revolt against moral ideas is a poetry of revolt against life a poetry of indifference

towards moral ideas is poetry of indifference towards life.' आगे वे पुनः लिखते हैं कि काव्य अन्ततः जीवन की आलोचना है : Poetry is at bottom a criticism of life, that the greatness of a poet lies in his powerful and beautiful application of ideas to life. कविता वस्तुतः जीवन की आलोचना है। कवि का महत्व इसी में है कि वह अपने विचारों को सुन्दर और सशक्त ढंग से जीवन और जीवन-यापन के प्रश्न पर लगाये।

हिन्दी साहित्य के स्वर्गीय राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने काव्य और कला का उद्देश्य जीवन की व्याख्या माना है—

हो रहा है जो जहाँ सो हो रहा
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा।
किन्तु होना चाहिए कब क्या कहाँ
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ॥

वास्तव में कला का उद्देश्य महान् है। प्राचीन भारतीय आचार्यों ने काव्य और कला को जीवन से सम्बद्ध माना है। काव्य जीवन को मंगलमय बनाने का प्रयत्न करता है। भरत, भामह, रुद्रट, विश्वनाथ आदि ने काव्य के प्रयोजनों की चर्चा करते हुए स्पष्ट शब्दों में उसका सम्बन्ध जीवन से जोड़ा है। मम्मट के समस्त काव्य-प्रयोजन कवि और पाठक के जीवन से सम्बद्ध हैं।

तुलसी ने उसी काव्य को श्रेष्ठ माना है जिसमें श्रेय और प्रेय का समन्वय हो, तथा जो सुरसरिता की तरह लोकमंगलकारी हो—

कीरति भणिति भूति भल सोई।
सुरसरि-सम सब कहँ हित होई॥

महात्मा गाँधी कला को जीवन के उत्कर्ष का साधन मानते हैं—"कला वह है जो जीवन को अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाय। कला से जीवन का महत्व है। कला जीवन को वास्तविकता की ओर ले जाती है।"

भारतीय साहित्य में लोकपक्ष की भावनाओं को महत्व दिया गया है। हिन्दी का भक्तिकालीन साहित्य जीवन से पूर्णतया सम्बद्ध है। ज्ञानाश्रयी शाखा के कबीर आदि संत-कवियों ने हिन्दू-मुस्लिम एकता की स्थापना तथा छूआछूत आदि का विरोध किया है। तुलसी और सूर की रचनाओं में लोकपक्ष का प्राधान्य है। इन दोनों कवियों की कविता ने न जाने कितने व्यक्तियों को ज्ञान का प्रकाश दिया है। रीतिकालीन भूषण, लाल, सूदन आदि की कविता में देशभक्ति और राजभक्ति को महत्व प्राप्त है। हिन्दी साहित्य के वर्तमान युग का नवाभ्युत्थान तो लोकसंग्रह के भाव को लेकर ही हुआ है। भारतेन्दु, हरिऔध, श्री गुप्त आदि अनेक कवियों ने राष्ट्रकल्याण की भावना से बहुत कुछ लिखा है।

कला का उद्देश्य महान् है, वह हमें कार्याकार्य का निर्देश कर हमारी ज्ञानराशि को विकसित करती है। कला या काव्य के द्वारा मनुष्य के विचार सुसंस्कृत, उन्नत

और परिष्कृत होते हैं। कला हमें ऐसी उच्चभावभूमि पर ले जाती है जहाँ हम ममत्व-परत्व की भावना से ऊपर उठ जाते हैं। मानवमात्र से हमारा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि कला का जीवन से सम्बन्ध है। सच्चा साहित्य जीवन का तिरस्कार नहीं कर सकता है। अनेक युग बीत जाने पर भी बाल्मीकि, कालीदास, कबीर, तुलसी और सूर अमर हैं, क्योंकि उनका साहित्य शाश्वत साहित्य है, मानव भावनाओं को उसमें मूर्तरूप मिला है, उसमें जीवन के लिए सन्देश है।

श्रेय और प्रेय का समन्वय ही सच्ची कला है। वह आन्तरिक तथा बाह्य सौन्दर्य का सम्पादन कर जीवन को सार्थकता प्रदान करती है। कला जीवन की पूर्णता और विकास का सूचक है। यह जीवन की आभा है। आनन्द और सौन्दर्य की प्राप्ति मानवता का ध्येय है और उसको प्रदान करने वाली है कला। कला के द्वारा ही हम शेष सृष्टि के साथ अपने रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ होते हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र का मत है—साहित्य शब्द से साहित्य में मिलने का एक भाव देखा जाता है, वह केवल भाव-भाव का, भाषा-भाषा का ग्रन्थ-ग्रन्थ का ही मिलन नहीं है अपितु मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का अन्तरंग मिलन साहित्य के अतिरिक्त अन्य किसी से सम्भव नहीं है। अतः कला और जीवन चिर सम्बद्ध हैं।

वास्तव में न तो 'कला कला के लिए' और न ही 'कला जीवन के लिए' यह दोनों सिद्धान्त अपने में पूर्ण हैं। एकाङ्गी रूप में दोनों ही सिद्धान्त अपूर्ण हैं। इन दोनों के समन्वय में कला की पूर्णता और सार्थकता है। यदि केवल नैतिकता और लोकहित को कला की कसौटी मान लिया जाए तो वर्ड्सवर्थ, कालरिज बायरन, ड्रायडन, वर्जिल, बिहारी आदि कवि और हिन्दी साहित्य का रीतिकालीन साहित्य, छायावादी साहित्य तथा पाश्चात्य साहित्य के रोमांटिक काव्य को नमस्कार करना होगा। और न ही प्रेम और सौन्दर्य की एकान्त साधना ही काव्य अथवा कला का लक्ष्य हो सकती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि न तो केवल आनन्द ही काव्य का लक्ष्य है और न केवल नैतिकता ही। उच्च स्तर के काव्यानन्द को न तो सर्वथा नीति निरपेक्ष माना जा सकता है और न काव्योपदेश को आनन्द हीन, अतः दोनों का समन्वय अनिवार्य है। अरस्तू ने ठीक ही लिखा है कि नैतिकता से निरपेक्ष आनन्द की संभावना नहीं, सौन्दर्य का मूल्य केवल नैतिकता नहीं, और कला नीति का निरादर भी नहीं करती है।

प्रश्न ७—साहित्य और काव्य एक है, अथवा भिन्न ? स्पष्ट कीजिए।

साहित्य एवं काव्य शब्द आज प्रायः पर्यायवाची माने जाते हैं किन्तु इनके भिन्न स्वरूप को सिद्ध करने वाले अनेक उदाहरण भी मिलते हैं।

संस्कृत काव्यशास्त्र में आचार्य राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में चौदह विद्याओं —चार वेद, छः वेदांग और चार शास्त्र के अतिरिक्त काव्य को भी महत्व प्रदान किया है। उनके अनुसार चौदह विद्याओं का आधार काव्य है, क्योंकि वह गद्यपद्यमय

होता है, वह कविकर्म और हितोपदेशक भी होता है, अतः शास्त्र उसका अनुसरण करते हैं—**'सकलविद्यास्थानैकायतनं पञ्चदशं काव्यं विद्यास्थानमिति यायावरीयः।'** तथा राजशेखर ने साहित्य को: पाँचवीं विद्या कहा है—**पञ्चमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः।'** आचार्य कुन्तक आह्लादकारी, कविकृत व्यवस्थित शब्दार्थ-रचना को काव्य कहते हैं—

शब्दार्थौ सहितौ वक्र इति व्यापारशालिनी।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी।

और शब्द-अर्थ की अन्यूनातिरेक की मनोहारी स्थिति साहित्य है—

साहित्यमनयोः"........"अन्यूनानतिरिक्तत्व मनोहारिण्यवस्थितिः"

हिन्दी काव्यशास्त्र के प्रणेता आचार्यों ने भी इन दोनों शब्दों का विभिन्न अर्थ में प्रयोग किया है; जैसे—

(१) 'काव्य' शब्द का वही अर्थ है जो साहित्य शब्द का वास्तविक अर्थ है। (डा० श्यामसुन्दर दास)

(२) साहित्य शब्द अपने व्यापक अर्थ में सारे वाङ्मय का द्योतक है। वाणी का जितना प्रसार है, वह सब साहित्य के अन्तर्गत है। (बाबू गुलाबराय)

(३) काव्य या साहित्य आत्मा की अनुभूतियों का नित नया-नया रहस्य खोलने में प्रयत्नशील है क्योंकि आत्मा को मनोमय, वाङ्मय और प्राणमय माना है। (प्रसाद)

(४) आत्माभिव्यक्ति ही वह मूलतत्व है जिसके कारण कोई व्यक्ति साहित्यकार और उसकी कृति साहित्य बन पाती है। (डा० नगेन्द्र)

उपर्युक्त उदाहरणों (प्रयोगों) से स्पष्ट है कि साहित्य और काव्य में एकता और भेद दोनों ही हैं। कुछ विद्वान् साहित्य का प्रयोग काव्येतर अर्थ में भी करते हैं। इसी प्रयोग के आधार पर हम इनके स्वरूप को स्पष्ट करेंगे। साहित्य शब्द का प्रयोग चार रूपों में मिलता है—(१) शब्द और अर्थ का सहभाव, (२) हितकारक रचना, (३) ज्ञानराशि का कोश (४) अंग्रेजी के 'लिटरेचर' के पर्याय रूप में।

शब्द और अर्थ का सहभाव—साहित्य शब्द का प्रयोग सहभाव में भी हुआ है। राजशेखर और कुन्तक ने इसी प्रयोग को मान्यता दी है। राजशेखर ने लिखा है —**"शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या"** अर्थात् शब्द और अर्थ के सहभाव से समन्वित विद्या साहित्य विद्या है। आचार्य कुन्तक के अनुसार—"जिसमें शब्द और अर्थ दोनों की अन्यूनानतिरिक्त, परस्पर स्पर्द्धा पूर्वक मनोहारिणी, श्लाघनीय स्थिति हो वह साहित्य है।" विश्वकवि रवीन्द्र नाथ के अनुसार—"साहित्य का 'सहित' शब्द मिलन-भाव का सूचक है। वह केवल भाव और भाव का, भाषा और भाषा का, ग्रन्थ तथा ग्रन्थ का ही मिलन नहीं है, अपितु मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का अत्यन्त अंतरंग मिलन साहित्य के अतिरिक्त अन्य किसी से सम्भव नहीं है।" साहित्य के इस प्रयोग के मूल में साहित्य शब्द की वह व्युत्पत्ति है

जिसमें कहा गया है "सहितस्य भावः साहित्यम् वा सहियोर्भावः साहित्यम् ।" इसी व्युत्पत्ति के अनुरूप कालिदास ने भी 'रघुवंश' के मङ्गलाचरण में शब्द और अर्थ का संयोग शिव और पार्वती के अविच्छिन्न सहभाव के समान माना है—

'वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ ।'

गोस्वामी तुलसीदास ने भी वाणी और अर्थ का सम्बन्ध जल और उसकी तरंग की भाँति भिन्न और अभिन्न स्वीकार किया है—"गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न-न-भिन्न ।" संस्कृत के काव्यशास्त्री आचार्यों में लगभग सोलह आचार्यों ने शब्द-अर्थ के सहयोग से काव्य को स्वीकार किया है—"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" (भामह) । वास्तव में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य एवं शाश्वत है—'नित्ये शब्दार्थ सम्बन्धे' तभी साहित्य की सार्थकता है ।

हितकारक रचना—साहित्य शब्द का दूसरा अर्थ हित के सहित भी है। यह अर्थ **'धीयते इति हितम्—हितेन सह वर्त्तमानम् (भावे) साहित्यम्'** इस व्युत्पत्ति पर आधारित है । हितकारक रचना का नाम साहित्य है । इस रूप में साहित्य शब्द व्यापक अर्थ का द्योतक (वाङ्मय) बन जाता है, जिसमें इतिहास, काव्यशास्त्र, आदि अनेक विषयों का समावेश हो जाता है । इस व्याख्या के द्वारा काव्य एवं साहित्य का अन्तर स्पष्ट हो जाता है क्योंकि काव्य साहित्य का एक अंग मात्र है । काव्य लोक का मंगल करता है । काव्य के अनेक प्रयोजन हैं । यहाँ इतना जानना ही पर्याप्त है कि काव्य लोकमंगल-विधायक है । वह अनेक रूपों में मानव का हित करता है । इसीलिए कृष्ण ने गीता में कवि की वाणी (वाङ्मय) को तप कहा है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियं हितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मय तप उच्यते ।

तुलसी ने भी सुरसरि के समान हितकारी कविता एवं उसके रचयिता कवि को आदर दिया है :—

जो कवित्त बुध नहिं आदरहीं । सो श्रम वृथा बालकवि करहीं ।
कीरति भणिति भूति भल सोई । सुरसरि सम सब कहँ हित होई ।।

ज्ञानराशि का कोश—साहित्य ज्ञानराशि का कोश है । आचार्य द्विवेदी ने साहित्य की परिभाषा में लिखा है—'ज्ञानराशि के चिरसंचित कोश का नाम साहित्य है ।' इस रूप में भी साहित्य शब्द का प्रयोग पुरातन है—"तुल्यवदेक क्रियान्वयित्वं बुद्धिविशेष विषयित्वम् वा साहित्यम्' (शब्दशक्ति-प्रकाशिका)" अथवा "परस्पर सापेक्षाणां तुल्यरूपाणां युगपदेव क्रियान्वयित्वं साहित्यम्" (श्राद्ध-विवेक) इस रूप में साहित्य और काव्य पर्यायवाची नहीं है ।

अंग्रेजी के लिटरेचर (Literature) के पर्याय रूप में :—आज हिन्दी में 'साहित्य' तथा अंग्रेजी के 'लिटरेचर' शब्द के अर्थ को व्यक्त करने लगा है । सामान्यतया किसी भी प्रकाशित पुस्तक अथवा प्रचारार्थ प्रकाशित पुस्तक अथवा पत्र भी

'साहित्य' कहा जाता है। इसी प्रकार सिनेमा, मेडिसन, आदि से सम्बद्ध लिटरेचर भी सिनेमा-साहित्य आदि कहलाता है। इसी प्रकार अंगरेजी के moment literature तथा Day literature की भाँति हिन्दी में भी क्षणिक साहित्य, स्थायी साहित्य आदि नाम चल निकले हैं। इस रूप में साहित्य शब्द व्यापक अर्थ का बोधक है। यह संस्कृत के वाङ्मय अर्थ को व्यक्त करता है। राजशेखर ने वाङ्मय के दो भेद—शास्त्र और काव्य माने हैं। पाश्चात्य साहित्य में भी—non-creative literature तथा Creative literature उसी अर्थ में मिलते हैं। वास्तव में साहित्य शब्द अपने व्यापक अर्थ में वाङ्मय का परिचायक है। किन्तु जब साहित्य शब्द काव्य के लिये प्रयुक्त होता है तब वह एकाकी आता है अन्यथा उसका प्रयोग अंग्रेजी साहित्य, वैदिक साहित्य, पाली साहित्य आदि के रूप में होता है।

आचार्य शुक्ल ने 'साहित्य' नामक लेख में यह पूर्णतः स्पष्ट कर दिया है कि वे साहित्य से क्या समझते हैं। वे साहित्य के अन्तर्गत निम्नलिखित विषयों को ग्रहण करते हैं—गद्य, पद्य, नाटक, चम्पू, उपन्यास तथा साहित्य सम्बन्धी समालोचनाएँ। शेष उन्हें साहित्य नाम से स्वीकार नहीं हैं।

काव्य एवं साहित्य का भेद स्पष्ट करने के लिये दो कसौटियाँ हैं, जिन पर परीक्षा करने से निर्णय किया जा सकता है कि वह साहित्य है या नहीं : १. जो सुप्त-भावों को जाग्रत कर सके या २. जिसमें चमत्कारपूर्ण अनुरंजन हो। उपर्युक्त दोनों बातें साहित्य की परिभाषा स्पष्ट कर देती हैं, जिसमें या तो भावों की प्रेषणीयता हो या भाषा का कलात्मक चमत्कार हो। इस प्रथम कसौटी के आधार पर गणित, विज्ञान, धर्म-शास्त्र, राजनीति, दर्शन, तर्क, कानून, इतिहास, मीमांसा आदि भी साहित्य सिद्ध होते हैं। क्योंकि इनमें न्यूनाधिक रूप में सत्यं, शिवं तथा सुन्दरम् का अस्तित्व रहता है तथा विचारों की प्रेषणीयता भी रहती है। गणित, दर्शन आदि की पुस्तकों में प्रेषणीयता होती है, उसका आनन्द गणितज्ञ तथा दार्शनिक लेते हैं। अतः ये भी साहित्य के अन्दर स्थान पाते हैं, यह बात दूसरी है कि काव्य में प्रेषणीयता अधिक होती है। साहित्य की दूसरी कसौटी चमत्कार पूर्ण—अनुरंजन—इसके आधार पर अनेक विषय साहित्य की सीमा से बाहर हो जाते हैं और आचार्य शुक्ल के द्वारा निर्धारित विषय ही साहित्य के अन्दर आते हैं।

अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक डी क्वेन्सी ने भी लिखा है कि साहित्य दो प्रकार का होता है—

(१) Literature of power शक्ति का साहित्य।
(२) Literature of knowledge ज्ञान का साहित्य।

शक्ति का साहित्य मनुष्य के हृदय में स्थित स्थायी भावों को उद्दीप्त करता है। और आनन्द की सृष्टि करता है। ज्ञान का साहित्य मनुष्य का ज्ञानवर्द्धन करता है। हिन्दी में जिसे हम काव्य-साहित्य कहते हैं वही शक्ति का साहित्य है, अन्य ज्ञान का साहित्य।

आलोचकप्रवर श्यामसुन्दरदास ने काव्य और साहित्य के सम्बन्ध में लिखा है 'काव्य वह है जो हृदय में अलौकिक-आनन्द या चमत्कार की सृष्टि करे। इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य कला है और काव्य शब्द साहित्य का समानार्थक है। बहुत से लोग काव्य को कविता के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि कविता काव्य का एक अंग मात्र है। किसी पुस्तक को हम साहित्य या काव्य की उपाधि तभी दे सकते हैं **जब जो कुछ उसमें लिखा गया है वह कला के उद्देश्यों की पूर्ति करता हो। यह एकमात्र उचित कसौटी है।** साहित्य के अन्तर्गत कविता, नाटक, चम्पू, उपन्यास, आख्यायिकायें आदि सभी आ जाते हैं। ज्योतिष, गणित, व्याकरण, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि के ग्रन्थ साहित्य में परिगणित नहीं हो सकते।" डा० श्यामसुन्दरदास साहित्य और काव्य को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—"काव्यों के समुच्चय या संग्रह को साहित्य कहेंगे अथवा भिन्न-भिन्न काव्य कृतियों का समष्टि संग्रह ही साहित्य है।"

निष्कर्ष यह है कि **'साहित्य'** शब्द व्यापक अर्थ में सम्पूर्ण भाव-जगत् को व्यक्त करता है। समस्त वाङ्मय इस शब्द से अभिहित किया जाता है और यही शब्द संकुचित अर्थ में हिन्दी साहित्य, संस्कृत साहित्य, नाटक साहित्य, प्रचार साहित्य आदि अर्थों का भी बोधक है। दूसरी ओर 'काव्य' शब्द व्यापक अर्थ में रागात्मक साहित्य के लिए प्रयुक्त होता है तथा कभी-कभी वाङ्मय के अर्थ का भी बोधक हो जाता है। किन्तु संकुचित अर्थ में कविता के लिए काव्य शब्द का प्रयोग होता है। संस्कृत साहित्य में काव्य शब्द से नाटक, चम्पू, गीति-महाकाव्य आदि का ही बोध होता है। काव्य कवि का कर्म है जब कि साहित्य सम्पूर्ण वाङ्मय जिसमें मानस के विविध व्यापार, ज्ञान, भक्ति और कर्म युगपत् विद्यमान् रहते हैं, जिसमें गणित, विज्ञान, दर्शन, तर्क, कानून, इतिहास भी अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखते हैं क्योंकि इनमें प्रेषणीय तत्व रहता है।

प्रश्न ८—प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वानों के काव्य-लक्षणों की समीक्षा करते हुए अपना अभिमत व्यक्त कीजिए।

A flower or sunset is able to see, able to enjoy, but not able to express....So is the poetry able to enjoy not to express. (Hardayal) क्योंकि काव्य का स्वरूप अत्यन्त व्यापक है, जितना व्यापक है, उतना ही सूक्ष्म भी। अतः इसे लक्षण की परिधि में बद्ध करना कठिन है। आदि-काल से काव्य को लक्षणबद्ध करने के प्रयत्न होते रहे हैं, किन्तु उसका विकसनशील रूप लक्षण एवम् परिभाषाओं की सीमा-रेखा से निरन्तर दूर दीख पड़ता है। काव्य की व्यापकता का प्रमाण यही है कि उसकी सत्ता सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक है। विश्व अनेक रूपात्मक एवम् अनेक भावात्मक है। मानवीय भावों का पर्यालोचन एवम् साधारणीकरण काव्य के माध्यम से होता है। **'भाववेद रसभेद अपारा'** का गायक काव्य लक्षण की सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि काव्य आत्मा की अनुभूति का व्यक्त रूप

है। वह हृदय से निकलता है और सहृदय भावुक ही उसके रस, आनन्द, महत्व एवम् स्वरूप को हृदयंगम कर सकता है। वास्तव में काव्य हृदय की चीज है अतः सूक्ष्म है, वह ब्रह्म के समान वाणीगम्य न होकर अन्तःकरणगम्य है—

न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा।
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥

चिरनूतन-चिरपुरातन कविता-कामिनी के सौन्दर्य के विषय में विहारी की यह मान्यता सर्वांश में सत्य है—

लिखन बैठी जाकी सबी, गहि-गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर ॥

इस कविता-कामिनी के सौन्दर्य का अंकन करने के लिए न जाने कितने कवि-चित्रकारों ने प्रयास किया, किन्तु कविता-कामिनी प्रत्येक क्षण परिवर्त्तमान अपने सौन्दर्य के कारण किसी भी उपासक के द्वारा अपने वास्तविक रूप का अंकन न करा सकी। कविता का स्वरूप तो प्रत्येक क्षण परिवर्त्तमान सौन्दर्य के समान है जो—'**क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति:**' तथा इसे हम जितना निकट से देखते हैं, इसका सौन्दर्य उतना ही वढ़ता है—

ज्यों-ज्यों निहारिये नियरे ह्वै नैननि।
त्यों-त्यों खरी निकसै री निकाई ॥

काव्य सार्वदेशिक एवम् सार्वकालिक वस्तु है, इसलिए विश्व साहित्य में काव्य की आत्मा एवम् काव्यलक्षण आदि पर पूर्णतः विचार किया गया है, पर उनमें से कोई भी हमारे हृदय को यथोचित परितोष दिलाने में समर्थ नहीं है; जैसा कि महादेवी वर्मा ने लिखा है—"कविता मनुष्य के हृदय के समान ही पुरातन है परन्तु अब तक उसकी कोई ऐसी परिभाषा न बन सकी, जिसमें तर्क-वितर्क की संभावना न रही हो। धुँधले अतीत से लेकर वर्तमान तक और 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' से लेकर आज के शुष्क बुद्धिवाद तक जो कुछ काव्य के रूप और उपयोगिता के सम्बन्ध में कहा गया वह परिमाण में कम नहीं, परन्तु अब तक न मनुष्य के हृदय का पूर्ण परितोष हो सका है और न उसकी बुद्धि का समाधान।" महादेवी जी ने इस कथन के होने पर भी हम प्राच्य-पाश्चात्य और प्राचीन-अर्वाचीन सभी विचारकों के द्वारा निर्धारित काव्य-लक्षणों पर आलोचनात्मक विचार करेंगे।

भरतमुनि काव्य का स्पष्ट स्वरुप करते हुए लिखते हैं—"सरस, मधुर एवम् स्पष्ट ललित पदावली से समन्वित, नृत्य में प्रयोग करने योग्य, सन्धि-सन्ध्यंगों से युक्त नाटक (काव्य) को उत्तम मानना चाहिए।" किन्तु भरत का न तो यह काव्य-लक्षण है, न लक्षण बनने के योग्य ही है। यह तो केवल नाटक के स्वरूप की व्याख्या है।

काव्य का प्राचीनतम लक्षण अग्निपुराणकार का है—

संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली।
काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोष वर्जितम् ॥

संक्षेप में इष्ट अर्थ को प्रकट करनेवाली पदावली से युक्त ऐसा वाक्य काव्य है जिसमें दोषरहित, गुणसहित, अलंकृत वाक्य हों। इस परिभाषा में पाँच बातें हैं—इष्टार्थ, संक्षिप्त वाक्य, अलंकार, गुण और दोष। इस काव्य के लक्षण में काव्य की बाह्य रूप-रेखा स्पष्ट हो जाती है। संक्षिप्त वाक्य रमणीयता का द्योतक है। इष्ट अर्थ की अभि-व्यक्ति काव्य में आवश्यक होती है, पर इसके उल्लेख की यहाँ कोई आवश्कता नहीं थी। इष्ट अर्थ तो सभी कवि व्यक्त करते है, यदि इसका अर्थ समाज और श्रोता की दृष्टि से इष्टार्थ है तब भी यह अस्पष्ट है। अलंकार सौन्दर्यपक्ष का विधायक है। गुण से युक्त होना काव्यगुणों की स्थिति का संकेत करता है। दोष से रहित होना उत्तम काव्य का लक्षण है। **इस परिभाषा के द्वारा काव्य को बाह्य सीमाओं में बाँधने का सफल प्रयास किया गया है** किन्तु उसका मुख्य प्रभावकारी स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता है।

अग्निपुराणकार के बाद भामह की परिभाषा मिलती है वे **'शब्दार्थौं सहितौ काव्यम्'** शब्द और अर्थ का संयोग काव्य मानते हैं। यह परिभाषा अत्यन्त व्यापक है क्योंकि इसके क्षेत्र में काव्य के अतिरिक्त शास्त्र, इतिहास, वार्त्तालाप आदि सभी आ जाते हैं अतः यह लक्षण अतिव्याप्ति दोषग्रस्त है वस्तुतः यह भामह का काव्य लक्षण नहीं है, इसमें तो पूर्ववर्ती दो परस्पर विरोधी मतों का समन्वय किया गया है। शब्द और अर्थ का समन्वय ही काव्य है। भामह से पूर्व अलंकारिकों के दो वर्ग थे, जिनमें से एक अर्थालंकार को महत्त्व देता था, दूसरा शब्दालंकार को। अर्थालंकारवादी काव्य शोभा के निस्पादक अर्थालंकारों को मानते हुए अर्थाश्रित आनन्द और चमत्कार मानते थे। शव्दालंकारवादी शब्द के कर्णगोचर होने के बाद अर्थ प्रतीति होती है अतः प्रथम प्रभाव शब्द का ही होता है। उसी से हृदयाह्लाद होता है। अर्थबोध के बाद अर्थालंकार की प्रतीति होती है, अतः वह गौण है। शब्दालंकार वादियों का दूसरा तर्क था "कि जिसे अर्थ तक पहुंचने की क्षमता नहीं है, वह भी शब्द-माधुर्य से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता।"........अतः काव्यास्वा की भूमिका शब्दालंकार ही प्रस्तुत करता है।

उपर्युक्त अतिवादी मतों को एकांगी मानते हुए भामह ने लिखा था—शब्द के शोभाधायक होने से शव्दालंकार और अर्थ के शोभाधायक होने से अर्थालंकार हमें ये दोनों ही अभीष्ट हैं—शव्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु नः" (१/१५) किन्तु क्या इन दोनों में से एक के द्वारा उत्कृष्ट काव्य का सृजन हो सकता है, उसके उत्तर में ही भामह ने लिखा है कि—'शव्दार्थौ सहितौ काव्यम्।' अतः यह भामह लिखित काव्य के स्वरूप की व्याख्या तथा पूर्ववर्ती दो मतों पर दृष्टिकोण है। जिसके अनुसार—"शब्द और अर्थ अर्थात् शव्दालंकार और अर्थालंकार दोनों ही मिलकर काव्य हैं।"

भामह के अनुसार आचार्य देवेन्द्रनाथ काव्य का लक्षण इस प्रकार मानते हैं—**"वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः"** (१/३६) 'वक्र शब्द और अर्थ का प्रयोग वाणी का अलंकार (सौन्दर्य) है। इसका आशय यह है कि शब्द और अर्थ की वक्रता से वाणी में चमत्कार आता है। वस्तुतः चमत्कारपूर्ण वाणी ही तो काव्य है, उस काव्य का निस्पादक तत्व है शब्द-अर्थ की वक्रता। इस प्रकार "वक्रता-समन्वित शब्द और

अर्थ को काव्य कहते है।" इस तत्व का भामह ने अपनी रचना में (२/८५, ५/६६) भी उल्लेख किया है। भामह से प्रेरणा लेकर ही आग चलकर कुन्तक ने वक्रोक्तिवाद का प्रतिपादन किया था। उनका मत है—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापार शालिनि।
बंध व्यर्कस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी॥

अर्थात् आह्लादकारक कवि व्यापार से सुन्दर रचना में व्यवस्थित, शब्द और अर्थ को काव्य कहते हैं।

आगे के आचार्यों ने इस बाह्य स्वरूप को निरूपण करने वाले लक्षणों का खण्डन कर काव्य की अन्तर्भूत विशेषता या आत्मा की खोज करने का प्रयास किया। दण्डी ने कहा—"**शरीरं तावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली**" अर्थात् इष्ट अर्थ को प्रकट करने वाली पदावली तो शरीर मात्र है। यही मान्यता ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन की थी—'**शब्दार्थशरीरं तावत्काव्यम्**' काव्य तो शब्दार्थ-शरीर वाला है। इसकी आत्मा या वास्तविक तत्व कुछ और ही है। काव्य या व्यावर्त्तक त व जो वस्तु हो वही काव्य की आत्मा है। इसी व्यावर्त्तक तत्व के पर्यालोचन के लिए भारतीय मनीषा के चिन्तन ने—अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य, अनुमिति, रस नामक तत्वों का अनुशीलन किया और इन तत्वों से सम्बन्ध रखने वाले काव्य-सम्प्रदायों का विकास हुआ।

किन्तु काव्य की आत्मा के माध्यम से भी काव्य का लक्षण बताना कठिन है; क्योंकि काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में भी पर्याप्त वैषम्य मिलता है। फिर भी आत्मा के आधार पर काव्य-लक्षण लिखने का प्रयास हुआ है। प्रत्येक आचार्य ने अपने-अपने सम्प्रदाय के आधार पर वक्रोक्ति, ध्वनि, अनुमिति, औचित्य आदि परक काव्य-लक्षण प्रस्तुत किये हैं। किन्तु परवर्ती संस्कृत के आचार्यों में भोजराज, न्यायवागीश, वाग्भट्ट, विद्याधर, अच्युतराय, धर्मसूरि आदि आचार्यों ने काव्य को निर्दुष्ट, गुणान्वित, अलंकृत एवं रसात्मक स्वीकार किया है। प्रायः ये सभी आचार्य समन्वयवादी हैं।

आचार्य **मम्मट** ने पूर्व परम्परा से प्राप्त काव्य-तत्त्वों के सार को लेकर अपना यह काव्य-लक्षण प्रस्तुत किया है :

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि"

प्रस्तुत लक्षण में काव्य को निर्दुष्ट, गुण युक्त और कभी-कभी अलंकार रहित शब्दार्थ कहा गया है। इस लक्षण में सभी आवश्यक काव्य-तत्वों का समाहार है। अपेक्षित सन्तुलन और महत्व का भी प्रतिपादन है। प्रस्तुत लक्षण की विशेषताएँ निषेधात्मक ही हैं, किन्तु मम्मट के काव्य-लक्षण पर विश्वनाथ, जयदेव एवं पण्डितराज ने अनेक आक्षेप किये हैं—

(१) काव्य सर्वथा निर्दुष्ट नहीं बन सकता है, (२) सगुणौ पद शब्दार्थौ का विशेषण नहीं होना चाहिए, (३) अलंकाररहित काव्य होता ही नहीं है, (४) काव्य शब्दार्थनिष्ठ न हो कर केवल शब्दनिष्ठ है।

किन्तु ये सभी आक्षेप केवल पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए हैं, अथवा आलोचकों ने भ्रमवश किये हैं। प्रायः सभी आक्षेपों का समुचित निराकरण परवर्ती आचार्यों ने किया है। 'रसगंगाधर' के व्याख्याकार नागेशभट्ट ने पण्डितराज द्वारा उठाई गई आशंकाओं को **'नोचिताः'** कहकर अस्वीकार कर दिया है। अतः आक्षेपों के होते हुए भी प्रस्तुत मम्मट का लक्षण व्यावहारिकता की दृष्टि से सर्वोत्तम है। मम्मट की इस परिभाषा में यह भी स्पष्ट है कि काव्य में अलंकारों का महत्व है, किन्तु कभी-कभी गुणात्कृष्टता के कारण उनके बिना भी काम चल सकता है। नारी का सौन्दर्य उसकी वर्णाकृति पर निर्भर होता है किन्तु वस्त्राभूषण से उसकी शोभा बढ़ जाती है। वस्त्राभूषण के बिना भी सुन्दरी सुन्दरी ही कहलायेगी, उसको असुन्दर नहीं कहा जा सकता, तथापि उसके लिए वस्त्राभूषणों की शोभा अपेक्षित है। इसी प्रकार काव्य दोषाभाव तथा गुणों के अस्तित्व पर निर्भर है, तथा उसे अलंकारों की भी अपेक्षा है। यदि 'अदोषौ' अभावात्मक और **'सदोषौ'** भावात्मक व्यावर्तक (Differentia) है तो **"अनलंकृती पुनः क्वापि'** विशेष धर्म (Property) है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मम्मट का काव्य-लक्षण काव्य के सभी भारतीय प्राचीन काव्य लक्षणों में सर्वश्रेष्ठ है। श्री 'कन्हैया लाल पोद्दार' ने इस परिभाषा को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है।

रसवादी **आचार्य विश्वनाथ** ने आचार्य शुद्धोदनि के काव्य लक्षण **'काव्यं रसादि मवद् वाक्यम्'** के आधार पर अपना **'वाक्यं रसात्मकं' काव्यम्** 'रसात्मक वाक्य ही काव्य है यह लक्षण प्रस्तुत किया है। इस लक्षण के अनुसार विश्वनाथ ने काव्य में रस की प्रतिष्ठा की है। यद्यपि भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, वामन और शुद्धोदनि आदि अपने ग्रन्थों में रस की यथास्थान चर्चा कर चुके थे, किन्तु इतने समारम्भ से काव्य लक्षण में रस की प्रतिष्ठा किसी ने नहीं की थी।

काव्य-लक्षण की दृष्टि से यह लक्षण संतुलित एवं संक्षिप्त है। किन्तु प्रश्न यह है कि 'क्या विभावानुभाव व्यभिचारी के संयोग से जिस रस की निष्पत्ति होती है, वह रस जिस काव्य में हो, वही काव्य 'है? इस स्थिति में रस काव्य में अनिवार्य सत्ता सिद्ध है। किन्तु शास्त्रीय दृष्टि से जिस काव्य में रस सम्पादन हुआ हो, उसे काव्य कहेंगे तो काव्य का क्षेत्र अत्यन्त संकीर्ण हो जायेगा—बिहारी, केशव की भी अनेक पंक्तियाँ काव्य के क्षेत्र से हटानी पड़ेंगी और उक्ति-वैचित्र्य तथा अलंकार काव्य नहीं रहेंगे और यदि हम रस का अर्थ सरसता, माधुर्य्य आदि से लेते हैं, तब जिसमें मन को रमाने वाली विशेषता हो, जिसमें हमारा मन रस ले सके, वह काव्य है; ऐसी दशा में इस सरसता का संपादन अनेक बातों से हो सकता है—अलंकार, उक्ति-वैचित्र्य, भाव, वस्तु-वर्णन आदि से। इस संसार की सभी वस्तुएँ विभाव, अनुभव और व्यभिचारी भाव से निष्पन्न 'रस' हो सकती हैं, फिर तो दुनियाँ के सभी वाक्य काव्य कहलाने लग जायेंगे। अतः पण्डितराज जगन्नाथ के मत से विश्वनाथ के रसात्मक वाक्य को काव्य लक्षण कहना अनुपयुक्त है किन्तु हिन्दी के आचार्यों ने विश्वनाथ के लक्षण को अपेक्षाकृत अधिक प्रौढ़ और महत्वपूर्ण स्वीकार किया है। **डा० गुलाबराय** ने 'सिद्धान्त

और अध्ययन' में लिखा है कि दण्डी, मम्मट आदि ने पत्ते और शाखाओं को सींचने की और तुलसीदास के शब्दों में **'बरी बरी में लोन'** देने की कोशिश की है, वहाँ विश्वनाथ ने जड़ को सींचा है। गुण, अलंकार आदि सभी रस के पोषक हैं। **'वाक्य' शब्द में शब्द** के साथ अर्थ भी शामिल हो जाता है क्योंकि **सार्थक शब्द ही वाक्य** बन जाता है। इसके **'रसात्मक'** शब्द में काव्य का अनुभूति पक्ष या भाव पक्ष आ गया और **'वाक्य'** शब्द में अभिव्यक्ति-पक्ष अथवा कला-पक्ष आ गया। इस लक्षण में केवल यह दोष है कि शब्द व्याख्या सापेक्ष है। पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य की परिभाषा **'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्द काव्यम्'** लिखी है। यह परिभाषा विश्वनाथ की सरसता का और भी विकसित स्वरूप व्यक्त करती है। काव्यलक्षण को रमणीयता के आधार पर अधिष्ठित करके रस, अलंकार और रीति आदि का झगड़ा ही यहाँ मिटा दिया गया है। यहाँ पर रमणीयता, सौन्दर्य और तज्जनित आह्लाद ही काव्य के प्राण हैं, यह सिद्ध किया गया है। रस तो काव्य का प्रधान तत्व है ही, पर अलंकार, गुण आदि का अस्तित्व भी इसी आह्लाद के लिए ही है। **'रमणीयता'** के समावेश से यह लक्षण अधिक व्यापक हो गया है क्योंकि अभिव्यंजना अलंकार शास्त्र की मान्य शैलियों तक सीमित नहीं रह सकती है। **'रमणीयता'** द्वारा कवि-प्रतिभा स्वच्छन्द वातावरण में विकसित होती है। वस्तुतः काव्य का मानदण्ड तो वही लोकोत्तर आनन्द है जिसे पण्डितराज **'रमणीयता'** के नाम से अभिहित करते हैं। **'रमणीयता'** से जगन्नाथ का तात्पर्य वही है, जिसे दण्डी ने **'इष्टार्थ'** वामन ने **'सौन्दर्य'**, आनन्दवर्द्धन एवं कुन्तक ने **लोकोत्तर आह्लाद** तथा अन्यों ने **'चमत्कार'** कहा है। पण्डितराज ने स्वयं रमणीयता का तात्पर्य 'लोकोत्तर आह्लाद के उत्पादक ज्ञान की गोचरता' लिया है, उनके शब्द हैं—**'रमणीयता च लोकोत्तराह्लाद जनकज्ञान-गोचरता।'** इस प्रकार पण्डितराज का काव्य-लक्षण अधिक विशद, अधिक गम्भीर एवं समीचीन तथा व्यापक है। डा० सत्यदेव चौधरी के विचार से 'संस्कृत काव्य-शास्त्रियों में जगन्नाथ का काव्य-लक्षण सर्वोत्कृष्ट

संस्कृत के आचार्यों के समान ही पाश्चात्य आचार्यों ने भी काव्य का लक्षण निर्धारित करने के प्रयास किये हैं जो कि उनके अपने-अपने विचार-स्वातन्त्र्य एवं अनुभूतियों के सूचक हैं। पश्चिमी काव्यशास्त्र का सूत्रपात प्लेटो और अरस्तू से होता है। इन दोनों ने कविता के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं। **अरस्तू** के अनुसार, भाषा के माध्यम से प्रकृति का अनुकरण ही काव्य है। यह परिभाषा स्पष्ट ही अपूर्ण है क्योंकि प्रकृति अथवा स्वभाव का अनुकरण नाट्य हो सकता है, काव्य नहीं (अवस्थानुकृतिर्नाटयम्)। कल्पना को प्रधानता देने वाले **शेक्सपियर** कहते हैं—कविता वायवीनगण्य अस्तित्वशून्य पदार्थों को भी मूर्त बनाकर नाम और धाम प्रदान करती है : 'Poetry gives to airy nothing a local habitation and a name., किन्तु काव्य का अन्तिम लक्ष्य कल्पना ही नहीं है, उसमें अन्य तत्व भी महत्त्वपूर्ण स्थान पाते हैं। **वर्ड्सवर्थ** ने भाव को प्रधानता देते हुए काव्य को शान्ति के समय में स्मरण किये

किन्तु ये सभी आक्षेप केवल पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए हैं, अथवा आलोचकों ने भ्रमवश किये हैं। प्राय: सभी आक्षेपों का समुचित निराकरण परवर्ती आचार्यों ने किया है। 'रसगंगाधर' के व्याख्याकार नागेशभट्ट ने पण्डितराज द्वारा उठाई गई आशंकाओं को **'नोचिता:'** कहकर अस्वीकार कर दिया है। अत: आक्षेपों के होते हुए भी प्रस्तुत मम्मट का लक्षण व्यावहारिकता की दृष्टि से सर्वोत्तम है। मम्मट की इस परिभाषा में यह भी स्पष्ट है कि काव्य में अलंकारों का महत्व है, किन्तु कभी-कभी गुणात्कृष्टता के कारण उनके बिना भी काम चल सकता है। नारी का सौन्दर्य उसकी वर्णाकृति पर निर्भर होता है किन्तु वस्त्राभूषण से उसकी शोभा बढ़ जाती है। वस्त्राभूषण के बिना भी सुन्दरी सुन्दरी ही कहलायेगी, उसको असुन्दर नहीं कहा जा सकता, तथापि उसके लिए वस्त्राभूषणों की शोभा अपेक्षित है। इसी प्रकार काव्य दोषाभाव तथा गुणों के अस्तित्व पर निर्भर है, तथा उसे अलंकारों की भी अपेक्षा है। यदि 'अदोषौ' अभावात्मक और **'सदोषौ'** भावात्मक व्यावर्तक (Differentia) है तो **"अनलंकृती पुन: क्वापि'** विशेष धर्म (Property) है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मम्मट का काव्य-लक्षण काव्य के सभी भारतीय प्राचीन काव्य लक्षणों में सर्वश्रेष्ठ है। श्री 'कन्हैया लाल पोद्दार' ने इस परिभाषा को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है।

रसवादी **आचार्य विश्वनाथ** ने आचार्य शुद्धोदनि के काव्य लक्षण **'काव्यं रसादि मवद् वाक्यम्'** के आधार पर अपना **'वाक्यं रसात्मकं' काव्यम्** रसात्मक वाक्य ही काव्य है यह लक्षण प्रस्तुत किया है। इस लक्षण के अनुसार विश्वनाथ ने काव्य में रस की प्रतिष्ठा की है। यद्यपि भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, वामन और शुद्धोदनि आदि अपने ग्रन्थों में रस की यथास्थान चर्चा कर चुके थे, किन्तु इतने समारम्भ से काव्य लक्षण में रस की प्रतिष्ठा किसी ने नहीं की थी।

काव्य-लक्षण की दृष्टि से यह लक्षण संतुलित एवं संक्षिप्त है। किन्तु प्रश्न यह है कि 'क्या विभावानुभाव व्यभिचारी के संयोग से जिस रस की निष्पत्ति होती है, वह रस जिस काव्य में हो, वही काव्य 'है? इस स्थिति में रस काव्य में अनिवार्य सत्ता सिद्ध है। किन्तु शास्त्रीय दृष्टि से जिस काव्य में रस सम्पादन हुआ हो, उसे काव्य कहेंगे तो काव्य का क्षेत्र अत्यन्त संकीर्ण हो जायेगा—बिहारी, केशव की भी अनेक पंक्तियाँ काव्य के क्षेत्र से हटानी पड़ेंगी और उक्ति-वैचित्र्य तथा अलंकार काव्य नहीं रहेंगे और यदि हम रस का अर्थ सरसता, माधुर्य्य आदि से लेते हैं, तब जिसमें मन को रमाने वाली विशेषता हो, जिसमें हमारा मन रस ले सके, वह काव्य है; ऐसी दशा में इस सरसता का संपादन अनेक बातों से हो सकता है—अलंकार, उक्ति-वैचित्र्य, भाव, वस्तु-वर्णन आदि से। इस संसार की सभी वस्तुएँ विभाव, अनुभव और व्यभिचारी भाव से निष्पन्न 'रस' हो सकती हैं, फिर तो दुनियाँ के सभी वाक्य काव्य कहलाने लग जायेंगे। अत: पण्डितराज जगन्नाथ के मत से विश्वनाथ के रसात्मक वाक्य को काव्य लक्षण कहना अनुपयुक्त है किन्तु हिन्दी के आचार्यों ने विश्वनाथ के लक्षण को अपेक्षाकृत अधिक प्रौढ़ और महत्वपूर्ण स्वीकार किया है। **डा० गुलाबराय** ने 'सिद्धान्त

और अध्ययन' में लिखा है कि दण्डी, मम्मट आदि ने पत्ते और शाखाओं को सींचने की और तुलसीदास के शब्दों में **'बरी बरी में लोन'** देने की कोशिश की है, वहाँ विश्वनाथ ने जड़ को सींचा है। गुण, अलंकार आदि सभी रस के पोषक हैं। **'वाक्य' शब्द में शब्द** के साथ अर्थ भी शामिल हो जाता है क्योंकि **सार्थक शब्द ही वाक्य** बन जाता है। इसके **'रसात्मक'** शब्द में काव्य का अनुभूति पक्ष या भाव पक्ष आ गया और **'वाक्य'** शब्द में अभिव्यक्ति-पक्ष अथवा कला पक्ष आ गया। इस लक्षण में केवल यह दोष है कि शब्द व्याख्या सापेक्ष है। पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य की परिभाषा **'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्द काव्यम्'** लिखी है। यह परिभाषा विश्वनाथ की सरसता का और भी विकसित स्वरूप व्यक्त करती है। काव्यलक्षण को रमणीयता के आधार पर अधिष्ठित करके रस, अलंकार और रीति आदि का झगड़ा ही यहाँ मिटा दिया गया है। यहाँ पर रमणीयता, सौन्दर्य और तज्जनित आह्लाद ही काव्य के प्राण हैं, यह सिद्ध किया गया है। रस तो काव्य का प्रधान तत्व है ही, पर अलंकार, गुण आदि का अस्तित्व भी इसी आह्लाद के लिए ही है। **'रमणीयता'** के समावेश से यह लक्षण अधिक व्यापक हो गया है क्योंकि अभिव्यंजना अलंकार शास्त्र की मान्य शैलियों तक सीमित नहीं रह सकती है। **'रमणीयता'** द्वारा कवि-प्रतिभा स्वच्छन्द वातावरण में विकसित होती है। वस्तुतः काव्य का मानदण्ड तो वही लोकोत्तर आनन्द है जिसे पण्डितराज **'रमणीयता'** के नाम से अभिहित करते हैं। **'रमणीयता'** से जगन्नाथ का तात्पर्य वही है, जिसे दण्डी ने **'इष्टार्थ'** वामन ने **'सौन्दर्य'**, आनन्दवर्द्धन एवं कुन्तक ने **लोकोत्तर आह्लाद** तथा अन्यों ने **'चमत्कार'** कहा है। पण्डितराज ने स्वयं रमणीयता का तात्पर्य 'लोकोत्तर आह्लाद के उत्पादक ज्ञान की गोचरता' लिया है, उनके शब्द हैं—**'रमणीयता च लोकोत्तराह्लाद जनकज्ञान-गोचरता।'** इस प्रकार पण्डितराज का काव्य-लक्षण अधिक विशद, अधिक गम्भीर एवं समीचीन तथा व्यापक है। डा० सत्यदेव चौधरी के विचार से 'संस्कृत काव्य-शास्त्रियों में जगन्नाथ का काव्य-लक्षण सर्वोत्कृष्ट

संस्कृत के आचार्यों के समान ही पाश्चात्य आचार्यों ने भी काव्य का लक्षण निर्धारित करने के प्रयास किये हैं जो कि उनके अपने-अपने विचार-स्वातन्त्र्य एवं अनुभूतियों के सूचक हैं। पश्चिमी काव्यशास्त्र का सूत्रपात प्लेटो और अरस्तू से होता है। इन दोनों ने कविता के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं। **अरस्तू** के अनुसार, भाषा के माध्यम से प्रकृति का अनुकरण ही काव्य है। यह परिभाषा स्पष्ट ही अपूर्ण है क्योंकि प्रकृति अथवा स्वभाव का अनुकरण नाट्य हो सकता है, काव्य नहीं (अवस्थानुकृतिर्नाटयम्)। कल्पना को प्रधानता देने वाले **शेक्सपियर** कहते हैं—कविता वायवीनगण्य अस्तित्वशून्य पदार्थों को भी मूर्त बनाकर नाम और धाम प्रदान करती है: 'Poetry gives to airy nothing a local habitation and a name.', किन्तु काव्य का अन्तिम लक्ष्य कल्पना ही नहीं है, उसमें अन्य तत्व भी महत्त्वपूर्ण स्थान पाते हैं। **वर्ड्सवर्थ** ने भाव को प्रधानता देते हुए काव्य को शान्ति के समय में स्मरण किये

मये प्रबल मनोवेगों का स्वछन्द प्रवाह माना है—"poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings. It takes its origin from emotions recollected in tranquility." यह परिभाषा अवश्य ही महत्त्वपूर्ण है। किन्तु शान्ति के क्षणों में हम अपने मनोवेगों को स्मरण करते हैं और अपने प्रबल भावों को प्रकट करते हैं, क्या यह सब काव्य हो जाता है ? अपने सुख और दुःख के समय सभी हँसते और रोते हैं, क्या वही काव्य है ? यहाँ पर कला और उसके प्रभाव का उल्लेख नहीं है। परन्तु इसमें संदेह नहीं, कि प्रतिभा और अभिव्यक्ति-कौशल से युक्त कवियों की काव्याभिव्यक्ति की प्रक्रिया यहाँ पर अवश्य स्पष्ट हुई है।

मिल्टन कविता को सादा, प्रत्यक्षमूलक और रागात्मक कहते हैं—"Poetry should be simple, sensuous and passionate." यह किसी अच्छे काव्य-लक्षण की स्थापना नहीं है। इसमें कलापक्ष की उपेक्षा की गई है। कॉलरिज अभिव्यक्ति को प्रधानता देते हुए कविता को उत्तमोत्तम शब्दों का उत्तमोत्तम क्रम-विधान मानते हैं—"Poetry is the best words in the best order." इस लक्षण के आधार पर प्रश्न यह है कि उत्तमोत्तम शब्द कौन-से हैं और उनका उत्तमोत्तम क्रम कौन-सा है ? अतः यह लक्षण भी पूर्ण नहीं है। **शेली** विषादमय क्षणों की अभिव्यक्ति काव्य मानता है—"Our sweetest songs are those that tell of the saddest tale." **कार्लाइल** की दृष्टि में काव्य संगीतमय विचार है—"Poetry we will call musical thought." **मैथ्यू आर्नल्ड** ने कविता को मूलतः जीवन की आलोचना कहा है—"Poetry is at bottom a criticism of life." यह लक्षण महत्त्वपूर्ण होते हुए भी लेखक की निजी मान्यता का सूचक है। इसमें उत्तम काव्य की विशेषता यद्यपि स्पष्ट है फिर भी इसे विशिष्ट लक्षण नहीं माना जा सकता, क्योंकि जीवन की समीक्षा साहित्य के और रूपों में भी हो सकती है, केवल कविता में ही नहीं। आचार्य जॉनसन की दृष्टि में कविता सत्य और प्रसन्नता के सम्मिश्रण की कला है जिसमें बुद्धि की सहायता के लिए कल्पना का प्रयोग किया जाता है "Poetry is the art of uniting pleasure with truth by calling imagination to the help of reason." इस परिभाषा में जॉनसन ने काव्य का प्रधान स्वरूप स्पष्ट किया है। सत्य के प्रकाशन में आनन्द का समावेश, रमणीयता और रोचकता का संकेत करता है और कल्पना का तो इस कार्य में हाथ रहता ही है। यह परिभाषा काव्य के कल्पना-पक्ष पर विशेष आग्रह करती है, जबकि इसमें शैली-तत्त्व की उपेक्षा है।

हडसन के अनुसार काव्य जीवन की व्याख्या, कल्पना और मनोयोग तीनों का ही योग है—"Poetry is interpretations of life, turoughat, imagination and emotion." अन्य परिभाषाओं को देखते हुए यह परिभाषा अधिक पूर्ण है, किन्तु कलापक्ष का स्पष्ट उल्लेख न होकर कल्पनातत्व में ही उसे समाहित कर लिया गया है।

एवर क्राम्ब ने काव्य की जो परिभाषा दी है, वह अत्यन्त संक्षिप्त सारगर्भित

और आदर्श है। उनके अनुसार, काव्य भाषा के माध्यम से प्रेषणीय अनुभूति है अर्थात् काव्य एक अनुभूति है और वह अनुभूति प्रेषणीय भी है। हँसना, रोना भी अनुभूतियाँ हैं और प्रेषणीय भी हैं, किन्तु उनकी अभिव्यक्ति सांकेतिक है शाब्दिक नहीं। अतः ये काव्य नहीं हैं। इसी प्रकार रेलवे की समयसारिणी में प्रेषणीयता तो है, क्योंकि सारिणी का निर्माता अपने विचारों को अपने पाठकों तक पहुँचा देता है, पर वे कोरे विचार हैं, अनुभूति नहीं। अतएव इस सारिणी को काव्य नहीं कहा जा सकता। काव्य में इस प्रकार का चित्रण नहीं होता, जैसा कि फोटो-कैमरे में होता है। कवि वस्तु-वर्णन की अपेक्षा उससे उत्पन्न भाव और प्रभाव का वर्णन करता है। अतः काव्य अनुभूति की शाब्दिक अभिव्यक्ति है।

उपर्युक्त परिभाषाओं में कहीं भावपक्ष, कहीं कलापक्ष तो कहीं जीवन की व्याख्या को महत्त्व दिया गया है। वस्तुतः सुन्दर काव्य में भाव, बुद्धि, कल्पना और शैली का पूर्ण सामंजस्य रहता है। इन चारों को ही पाश्चात्य दृष्टि में काव्य का तत्त्व स्वीकार किया गया है।

हिन्दी के आचार्यों ने भी काव्य-लक्षण निर्धारित करने के प्रयास किये हैं। महाकवि तुलसी ने उसी काव्य को उत्तम माना है जो हितकारी हो—

कीरति भणिति भूति भल सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

तुलसी का काव्य समन्वय की एक विराट् चेष्टा है, जिसमें जीवनादर्शों एवं नैतिकता के उच्चतम मानदण्डों की स्थापना हुई है। उसी की झलक इन पंक्तियों में भी मिलती है।

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य संस्कृत साहित्य के ऋणी हैं। यहाँ तक कि अधिकांश ने संस्कृत के काव्य-लक्षणों का ही शब्दानुवाद किया है। चिन्तामणि ने मम्मट एवं हेमचन्द्र के आधार पर अपनी परिभाषा बनाई है। हिन्दी के रीतिकालीन समस्त आचार्यों की लगभग यही स्थिति है। ठाकुर कवि ने लिखा है "**पण्डित और प्रवीनन को जोऊ चित हरे सो कवित्त कहावे।**" इस प्रकार ठाकुर काव्य का लक्ष्य मनोरंजन मानते हैं, जोकि सर्वथा एकाङ्गी विचार है। आचार्य केशव कलापक्ष की प्रधानता स्वीकार करते हैं; केशव काव्य की आत्मा अलंकार को मानते हैं— "भूषण बिन न विराजई कविता बनिता मित्त।" केशव ने काव्य-दोष के सम्बन्ध में लिखा है—

राजत रंच न दोषयुत कविता बनिता मित्त।
बुन्दक हाला परत ज्यों गंगा घट अपबित्त॥

कुलपति का काव्य लक्षण यह है—

जग ते अद्भुत सुख सदन शब्दरु अर्थ कवित्त।
यह लच्छन मैंने कियो समुझि ग्रन्थ बहु चित्त॥

उपर्युक्त विचार काव्य-लक्षण की कसौटी के अनुरूप नहीं हैं।

हिन्दी के आधुनिक विद्वानों की परिभाषाएँ प्रायः पाश्चात्य लक्षणों पर आधारित हैं। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी एक ओर जहाँ अन्तःकरण की वृत्तियों के चित्र का नाम काव्य मानते, वो दूसरी ओर मिल्टन के प्रभाव से प्रभावित होकर कहते हैं कि 'कविता सरल, प्रत्यक्षमूलक और रचनात्मक होनी चाहिए।' किन्तु वे कविता में असलियत पर जोर देते हैं—'सादगी, असलियत और जोश यदि यह तीनों गुण कविता में ही हों तो कहना ही क्या!' द्विवेदी जी की ये सभी मान्यताएँ काव्य के कलापक्ष का ही अधिक प्रतिनिधित्व करती हैं।

आचार्य शुक्ल रसवादी हैं, वे सत्य की अवहेलना नहीं कर सके तथा आचार्य विश्वनाथ की 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' परिभाषा को संकुचित 'रसात्मकं' के आवरण से निकाल कर व्यापक क्षेत्र प्रदान करते हैं—**"कविता वह साधन है जिसके द्वारा हमारे मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।"** एक दूसरे स्थल पर पुनः वे लिखते हैं—"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति-साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं।" वास्तव में काव्य का चरम लक्ष्य हृदय की मुक्ति ही है। वही हमें ममत्व-परत्व की भावना से ऊपर उठाकर चित्त के विक्षेप से दूर ले जाकर, काव्यानन्द का आस्वाद कराती है। आचार्य शुक्ल भावजगत् और बाह्य जगत दोनों का सामंजस्य चाहते हैं। वे न तो कोरे चमत्कार के पक्ष में हैं और न ही मनोरंजन के। यही नहीं, वे काव्य को लोकहित से भी संबद्ध करना चाहते हैं। इसी लोकहितवादी भावना के कारण वे तुलसी को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि स्वीकार करते हैं, किन्तु शुक्ल जी की ये दोनों ही परिभाषाएँ विस्तृत हैं तथा उनकी कविता-विषयक समस्त मान्यताओं को भी स्पष्ट नहीं करती हैं, इन्हें काव्य-लक्षण न कहकर काव्य के स्वरुव की व्याख्या कहें तो अधिक अच्छा होगा।

महाकवि प्रसाद काव्य को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति कहते हैं—**"काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान-धारा है।"** प्रस्तुत परिभाषा में सत्य, सौन्दर्य और श्रेय के समन्वय पर बल दिया गया है। प्रसाद जी रसवादी हैं अतः आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति में भाव-पक्ष निहित है। किन्तु इसमें अभिव्यक्ति-पक्ष का उल्लेख नहीं है। अस्पष्टता भी है। काव्य को ज्ञान की धारा कहना भी अनुपयुक्त है। तथापि प्रसाद जी की परिभाषा मौलिक है, उनके चिन्तन की सूचक है। यह परिभाषा उपनिषद् के 'अयं आत्मा वाङ्मयः' एवं भवभूति के 'अमृतात्मनः कलाम्' तथा ऋग्वेदीय 'मैं अपने कवित्व को बादलों में फूटकर बाहर आने वाली पावस की धारा समझता हूँ।" कथन के निकटतम है।

प्रेमचन्द्र काव्य को जीवन की आलोचना कहते हैं। **पंत बाल्मीकि और शेली** की भाँति विषादमय क्षणों की **अभिव्यक्ति** काव्य मानते हैं—

वियोगी होगा पहला कवि
आह से निकला होगा गान।
निकल कर नयनों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान ॥

पंत ने दूसरी जगह "**कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है**" कहा है। यह परिभाषा अस्पष्ट है, क्योंकि मानव के परिपूर्ण क्षण किन्हें कहा जाय। प्रत्येक व्यक्ति का एक न एक क्षण परिपूर्ण होता ही है, फिर तो उसकी वाणी भी कविता होगी। इस स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति कवि होगा। अतः यह मान्यता भी सर्वमान्य नहीं हो सकती है

बाबू गुलाबराय का लक्षण महत्वपूर्ण एवं सन्तुलित है—"काव्य संसार के प्रति कवि को भाव-प्रधान मानसिक प्रतिक्रियाओं की कल्पना के ढाँचे में ढली हुई श्रेय की प्रेय-रूपा प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति है।"

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का इस सम्बन्ध में अभिमत है—"काव्य तो प्रकृत-मानव-अनुभूतियों का नैसर्गिक कल्पना के सहारे ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण है, जो मनुष्य मात्र में स्वभावतः अनुरूप भावोच्छ्वास और सौंदर्य-संवेदना उत्पन्न करता है।" निस्संदेहवाजपेयी जी ने काव्य के स्वरूप को व्यक्त करने में सफलता पाई है।

डा० नगेन्द्र ने प्राच्य एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र का अध्ययन कर काव्य-लक्षण के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है—प्राच्य एवं पाश्चात्य काव्य परिभाषाओं का अध्ययन कर हम कह सकते हैं कि यूरोप में काव्य को जहाँ जीवन की अनुकृति, आलोचना, भावस्मरण, कल्पना आदि कहा गया है वहाँ कहने वाले की दृष्टि कवि केन्द्रित रही है—इसके विपरीत हमारे यहाँ जब उसे रसात्मक वाक्य, रमणीयार्थ प्रतिपादक आदि कहा गया है, तब कहने वाले का ध्यान सहृदय की ओर ही रहा है। जैसा कि मम्मट की काव्य परिभाषा एवं काव्य के प्रयोजन से अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि काव्य के प्रति भारतीय दृष्टिकोण सर्वथा अव्यक्तिगत रहा है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि विश्व-साहित्य में विभिन्न कालों में काव्य के लक्षणों का निर्माण हुआ है और हो रहा है फिर भी इस सम्बन्ध में यही कहना अधिक उचित एवं उपयुक्त होगा कि कविता-कामिनी का पूर्ण विशुद्ध सर्वसम्मत लक्षण आज तक नहीं लिखा जा सका है और न ऐसी सम्भावना ही है क्योंकि '**भाव भेद रस भेद** अपारा' का गायक काव्य एक संक्षिप्त परिभाषा में आबद्ध नहीं किया जा सकता है, ऐसा सम्भव भी नहीं है क्योंकि वह तो आत्मानुभूति का व्यक्त रूप है, अतः

"न शक्यते वर्णयितुं गिरा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते। कहना ही अधिक उपयुक्त है।

प्रश्न ६—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' रसात्मक वाक्य ही काव्य है' आचार्य विश्वनाथ की काव्य-विषयक इस परिभाषा की सम्यक् परीक्षा कीजिए।

उपर्युक्त काव्य का लक्षण काव्य में रस की निर्भ्रान्त प्रतिष्ठा की घोषणा

करता है। इसमें काव्य के मूल तत्व का स्पष्ट संकेत किया गया है। काव्य का यह लक्षण काव्यशास्त्र के इतिहास की अराजकता में एक सन्तुलित एवं स्वस्थ दिशा प्रदान करने का प्रयास है। यद्यपि विश्वनाथ से पहले भी काव्य में रस की प्रतिष्ठा हो चुकी थी, उसका महत्त्व स्वीकार किया जा चुका था। इन आचार्यों में—भरत, भामह, दण्डी उद्भट, रुद्रट, वामन एवं शुद्धोदीन प्रमुख हैं, जो रस के महत्व को स्वीकार कर चुके थे, किन्तु काव्य के लक्षण में रस की प्रतिष्ठा किसी ने नहीं की थी। विश्वनाथ ने लीक से हटकर काव्य के मूल को प्राणदान दिया था। गुण, अलंकार आदि काव्य के तत्व रस को परिपुष्ट करते हैं। वाक्य शब्द में शब्द और अर्थ का समाहार है क्योंकि सार्थक शब्द ही वाक्य बन जाता है। 'रसात्मक' शब्द में काव्य का अनुभूति पक्ष या भाव पक्ष समाहित हो गया है और वाक्य शब्द में अभिव्यक्ति प्रक्ष अथवा कलापक्ष भी समाविष्ट है। अतः यह काव्य का लक्षण अत्यन्त विशिष्ट है।

भारतीय काव्यशास्त्र में परिनिष्ठित काव्यलक्षण सर्वप्रथम भामह ने लिखा था—"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" निश्चय ही यह लक्षण संक्षिप्त था। आचार्य देवेन्द्र नाथ ने इस प्रसङ्ग में लिखा है कि—"एक तो यह कि इस तथाकथित लक्षण में काव्यत्व का व्यवच्छेदक किसी भी अर्थ का निर्देश नहीं है, शब्द और अर्थ के सहभाव मात्र को काव्य मानना वाणी के समस्त प्रपञ्च को काव्य माना है और ऐसी अतिव्याप्ति है जिसकी आशा भामह जैसे आचार्य से नहीं की जा सकती है। दूसरी बात यह है कि 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' दो पूर्ववर्ती एवं परस्पर विरोधी मतों का समन्वय साधक वाक्य है।" वास्तव में 'सहितौ' शब्द से विश्वनाथ का अभिप्राय यह है कि जिस रचना में वर्णित अर्थ के अनुरूप शब्दों का प्रयोग हो या शब्दों के अनुरूप अर्थ का वर्णन हो वे शब्द और अर्थ ही 'सहितौ' पद से विवक्षित हैं।

भामह का यह काव्य लक्षण पूर्ववर्ती दो विचार धाराओं के समन्वय के लिए लिखा गया है। पूर्ववर्ती आलंकारिकों में से एक वर्ग अर्थालंकारों को और दूसरा वर्ग शब्दालंकारों को महत्व देता था। एक मत था कि "काव्य के सौन्दर्य का ज्ञान अर्थ प्रतीति के बाद ही होता है, अतः अर्थगत चमत्कार ही काव्य जनित आनन्दानुभूति कारण है। शब्द सौष्ठव के द्वारा काव्य के मूल सौन्दर्य का सृजन सम्भव नहीं है। अतः काव्यसौन्दर्य की वृद्धि के लिए अर्थालंकारों की नितान्त आवश्यकता है। "शब्दालंकारों के समर्थकों का विचार है कि काव्य का प्रथम सौन्दर्य शब्द-कौशल में समाहित है क्योंकि शब्द सर्वप्रथम सुनाई देता है, तदनन्तरउसके अर्थ की प्रतीति होती है। इसलिए चित्त पर पहला प्रभाव शब्द का होता है। हृदय उसी से प्रभावित होता है। अतः काव्य में शब्दालंकार का महत्त्व है।"

भामह ने इन दोनों मतों के महत्व को स्वीकार कर समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्ततु किया है। एक के महत्त्व को दूसरा नहीं ले सकता है और न वे एक दूसरे में अन्तर्मुक्त ही हो सकते हैं। न केवल 'शब्द' ही काव्य है और न केवल अर्थ ही काव्य है। अपितु दोनों हीं काव्य के उपजीव्य हैं। इस तथ्य का समर्थन मम्मट, काव्य प्रकाश के

प्रदीप्त टीकाकार तथा कुन्तक आदि ने भी किया है। भामह के विचारों का सार यह है कि शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों ही काव्य-शोभा के आधायक तत्व हैं, दोनों शब्द और अर्थ मिलकर काव्य कहलाते हैं—भामह परवर्ती अनेक आचार्यों ने इसीलिए 'शब्दार्थौ' को काव्य लक्षण में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

भामह के बाद दण्डी, वामन, कुन्तक आदि आचार्यों ने अपने-अपने मत प्रस्तुत किये—दण्डी ने इष्टार्थ शब्द में माना वामन शब्द अर्थ के विवाद से ऊपर उठकर 'दोष को त्याग कर गुण तथा अलंकार को काव्य का अङ्ग सिद्ध करते हैं। रुद्रट भामह का समर्थन करते हैं। कुन्तक शब्द और अर्थ के सह अस्तित्व को काव्य मानते हैं। क्षेमेन्द्र औचित्य तत्त्व की प्रतिष्टा करते हैं। भोज ने अपनी संग्राहक प्रवृति के कारण एक समन्वय वादी परिभाषा लिखी है। भोज पर—भामह दण्डी एवं वामन के काव्य लक्षण का प्रभाव दृष्टिगत होता है। भोज का लक्षण मम्मट के काव्य लक्षण के अधिक निकट

निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्ति प्रीतिं च विन्दति॥

'दोष रहित, गुण सहित, अलंकारों से अलंकृत और सरस काव्य की रचना करके कविकीर्ति के साथ-साथ सुख की भी प्राप्ति करता है।" इसी प्रकार मम्मट का काव्य लक्षण है—

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि" अर्थात् "दोषरहित गुणालंकार युक्त शब्दार्थ ही काव्य है, किन्तु कभी-कभी अलंकार रहित भी होता है।" इन दोनों काव्यलक्षणों का अन्तर यह है कि **"मम्मट ने जहाँ अलंकारों को काव्य में गौण स्थान दिया है, वहाँ भोज अलंकारों से अलंकृत काव्य का स्वागत करते हैं।"**

मम्मट ने शब्दार्थौं के तीन विशेषण—'अंदोषौ,' 'सगुणौ' तथा 'अनलंकृती पुनः क्वापि' बतलाये हैं। मम्मट की परिभाषा का सार यह है कि 'मम्मट ने शब्द और अर्थ की समष्टि को काव्य माना है। केवल शब्द को अथवा केवल अर्थ को काव्य नहीं कह सकते हैं। तीनों विशेषणों से यह व्यंजित होता है कि शब्द तथा अर्थ दोनों का दोष रहित होना आवश्यक है। दूसरी बात यह है उनमें माधुर्य, ओज एवं प्रसादादि गुणों की स्थिति भी अनिवार्य है। तीसरे विशेषण का अभिप्राय यह है कि काव्य अलंकार सहित हो। किन्तु किसी-किसी परिस्थिति में अलंकार के अभाव में भी उसकी स्थिति पर सन्देश नहीं प्रकट किया जा सकता है। अर्थात् काव्य में अलंकार रहें तो ठीक बात है अन्यथा उनका न रहना काव्यत्व के लिए क्षति कारक नहीं होगा।"

आचार्य मम्मट के इस काव्य लक्षण की आचार्य-विश्वनाथ ने कटु आलोचना की है। विश्वनाथ ने मम्मट की परिभाषा के प्रत्येक शब्द को अस्वीकार करते हुए—रस को काव्य का मूल तत्त्व मानकर काव्य का लक्षण लिखा है।

आचार्य विश्वनाथ ने मम्मट के 'अंदोषौ' पद पर निम्न चार आपत्तियाँ की हैं—

(१) "क्या सदोष काव्य, चाहे वह ध्वनि-रूप उत्तम काव्य भी क्यों न हो,

सदा ही काव्य-कोटि से बहिष्कृत किया जायगा ? यदि हाँ, तो ध्वनि काव्य के ही उदाहरणों में अनेक दोष प्राप्त हो जायेगें। फिर क्या वे दुष्ट स्थल 'काव्य पद के अधिकारी नहीं रहेगें ?' और यदि नहीं, तो 'अदोषौ' विशेषण को काव्य लक्षण में स्थान नहीं देना चाहिये, अन्यथा यह लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित कहा जायगा।"

(२) और यह भी उचित नहीं होगा कि किसी रचना का जो अंश सदोष हो, उसे अकाव्य, और शेष निर्दोष अंश को ध्वनि आदि काव्य कहें, क्योंकि तब काव्यत्व और अकाव्यत्व की खींचातानी में वह रचना अपना महत्व खो देगी।

(३) किसी भी रचना में दोषानुसंधान किया जा सकता है, यदि दोष का अभाव काव्य का अनिवार्य धर्म माना जाय, तो यथार्थ काव्य दुर्लभ हो जायगा। और यदि 'अदोषौ' पद में नञ् का अर्थ 'ईषद्' अर्थ मानकर यह कहा जाय कि थोड़े दोष से युक्त शब्दार्थ को काव्य कहना चाहिए, तो 'ईषद् दुष्टता' काव्य का अनिवार्य धर्म होने के कारण किसी महान् कवि की सर्वथा निर्दोष रचना को 'काव्य' नहीं कहा जा सकेगा। यदि 'अदोषौ' का अर्थ—**'सति सम्भवे ईषद् दोषौ'** अर्थात् सर्वप्रथम दोषरहित शब्दार्थ ही काव्य है, पर यदि दोषों की सम्भावना हो तो थोड़े दोष वाले शब्दार्थ को काव्य कह लेना चाहिए, अधिक दोष वाले शब्दार्थ को नहीं, इस स्थिति में भी 'अदोषौ' विशेषण व्यर्थ है—क्योंकि प्रथम तो रत्न होना चाहिए, और यदि थोड़ा-सा कीड़ा लगा भी हो तो उसे भी रत्न कहेगें। कीड़ा लगा होने के कारण रत्न का रत्नत्व नष्ट नहीं हो जाता। उसका मूल्य कम हो सकता है।

(४) **'अदोषौ'** विशेषण भी असंगत है क्योंकि दोषों का अस्तित्व रसापकर्ष पर निर्भर है। यही कारण है कि श्रुतिकटु, पुनरुक्त, ग्राम्य आदि दोष अनित्य हैं और 'च्युतसंस्कृति' आदि दोष नित्य यदि अदोषों विशेषण स्वीकार कर लिया जाय तो श्रुतिकटु आदि अनित्य दोष 'जहाँ दोष नहीं रहते, अथवा गुण रूप हो जाते हैं, वहाँ भी उनकी स्थिति अनुपयुक्त हो जायगी

विश्वनाथ ने मम्मट की दोष विषयक धारणा से परिचित होते हुए भी बाल की खाल निकालने के लिए 'अदोषौ' पद का खण्डन किया है। वस्तुतः मम्मट दोष—रसापकर्ष को मानते हैं—**"मुख्यार्थहतिर्दोषः रसश्च मुख्यः—हतिरपकर्षः"** किसी सदोष रचना में रस का अपकर्ष न होने पर दोष नगण्य ही रहते हैं। इस विषय में एक बात और भी है कि विश्वनाथ दोषों के विषय में मम्मट से पूर्णतः प्रभावित हैं, ऋणी भी हैं, अतः समस्त आक्षेप केवल पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए ही हैं।

वास्तव में आदर्श काव्य-लक्षण में 'अदोषों' पद का समावेश आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। आचार्य विश्वनाथ ने मम्मट के **'सगुणों'** विशेषण पर भी आपत्ति की है। विश्वनाथ की आपत्ति है कि "जब मम्मट स्वयं गुणों को रस का धर्म मानते हैं—**"ये रसस्याङ्गिनो धर्माः"** तो काव्य-लक्षण में वे उन्हें शब्दार्थ का विशेषण क्यों कह रहे हैं ? यदि गुणों को उपचार से शब्दार्थ के धर्म माना जाय, तो भी काव्य लक्षण में उन्हें स्थान नहीं देना चाहिए। गुण रस के बिना नहीं रह सकते, अतः क्या गुणों को

शब्दार्थ के विशेषण बनाने का उद्देश्य यह है कि 'गुण' शब्द से 'रस' का ग्रहण भी स्वतः जाय ? यदि हाँ, तो शब्दार्थ का विशेषण 'सरसौ' रखना चाहिए था। यदि नहीं, तो क्या 'गुणों के अभिव्यंजक शब्दार्थ ही काव्य में प्रयुक्त होने चाहिए ? इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए भी 'सगुणों' विशेपण निरर्थक है। क्योंकि गुणाभि-व्यंजक शब्दार्थ उत्पन्न स्वरूप को उत्कर्ष प्रदान करते हैं। स्वरूपाधान नहीं। ऐसी दशा में 'सगुणों' पद का भी प्रयोग समीचीन नहीं है।

विश्वनाथ के इस आक्षेप को हृदयंगम करने के लिए काव्यपुरुष-रूपक में गुण की स्थिति का मूल्यांकन करना आवश्यक है। **"शौर्यवान शरीर का नाम मानव है"** यहाँ यह विदित होना चाहिए कि शौर्य शरीर का धर्म न होकर आत्मा का धर्म है। दूसरी बात—यदि उपचार से इसे शरीर का धर्म स्वीकार कर लिया जाय तो क्या इसलिए कि 'शौर्य' विशेषण के द्वारा आत्मा का सहअस्तित्व भी स्वतः सिद्ध जायगा। यदि ऐसा है तो—सीधे ही क्यों न **"आत्मवान शरीर"** को मानव स्वीकार कर लिया जाय। तीसरी बात यह है कि "यदि मानव की उक्त परिभाषा से यह तात्पर्य हो कि शौर्ययुक्त शरीर का नाम मानव है, तो भी 'शौर्यवान्' विशेषण अनुचित है, शौर्य तो मानव का उत्कर्षक है, उसके स्वरूप का निश्चेता नहीं है।" शौर्य रहित व्यक्ति भी तो मनुष्य ही कहा जाता है।

विश्वनाथ की दृष्टि अत्यन्त सूक्ष्म है किन्तु मम्मट के समर्थक एक पग आगे बढ़कर कहते हैं कि हमें 'सगुणों' विशेषण के—'सरसों' तथा 'गुणाभिव्यंजकों यह दोनों अर्थ स्वीकार हैं। अतः विश्वनाथ का चिन्तन उचित नहीं है। मम्मट के अनुयायियों ने 'सगुणों' की व्याख्या करके ध्वनि काव्य के तीन प्रमुख भेद—वस्तुगत अलंकार गत तथा रसगत ध्वनि के साथ समन्वय स्थापित किया है। 'सगुणौ' के 'सरसौ' अर्थ से रसगत ध्वनि का समाहार स्वतः हो जाता है। गुणाभिव्यंजक शब्दार्थ युक्त होने पर शेष दोनों ध्वनियाँ भी ध्वनिकाव्य हैं। 'सरसौ' विशेषण केवल रसगत ध्वनि का सूचक होता, शेष दो का नहीं। इस प्रसङ्ग डॉ० चौधरी ने ठीक ही लिखा है कि—"रस गत ध्वनि के लिए भी 'सगुणौ' का 'गुणाभिव्यंजकों' अर्थ मानना आवश्यक है। शृंगार रस की किसी रचना में माधुर्य गुण के अभिव्यंजक शब्दार्थ न होकर यदि ओज गुण के अभिव्यंजक शब्दार्थ होगें, तो वहाँ शास्त्रीय दृष्टि से माधुर्य गुण मान लेने पर भी रचना 'प्रतिकूल-वर्णता' नामक दोष से दूषित अवश्य मानी जायगी। इस प्रकार यदि रसध्वनि-काव्य में गुणों का अस्तित्व नितान्त आवश्यक है, तो गुणीभूतव्यंग्य में भी उसकी अनिवार्यता स्वतः सिद्ध है। काव्य के तीसरे भेद-चित्रकाव्य—स्फुट व्यंग्य-रहित शब्दालंकार तथा अर्थालंकार तो उसमें भी दोष के अभाव के साथ गुणाभिव्यंजक शब्दार्थ अपेक्षित रहते हैं।

आशय यह है कि मम्मट के अनुयायी आचार्यों ने 'सगुणौ' विशेषण की व्यापक व्याख्या कर काव्य के तीनों भेदों को उसमें समाहित कर लिया है। 'सरसौ' शब्द निश्चित ही इतना व्यापक नहीं हो सकता था।

'अनलंकृती पुनः क्वापि' इस वाक्यांश की भी विश्वनाथ ने आलोचना की है। गुणों के समान अलंकार भी काव्य को उत्कर्ष प्रदान करते हैं। वे काव्य के स्वरूप निर्धारण कर्त्ता नहीं हो सकते। विश्वनाथ स्वीकार करते हैं कि किसी कृति में अलंकार स्फुट न भी हों तो भी वहाँ काव्य माना जा सकता है। किन्तु 'अनलंकृती' विशेषण का प्रयोग काव्य-लक्षण में नहीं होना चाहिये।

आचार्य विश्वनाथ ने आचार्य मम्मट, उद्‌भट् कुन्तक आदि आचार्यों के काव्य-लक्षणों का समारम्भ के साथ खण्डन कर रस को काव्य की आत्मा मानकर काव्य-लक्षण में उसे स्थान देते हुए लिखा है—**'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** रसात्मक वाक्य ही काव्य है।

इस लक्षण को लिखकर विश्वनाथ ने रसवादी परम्परा को महत्वपूर्ण गति प्रदान की है। विश्वनाथ का यह लक्षण भावपरक है। इसमें रस का उल्लेख स्पष्ट रूप में किया गया है, जबकि मम्मट ने संकेत रूप में गुण के माध्यम से रस के महत्त्व को स्वीकार किया था। विश्वनाथ के रसात्मक वाक्य में गुणालंकार का अस्तित्व भी समाहित हो गया है। आलोचकों की दृष्टि में मम्मट का लक्षण वाह्यार्थ निरूपक है, जबकि विश्वनाथ का यह लक्षण आंतरिक अधिक है। विश्वनाथ के इस लक्षण से—"किसी विशिष्ट काव्यकृति की अनुभूतियों के प्रकाशन की ध्वनि निकलती है।"

आचार्य विश्वनाथ के काव्य-लक्षण के परवर्ती आचार्यों ने गम्भीर परीक्षा की है। 'वाक्य' की भाषाशास्त्रीय परीक्षा विश्वनाथ के दृष्किोण को ध्वस्त कर देती है। दूसरे वाक्य तो प्रतिदिन के जीवन में प्रयुक्त होते रहते हैं। इन्हें काव्य नहीं कहा जाता है। अतः रसाभिव्यंजकता को विशिष्ट किया जाना चाहिये। जब उसे विशिष्ट करते हैं तो मम्मट के काव्य लक्षण ने क्या अपराध किया है, जिसका विश्वनाथ ने खण्डन किया है। इस लक्षण में निहित रसात्मकं' शब्द व्याख्या की अपेक्षा रखता है। मात्र इस लक्षण में प्रदत्त शब्दों से काव्य का रहस्य-रस स्पष्ट नहीं होता है। यद्यपि विश्वनाथ ने लिखा है कि—

"जिसमें आत्म-तत्व रस हो उस वाक्य को रसात्मक वाक्य कहते हैं अर्थात् जिसे जीवित रखने का एकमात्र सारतम तत्व रस ही है। रस के अभाव में कोई भी वाक्य काव्य नहीं कहला सकता। रस से अभिप्राय यहाँ आस्वाद के विषय से है, मात्र शृंगारादि रस से नहीं। यहाँ रस के अन्तर्गत भाव, भावाभास और रसाभास आदि सभी आ जाते हैं क्योंकि ये सभी सहृदयों के आस्वाद के विषय होते हैं। रस शब्द के अन्तर्गत सहृदयों के आह्लाद के सभी विषय आ जाते हैं।—"रस एवात्मा साररूपतया जीवनाधायको यस्य। तेन विना तस्य काव्यत्त्वानङ्गीकारत्। रस्यते इति रसः। इति व्युत्पत्ति योग्यद् भावतदाभासादयोऽपि गृह्यन्ते।"

इस लक्षण का दूसरा दोष इसका अव्याप्तिदोष ग्रस्त होना है, क्योंकि रस शब्द में काव्य के समस्त तत्वों तथा रूपों का समावेश नहीं हो पाता है, जैसे वस्तुगत ध्वनि

अलंकारगत ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य, चित्रकाव्य एवं रसादि अलंकारों को 'रस' अपने में अन्तर्भुक्त करने में पूर्णतः असमर्थ है।

चित्रकाव्य में भी रस का अभाव रहता है, अतः यह लक्षण अव्याप्ति दोष ग्रस्त है। विश्वनाथ की दृष्टि में रस से भिन्न अन्य काव्य के तत्त्व गौण हो सकते हैं किन्तु यह सिद्धान्त अन्य आचार्यों को स्वीकार नहीं है।

एक अन्य दोष इस लक्षण का यह है कि वाक्य 'पदोच्चय' का नाम है। 'पद' शब्द को कहते हैं, इस प्रकार विश्वनाथ शब्द को काव्य का शरीर मानते हैं, शब्दार्थ को नहीं।

यह काव्य का लक्षण विस्तृत व्याख्या की अपेक्षा रखता है।

पंडितराज जगन्नाथ ने भी इस काव्य लक्षण की आलोचना की है, उनके अनुसार रसात्मक वाक्य को काव्य मानना तर्कसंगत नहीं है क्योंकि इसे काव्य-लक्षण मानने पर जिन काव्यों में केवल वस्तु वर्णन या अलंकार वर्णन होगा, उन्हें काव्य स्वीकार नहीं किया जा सकता है। और न ही इनमें अकाव्यत्व ही सिद्ध किया जा सकता है। यदि इनमें अकाव्यत्व स्वीकार कर लिया जायगा तो "चिरकाल से प्रवाहित महाकवियों की परम्परा ही छिन्न हो जायगी। चित्र काव्य, प्रकृति वर्णन, अन्योक्ति आदि को काव्य से निकालना होगा। किन्तु इनमें भी काव्य रस रहता है, अतः इन्हें काव्य से बाहर नहीं किया जा सकता है।

निष्कर्ष यह है कि आचार्यों ने शास्त्रीय पद्धति पर गम्भीर विचार-विश्लेषण किया है। दोषानुसंधान किया है किन्तु **इस काव्यलक्षण में काव्य आत्मतत्व की खोज की सफल उद्घोषणा की गयी है। काव्य का मूल तत्व रस या आनन्द है। यह सभी आचार्यों को स्वीकार है। आचार्य भरत से लेकर विश्वनाथ तक सभी आचार्य रस के महत्व को स्वीकार करते हैं।**

बाह्य आकार की छीद से लक्षण संतुलित एवं संक्षिप्त है अतः यह एक महत्त्वपूर्ण काव्य लक्षण है।

प्रश्न १०—पंडितराज जगन्नाथ के काव्यलक्षण—"रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' की परीक्षा करते हुए उसके गुण-दोषों का अनुसंधान कीजिए।

पंडितराज का यह काव्य लक्षण विशिष्ट है। काव्य के मूल तत्व का सूचक है। वह तत्व है—रमणीयता। इस रमणीयता की चर्चा वामन ने **'सौन्दर्य'** दण्डी ने **'इष्टार्थ'**, आनन्दवर्धन और कुन्तक ने **'लोकोत्तरआह्लाद'** के नाम से की थी। काव्य-शास्त्र का लोकप्रिय शब्द **'चमत्कार'** भी इन्ही का दूसरा नाम है। "सौन्दर्य" और 'चमत्कार' शब्दों में काव्य का वाह्य सुरूप; तथा 'लोकोत्तर आह्लाद' में काव्य का आन्तरिक सुरुप अधिक निहित है, और दण्डी के 'इष्ट' शब्द की मध्यम स्थिति है। पर 'रमणीयता' शब्द हमारे विचार में बाह्य और आन्तरिक दोनों सुरुपों का समान रूप से द्योतक होने के कारण सर्वाङ्गपूर्ण है।"

पंडितराज जगन्नाथ से पहले के काव्य लक्षणों को तीन कोटियों में रखकर उनका

मूल्यांकन किया जा सकता है : (१) भामह और रुद्रट शब्दार्थ के सहित-भाव को काव्य कहते हैं। (२) मम्मट-निर्दोष तथा गुणालंकार सहित शब्दार्थ को काव्य कहते हैं। किन्तु यहाँ ध्वनि अथवा रस जन्य लोकोत्तराह्लाद का उल्लेख नहीं है। अन्य आचार्यों ने इनका उल्लेख किया है। अतः मम्मट का लक्षण रस के प्राधान्य की अवहेलना का सूचक है। (३) आनन्दवर्धन, कुन्तक और विश्वनाथ ने क्रमशः ध्वनि, वक्रोक्ति और रस को आत्मरूप में प्रतिष्ठत करते हुए लक्षणों में इनका उल्लेख किया है किन्तु ये तीनों ही लक्षण व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं और जटिल भी हैं।

डॉ० सत्यदेव चौधरी ने इस विषय पर विचार करते हुए लिखा है कि—आनन्दवर्धन की 'ध्वनि' काव्य के इतर दो भेदों गुणीभूत-व्यंग्य और चित्र को, और विश्वनाथ का 'रस' इन दो भेदों के अतिरिक्त ध्वनि के वस्तुगत और अलंकारगत भेदों तथा रसवत् आदि अलंकारों को अपने अन्तराल में समाविष्ट नहीं कर सकता। पर जगन्नाथ की 'रमणीयता' में किसी भी प्रकार के काव्य चमत्कार को धारण करने की क्षमता है। यही नहीं, गुण, रस, जैसे पारिभाषिक शब्दों से भी यह लक्षण मुक्त है, अतः सुगम है। काव्य के स्वरूप का स्पष्ट परिचय दे देने में पूर्णतः समर्थ है।

पंडितराज **'रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहते हैं।** रमणीयता से आशय-सहृदय के हृदय में उत्पन्न चमत्कार या आह्लाद से है—'रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञान गोचरता।" पंडितराज ने शब्द को काव्य माना है और उसका विशेषण है—**"रमणीयार्थ प्रतिपादकः।'** इस लक्षण की व्याख्या के लिए पंडितराज ने तीन वाक्यों का उल्लेख किया है—प्रथम वाक्य है : **"चमत्कारजनक भावना विषयार्थ प्रतिपादक शब्दत्वम्"** (काव्यत्वम्)। अर्थात् 'चमत्कार को उत्पन्न करने वाली जो भावना, उसका विषय जो अर्थ, उस अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है।"

द्वितीय वाक्य है—"यत्प्रतिपादितार्थ विषयकभावनात्वं चमत्कार जनकतावच्छेदकं तत्त्वम्' अर्थात् जिस शब्द से प्रतिपादित अर्थ की भावना चमत्कार को उत्पन्न करने वाली होगी वही शब्द काव्य होगा। सार यह है कि चमत्कार जनक रमणीय अर्थ ही काव्य है।

तीसरा वाक्य है—"स्वविशिष्टजनकतावच्छेदकार्थ प्रतिपादकता संसर्गेण चमत्कारत्ववत्त्वमेव वा काव्यत्वम्।" यह वाक्य केवल न्याय की भाषा का खेल है। सम्पूर्ण वाक्य का सार यह है कि—"प्रतिपादकता सम्बन्ध से चमत्कार को उत्पन्न करने वाले अर्थ से युक्त शब्द होना ही काव्य है।"

अपने लक्षण की इस व्याख्या के बाद ही पंडितराज ने मम्मट के काव्य लक्षण पर आक्षेप किये हैं। पंडितराज ने विशेष्यांश और विशेषणों दोनों का ही खण्डन किया है अर्थात् शब्दार्थौ, सगुणौ तथा सालङ्कारौ' यह तीनों ही पद आलोचना के विषय बने हैं।

'शब्दार्थौ' मम्मट के 'शब्दार्थौ' विशेष्यांश का खण्डन करते हुए जगन्नाथ ने लिखा है कि—'शब्द ही काव्य है, शब्दार्थ नहीं। क्योंकि 'काव्य सुना, पर अर्थ समझ में नहीं आया,' 'वह उच्च स्वर से काव्य पाठ करता है' आदि वाक्यों में काव्य शब्द

'शब्द' का वाचक है, अर्थ का नहीं। दूसरा तर्क है कि शब्द और अर्थ दोनों को मिलाकर भी काव्य नहीं कहा जा सकता है और न दोनों को अलग-अलग ही काव्य कहा जा सकता है। क्योंकि एक और मिलकर 'दो' होते हैं, अतः न तो दो 'एकों' को हम एक कह सकते हैं और न किसी 'एक' को दो कहा जा सकता है। कारण यह है 'अवयव और अवयवी की सत्ता में सदा पार्थक्य रहता है।' इस प्रकार शब्द और अर्थ दोनों मिलकर एक काव्य नहीं कहे जा सकते हैं। दोनों का अस्तित्व अलग-अलग है। अन्यथा पद्य का प्रत्येक वाक्य काव्य कहा जाने लगेगा, और शब्द और अर्थ पृथक्-पृथक् काव्य भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इस स्थिति में एक ही पद्य में काव्य मानने पड़ जायेंगे। अतः 'शब्द' ही काव्य है।

वास्तव में पंडितराज के ये दोनों ही तर्क महत्वपूर्ण नहीं है। क्योंकि 'काव्य सुना' वाक्य में 'काव्य' शब्द का वाचक है और 'काव्य समझा' में काव्य शब्द अर्थ का भी वाचक है। दूसरे तर्क में—शब्द और अर्थ में से किसी एक के लिए रुढ़ा लक्षण द्वारा अन्यार्थ की प्रतीति हो सकती है। अतः शब्दार्थ को काव्य मानना अधिक तर्क संगत है।

'सगुणौ और सालङ्कारौ' : (१) गुण और अलङ्कार से युक्त शब्दार्थ को काव्य मानने पर 'उदितं मण्डलं विधो' और 'गतोऽस्तमर्कः' आदि वाक्यों को काव्य कहना सम्भव नहीं होगा, क्योंकि इनमें न तो कोई गुण है और न अलङ्कार। यह वाक्य काव्य है कि नहीं यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वक्तृ-बोद्धव्यादि के वैशिष्ट्य से इनमें अनेक व्यंग्यार्थों की प्रतीति होती ही है, उन अर्थों से चमत्कार भी उत्पन्न होता है, अतः यह काव्य कहे जाने चाहिये।

(२) गुण और अलंकार से युक्त शब्दार्थ को काव्य स्वीकार करने पर एक प्रश्न भी उठता है कि 'माधुर्य' ओज आदि में से किसी एक गुण का होना आवश्यक है या समस्त गुणों का।' इसी प्रकार उपमादि अनेक अलंकारों में से किसी एक अलंकार का अस्तित्व आवश्यक है या समस्त अलंकारों का? यदि समस्त गुण और समस्त अलंकारों से युक्त शब्दार्थ को काव्य कहा जायगा तो यहाँ असम्भव दोष उत्पन्न होगा। समस्त गुण और समस्त अलंकारों वाला एक काव्य ही नहीं बन सकेगा। यदि किसी एक गुण और अलंकार विशेष के होने पर काव्य मानें तो उसका उल्लेख करना होगा। उस उल्लिखित गुण और अलंकार से भिन्न समस्त काव्य अकाव्य होगा। अर्थात् गुण विशेष यदि ओज है, तो प्रसाद और माधुर्य गुण युक्त काव्य काव्य नहीं रहेगा। यही स्थिति अलंकार के विषयों में भी होगी।

यदि गुण और अलंकार पदों से गुणत्व और अलंकारत्व को ग्रहण करना चाहिये, इस स्थिति में पुनः प्रश्न होगा कि अलंकारत्व और गुणत्व क्या है और इनका स्वरूप क्या है? घटत्वादि की तरह इन्हें जाति नहीं कह सकते क्योंकि जाति वहीं होती है जहाँ पदार्थ अनेक हों और समान हों। घट पदार्थ अनेक हैं और सब एक से हैं अतः उनमें घटत्व जाति सिद्ध होती है। दूसरी और—गुण और अलंकार समान नहीं

हैं, प्रत्येक गुण दूसरे गुण से, प्रत्येक अलंकार दूसरे अलंकार से भिन्न हैं। अतः यहाँ जाति मानना सम्भव नहीं है। गुणत्व और अलंकारत्व की सिद्धि न होने पर उनसे युक्त शब्दार्थ को काव्य कहना उचित नहीं है—

"गुणत्वालङ्कारत्वादेरननुगमाच्च।"

यदि यह कहा जाय कि "जो शूरता वीरता आदि के समान काव्य की आत्मा के धर्म हो वह गुण और जो कटक कुण्डलादि के समान काव्य के शरीर शब्द और अर्थ के शोभाकारक हों वह अलंकार हैं, अतः तद्विशिष्ट शब्दार्थ को काव्य कहना चाहिए"—यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि 'आत्मा के धर्म और शरीर के उपस्कारक होने पर भी वह काव्य के घटक उसी प्रकार नहीं हो सकते जिस प्रकार शूरता, वीरता और कटक-कुण्डलादि मनुष्य के घटक नहीं बन सकते—**"शौर्यादिवदात्मधर्माणां गुणानाम्, हारादिवदुपस्कारकारकाणामलङ्काराणां च शरीरघटकत्वानु पपत्तेश्च।"**

'अदोषौ' विशेषण का प्रयोग भी अनुचित है, क्योंकि गुण और अलंकारों की तरह दोष 'शब्द' का आशय स्पष्ट नहीं है। एक दोष से रहित शब्दार्थ काव्य है अथवा समस्त दोषों से रहित शब्दार्थ काव्य है। यह स्पष्ट नहीं है। समस्त दोषों से रहित काव्य का मिलना असम्भव है, यदि किसी विशिष्ट दोष से रहित माने तो उसका उल्लेख करना होगा। और यदि 'दोषत्वविशिष्ट' तीसरा अर्थ ले तो 'दोषत्व' जाति बनती नहीं हैं। क्योंकि समस्तदोष असमान हैं। 'दोषत्व' का कोई अनुगमक नहीं है अतः इसे शब्दार्थ के विशेषण के रूप में प्रयुक्त करना सर्वथा अनुचित है।

इस विशेषण का प्रयोग इसलिए भी अनुचित है कि 'अदोषौ' कह देने से यह सिद्ध होता है कि दोष से युक्त शब्द और अर्थ काव्य नहीं हैं। परन्तु इसके विपरीत 'दुष्टंकाव्य् म्, इस प्रकार का व्यवहार होता है। अतः दोषयुक्त होने से जो काव्य नहीं है उसे काव्य कहना विरुद्ध एवं असङ्गत है।" 'दुष्टं काव्यम्' को सिद्ध करने के लिए—जिस अंश में दोष हो वह अकाव्य और जो अंश दोषहीन हो उस अंश को 'काव्य' कहें तो यह कहें। इस प्रकार एक ही पद्य काव्य और अकाव्य दोनों हो सकता है। किन्तु यह व्यवहार भी अनुचित है, क्योंकि एक ही पद्य का जब तक काव्य और अकाव्य सिद्ध न हो जाय तब तक यह तर्क न्याय संगत नहीं है। अतः यह 'अदोषौ' विशेषण भी असङ्गत है।

पंडितराज ने आचार्य विश्वनाथ के काव्यलक्षण का भी खण्डन किया है। विश्वनाथ का लक्षण है—**"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्"** अर्थात् रस जिसका आत्मा है ऐसा वाक्य काव्य है। विश्वनाथ ने वाक्य=शब्द को काव्य माना है। यह पंडितराज सम्मत हैं. अतः पंडितराज ने केवल विशेषण—**'रसात्मकम्'** पर आक्षेप किया है।

पण्डितराज की आपत्तियाँ इस प्रकार हैं—

(१) यह लक्षण अव्याप्ति दोषपूर्ण हैं क्योंकि जिस काव्य में वस्तु और अलंकार प्रधान है, वहाँ यह लक्षण असङ्गत है। इसलिए रचित साहित्य का एक बहुत बड़ा अंश काव्य के क्षेत्र से बाहर हो जायगा। इस क्षेत्र में—जिसमें कवियों 'कपि, बालक जल-प्रवाहादि का काव्य आता है।

(२) यदि 'रसात्मकम्' का तात्पर्य—थोड़ा बहुत जो भी रस से सम्बन्धित हो, वह सब काव्य है तब अत्यन्त सामान्य वाक्य—'गौश्चलति', मृगो धावति' आदि वाक्य भी काव्य कहे जाने लगेगें। और इस प्रकार प्रत्येक वस्तु रस से सम्बन्धित हो जाएगी। अतः यह विश्लेषण भी समीचीन नहीं है।

समीक्षा—पंडितराज के काव्यलक्षण पर भी अक्षेप किये जा सकते हैं—प्रथम आपत्ति यह है कि 'केवल 'शब्द' को ही काव्य क्यों माना जाए, शब्दार्थ को क्यों नहीं ? आचार्य कुन्तक वाचक (शब्द) और वाक्य (अर्थ) दोनों को संयुक्त रूप में काव्य माना है—"शब्दार्थौ काव्यम्, वाचको वाच्यश्चेति द्वौ सम्मिलितौ काव्यम्।" शब्दार्थ परस्पर मिलकर एक-दूसरे के सौन्दर्य को बढ़ाते हैं। शब्दार्थ की मनोहारिणी स्थित का नाम ही साहित्य है।[1]—कुन्तक कवि की प्रतिमो विवक्षित अर्थ के लिए विशिष्ट और उपयुक्त शब्द निर्वाचन में मानते हैं। अभीष्ट अर्थ का वाचक शब्द ही यथार्थ में शब्द है' जो अपने स्पन्द अर्थात् स्वभाव से सहृदय जनों के लिए आल्हादकारी है वही अर्थ है।[2] अर्थ को अर्थवत्ता उपयुक्त शब्द से प्राप्त होती है। शब्द और अर्थ का साहित्य लोक भले ही स्वीकार करले, किन्तु काव्य में वह कदापि क्षम्य नहीं है। अस्तु.

पंडितराज जगन्नाथ निश्चय ही 'शब्द' को काव्य का शरीर मानते हैं, किन्तु शब्दार्थ के साहित्य की अस्वीकृति का संकेत उन्होंने कहीं नहीं किया है। उनकी ध्यान 'शब्द को काव्य शरीर मानने का रहा है, वे अर्थ को काव्यशरीर नहीं मानते हैं। इतना होने पर भी अर्थ का महत्व कम नहीं होता है। निश्चय ही 'शब्द' काव्य का बाह्य रूप है, और अर्थ आन्तरिक रूप। अतः 'अर्थ' को शब्द के स्तर पर क्यों लाया जाय। उसे काव्य शरीर क्यों कहा जाय। वस्तुतः अर्थ तो काव्य शरीर का मूल तत्व है। पंडितराज 'शब्द' को काव्य शरीर मानते हुए भी शब्द और अर्थ के सहित भाव का विरोध नहीं करते हैं।

प्रश्न ११. प्राच्य एवं पाश्चात्य मतानुसार काव्य के प्रयोजनों पर विचार कीजिए।

आधुनिक शब्दावली में काव्य-प्रयोजनों का अभिप्राय काव्य रचना की आन्तरिक प्रेरणा एवं हेतु है किन्तु स्पष्ट रूप से इनका प्रयोजन ही है। संस्कृत-साहित्य में किसी विषय के अध्ययन के चार क्रम वतलाये गए हैं—(१) प्रयोजन, (२) अधिकारी, (३) सम्बन्ध और (४) विषय-वस्तु। इन्हें 'अनुबन्ध-चतुष्टय' भी कहा जाता है। इस अनुबन्ध-चतुष्टय में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्व प्रयोजन ही है। इसीलिए संस्कृत काव्य शास्त्रियों का सिद्धान्त है—"**यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत्केन गृह्यते।**" एक बात यह भी है कि संसार के किसी व्यक्ति की कार्याकार्य में प्रवृत्ति कारण-विशेष से होती है क्योंकि मूर्ख व्यक्ति भी निष्प्रयोजन किसी कार्य को नहीं करते हैं—**प्रयोजनमनुद्दिश्यमन्दोऽपि न प्रवर्तते**

१. वक्रोक्तिजीवितम् १/१७
२. वही १/९

भारतीय साहित्य में काव्य-हेतु एवं प्रयोजनों पर विस्तार से विचार हुआ है। भारतीय विचारधारा में काव्य के प्रयोजनों पर विचार करते हुए सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की अवहेलना नहीं की गई है, अतः धर्म, और शिक्षा आदि भी काव्य के प्रयोजन निर्धारित किये गये हैं।

भरत—आचार्य भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में नाट्य के प्रयोजनों का उल्लेख किया है, उस उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है कि काव्य केवल मनोरंजन का ही विधान नहीं करता, वरन उसमें धार्मिक नैतिक और साहसिक प्रेरणाएँ भी प्राप्त होती हैं। वह कायरों को साहस प्रदान करता है, वीरजनों को उत्साह वितरण करता है, शोकार्त्त उससे सान्त्वना पाते हैं, उद्विग्न चित्त वालों को शान्ति मिलती है। धर्म, यश, आयु, हितोपदेश, जनहित आदि नाट्य के प्रयोजन हैं। भरत द्वारा उल्लिखित नाट्य के प्रयोजन ही काव्य प्रयोजन हैं क्योंकि ये काव्य पर भी असंदिग्ध रूप में चरितार्थ होते हैं।

भामह—भामह ने काव्य के प्रयोजन पर विचार करते हुए लिखा है कि सत्काव्य के अनुशीलन अथवा रचना से धर्म, अर्थ काम और मोक्ष का ज्ञान होता है, कलाओं में नैपुण्य मिलता है, कीर्ति और आनन्द की प्राप्ति होती है। इन प्रयोजनों में से कीर्ति का लाभ कवि को मिलता है तथा प्रीति (अलौकिकानन्द) का लाभ कवि और पाठक दोनों का होता है—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधु काव्य-निबन्धनम्॥

(काव्यालंकार १/२)

वामन—वामन के अनुसार काव्य के दो ही प्रयोजन हैं: प्रीति और कीर्ति। ये दोनों प्रयोजन जीवनकाल और उसके बाद भी रहते हैं। वामन ने आनन्दानुभूति को काव्य का दृष्ट प्रयोजन तथा कीर्ति को अदृष्ट प्रयोजन कहा है—

काव्यं सद्दृष्टादृष्टार्थप्रीति-कीर्ति-हेतुत्वात् (काव्यालंकार सू० १/१/५)

रुद्रट—आचार्य रुद्रट ने काव्य के अनेक प्रयोजन बताये हैं—युगान्त स्थिर जगत्व्यापी यश, धनप्राप्ति, विपत्तिनाश, अलौकिकानन्द, आप्त कामना, धर्मार्थकाम-मोक्ष की प्राप्ति। किन्तु यश को विशेष महत्व दिया है।

आनन्दवर्द्धनाचार्य ने काव्य का मुख्य प्रयोजन प्रीति (हृदयाह्लाद) को माना है—**तेनब्रूमः सहृदयमनसः प्रीतये तत्स्वरूपम्।** अभिनवगुप्त ने भी प्रीति को ही काव्य का प्रयोजन माना है, किन्तु अभिनव की प्रीति रसानुभूति-परक है।

वक्रोक्तिजीवितकार आचार्य कुन्तक ने काव्य के प्रयोजनों पर गंभीरता से विचार किया है। उनके अनुसार काव्य—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—पुरुषार्थ-चतुष्टय का साधक होता है, सहृदयों को आह्लाद देने वाला होता है, व्यवहार का साधक तथा अलौकिकानन्द का जनक होता है। (वक्रोक्तिजीवित (१/४/५)

आचार्य विश्वनाथ ने भामह के समान पुरुषार्थ-चतुष्टय को काव्य का प्रयोजन माना है (सा० द० १/३)।

पंडितराज जगन्नाथ यश, लोकोत्तर आनन्द, गुरु राजा और देवताओं की प्रसन्नता काव्य का प्रयोजन मानते हैं—**'तत्र कीर्ति परमाह्लाद गुरुराजदेवता प्रसादाद्यनेक प्रयोजनस्य काव्यस्य'....।"**

भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में काव्य-प्रकाशकार मम्मट द्वारा प्रतिपादित काव्य-प्रयोजन सर्वाधिक मान्य एवं चर्चा के विषय रहे हैं। मम्मट के अनुसार काव्य का विशिष्ट प्रयोजन आनन्द है। यह सभी प्रयोजनों में मुख्य है, जो पढ़ते ही अपूर्व आनन्द की सृष्टि करता है—**"सकल प्रयोजन-मौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादन-समुद्भूतं विगलित वेद्यान्तरमानन्दम्।"** यह प्रयोजन कवि और सहृदय-संवेद्य है। उनके काव्य-प्रयोजन निम्न हैं—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्ता-सम्मिततयोपदेशयुजे॥ (का० प्र० १/२)

अर्थात् यश, धन, व्यवहार-ज्ञान, अनिष्ट-निवारण, आनन्द और कान्तासम्मित उपदेश काव्य के प्रयोजन हैं। मम्मट निर्दिष्ट इन छः प्रयोजनों में से तीन मुख्यतः कविनिष्ठ तथा तीन पाठकनिष्ठ कहे जा सकते हैं—यश, अर्थ और अनिष्ट-निवारण ये तीन कविनिष्ठ प्रयोजन तथा शेष तीन पाठकनिष्ठ प्रयोजन हैं।

यश—यश की कामना प्रत्येक व्यक्ति को होती है, यश एक प्रधान प्रेरक तत्व है। कालिदास, भवभूति, जायसी आदि कवियों ने यश के लिए ही काव्य-सृजन किया था। भर्तृहरि के अनुसार कवि का भौतिक शरीर नष्ट हो जाता है किन्तु जरा-मरण से रहित यशःशरीर अमर रहता है—

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धा कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्॥

भारवी भी **"यशोऽधिगन्तुम्"** यशःप्राप्ति के लिए लिखते आशय यह है काव्य के सृजन का एक प्रधान प्रयोजन और प्रेरक तत्व यश है।

अर्थ—काव्य के भौतिक प्रयोजनों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण अर्थ है, क्योंकि संसार में प्रत्येक व्यक्ति को इसकी आवश्यकता होती है। श्रीहर्ष और धावक को प्रचुर धन मिला था। केशवदास को इक्कीस गाँव मिले हुए थे। बिहारी को एक मुहर प्रत्येक दोहे पर मिलती थी। शाहनामा के लेखक फिरदौसी को भी एक शेर पर एक अशर्फी देने का वायदा किया गया था। अँग्रेजी के प्रसिद्ध उपन्यासकार स्कॉट ने कर्ज चुकाने के लिए उपन्यास लिखे थे। हिन्दी साहित्य के रीतिकालीन कवि प्रायः अर्थ के लिए ही काव्य सृजन करते थे। किन्तु सभी अर्थ के लोभ से काव्य सृजन नहीं करते हैं, यह गलत है क्योंकि तुलसी और कुम्भनदास कवि **'स्वान्तः सुखाय'** और **'सन्तन को कहा सीकरी सों काम'** के आदर्श का पालन भी करते हैं और राजा-महाराजाओं के आमंत्रण को अस्वीकार कर देते हैं।

व्यवहार-ज्ञान—काव्य से लोक-व्यवहार का ज्ञान पाठक को होता है। कवि पाठकों के समक्ष अपने जीवन के अनुभवों पर आधारित आदर्शों का प्रतिपादन करता है। सूर और तुलसी के काव्य से तत्कालीन रीति-व्यवहार का सहज ज्ञान मिलता है।

शिवेतर-क्षति—काव्य से अनिष्ट का निवारण भी होता है। काव्य स्तुतियों द्वारा अनेक कवियों ने अपने कष्टों का निवारण किया है। मम्मट ने 'काव्य-प्रकाश' में मयूर कवि का उदाहरण दिया है, जिन्होंने सूर्य की सौ श्लोकों में स्तुति कर अपने कुष्ट रोग का निवारण किया था। बाणभट्ट ने पार्वती की स्तुति की थी। गोस्वामी तुलसी दास ने 'हनुमान बाहुक' की रचना बाहुपीड़ा के निवारण के लिए की थी। आज के प्रगतिवादी कवियों और लेखकों की रचनाओं से व्यक्ति और समाज के कष्टों का निवारण होता है। राष्ट्रीयता की भावना का प्रसार भी काव्य से होता है।

सद्यः परनिर्वृत्ति—काव्य का यही मूल उद्देश्य है। काव्य के आस्वादन से जो रस रूपी आनन्द मिलता है, वही काव्य का लक्ष्य है—**सहृदयस्य तु काव्य-श्रवणानन्तर-मेव सकल प्रयोजनेषूत्तमं स्थायिभावास्वादन समद्भूतं वेद्यान्तरसम्पर्कशून्यं रसास्वाद-रूपमानन्दनम्"** यही काव्यस्वादजन्य आनन्द सभी प्रयोजनों का प्रयोजन है। इसमें ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का भेद अस्तमित रहता है तथा वह विभावादि के वर्णन और उसके चर्वण से निष्पन्न होता है। इसीलिए कविता को मम्मट ने **'नवरसरुचिरां'** तथा **,ह्लादैकमयी'** कहा है। काव्योत्पन्न आनन्द पाठक और कवि दोनों को मिलता है। यह आनन्द जीवन की विषमता एवं वेदना को दूर कर शान्ति के मनोराज्य की स्थापना करता है।

कान्तासम्मिततयोपदेश—पत्नी के समान मधुर उपदेश देना भी काव्य का एक प्रयोजन है। अनेक सन्तों की रचनाएँ इसी कोटि में आती हैं। पंचतंत्र और हितोपदेश का सृजन इसी उद्देश्य को लक्ष्य कर हुआ था। इस उद्देश्य के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है किन्तु शास्त्र इस काव्य के प्रयोजन का समर्थन करते हैं। शास्त्रों में तीन प्रकार के वचनों का निर्देश है—प्रभुसम्मित, सुहृत्सम्मित और कान्तासम्मित। प्रभु-सम्मित शब्द में आज्ञा रहती है और अच्छी-बुरी बातों का निर्देश होता है—वेद शास्त्रादि के उपदेश इसी श्रेणी में आते हैं। सुहृत्-सम्मित में आज्ञा न होकर भावना होती है, उदाहरण होते हैं—इतिहास पुराण आदि के उपदेश इसी कोटि में आते हैं। कान्तासम्मित वाक्य में प्रेमोपदेश होता है यह सरस होता है। वास्तव में काव्य का उपदेश शक्कर में लिपटी हुई कुनैन की गोली के समान होता है। बिहारी के एक दोहे का प्रभाव राजा जयसिंह के सर पर चढ़कर बोला था, यदि बिहारी राजा को उपदेश देते तो वह प्रभावहीन रहता। यहाँ सम्भावना यह भी हो सकती थी कि वे राजा के कोप भाजन बन जाते। परन्तु बिहारी के निम्नलिखित दोहे ने नवोढ़ा रानी के प्रेम में तल्लीन राजा जयसिंह को राज कार्य की ओर उन्मुख कर दिया—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सौं बिध्यौं आगे कौन हवाल।

मम्मट-निर्दिष्ट काव्य के इन प्रयोजनों के अतिरिक्त संस्कृत के आचार्यों ने धर्मार्थ, काम, मोक्ष रूप चतुर्वर्ग को भी काव्य के प्रयोजनों में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। ये चारों ही तत्व मम्मट के निर्दिष्ट तत्वों में सहज ही समाविष्ट हो जाते हैं।

हिन्दी के आचार्य—

काव्य के प्रयोजनों पर हिन्दी के रीतिकालीन एवं आधुनिक आचार्यों ने भी विचार किया है। रीतिकालीन हिन्दी आचार्यों पर संस्कृत के काव्यशास्त्रियों के प्रभाव का सहज अनुसंधान किया जा सकता है। आचार्य कुलपति मिश्र यश, धन, आनन्द और व्यावहारज्ञान काव्य का प्रयोजन मानते हैं—

जस सम्पत्ति आनन्द अति दुखिन डारै खोय।
होत कवित तें चतुरई जगत राम बस होइ॥

देव कवि आनन्द और यश को काव्य का प्रयोजन मानते हैं, जो कि वामन एवम् आनन्द को कीर्ति एवं प्रीति ही है—

ऊँच नीच अरु कर्म बस, चलो जात संसार।
रहत भव्य भगवन्त जस, भव्य काव्य सुखसार॥

आचार्य सोमनाथ कीर्ति, धन, मनोरंजन, अनिष्ट-नाश और उपदेश को काव्य का प्रयोजन कहते हैं—

कीरति वित्त विनोद अरु अति मंगल को देति।
करै भलौ उपदेश नित वह कवित्त चित चेति॥

इन सभी आचार्यों पर अधिकतर मम्मट का प्रभाव परिलक्षित होता है।

हिन्दी के आधुनिक लेखक—पाश्चात्य साहित्य तथा युगीन परिस्थितियों से प्रायः प्रभावित रहे हैं। इसलिए आधुनिक विद्वानों ने लोकमंगल, जीवन की आलोचना, चरित्र-सुधार, यश, मनोरंजन, शिक्षा, स्वान्तः सुखाय, समाज के प्रति विश्वास आदि तत्वों को काव्य का प्रयोजन माना है, किन्तु विशेष दृष्टि लोकमंगल की ओर रही है।

पाश्चात्य-साहित्य का आधुनिक साहित्य पर विशेष प्रभाव पड़ा है, अतः साहित्य की प्रेरणा एवं प्रयोजन का अध्ययन करते समय जीवन की प्रेरणा का भी अध्ययन किया जाता है। प्राचीन भारतीय साहित्य में पुत्रैषणा (पुत्र की चाह), वित्तैषणा (धन की चाह), लोकैषणा (यश की चाह) जीवन की मूल प्रेरणाएँ मानी गई हैं। किन्तु पाश्चात्य साहित्य में मनोविश्लेषण के द्वारा जीवन की समस्याओं का समाधान किया गया है। कवि के काव्य का अध्ययन करते समय भी इस शास्त्र का सहारा लिया गया, परिणाम-स्वरूप फ्रायड के अनुसार—जन-जीवन की सभी क्रियाओं की मूल प्रेरक मानव की कामवासना है, जोकि जीवन के प्रारम्भ से ही अपना कार्य करती रहती है, जोकि समय-समय पर कविता की वाणी से व्यक्त होती है। अतः फ्रायड के अनुसार कहा जा सकता है कि काव्य भी दमित भावनाओं की तृप्ति और अभिव्यक्ति का परिणाम है।

मनोवैज्ञानिक एडलर **क्षतिपूर्ति** को जीवन की मूल प्रेरक शक्ति मानते हैं।

कवि भी अपनी क्षतिपूर्ति के लिए काव्य-सृजन करते हैं। उदाहरण के लिए अन्धे सूर और मिल्टन, कुरूप कबीर और जायसी, पत्नी के उपालम्भ से पीड़ित तुलसी, भाभी के उपालम्भ से प्रताड़ित भूषण आदि कवि लिये जा सकते हैं। इन उदाहरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि साहित्य का सृजन हमारी किसी क्षतिपूर्ति के रूप में ही होता है।

हडसन के अनुसार काव्य को जन्म देने वाली मूलभूत चार प्रवृत्तियाँ हैं—(१) आत्माभिव्यक्ति की कामना, (२) मनुष्य और उसके कार्यों के प्रति आकर्षण, (३) यथार्थ जगत् के प्रति हमारी ममता और काल्पनिक संसार के निर्माण की प्रवृत्ति, (४) रूप-विधान की कामना।

पश्चिम में काव्य को कला माना गया है और कला के अनेक प्रयोजनों का उल्लेख किया गया है; जिनमें से निम्न प्रमुख हैं—

कला कला के लिए—इस सिद्धान्त के समर्थक कविता का प्रयोजन अपने सुख से भिन्न कोई अन्य प्रयोजन नहीं मानते। उनके अनुसार कला का क्षेत्र नीति, सदाचार आदि से भिन्न है।

कला जीवन के लिए—इस सिद्धान्त के मानने वालों का विचार है कि कला तथा जीवन का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। वह जीवन की गति को उचित दिशा देकर उसे मंगलमय बनाने का यत्न करती है। कला का सम्बन्ध मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन से है। अतः नीति, सदाचार और उपयोगिता की अवहेलना नहीं की जा सकती।

कला जीवन से पलायन के लिए—इस सिद्धान्त के अनुयायियों का विचार है कि संसार का सुधार करना असम्भव है, अतः इसके संघर्ष में पड़कर व्यक्तिगत सुख-शांति भंग करना व्यर्थ है; ये लोग कला को सुखदायिनी गोद में आनन्द लेना चाहते हैं।

कला जीवन में प्रवेश करने के लिए—कला का उद्देश्य जीवन से पलायन करना नहीं है, अपितु इस संघर्षमय संसार में प्रवेश करने का पाठ इसी कला से मिलता है और इस संसार में प्रवेश कर उस सौन्दर्य की झाँकी कला में मिलती है।

कला सेवा के अर्थ—कला का यह एक मानवीय पक्ष है। इसी के द्वारा मनुष्य उच्च भावभूमि पर प्रतिष्ठित होता है।

कला आत्मानुभूति तथा आनन्द के लिए—यह सिद्धान्त भारतीय मान्यता एवं आदर्श के अनुकुल है। कला में हमारे भाव तथा विचार भाषा का परिधान धारण कर मुखरित होते हैं। इस प्रकार हम अपनी आत्मा के दर्शन का, आत्मानुभव का आनन्द प्राप्त करते हैं।

कला विनोद के लिए—कला का यह भी एक महत्वपूर्ण पक्ष है। इसे लोग निम्न कोटि का उद्देश्य मानते हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि यह मत सार्वदेशिक है। **कला सृजन की अदम्य आवश्यकता** की पूर्ति के लिए है। यह मत भी आज लोक-

प्रिय तथा बहुचर्चित है।

अरस्तू ने काव्य के दो प्रयोजन शिक्षा और आनन्द माने हैं। इसको प्राच्य एवं पाश्चात्य देशों में समान महत्व प्राप्त है। मन की भावना को उदात्त एवं साधारणीकृत बनाने के लिए भी काव्य लिखा जाता है।

निस्सन्देह काव्य का प्रयोजन महान् है, वह सन्मार्ग की ओर प्रेरित करने के साथ-साथ मानवहृदय का विस्तार भी करता है। तुलसी एवं कबीर ने सामाजिक क्रान्ति की ज्वाला प्रज्वलित की थी। वाल्टेयर के निबन्धों में रूस की क्रान्ति का जन्म एवं इतिहास छिपा है। काव्य यदि क्रान्ति करा सकता है तो वह सृजन का शंखनाद भी फूंक सकता है। आशय यह है कि काव्य व्यापक है तो उसका प्रयोजन भी व्यापक एवं महान् है।

प्रश्न १२—काव्य-हेतुओं पर भारतीय विद्वानों के मतों का उल्लेख करते हुए एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

कवि में काव्य-निर्माण की सामर्थ्य उत्पन्न करने वाले साधनों का नाम काव्य-हेतु है। भारतीय काव्य-शास्त्र में इन पर विस्तार से विचार हुआ है। वैसे काव्य के प्रेरक, हेतु और प्रयोजन शब्द लगभग समान हैं। पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में प्रेरक तत्वों पर विचार हुआ है जब कि भारतीय काव्य-शास्त्र में काव्य के हेतु तथा प्रयोजन पर।

"·····काव्य का वह गूढ़तम कारण जिसका अनुमान साधारणतया नहीं हो पाता 'प्रेरक' (अथवा प्रेरणा) कहलाता है; उसका अर्द्ध व्यक्त रूप, 'हेतु' है और अपेक्षाकृत स्पष्ट रूप 'प्रयोजन' है। काव्य का 'प्रेरक' वह कारण है जो मनोविश्लेषण से ज्ञात होता है; काव्य का साधक 'हेतु' है और काव्य का निमित्त अथवा उद्देश्य प्रयोजन है।"[1]

संस्कृत काव्य-शास्त्र के प्राचीन आचार्यों में 'भामह' ने काव्य का हेतु केवल 'प्रतिमा' का माना है—

'गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः॥' (काव्यालंकार १/५)

अर्थात् गुरु के उपदेश से जडबुद्धि भी शास्त्र का अध्ययन कर सकता है, किन्तु काव्य का कर्त्ता कोई प्रतिभावान् व्यक्ति ही हो सकता है। दण्डी महोदय प्रतिभा के अतिरिक्त शास्त्रज्ञान (व्युत्पत्ति) तथा अभ्यास को भी काव्य का हेतु मानते हैं। नैसर्गिक प्रतिभा, विस्तृत निर्दोष शास्त्र का अध्ययन तथा अपादकाव्य का अभ्यास काव्य-सम्पत्ति के कारण हैं। रुद्रट शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास को काव्य का हेतु मानते हैं। उनके अनुसार—'काव्य में असार वस्तु को दूर करने, सार ग्रहण करने तथा चारुता लाने के कारण शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास, काव्य के कारण हैं। आचार्य वामन 'लोक' विद्या

१. काव्य-शास्त्र की रूपरेखा, पृ० ४२

और प्रकीर्ण को काव्यांग मानते हैं।'[१] वामन का काव्यांग ही काव्यहेतु है। लोक से वामन का अभिप्राय लोक व्यवहार, विद्या से शास्त्रज्ञान, अभिधान कोश, छन्दः शास्त्र कला, कामशास्त्र तथा दण्डनीति से है।[२] वामन जिसे विद्या कहते हैं वही अन्य आचार्यों की दृष्टि में 'व्युत्पत्ति' है। प्रकीर्ण से उनका अभिप्राय काव्य-परिचय, काव्य-रचना का उद्योग, वृद्ध-सेवा, प्रतिभा और चित्त की एकाग्रता से है।[३] राजशेखर ने काव्य-हेतु के विवेचन-प्रसङ्ग में श्यामदेव तथा मङ्गल के मतानुसार लिखा है—"काव्य-कर्म में कवि की समाधि सर्वोत्कृष्ट साधन है।"[४] मङ्गल के अनुसार "अभ्यास काव्य का प्रधान हेतु है।"[५] किन्तु राजशेखर समाधि एवं अभ्यास से उत्पन्न 'शक्ति' को काव्य का प्रधान कारण मानते हैं[६] तथा शक्ति ही प्रतिभा और व्युत्पत्ति को जन्म देती है; ऐसा राजशेखर का मत है।[७] आचार्य मम्मट ने शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास को समन्वित रूप में काव्य का हेतु माना है—'शक्ति (प्रतिभा), लोक-व्यवहार, शास्त्र एवं काव्यादि के परिशीलन से प्राप्त निपुणता (व्युत्पत्ति) तथा काव्यज्ञ की शिक्षा से अभ्यास ये काव्य के उद्भव में हेतु हैं—

शक्तिर्निपुणता लोककाव्यशास्त्राद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥ (का० प्र० १/३)

मम्मट के अनुसार शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास पृथक्-पृथक् काव्य के हेतु नहीं हैं अपितु तीनों मिलकर ही काव्य के हेतु हैं।[८] रुद्रट ने भी तीनों को समन्वित रूप में ही स्वीकार किया है। त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः। वाग्भट्ट ने इन तीनों के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए लिखा है प्रतिभा काव्य का कारण है, व्युत्पत्ति विभूषण

१. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति १/३/१ लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि।
२. वही १/३—शब्दस्मृत्यभिधानकोशच्छन्दोविचितिकलाकामशास्त्रदण्डनीतिपूर्वा विद्याः।
३. वही १/३/११—लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवावेक्षणं प्रतिभानमवधानञ्च प्रकीर्णम्।
४. काव्यमीमांसा, अध्याय ४, पृ० २६
"काव्यकर्मणि कवेः समाधिः परं व्याप्रियते" इति श्यामदेवः।
मनसः एकाग्रता समाधिः। समाहितं चित्तमर्थान्पश्यति।
५. वही, अभ्यासः इति मङ्गलः। अविच्छेदेन शीलनमभ्यासः।
६. वही, तावुभावपि शक्तिमुद्भासयतः। "सा केवलं काव्ये हेतुः" इति यायावरीयः।
७. वही, शक्तिकर्तृके हि प्रतिभाव्युत्पत्तिकर्मणि।
८. का प्र० १/३ व्याख्याः
त्रय समुदित्ता न तु व्यस्तास्तस्य काव्यास्योद्भवे निर्माणे।
समुल्लासे च हेतुर्न्न तु हेतवः॥

है और अभ्यास उसके सृजन को बढ़ाने वाला है, ऐसा प्राचीन कवियों का मत है—

प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम् ।
भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्याद्यकवि संकथा ॥ (वाग्भटालंकार १/३)

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार "प्रतिभा काव्य का हेतु है । व्युत्पत्ति और अभ्यास प्रतिभा का संस्कार करने वाले हैं[1] जिस प्रकार मृत्तिका और जल से संयुक्त ही बीज-माला की उत्पत्ति में कारण है उसी प्रकार शास्त्र और उसके अभ्यास से उत्पन्न प्रतिभा ही कवि की उत्पत्ति में कारण है"—जयदेव ने भी इसी बात का समर्थन किया है ।[2] पण्डित-राज जगन्नाथ 'काव्य का कारण कवि में रहने वाली प्रतिभा को मानते हैं तथा व्युत्पत्ति और अभ्यास प्रतिभा के कारण हैं ।' उस प्रतिभा का हेतु किसी देवता, महापुरुष आदि की प्रसन्नता से उत्पन्न अदृष्ट होता है कहीं विलक्षण व्युत्पत्ति तथा काव्य-रचना के अभ्यास से—**तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा**....**तस्याश्च (प्रतिभायाश्च) हेतुः क्वचिद्देवता महापुरुष प्रसादादिजन्यमदृष्टम् क्वचिच्च विलक्षणव्युत्पत्ति काव्य कारणाभ्यासौ ।'**

हिन्दी साहित्य के रीतिकालीन आचार्य इस विषय में मम्मट से विशेष रूप से प्रभावित हैं किन्तु किसी-किसी आचार्य ने जयदेव की उपमा—मिट्टी पानी के संयोग से बीज बढ़कर लता के रूप में व्यक्त होता है' का प्रयोग कर तीनों के सम्बन्ध को स्पष्ट किया है ।[3] निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि संस्कृत के काव्यशास्त्रीय काव्य के हेतु के रूप में प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को विशेष महत्व देते हैं, किसी-किसी आचार्य ने समाधि को भी काव्य का हेतु माना है ।

प्रतिभा—आचार्यों ने काव्य-सृजन के हेतु-रूप में 'प्रतिभा' को विशेष महत्व-पूर्ण स्थान दिया है । प्रतिभा के शक्ति और संस्कार-विशेष पर्यायवाची शब्द हैं । जिस व्यक्ति में प्रतिभा होती है, वही सत्काव्य की सृष्टि में समर्थ होता है और 'कवि' कह-लाने का अधिकारी होता है । भट्टतौत के अनुसार—प्रतिभा उस प्रज्ञा का नाम है जो नित-नूतन रसानुकूल विचार उत्पन्न करती है—'प्रज्ञा नव नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता । वामन इसे 'जन्मान्तर से प्राप्त कवि संस्कार' कहते हैं, जिसके बिना काव्य-

१. काव्यानुशासन १/४
२. चन्द्रलोक १/६
३. क—कारण देव प्रसाद जिहि, सक्ति कहत सब कोई ।
वितपति और अभ्यास मिल, त्रय बिन काव्य न होइ ॥
जैसे बीजरु मृत्तिका, नीर मिलै सब आन ।
तबहीं तरु उपजें सु त्यों इनते कविता जान ॥
(सुरति मिश्र : काव्य-सिद्धान्त)
ख—शक्तिनिपुणता लोकमत वितपति अरु अभ्यास ।
अरु प्रतिभा तें होत है ताको ललित प्रकाश ॥ (श्रीपति : काव्यसरोज)

सृजन सम्भव नहीं है, यदि रचना होती भी है तो वह हास्यास्पद होती है।[1] रुद्रट के अनुसार, प्रतिभा शक्ति-विशेष है, 'मन की एकाग्रावस्था में जिसमें अभिधेय का अनेक रूपों में विस्फुरण होता है और जिसमें अक्लिष्ट पद सूझ पड़ते हैं, उसे शक्ति कहते हैं।" कुन्तक ने कवि-शक्ति को प्रतिभा कहा है : पूर्वजन्म तथा इस जन्म के संस्कार से परिपक्व एक अद्वितीय दिव्य शक्ति प्रतिभा कहलाती है—

"प्राक्तनाद्य तन संस्कार परिपाक प्रौढ़ा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः।"

आचार्य मम्मट ने भी प्रतिभा के लिए 'शक्ति' शब्द का प्रयोग किया है और वामन के समान ही उसकी व्याख्या भी की है—'शक्ति कवित्व का बीज-रूप संस्कार-विशेष है, जिसके बिना काव्य सृजन नहीं होता है और यदि होता भी है तो वह उपहासास्पद होता है।' शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः यां विना काव्यं न प्रसरेत् प्रसृतं वा उपसहनीयं स्यात्।" वाग्भट्ट ने प्रतिभा की व्याख्या करते हुए लिखा है—"प्रसन्न पदावली, नित नूतन अर्थों तथा उक्तियों का उद्बोधन करने वाली कवि की स्फुरणशील सर्वतोमुखी बुद्धि को 'प्रतिभा' कहते हैं।" हेमचन्द्र तथा जगन्नाथ भट्टतौत की मान्यता का समर्थन करते हैं। आनन्दवर्द्धन तथा अभिनवगुप्त शक्ति और प्रतिभा की एकरूपता स्वीकार करते हैं।

अभिनवगुप्त ने प्रतिभा को दो प्रकार का माना है—आख्या तथा उपाख्या। कवि की प्रतिभा आख्या तथा समालोचक या सहृदय की प्रतिभा उपाख्या। रुद्रट ने भी प्रतिभा के दो भेद माने हैं—सहजा और उत्पाद्या। सहजा स्वाभाविक होती है और उत्पाद्या शास्त्राध्ययन आदि से उत्पन्न की जा सकती है। राजशेखर ने प्रतिभा दो प्रकार की मानी है—कारयित्री और भावयित्री। कवि-कर्म की सहयोगिनी तथा कवि का उपकार करने वाली 'कारयित्री' प्रतिभा कहलाती है। इसके तीन भेद होते हैं—सहजा, आहार्या और औपदेशिकी। "जन्मान्तर के संस्कारों की अपेक्षा रखने वाली सहजा होती है, वर्तमान जन्म के संस्कारों में उत्पन्न आहार्या तथा मन्त्रतन्त्रादि साधनों से उत्पन्न औपदेशिकी होती है।" भावक या समालोचक की उपकार करने वाली प्रतिभा का नाम 'भावयित्री' प्रतिभा है। यह प्रतिभा कवि के श्रम को सफल बनाती है। पाश्चात्य विद्वान् 'प्रतिभा' को कवि की विशेष कल्पना-शक्ति मानते हैं। कवि कल्पना-शक्ति और प्रतिभा एक ही है। दण्डी प्रतिभा की अपेक्षा निपुणता तथा अभ्यास को महत्व देते हैं। उनके अनुसार प्रतिभा के न होने पर भी अध्ययन एवं अभ्यास सम्पन्न व्यक्ति वाणी की कृपा से विद्वानों की सभा में विहार के योग्य हो जाता है।

व्युत्पत्ति—व्युत्पत्ति का अर्थ है पाण्डित्य या विद्वत्ता।। रुद्रट के अनुसार छन्द व्याकरण, कला, लोकस्थिति, एवं पदार्थ-ज्ञान से उत्पन्न उचितानुचित विवेक का नाम

---

१. वामनः काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १/३/१६ : "कवित्व बीजं प्रतिभानं कवित्वस्य बीजं कवित्वबीजं, जन्मान्तरागत-संस्कार-विशेषः कश्चित् यस्माद् विना काव्यं न निष्पद्यते, निष्पन्नं वा हास्यायतनं स्यात्"

'व्युत्पत्ति' है। मम्मट ने व्युत्पत्ति को निपुणता कहा है। यह निपुणता चराचर जगत् के निरीक्षण और काव्यादि के अध्ययन से प्राप्त होती है। इस प्रकार सांसारिक अनुभव और अध्ययन से निपुणता प्राप्त होती है इसी का नाम व्युत्पत्ति है। शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् राजशेखर ने प्राचीन आचार्यों के आधार पर व्युत्पत्ति को बहुज्ञता कहा है 'बहुज्ञता व्युत्पत्ति' यह बहुज्ञता, निपुणता या व्युत्पत्ति कवि या काव्यकर्ता के लिए आवश्यक है क्योंकि इस ज्ञान और अध्ययन से उनके विचार प्रामाणिक बनते हैं और वे पाठक को क्रान्तिकारी चेतना देने में समर्थ हो सकते हैं, क्रान्तिकारी चेतना वही दे सकता है जिसे उचितानुचित का विवेक हो—'यह उचित अनुचित का विवेक' राजशेखर के मत में व्युत्पत्ति है। "उचितानुचितविवेको व्युत्पत्तिः', इति यायावरीयः। मङ्गल व्युत्पत्ति को प्रतिभा से श्रेष्ठ मानते हैं, जबकि आनन्द प्रतिभा को श्रेष्ठ मानते हैं। किन्तु राजशेखर के मत में प्रतिभा और व्युत्पत्ति समवेत रूप से श्रेयस्कर हैं। जैसे, लावण्य के बिना सुन्दर रूप फीका प्रतीत होता है रूप-सम्पत्ति के बिना लावण्य भी अधिक आकर्षण नहीं होता।

अभ्यास—प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति से सम्पन्न कवि 'अभ्यास' द्वारा कविकर्म में कुशलता प्राप्त करता है—'**अभ्यासो हि कर्मसु कौशलमावहति**।" अभ्यास यदि काव्य का प्रमुख तत्व नहीं है तो आवश्यक हेतु अवश्य है। अभ्यास का अर्थ है बार-बार प्रयोग अथवा निरन्तर प्रयत्न करते रहना अभ्यास है।" दण्डी प्रतिभा के महत्व को सर्वोपरि महत्व देते हैं किन्तु वे अभ्यास को भी आवश्यक मानते हुए कहते हैं कि "पूर्ववासनाजन्य अद्भुत प्रतिभा भले ही न हो, किन्तु काव्य आदि के श्रवण, अनुशीलन तथा निरन्तर अभ्यास से सरस्वती की उपासना करने पर वाणी अवश्य ही अनुग्रह करती है। अतः जो कीर्ति चाहते हैं, उन्हें आलस्य का परित्याग कर सरस्वती की उपासना करनी चाहिए; क्योंकि कवित्व के क्षीण होने पर भी अभ्यासशील व्यक्ति विद्वानों की सभा में विहार करने में समर्थ हो सकते हैं।" भामह, वामन, आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्तादि सभी आचार्यों ने 'अभ्यास' के महत्व को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्षरूप में स्वीकार किया है। वास्तव में 'अभ्यास' कविकर्म के लिए आवश्यक तत्व है, उसके द्वारा काव्य में दीप्ति का आधान होता है। जड़बुद्धि भी 'अभ्यास' के द्वारा सुजान हो सकते हैं।

समाधि—राजशेखर ने 'समाधि' को श्यामदेव के आधार पर काव्य का हेतु स्वीकार किया है। वे मन की एकाग्रता को 'समाधि' कहते हैं। समाहितचित्त मूल अर्थ का दर्शन करता है। कविकर्म के लिये समाधि सर्वोत्कृष्ट साधन है, समाधि आन्तरिक है, अभ्यास बाह्य। वामन 'समाधि' को 'अवधान' शब्द से अभिहित करते हैं। किन्तु यह 'समाधि' अभ्यास का ही प्रतिरूप है। समाधि के लिए भी पहले अभ्यास की ही आवश्यकता है तथापि इसे काव्य का हेतु स्वीकार करने में कोई विशेष दोष नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुँचते हैं कि भारतीय काव्यशास्त्र के क्षेत्र में काव्य के हेतुओं पर पर्याप्त विचार हुआ है; वे हेतु

प्रतिभा, व्युत्पत्ति, अभ्यास और समाधि हैं। इन हेतुओं में से किसी ने एक को महत्व दिया है तो किसी ने दूसरे को; तथा किसी ने तीनों को महत्व दिया है। किन्तु वास्तव में तीनों का समन्वित महत्व है; तीनों ही परस्पर पूरक हैं, अपने आप में कोई एक पर्याप्त नहीं है, एक के अभाव में दूसरा अपूर्ण ही है। प्रतिभाशाली व्यक्ति को भी व्युत्पत्ति और अभ्यास का आश्रय लेना ही पड़ता है; अतः तीनों हेतुओं का महत्व स्वीकार्य है। इसीलिए रुद्रट ने तीनों को महत्व देते हुए कहा है कि—**"त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्ति-व्युत्पत्तिरभ्यासः।"** आचार्य मम्मट ने भी तीनों के समन्वित महत्व को स्वीकार करते हुए लिखा है—**"त्रयः समुदिताः न तु व्यस्तास्तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः।"** ये तीनों हीं काव्योत्कर्ष के समन्वित हेतु हैं; अलग-अलग नहीं। इसी प्रकार जयदेव तथा पण्डितराज जगन्नाथ तीनों के महत्व को स्वीकार करते हैं। हिन्दी के अधिकांश आचार्य मम्मट और जयदेव का अनुसरण करते हुए तीनों—प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को काव्य का हेतु मानते हैं।

प्रश्न १३—काव्य-आत्मा-विषयक विभिन्न सम्प्रदायों की समीक्षा करते हुए, यह बतलाइये कि आप काव्य की आत्मा का पद किस तत्व को प्रदान करते हैं और क्यों ?

संस्कृत साहित्य का अलंकार-शास्त्र गम्भीर विवेचन के कारण परिपूर्ण है। काव्य-शास्त्र की सूक्ष्मातिसूक्ष्म ग्रन्थियों का उद्घाटन संस्कृत-साहित्य में हुआ है। काव्य के वास्तविक रहस्य के पर्यालोचन के कारण विभिन्न सम्प्रदायों की उद्भावना हुई है क्योंकि अलंकारिकों के समक्ष काव्य की आत्मा की खोज एक महत्वपूर्ण विषय था और उस आत्मा की खोज अपनी रुचि एवं संस्कारों के अनुसार प्रत्येक काव्यशास्त्री ने की है। भारत प्रारम्भ से ही आत्मवादी रहा है। मानवात्मा की शोध एवं प्रतिष्ठा उपनिषद् काल में हीं हो चुकी थी। यह आत्मा आनन्दस्वरूप है, इसको प्राप्त कर व्यक्ति आनन्द-मग्न हो जाता है, काव्य भी आनन्ददायक है। अतएव काव्यशास्त्रियों ने भी उसमें आनन्द रूप आत्मा की प्रतिष्ठा करने की चेष्टा की है। इसी महत्वपूर्ण विषय के पर्यालोचन के लिए आचार्यों ने सूक्ष्म चिन्तन के माध्यम से अलंकार, गुण, रीति, ध्वनि, रस एवं औचित्य को काव्य की आत्मा सिद्ध करने का प्रयास किया। उसी का परिणाम यह हुआ कि काव्यशास्त्र के इतिहास में छः सम्प्रदायों का जन्म हुआ। प्रत्येक काव्य-शास्त्रीय सम्प्रदाय अपने महत्व के प्रतिपादनार्थ प्रयत्नशील रहा है। इन सम्प्रदायों का उल्लेख अलंकार सर्वस्व के टीकाकार समुद्र बन्द न किया है समुद्रबन्ध के आधार पर धर्ममूलक वैशिष्ट्य प्रतिपादन करने वाले दो सम्प्रदाय प्रमुख हैं—

१. अलंकार सम्प्राय

२. गुण या रीति सम्प्रदाय।

व्यापारमूलक वैशिष्ट्य प्रतिपादन करने वाला सम्प्रदाय, वक्रोक्ति है। वक्रोक्ति उक्ति-वैचित्र्य का ही दूसरा नाम है और इस वक्रोक्ति के द्वारा काव्य में चमत्कार को मान्यता देने वाले आचार्य कुन्तक हैं। इसी व्यापार-मूलक वैशिष्ट्य प्रतिपादन के लिए

भोजकत्व व्यापार की कल्पना रस-निरूपण के अवसर पर भट्टनायक ने की है। किन्तु इसे आचार्य भरत के रस सम्प्रदाय के अन्तर्गत मानना अधिक समीचीन होगा।

व्यंग्य मुख से शब्दार्थ में वैशिष्ट्य मानने वाले आचार्य आनन्दवर्धन हैं, आनन्द ने ध्वनि का उत्तम काव्य स्वीकार किया है। अलंकार सर्वस्व की समुद्रबन्ध टीका में लिखा है—

इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च-वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन, व्यापार मुखेन, व्यंग्य मुखेन चेति त्रयः पक्षाः। आद्येऽप्यलंकारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। इति द्वितीयेऽपिभणिति वैचित्र्येण भोगकृत्वेन वेति द्वैविध्यम् इति पंचसुपक्षेष्वाद्यः उद्भटादिभिरङ्गीकृतः। द्वितीयो वामनेनः तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पंचमो आनन्दवर्धनेन।

—(समुन्द्रबन्ध कृत अलंकार सर्वस्व टीका)

उपर्युक्त वर्णन में भरत के रस सिद्धान्त का तथा क्षेमेन्द्र के औचित्य सम्प्रदाय का उल्लेख नहीं है। इस प्रकार काव्य की आत्मा की पर्यालोचना करने वाले छः सम्प्रदाय हैं, उनके प्रमुख आचार्य भी सम्मुख अंकित हैं—

१. रस-सम्प्रदाय — भरत
२. अलंकार-सम्प्रदाय — भामह, उद्भट तथा रुद्रट
३. रीति-सम्प्रदाय — दण्डी तथा वामन
४. वक्रोक्ति-सम्प्रदाय — कुन्तक
५. ध्वनि-सम्प्रदाय — आनन्दवर्धन
६. औचित्य-सम्प्रदाय — क्षेमेन्द्र

रस सम्प्रदाय का आद्य प्रवर्त्तक कौन है? उपलब्ध साहित्य के आधार पर भरत ही इसके आदि आचार्य माने जाते हैं। उन्होंने नाट्यशास्त्र में नाट्य के अतिरिक्त रस एवं भाव आदि पर विस्तार से विचार किया है, उनके इस विवेचन का प्रभाव परवर्ती सभी काव्यशास्त्रियों पर देखा जाता है। यद्यपि—**"ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना:"** से द्रुहिण नामक आचार्य की सत्ता का भी आभास मिलता है। राजशेखर की 'काव्य मीमांसा' के आधार पर नन्दिकेश्वर ने ब्रह्मा के उपदेश से रस का निरूपण किया है **"रसाधिकरणं नन्दिकेश्वरः।"** किन्तु नन्दिकेश्वर की कोई कृति उपलब्ध नहीं है। यत्र-तत्र उल्लेख होते हुए भी प्रामाणिक ग्रन्थों के अभाव में निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। अतः नाट्य-शास्त्र के आधार पर भरतमुनि ही रस-सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य मान्य हैं, यद्यपि नाट्यशास्त्र का अनुशीलन इस बात का प्रमाण है कि भरत से पूर्व ही रस-सम्प्रदाय का आविर्भाव हो चुका था। **"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"** यह भरतमुनि का ही सूत्र है। परवर्ती काल में इस सूत्र की लगभग ग्यारह आचार्यों ने व्याख्या की है। परवर्ती अनेक व्याख्याकारों द्वारा व्याख्यात होने पर भी इस सूत्र की अपनी महत्ता है। रससूत्र के प्रमुख व्याख्याकारों में भट्टलोल्लट, शंकुभ, भट्टनायक, अभिनवगुप्त हुए हैं। इन आचार्यों ने अपने-

अपने मत के अनुसार रस सूत्र की व्याख्या प्रस्तुत की है। साहित्य में रस-सिद्धान्त का महत्वपूर्ण स्थान है। साथ ही विभिन्न सम्प्रदायों में भी रस की महत्ता स्वीकार की गई है। ध्वनिवादी आचार्यों ने भी वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि, रसध्वनि, इन तीन ध्वनियों में रस ध्वनि को भी स्थान देकर इसके महत्व को स्वीकार किया है। भोज-राज भी रसोक्ति का स्थान काव्य में प्रमुख मानते हैं। विश्वनाथ कविराज तो रसवाद के प्रबल पोषक हुए हैं। उन्होंने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' लिखकर इस सिद्धान्त को जीवन-शक्ति ही प्रदान कर दी है। रुद्रभट्ट ने भरत के मतानुसार रस को काव्य की आत्मा माना है। अग्निपुराणकार काव्य में चमत्कार की प्रधानता मानते हुए भी रस को ही काव्य का जीवन मानते हैं **"वाग्वैदग्ध्य प्रधानेऽपि रसएवात्रजीवितम्।"** राज-शेखर भी काव्य की आत्मा का पद रस को देते हैं। भरत की तो स्पष्ट ही घोषणा है। **"नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते"** इस प्रकार भरत रस को काव्य का मौलिक आधारभूत तत्व मानते हैं। रस सिद्धान्त की पृष्ठभूमि मनोवैज्ञानिक है। इस सिद्धान्त में मानव-मन की मूलभूत प्रवृत्तियों का विवेचन कर उसके सहायक भावों की भी चर्चा होती है। रस सिद्धान्त की विस्तार से चर्चा करने वाले भरत—नाट्यशास्त्र, आनन्दवर्धन—ध्वन्यालोक, धनंजय—दशरूपक, विश्वनाथ—साहित्यदर्पण, जगन्नाथ—रस गंगाधर, अभिनव गुप्त—अभिनव भारती, मम्मट—काव्यप्रकाश, भोज—शृंगार-प्रकाश आदि आचार्य एवं उनके ग्रन्थ हैं।

अलंकार सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य भामह (षष्ठ शतक) हैं। इनके अनुयायियों में उद्भट, दण्डी, रुद्रट, प्रतिहारेन्दुराज एवं जयदेव आदि प्रमुख हैं। उपर्युक्त सभी आचार्य अपनी कृतियों में अलंकार की महत्ता को स्वीकार करते हैं। इन अलंकारों की महत्ता को **अलंकार रहिता विधवेव सरस्वती"**, **"न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्"**, इत्यादि वचनों से सहर्ष स्वीकार किया है। मम्मट के काव्य-लक्षण में प्राप्त **"अनलंकृती पुनः क्वापिः'**, पद के आलोचक चन्द्रालोककार जयदेव के मत में अलंकार के अभाव में काव्य की सत्ता ही स्वीकार्य नहीं है—

> **"अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।**
> **असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती :"** (१/८)

रुय्यक का कथन है कि प्राचीन आलंकारिक काव्य में अलंकारों की प्रधानता स्वीकार करते हैं—

> "तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्।" (अलंकार सर्वस्व)

अलंकार सम्प्रदाय के आचार्य रस सम्प्रदाय से अपरिचित हों, यह नहीं कहा जा सकता, किन्तु ये आचार्य रस की अपेक्षा अलंकारों की प्रधानता स्वीकार करते हैं। इसी कारण 'रसवदलंकार, 'प्रेय', 'ऊर्जस्वित्', 'समाहित' अलंकार में रस तथा भाव का अन्तर्भाव करते हैं। इसी प्रकार अलंकार-सम्प्रदाय के आचार्य ध्वनिवाद से अपरिचित हों, यह भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि रुय्यक का स्पष्ट कथन है कि भामह, उद्भट आदि प्राचीन आलंकारिक प्रतीयमान (व्यंग्य) अर्थ को वाच्य का सहायक मानकर

अलंकार के अन्तर्गत उसे मानते हैं—

"इह तावत् भामहोद्भट प्रभृतयश्चिरन्तनालंकारकाराः प्रतीयमानमर्थं वाच्योपस्कारतया अलंकारपक्षनिक्षिप्तं मन्यते"

(अलंकार सर्वस्व, पृ० ३)

इस प्रकार अलंकार को काव्य का सर्वस्व स्वीकार करने वाले आचार्य भी काव्य के अन्य तत्वों के अस्तित्व को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में स्वीकार करते हैं। किन्तु इस सम्प्रदाय में काव्य का प्रधान तत्व अलंकार है, रसादि तो उसके उपकारक तत्व-मात्र हैं। अलंकारवादियों के कथनानुसार अलंकारों की प्रधानता के कारण रसादि के वर्णन होते हुए भी काव्य-मीमांसा के ग्रन्थ अलंकारशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं।

रीति सम्प्रदाय—रीति तत्व की चर्चा नाट्यशास्त्र में भी मिलती है तथा संस्कृत साहित्य में रीति शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है विभिन्न काव्य शास्त्री अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार रीति का प्रयोग एवं अर्थ करते हैं, उदाहरणार्थ भामह 'काव्य', दण्डी और भोज 'मार्ग', वामन 'रीति', आनन्द 'पद-संघटना', रुद्रट एवं मम्मट 'वृत्ति' और विश्वनाथ 'रीति कहते हैं। भोज रीङ् गतौ धातु के क्तिन् के योग से 'रीति' शब्द को निष्पन्न मानते हैं और इसका अर्थ वे मार्ग (पन्थाः) करते हैं—

वैदर्भादिकृतः पन्था काव्ये मार्ग इति स्मृतः
रीङ् गताविति धातोः सा व्युत्पत्या रीतिरुच्यते ॥ (स० क० २/२७)

रीति सम्प्रदाय के आचार्यों में दण्डी का नाम सम्मानपूर्वक लिया जाता है किन्तु इस सम्प्रदाय के प्रमुख प्रतिपादक वामन ही हैं। वामन के मत में काव्य की आत्मा रीति ही है **"रीतिरात्मा काव्यस्य"**। पदों की विशिष्ट रचना ही रीति है— **"विशिष्टा पद रचना रीतिः"**। विशिष्ट से उनका आशय गुणों से है, **गुण**—सम्पन्नता काव्य-सौन्दर्य का मूलतत्व है, इस प्रकार रीति का मूलाधार तत्व गुण है। वामनाचार्य ने इसी का आगे प्रतिपादन इन शब्दों में किया है—**"विशेषो गुणात्मा"** इस प्रकार वामन गुण एवं रीति को समान स्तर पर स्वीकार करते हैं। काव्य में गुणों की यह परम्परा भरतमुनि से ही चलती आ रही थी। भरत ने दस गुणों का वर्णन किया था। रुद्रदामन के शिलालेख में भी माधुर्य, कान्ति, उदारता जैसे काव्य-गुणों का उल्लेख मिलता है। दण्डी ने भरतमुनि के अनुरूप ही गुणों को मान्यता दी है, किन्तु रीतियों में गुण की प्रधानता स्वीकार करते हैं। आचार्य वामन ने गुणों के शब्दगत-अर्थगत इन दो भेदों को स्वीकार किया है और वामन के मत में गुणों की कुल संख्या बीस हो जाती है। किन्तु परवर्ती समस्त आलंकारिक आचार्य भामह के अनुसार माधुर्य, ओज एवं प्रसाद तीन ही गुण स्वीकार करते हैं।

आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य-तत्व का प्रस्फुटन रीति-सम्प्रदाय में पर्याप्त रूप से हुआ है। आचार्य वामन के मत में तीन रीति हैं। आचार्यों ने इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—**"रियन्ते परम्परया गच्छन्त्यऽनयेति करण साधनोऽयं रीति शब्दो मार्ग पर्यायः"**

आधुनिक आलोचनाशास्त्र में 'रीति' शब्द का अर्थ प्राय: शैली के रूप में लिया जाता है। शैली विचारों का परिधान है या अभिव्यंजना की पद्धति ही रीति (शैली) है। रीति सम्प्रदाय में अलङ्कारों एवं गुणों में भेद स्वीकार कर गुणों को महत्त्व प्रदान किया गया है। क्योंकि काव्य की शोभा को करने वाले धर्म गुण कहलाते हैं तथा उनके अतिशय करने वाले धर्म अलङ्कार कहलाते हैं—

काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः ।
तदतिशय हेतवस्त्वलंकाराः ॥

(वामन : का० अ० ३/११—२)

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत काव्यशास्त्र में अधिकांश आलंकारिक रीति के अस्तित्व और उसके महत्त्व को प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप में स्वीकार करते ही हैं। आशय यह है कि 'रीति' सम्प्रदाय भी काव्यशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय है।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय—'वक्रोक्ति' शब्द अनेकार्थक है किन्तु कुन्तक ने इसकी विशिष्ट व्याख्या कर इसे एक सम्प्रदाय का रूप प्रदान किया है। 'वक्रोक्ति' शब्द का अर्थ—वक्र उक्ति अर्थात् टेढ़ा कथन है। काव्य में उक्ति-वैचित्र्य को सदा ही महत्त्व मिला है क्योंकि यह सामान्य जन के कथन से भिन्न तथा चमत्कारजनक कथन का प्रकार है।

काव्यशास्त्र में सबसे पहले आलंकारिक भामह ने इसकी कल्पना की थी। भामह के मत में अतिशयोक्ति का रूपान्तर ही वक्रोक्ति है तथा काव्य का मूल-तत्व भी वक्रोक्ति है। उनके कथनानुसार वक्रोक्ति ही अलङ्कार का कार्य सम्पादन करती है। आचार्य दण्डी सम्पूर्ण साहित्य को दो भागों में विभक्त करते हैं—'स्वाभाविक कथन को स्वभावोक्ति के अन्तर्गत तथा शेष समस्त भावों को वक्रोक्ति अलङ्कार के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं'—आचार्य वामन भी वक्रोक्ति की सत्ता स्वीकार करते हैं किन्तु वे सादृश्य के ऊपर आश्रित अर्थालङ्कार के अन्तर्गत मानते हैं। रुद्रट के समय में आकर वक्रोक्ति शब्दालङ्कार के अन्तर्गत अलङ्कार माना जाने लगा। रुद्रट की दृष्टि से उक्ति एवं प्रत्युक्ति में ही वक्रोक्ति अलङ्कार की सत्ता है। उसके अनुसार 'वक्ता ने कुछ कहा श्रोता ने सम्बद्ध दूसरे अर्थ को लगा लिया यही वक्रोक्ति है'। वक्रोक्ति को अलङ्कार मानने की इस परम्परा का अनुसरण मम्मट, रुय्यक और हेमचन्द्र ने भी किया है।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्तक की मान्यता सबसे भिन्न है। कुन्तक वक्रोक्ति को केवल अलङ्कार ही स्वीकार नहीं करते हैं अपितु काव्य का मूलाधायक तत्व भी मानते हैं, वे वक्रोक्ति को—**वैदग्ध्यभंगी भणितिः वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा।**[1] **वैदग्ध्यं कवि कौशलं यस्य भंगी** विच्छित्तिः।'[2]

---

१. वक्रोक्ति काव्य जीवितम् १/१०

२. वही, १/१० वृत्ति.

अर्थात् अलौकिक कथन (जनसाधारण से विलक्षण) के प्रकार का नाम वक्रोक्ति है। इन प्रकार वक्रोक्ति का निरन्तर अर्थ-परिवर्तन होता रहा और अन्ततः वह काव्य की आत्मा के पद पर भी प्रतिष्ठित हो जाती है, "इस प्रकार जो वक्रोक्ति भामह में अलंकार के मूलतत्व के रूप में गृहीत थी, वामन में सादृश्यमूला लक्षणा के रूप में अर्थालंकार थी और रुद्रट में शब्दालंकार मानी जाती थी, वही कुन्तक के मतानुसार काव्य का मूलतत्व स्वीकार की गई है।"

वक्रोक्ति सम्प्रदाय में वक्रोक्ति काव्य की आत्मा है—"वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्।" कुन्तक ने वक्रोक्ति की व्याख्या व्यापक रूप में की है। उन्होंने वक्रोक्ति को छः भेदों में विभक्त किया है। वे इस प्रकार हैं—वर्णवक्रोक्ति, पूर्वार्द्ध-वक्रोक्ति, वाक्य-वक्रोक्ति, प्रकरण-वक्रोक्ति, प्रबन्ध-वक्रोक्ति। इन विभिन्न भेदों के अनुसार हम कह सकते हैं कि कुन्तक की वक्रोक्ति किसी न किसी वैचित्र्य पर आधारित है। इसमें काव्य-वस्तु का विकास कवि की विशिष्ट दृष्टि से होता है। कुन्तक ने वक्रोक्ति का सम्पूर्ण ढाँचा ध्वनि-सिद्धान्त के आधार पर खड़ा किया था और इसलिए उन्होंने अपने विवेचन में रस और ध्वनि को वक्रोक्ति में आत्मसात करने का प्रयास किया है। यही नहीं, कुन्तक ने समन्वयवादी दृष्टि अपनाकर भाव, अलंकार और कल्पना का समन्वय भी वक्रोक्ति सिद्धान्त में किया है। वक्रोक्ति सम्प्रदाय निश्चित ही काव्यशास्त्र का महत्व-पूर्ण सम्प्रदाय है "वक्रोक्ति काव्य का नितान्त व्यापक, रुचिर तथा सुगढ़ तत्व है जिसके अस्तित्व के ऊपर कविता चमत्कृति का संचार होता है। कुन्तक अभिधावादी आचार्य हैं; परन्तु उनकी अभिधा शब्दों का शक्ति रूप आद्य-एक देशीय व्यापार नहीं है, प्रत्युत उनकी अभिधा के भीतर लक्षणा तथा व्यंजना का समग्र संसार विराजमान है। बाल-रुचि वाले कवियों को पसन्द आने वाले चमत्कार के वे पक्षपाती नहीं हैं, प्रत्युत वे रस को काव्य का मुख्य अर्थ मानने वाले आचार्य हैं।....कुन्तक की आलोचना की प्रौढ़ता तथा सूक्ष्मता का परिचय इसी से लग सकता है कि पश्चाद्वर्ती ध्वनिवादी आलंकारिकों ने उनकी वक्रोक्ति के समग्र प्रकारों को ध्वनि का प्रभेद मानकर अंगीकार कर लिया है।"[1] इस सम्प्रदाय की एक विशेषता यह भी है कि इस सम्प्रदाय ने अलंकार, रीति, रस तथा ध्वनि आदि सिद्धान्तों की एकांगिका को दूर कर काव्य के पूर्ण स्वरूप तथा तत्वों का परिचय दिया है। किन्तु योग्य उत्तराधिकारी के अभाव में सम्प्रदाय का समुचित विकास नहीं हो सका है।

ध्वनि सम्प्रदाय—ध्वनि-सम्प्रदाय का उदय भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में युगान्तरकारी है। ध्वनिवादी आचार्य अलंकार, रस तथा वक्रोक्ति आदि पूर्वन्तनीन काव्य के तत्वों का सामंजस्य ध्वनि के साथ कर लेते हैं। इस सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता आनन्द-वर्धन एवं पोषक अभिनव गुप्त तथा उसमें प्राणाधान करने वाले आचार्य मम्मट हैं। यद्यपि ध्वनि-सम्प्रदाय के विरोधियों ने इसके खण्डन के लिए अनेक प्रयत्न किये हैं,

१. बलदेव उपाध्याय: भारतीय साहित्यशास्त्र, द्वितीय भाग, पृ० ४७७।

किन्तु अन्तस्तत्व की महत्ता के कारण यह सिद्धान्त अजेय रहा है।

वाच्यार्थ की अपेक्षा जो अन्य अर्थ हृदयाह्लादकारक हो वही ध्वनि है—**"इदमुत्तममतिशायिनी व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः"** (का० प्र० १/४)। अर्थ मुख्यतः वाच्य एवं प्रतीयमान दो होते हैं। साहित्य में ध्वनिवादियों की दृष्टि में अलंकार आदि का ग्रहण वाच्य अर्थ में होता है तथा ध्वनि का ग्रहण प्रतीयमान अर्थ से होता है। आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार प्रतीयमान अर्थ की सत्ता निश्चित होती है तथा वह एक अन्य ही वस्तु है, इसी 'अन्य' शब्द की व्याख्या आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार इस प्रकार है—"किसी सुन्दरी के शरीर में अङ्ग तथा अवयव से व्यतिरिक्त लावण्य की सत्ता रहती है; इसी प्रकार काव्य में भी चमत्कारोत्पादक प्रतीयमान अर्थ विद्यमान रहता है—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेववस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥
(ध्वन्यालोक १/४)

ध्वनि-सिद्धान्त की उद्भावना और प्रतिष्ठा आनन्दवर्द्धन की अपनी विशेषता है। आनन्द ने पूर्ववर्त्ती कवि वाल्मीकि, व्यास तथा कालिदास आदि कवियों के काव्य में ध्वनितत्व को देख उसे काव्य का प्रधान तत्व स्वीकार कर आत्मा के पद पर बड़े संरम्भ के साथ प्रतिष्ठित किया है। वे लिखते हैं—**'काव्यस्यात्मा ध्वनिरीति बुधैर्यः सामम्नातपूर्णः'**। परवर्ती काल में मम्मट, विश्वनाथ और पण्डितराज तक ने ध्वनि के महत्व को स्वीकार किया है।

आनन्द ने 'ध्वनि' शब्द व्याकरणशास्त्र से ग्रहण किया है। व्याकरण में कर्णगोचर शब्द अनित्य माने जाते हैं; अनित्य शब्द से अर्थ की प्रतीति सम्भव नहीं है। अतः वैयाकरण नित्य शब्दों की कल्पना के लिए स्फोट सिद्धान्त की उद्भावना करते हैं। इस स्फोट शब्द की व्याख्या आचार्यों ने इस प्रकार की है—**स्फुटति अर्थो अस्मादिति स्फोटः' अथवा 'स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोटः'** (शब्द कौस्तुभ : भट्टोजी दीक्षित)। जिस शब्द-विशेष से अर्थ फूटता है वह स्फोट है, वह नित्य है। वह पूर्वापर सम्बन्धरहित अखण्ड तथा एकरस है। इस शब्द की अभिव्यक्ति ही ध्वनितत्व है। व्याकरणशास्त्र में ध्वनि शब्द केवल अभिव्यंजना के लिए प्रयुक्त हुआ है तथा ध्वनि-सम्प्रदाय में यह ध्वनि शब्द तथा अर्थ दोनों के लिए ही प्रयुक्त होता है।

ध्वनि-सम्प्रदाय में ध्वनि काव्य की आत्मा है। ध्वनिवादी आचार्य ध्वनि के अन्तर्गत—रसध्वनि, अलंकारध्वनि तथा वस्तुध्वनि को ग्रहण करते हैं। रस ध्वनि से उनका अभिप्राय नवरस, भाव, भावाभास, भावोदय, भावशबलता, भावसन्धि से भी है। वस्तु ध्वनि से तथ्यकथन तथा कल्पना-प्रसूत चमत्कारजनक भावाभिव्यक्ति का अलङ्कार-ध्वनि में ग्रहण होता है। इन तीनों ध्वनियों में रसध्वनि सर्वश्रेष्ठ तथा महत्वपूर्ण है।

ध्वनि-सम्प्रदाय में काव्य के तीन भेद होते हैं—ध्वनिकाव्य, गुणीभूत-व्यंग्य

काव्य तथा चित्रकाव्य। आचार्य मम्मट ने इन्हें क्रमशः उत्तम, मध्यम तथा अवर (अधम) की संज्ञा से अभिहित किया है।

ध्वनि-सम्प्रदाय के आचार्यों में आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट, भोज, विश्वनाथ तथा पंडितराज प्रमुख हैं।

औचित्य सम्प्रदाय—औचित्य सम्प्रदाय की उद्भावना एवं प्रतिष्ठा का श्रेय आचार्य क्षेमेन्द्र को प्राप्त है। इस सम्प्रदाय की साहित्य में आवश्यकता स्वयं सिद्ध है। प्राचीनता की दृष्टि से भरत के नाट्यशास्त्र में भी इसका विधान प्राप्त होता है। लोक में प्राप्त वस्तु का उसी रूप में उसी मुद्रा में अनुकरण ही नाट्य का चरम लक्ष्य है। प्रकृति के उचितानुचित का विचार नाट्यशास्त्र में पर्याप्त मात्रा में हुआ है। औचित्य तत्व की कल्पना नाट्यशास्त्र के अनन्तर आनन्दवर्धन के यहाँ विशेष रूप से मिलती है। आनन्दवर्धन इस तत्व की उपयोगिता स्वीकार करते हुए रस का मूलरहस्य औचित्य को मानते हैं—

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य काणरम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥ (ध्वन्यालोक ३/१४)

आचार्य अभिनवगुप्त ने औचित्य तथा ध्वनि को परस्पर उपकारक तत्व के रूप में स्वीकार किया है। क्षेमेन्द्र भी अभिनवगुप्त के ही पट्टशिष्य हैं, ध्वनिवादी होते हुए भी औचित्य को व्यापक तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं। इनके ग्रन्थ का नाम है—"औचित्य विचार चर्चा"। इसमें लेखक ने औचित्य की विचारधारा का सर्वाङ्गीण विवेचन किया है और काव्यशास्त्र के समस्त सिद्धान्तों को अपने भीतर समेट कर काव्य के रूप को स्पष्ट किया है। साथ ही क्षेमेन्द्र ने लिखा है कि अलंकार और गुणों का अपना महत्व है किन्तु रस से सिद्ध काव्य का स्थिर जीवन औचित्य ही है—

अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥ (आ० वि० च०)

क्षेमेन्द्र औचित्य-तत्व पर विचार करते हुए लिखते हैं कि "उचित का जो भाव है वही औचित्य है"—

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥
(औ० वि० च० श्लोक ७)

वह औचित्य ही रस का प्राणतत्व एवं काव्य में चमत्काराधायक है। क्षेमेन्द्र ने लिखा है कि औचित्य रस का जीवन है, रस काव्य की आत्मा है, वह उस आत्मा का भी जीवन है, अतः विचारणीय है—

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारूचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना॥
(औ० वि० च० श्लोक ३)

औचित्य तत्व काव्य में अपरिहार्य है क्योंकि काव्य में यदि इसी तत्व का अभाव

होगा, तो काव्य उपहासास्पद हो जायगा। उदाहरणतः विकृताङ्ग व्यक्ति लोक में सामान्यतः तिरस्कार का पात्र बनता है इसी प्रकार विकृत-काव्य भी विद्वानों के द्वारा उपेक्षणीय ही होता है।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य पर विचार करते हुए उसके अनेक भेदों की चर्चा की है, जैसे—पद, वाक्य, प्रबन्ध, अर्थ, गुण, रस, अलंकार, क्रिया, कारक, लिङ्ग, वचन, देशकाल आदि।

काव्य के लिए औचित्य तत्व क्षेमेन्द्र की नूतन उपलब्धि नहीं है अपितु भरत, आनन्दवर्द्धन एवं कालिदासादि के काव्य में इस तत्व को देख तथा उसकी महत्ता का अनुभव कर इसकी आवश्यकता पर बल देकर क्षेमेन्द्र ने साहित्यशास्त्र के जिज्ञासुओं का महान् उपकार किया है तथा काव्य की आत्मा का पद प्रदान किया है।

समीक्षा—छः तत्वों के आधार पर निर्मित छः काव्य-सम्प्रदायों का अति संक्षिप्त परिचय दिया है—रस, ध्वनि, वक्रोक्ति, अलंकार, रीति एवं औचित्य परस्पर नितान्त भिन्न तत्व नहीं हैं, अपितु ये **रुचिभेद से महान् काव्य के अंग हैं। इन सबका समष्टिगत रूप ही काव्य है।** इन तत्वों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—एक आत्मतत्व का पक्ष, दूसरा शरीर के महत्व को स्वीकार करने वाला पक्ष। आत्मा और शरीर की सापेक्ष अनिवार्यता स्वतः सिद्ध है, यदि आत्मा के बिना शरीर निरर्थक है, तो शरीर के बिना आत्मा का भी कोई मूर्त्त अस्तित्व नहीं है। यही बात रस और रीति के सम्बन्ध में है। भाव-सौन्दर्य उक्ति-सौन्दर्य से निरपेक्ष कैसे रह सकता है; इसी प्रकार उक्ति का सौन्दर्य भी भाव-सौन्दर्य से निरपेक्ष नहीं हो सकता। अतः हम कह सकते हैं कि एकाङ्गीरूप में ये सभी तत्व एक तत्सम्बन्धी सम्प्रदाय काव्य के व्यापक रूप को स्पष्ट करने की अपेक्षा उसके एक अङ्ग को ही प्रस्तुत करते हैं। इनमें से ऐसा एक भी नहीं है, जिसे काव्य का अङ्ग स्वीकार न किया जा सके। काव्य-सम्प्रदायों के महत्व तथा पारस्परिक सहयोग की दृष्टि से हम कुप्पूस्वामी के इस श्लोक को उद्धृत कर स्पष्ट करेंगे कि परस्पर ये मिलकर ही काव्यतत्व को स्पष्ट करते हैं—

औचितीमनुधावन्ति सर्वे ध्वनिरसोन्नयाः,
गुणालङ्कृति रीतीनां नयाश्चनृजुवाङ्मयाः॥

औचित्य का एक वृत्त है। औचित्य के वृत्त पर ध्वनि, रस एवं अनुमिति की सत्ता है। जब कवि की आत्माभिव्यक्ति होती है तो ध्वनित होकर रस व्यक्त हो जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि औचित्य तत्व पर ही रस की स्थिति और उसकी निष्पत्ति निर्भर है। वक्रोक्ति कथन की प्रणाली है, जब तक कथन में अनूठापन या वक्रता नहीं होगी, तब तक गुण व अलङ्कार की स्थिति संभव नहीं है; क्योंकि वक्रता के द्वारा ही गुण और अलंकार है। रीति की उत्पत्ति गुण और अलंकार के कारण है। इन्हीं गुण और अलङ्कार का मिश्रित रूप ही रीति है। इस स्थिति में ही यह वक्रता रीति में परिणत हो जाती है। बाह्यवृत्त आत्मा का है और आन्तरिक वृत्त शरीर का है; केन्द्र ही अन्य दोनों वृत्तों में परिणत हो जाता है। रस ही काव्यात्मा है, वह ध्वनि के द्वारा औचित्य

के माध्यम से व्यक्त होने पर ही काव्य की आत्मा है, वह शब्दार्थ के द्वारा ही व्यक्त होता है, यह सम्पूर्ण समष्टि ही काव्य की आत्मा है। पाठक औचित्य के माध्यम से चलता, देखता एवं अनुभव करता है और कवि शरीर तत्व से। इन दोनों के संयोग से ही काव्यात्मा-रूप आनन्द की उत्पत्ति होती है, यह आनन्द ही रस है और रस ही काव्य की आत्मा है।

प्रश्न १४—काव्य-दोषों के स्वरूप का विवेचन करते हुए काव्य-दोषों के भेदों का सामान्य परिचय दीजिए।

यदि उत्तम काव्य के लिए गुणों का होना आवश्यक है, तो वहाँ दोषाभाव का होना और भी आवश्यक है। इसीलिए संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने दोषों के अभाव को गुण माना है।[1] आचार्य भरत गुण को दोष का उलटा मानते हैं।[2] भरत की यह मान्यता चिरकाल तक मान्य रही; परिणामस्वरूप दण्डी तक दोष का कोई स्पष्ट लक्षण देखने को नहीं मिलता है। प्रायः सभी आचार्य दोषों के अभाव को उत्तम काव्य के लिए आवश्यक मानते हैं, इसीलिए भामह को काव्य में एक भी सदोष पद स्वीकार्य नहीं है।[3] दण्डी को काव्य में दोषों की अपेक्षा जरा भी सह्य नहीं है, क्योंकि वे काव्य की विफलता के कारण होते हैं। उदाहरण द्वारा इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि जैसे कुष्ठ का एक धव्वा सुन्दर शरीर को कुरूप बना देता है वैसे ही दोष काव्य को असुन्दर बना देते हैं; दोषों से बचना चाहिए।[4] यही नहीं, दण्डी के अनुसार कवि-कौशल एवं चमत्कार के द्वारा सभी दोष-सीमा का उल्लंघन कर गुण भी बन जाते हैं। अग्निपुराणकार के अनुसार दोष उद्वेगजनक होते हैं। वामन के अनुसार दोष गुण के विपर्यय होते हैं तथा दोष काव्य-सौन्दर्य की हानि करते हैं। महिमभट्ट काव्य में दोष की स्थिति अनुचित मानते हैं। काव्यालंकार के टीकाकार नमिसाधु भी दोषों को अनुचित मानते हैं। भोजराज दोषों को त्याज्य मानते हैं। जयदेव, मम्मट, हेमचन्द्र, भोजराज आदि काव्य के लक्षण में 'निर्दोष' शब्द का प्रयोग कर काव्य में दोष के अभाव को आवश्यक मानते हैं।'[5] अग्निपुराणकार ने भी काव्य के लक्षण में दोष को वर्जित

१. दण्डी : काव्यादर्श : 'महान् निर्दोषिता गुणाः।
२. भरत : नाट्यशास्त्र १७/९५, विपर्यस्तो गुणाः काव्येषु कीर्तिताः।
३. भामह : काव्यालङ्कार १/११। सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्। विलक्ष्मणा हि काव्येन दुः सतनेव निन्द्यते॥
४. दण्डी : काव्यादर्श १।
(क) दोषाः विपत्तये तत्र गुणाः सम्पत्तये यथा (प्रभा टीका) पृष्ठ ३७४।
(ख) तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्। १।७
इति दोषा दशैवैते वर्ज्याः काव्येषु सूरिभिः। ३।१२६
५. जयदेव : चन्द्रालोक : 'निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा।'
मम्मट : काव्यप्रकाश : १। तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृतीपुनःक्वापि।

किया है।[1] आचार्य मम्मट ने मुख्यार्थ के अपकर्षक को दोष कहा है। उद्देश्य की प्रतीति का विघातक होना ही मुख्यार्थ का अपकर्ष है। मुख्यार्थ है रस।[2] आचार्य विश्वनाथ भी मुख्य अर्थ के अपकर्ष करनेवाले तत्व को दोष कहते हैं।[3] रस का विघात तीन प्रकार से होता है—(१) रस की प्रतीति में विलम्ब, (२) अवरोध द्वारा, तथा (३) रस-प्रतीति में पूर्ण विघात। काव्य का प्रमुख तत्व रस है और रस के अपकर्ष करने वाले तत्व को काव्यदोष कहना सर्वथा उचित है। क्योंकि जब रस सदोष होगा, काव्य का मूलतत्व ही त्रुटिपूर्ण और सदोष है तब अन्य तत्व शब्द और अर्थ का कहना ही क्या। शब्द और अर्थ से निष्पन्न काव्य काव्यानन्द दे सकेगा; इसमें संदेह ही है।

हिन्दी साहित्य के आचार्यों ने मम्मट आदि के आधार पर ही काव्य के दोषों का विवेचन किया है। हिन्दी के आचार्यों में केशवदास 'कविप्रिया' में कहते हैं कि 'दूषण सहित कवित्त' से बचना चाहिए। पूर्ण लक्षण इस प्रकार है—"**प्रभु न कृतघनी सेइये, दूषण सहित कवित्त।**" श्रीपति ने 'काव्य-सरोज' चतुर्थ दल में दोषों का विवेचन किया है। उनकी दोष की परिभाषा इस प्रकार है—

जा पदार्थ के दोष ते आछे कवित नसाइ।
दूषन तासो कहत हैं श्रीपति पण्डित राइ॥

चिन्तामणि 'कविकल्पतरु' में शब्द, और रस के विघातक तत्वों को दोष कहते हैं—

शब्द अर्थ रस को जु इत देखि परै अपकर्ष।
दीन कहत है ताहि कौ सुने घटतु है हर्ष॥

कुलपति मिश्र के अनुसार रस-निष्पति का बाधक तत्व दोष है—

शब्द अर्थ में प्रकट ह्वै रस समुझन नहि देय॥
सो दूषण तन मन विथा, जो जिय को हरि लेय॥

भिखारीदास के अनुसार शब्द, वाक्य, रस और अर्थ में दोष होता है, इनसे बचकर कविता करनी चाहिए—

दोष शब्द हूं, वाक्य हूँ, अर्थ रसहु में होय।
तेहि तजि कविताई करैं, सज्जन सुमती सोय॥

प्रतापसाहि काव्यविलास में मुख्यार्थ के बाधक तत्व को दोष कहते हैं—

अर्थ बोध के मुख्य में, घात करत जो होई।
ताको दूषण कहत हैं, शब्द अर्थ रस सोई॥

उपर्युक्त विवेचन के अनन्तर हम कह सकते हैं कि हिन्दी के आचार्यों की दोष-विषयक मान्यता संस्कृत-काव्यशास्त्रोपजीवि है। इन हिन्दी के आचार्यों ने मुख्यार्थ

---

१. अग्निपुराण संक्षेपाद्........गुणवद्दोष वर्जितम्॥

२. मम्मट : काव्यप्रकाश ७।४९

मुख्यार्थहतिर्दोषोरसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः।

३. विश्वनाथ : सहित्यदर्पण दोषास्तस्यापकर्षकाः

(रस) के बाधक तत्व के रूप में काव्यदोषों को स्वीकार किया है।

दोष-भेद—नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने दोषों की संख्या दस मानी है, उनके नाम ये हैं—अगूढ़, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिप्लुतार्थ, न्यायापेत, विषम, विसन्धि, और शब्दहीन।[1] भामह ने तीन प्रकार के दोषों की चर्चा की है[2]—सामान्य दोष, वाणीदोष, और अन्य दोष। सामान्य दोष निम्न हैं—नेयार्थ, क्लिष्ट, अन्यार्थ, अवाचक, अयुक्त और गूढ़ शब्द। वाणीदोष—श्रुतिकटु, अर्थ-दुष्ट, कल्पना तथा श्रुति-दुष्ट। अन्यदोष—अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, ससंशय, अपत्क्रम, शब्दहीन, यतिभ्रष्ट, भिन्न-वृत, विसन्धि, देशविरुद्ध कालविरुद्ध, प्रतिज्ञाहीन, हेतुहीन और दृष्टान्तहीन। भामह के अनुसार उपर्युक्त समस्त दोष एक-दूसरे में समन्वित होकर ग्यारह रह जाते हैं। दण्डी के अनुसार (काव्यादर्श '३।१२५-२६) निम्न काव्यदोष हैं—(१) निरर्थक, (२) विरुद्धार्थक, (३) अभिन्नार्थक (४) संशययुक्त, (५) अपेक्षित शब्दहीन, (६) यतिभ्रष्ट, (७) असमवृत, (८) सन्धिरहित, (९) स्थान-समय-कला-लोक-न्यास, और आगम का विरोध। (१०) अपक्रमम्। आचार्य वामन ने पूर्वोक्त आचार्यों की अपेक्षा कुछ अधिक स्पष्ट विवेचन किया है। वामन के अनुसार दोष दो प्रकार के शब्दगत और अर्थगत होते हैं। इनके भी चार भेद पद-दोष; पदार्थदोष, वाक्य-दोष, और वाक्यार्थ-दोष हैं। इन्होंने शब्दगत दोषों के तीन भेद पदगत, पदार्थगत, और वाक्यगत किये हैं। तथा अर्थगत के दो भेद पदार्थगत और वाक्यार्थगत माने हैं। काव्य के दोषों का सर्वाधिक स्पष्ट एवं मान्य विवेचन काव्यप्रकाशकार मम्मट ने किया है। मम्मट के अनुसार काव्य-दोष तीन प्रकार के—शब्द-दोष, अर्थ-दोष तथा रस-दोष होते हैं। पद, पदांश और वाक्यगत दोषों का परिगणन मम्मट शब्द-दोषों में ही करते हैं। मम्मट ने **शब्द-दोष सैंतीस, अर्थदोष तेईस और रसदोष दस माने हैं**। शब्द-दोष के अन्तर्गत पद-दोष निम्न हैं—श्रुतिकटु, च्युतसंस्कृति, अप्रयुक्त, असमर्थ, निहतार्थ, अनुचितार्थ, निरर्थक, अवाचक, अश्लील, संदिग्ध, अप्रतीत, ग्राम्यनेयार्थ (पदगत-समासगत), क्लिष्ट, अवि-मृष्ट-विधेयांश, विरुद्धमतिकृत। उपर्युक्त सोलह दोषों में से च्युतसंस्कृति, असमर्थ और निरर्थक दोष को छोड़कर शेष तेरह दोष वाक्य में भी होते हैं। पदांशदोष निम्न हैं—श्रुतिकटु, निहतार्थ, निरर्थक, अवाचक, व्रीड़ा, जुगुप्सा, अमङ्गलदायी, अश्लील, सन्दिग्ध, नेयार्थ।

वाक्यगत दोष—प्रतिकूलवर्ण, उपहतविसर्ग, लुप्तविसर्ग, विसंधि, हतवृत, न्यूनपद, अधिकपद, कथितपद, पतत्प्रकर्ष, समाप्तनुपरात्त, अर्थान्तरैकवाचक, अभवन्मत-योग, अनभिहितवाच्य, अपदस्थपद, अपदस्थ समास, सङ्कीर्ण, गर्भित, प्रसिद्धिहत भग्न-प्रक्रम, अक्रम, अमतपरार्थ।

अर्थदोष—(१) अपुष्ट, (२) कष्ट, (३) व्याहत, (४) पुनरुक्त, (५) दुष्क्रम,

---

१. ना० शा० १७।८८;

२. काव्यालंकार (भा०) १।३७, ४७; ४।१; ५।६०;

(६) ग्राम्य, (७) सन्दिग्ध, (८) निर्हेतु, (९) प्रसिद्धिविरुद्ध, (१०) विद्याविरुद्ध, (११) अनवीकृत, (१२) सनियमपरिवृत्त, (१३) अनियमपरिवृत्त, (१४) विशेषपरिवृत्त, (१५) अविशेषपरिवृत्त, (१६) साकांक्ष, (१७) अपदयुक्त, (१८) सहचरभिन्न, (१९) प्रकाशित विरुद्ध, (२०) विध्ययुक्त, (२१) अनुवादयुक्त, (२२) त्यक्तपुनः स्वीकृत, तथा (२३) अश्लीलअर्थ दुष्ट।

रसदोष—(१) व्यभिचारीभाव, रस तथा स्थायीभावों का स्वशब्द द्वारा कथन, (२) अनुभाव, विभाव की कष्ट-कल्पना द्वारा अभिव्यक्ति, (३) प्रतिकूल विभाव आदि का ग्रहण, (४) बार-बार दीप्ति, (५) अनवसर रस का विस्तार (६) रस का अनवसर विच्छेद, (७) अङ्ग या अप्रधान का विस्तार, (८) अंगी की उपेक्षा, (९) प्रकृति का विपर्यय, (१०) अनङ्ग का वर्णन।

ध्वन्यालोककार ने रस-विषयक दोषों का विवेचन करते समय 'दोष' को 'अनौचित्य' शब्द से अभिहित किया है।

हिन्दी के काव्यशास्त्रियों ने भी दोषों पर विस्तार से विचार किया है। केशवदास ने 'कविप्रिया' में बाईस दोषों का विवेचन किया है।[1] चिन्तामणि ने शब्दगत, अर्थगत और रसगत दोषों का विवेचन किया है।[2] कुलपति मिश्र ने इस विषय में चिन्तामणि का अनुकरण किया है।[3] सोमनाथ उपर्युक्त तीन प्रकार के दोषों के अतिरिक्त 'वृत्तदोष' नामक अन्य दोषों को भी स्वीकार करते हैं।[4] भिखारीदास शब्दगत, वाक्यगत, अर्थगत तथा रसगत दोषों को मानते हैं।[5]

निष्कर्ष यह है कि काव्य-सौन्दर्य को हानि पहुँचाने वाले तत्व का नाम दोष है। किन्तु दोष सर्वत्र दोष नहीं रहते, उनका परिहार भी हो जाता है। केवल उनका परिहार ही नहीं, वे कभी-कभी गुण भी हो जाते हैं, काव्य-सौन्दर्य का उत्कर्ष भी कर देते हैं और कवि की वाणी का चमत्कार कहलाते हैं, किन्तु यह तभी होता है जबकि कवि सावधानी से कार्य करता है। अतः कहा जा सकता है कि दोष काव्य में अनित्य ही हैं।

प्रश्न १५. निम्नलिखित दोषों का लक्षण उदाहरण देते हुए दोष परिकार का विवेचन कीजिए :

(१) श्रुतिकटुत्व, (२) च्युतसंस्कृति, (३) अश्लीलत्व, (४) ग्राम्यत्व, (५) अप्रतीतत्व, (६) क्लिष्टत्व, (७) न्यूनपदत्व, (८) अधिक पदत्व, (९) अक्रमत्व, (१०) दुष्क्रमत्व, (११) पुनरुक्ति,

---

१. केशव: कविप्रिया तृतीय, अध्याय
२. चिन्तामणि : कविकुल-कल्पतरु, चतुर्थ प्रकरण
३. कुलपति : रस-रहस्य, पंचम प्रकरण
४. सोमनाथ : रस-पीयूष-नीधि, इक्कीसवां तरण
५. भिखारीदास : काव्यनिर्णय

१. श्रुतिकटुत्व—काव्य में कानों को अप्रिय लगने वाली एवं कठोर शब्द की रचना 'श्रुतिकटु' कहलाती है। अतः जहाँ पर कठोर शब्दों का प्रयोग होता है वहाँ पर श्रुतिकटुत्व दोष होता है जैसे—

उदाहरण—(क) कातार्थी तब होहुँगी, जब मिलि हैं प्रिय आय।

यहाँ पर कातार्थी शब्द शृंगार रस के प्रयोग में कानों को खटकता है क्योंकि शृंगार रस में और विशेषकर विप्रलम्भ शृंगार में माधुर्य वर्णों का ही प्रयोग होना चाहिए; कठोर वर्ण नितान्त वर्जित है। अतः यहाँ पर श्रुतिकटुत्व दोष है।

अन्य उदाहरण—भर्त्सना से भीत हो वह बाल तब चुप हो गया। यहाँ पर भी 'भर्त्सना' शब्द में श्रुतिकटु दोष है।

२. च्युतसंस्कृति—च्युतसंस्कृति दोष वहाँ होता है। जहाँ किसी पद का प्रयोग व्याकरण के प्रतिकूल होता है।

जैसे निराशता तथा पुज्यनीय शब्द व्याकरण के नियमों के प्रतिकूल हैं इनका प्रयोग होने पर च्युतसंस्कृति दोष होगा।

उदाहरण—(क) इस निराशता को छोड़ो, आशा से लो काम।

इस उदाहरण का 'निराशता' शब्द व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है, अतः यहाँ पर च्युतसंस्कृति दोष है। यहाँ पर कवि को निराशा शब्द का प्रयोग करना चाहिये था।

अन्य उदाहरण—पूज्यनीय श्रीमान् जी, हमको करें कृतार्थ।

यहाँ पूज्यनीय शब्द में च्युतसंस्कृति दोष है। पूज्य अथवा पूजनीय शब्द का प्रयोग ही होना चाहिए।

३. अश्लीलत्व—काव्य में अश्लील शब्दों का प्रयोग अश्लीलत्व दोष कहलाता है।

यह दोष तीन प्रकार का होता है।

(१) व्रीडा सूचक, (२) घृणा सूचक, (३) अमंगल सूचक।

(क) व्रीडा सूचक—जिन शब्दों के प्रयोग में लज्जा प्रतीति होती है उन शब्दों में व्रीडासूचक अश्लीलत्व दोष होता है।

उदाहरण—मद अन्धन को जय करन तौ साधन सुमहान।

स्पष्टीकरण—यहाँ राजा की प्रशंसा में कहा गया है तेरा साधन (सैनिक शक्ति) महान् है।

यहाँ पर 'साधन' शब्द अश्लील है क्योंकि **साधन** का अर्थ पुरुष का लिङ्ग भी होता है।

(ख) **घृणा सूचक**—

उदाहरण—मिची आँख पिय की निरखि,
वायु दीन तत्काल।

यहाँ प्रयुक्त 'वायु' शब्द अपानवायु का भी द्योतक है अतः घृणा सूचक है।

(ग) **अमंगल सूचक**—उपर्युक्त पद्य में मिची आँख शब्द अमंगल सूचक है क्योंकि आँख मिचना 'मृत्यु के' लिए भी प्रयुक्त होता है।

४. ग्राम्यत्व—साहित्यिक रचना में ग्रामीण बोलचाल के शब्दों का प्रयोग होने पर ग्राम्यत्व दोष हो जाता है।

उदाहरण—"मूड़ पै मुकुट धरे सोहत गोपाल है।"

यहाँ पर 'मूड़' शब्द में ग्राम्यत्व दोष है क्योंकि मूड़ शब्द गाँवों में ही सिर के लिए प्रयुक्त होता है।

५. अप्रतीतत्व—जहाँ पर ऐसे शब्दों का प्रयोग हो जो केवल शास्त्रों में ही प्रसिद्ध हों परन्तु लोकव्यवहार में नहीं, वहाँ पर अप्रतीतत्व दोष होता है।

उदाहरण—"आशय मेरा करो नाश हे हरि"

यहाँ पर 'आशय' शब्द वासना के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है परन्तु यह शब्द वासना के लिए केवल योगशास्त्र में ही प्रसिद्ध है लोक में नहीं, अतः यहाँ पर अप्रतीतत्व दोष है।

अन्य उदाहरण—असुरों के सम्राट-इन्द्र ने ऋषि-मुनियों को किया प्रणाम।

यहाँ पर असुर शब्द देवता वाचक है जो केवल वेदों में ही प्रसिद्ध है लोक में नहीं, अतः अप्रतीतत्व दोष है।

६. क्लिष्टत्व—जहाँ पर ऐसे शब्दों का प्रयोग हो जिनका अर्थ बड़ी कठिनाई से प्रतीत हो, वहाँ क्लिष्टत्व दोष होता है।

उदाहरण— अहि-रिपु-पति-तिय-सदन है,
मुख तेरो रमनीय।

यहाँ पर **'अहि-रिपु-पति-तिय-सदन'** का अर्थ **'कमल'** है जो बड़ी कठिनाई से जाना जाता है अतः क्लिष्टत्व दोष है।

अहि=सर्प, उसका शत्रु-गरुड़, उसके पति, विष्णु भगवान उनकी तिय लक्ष्मी, उनका सदन अर्थात् निवास स्थान कमल, उसके समान मुख है।

७. न्यूनपदत्व—जहाँ पर अभीष्ट अर्थ को सूचित करने वाले पद की कमी हो और पूर्ण अर्थ को स्पष्ट करने के लिए कुछ शब्द जोड़ना पड़े वहाँ पर न्यून पदत्व दोष होता है।

उदाहरण—कृपावलोकन होय तो,
सुरपति सों का काम।

यहाँ पर 'कृपावलोकन' शब्द से पहले **'आपकी'** शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। इस शब्द के न होने से अभीष्ट अर्थ की प्रतीति नहीं होती है इसलिये यहाँ न्यूनपदत्व दोष है।

अन्य उदाहरण—"पानी पावक पवन प्रभु, ज्यों असाधु त्यों साधु" [केशव]

पानी, अग्नि, पवन और भगवान साधु और असाधु के साथ समान व्यवहार करते हैं किन्तु अर्थ की स्पष्ट अभिव्यक्ति केवल इन्हीं शब्दों से नहीं हो रही है।

८. अधिकपदत्व—जहाँ पर वाक्य में अनावश्यक शब्दों का प्रयोग किया जावे वहाँ पर अधिकपदत्व दोष होता है। ऐसे अनावश्यक शब्दों के हटा देने से वाक्य का सौन्दर्य बढ़ता ही है घटता नहीं।

उदाहरण—लपटी पुहुप पराग पर सनी स्वेद मकरन्द।

यहाँ पर पुहुप (पुष्प) शब्द अनावश्यक है। इसके हटा देने से वाक्यार्थ के सौन्दर्य में कोई बाधा नहीं पहुँचती है। पुष्प की रज को ही पराग कहते हैं अतः पराग के पहले 'पुहुप' शब्द न लगाना ही अच्छा है। इसीलिये यहाँ अधिकपदत्व दोष है।

अन्य उदाहरण—मैंने अपनी आँखों से देखा है।

यहाँ पर आँखों से शब्द अधिक हैं क्योंकि देखना तो आँखों से ही होता है। अतः यहाँ पर भी अधिकपदत्व दोष है।

९. अक्रमत्व—जहाँ पर कोई पद उचित स्थान पर प्रयुक्त न होकर अनुचित स्थान पर (बिना क्रम के ही) प्रयुक्त हो यहाँ पर अक्रमत्व दोष होता है।

उदाहरण—"विश्व में लीला निरन्तर कर रहे वे मानवी।"

यहाँ पर मानवी शब्द का प्रयोग लीला शब्द से पहले (मानवी लीला) न करके चरण के अन्त में किया है अतः अक्रमत्व दोष है।

१०. दुष्क्रमत्व—जहाँ पर शास्त्र अथवा लोक के विरुद्ध क्रम होता है वहाँ पर दुष्क्रमत्व दोष होता है।

उदाहरण—"नृप मो को हय दीजिये अथवा मत्त गजेन्द्र।"

सबसे पहले याचक को हाथी माँगना चाहिए, हाथी न मिलने पर हय (घोड़ा) माँगना चाहिये अतः 'हय' शब्द के स्थान पर 'मत्त गजेन्द्र' होना चाहिए और 'मत्त गजेन्द्र' के स्थान पर 'हय' शब्द का प्रयोग होना चाहिये। इन दोनों शब्दों का प्रयोग लोकविरुद्ध होने के कारण यहाँ पर 'दुष्क्रमत्व' दोष है।

११. पुनरुक्ति—जहाँ एक शब्द या वाक्य द्वारा किसी अर्थ विशेष की प्रतीति हो जाने पर भी उसी अर्थ वाले शब्द या वाक्य का दुबारा प्रयोग किया जावे वहाँ पुनरुक्ति दोष होता है।

उदाहरण—"सब कोऊ जानत तुम्हें सारे जगत जहान।"

यहाँ पर 'जहाँन' शब्द संसार के अर्थ में दुबारा प्रयोग किया गया है अतः पुनरुक्ति दोष है।

दोष-परिहार

काव्य में दोष सदा ही दोष नहीं रहते। कभी-कभी दोषों का निराकरण हो जाता है। कभी-कभी वक्ता, श्रोता, आदि के औचित्य के कारण दोष गुण हो जाते हैं और कहीं तो वह न दोष रहता है और न गुण ही—**"वक्ताद्यौचित्यवशाद्दोषोऽपि गुणः क्वचित् क्वचिन्नोभौ"** अतः काव्य में जो एक तत्व एक स्थान पर दोष है वही अन्यत्र गुण भी हो जाता है और कभी-कभी न वह दोष रहता है और न गुण ही।

(अ) शृंगार रस में टवर्ग (ट, ठ, ड, ढ, ण) के वर्णों का प्रयोग 'श्रुतिकटु'

दोष कहा जाता है किन्तु यही टवर्ग वीर तथा रौद्र रस में रसनिष्पत्ति में सहायक बनाता है, जैसे—

चितवन कछु कौतुक इतै, देखो नेकु निहारि।
कब की इकटक डटि रही, टटिया अंगुरिन टारि॥

इस श्रृंगार रस के उदाहरण में 'टवर्ग' का प्रयोग श्रुतिकटु होने के कारण रस-निष्पत्ति में बाधक है, क्योंकि श्रृंगार रस में वैदर्भी रीति और माधुर्य गुण का प्रयोग होता है, इन दोनों ही में टवर्ग का प्रयोग वर्जित होता है। किन्तु वीर रस में 'टवर्ग' का विधान है अतः वहाँ टवर्ग कर्णकटु वर्णों तथा संयुक्ताक्षरों का प्रयोग सौन्दर्य-वर्द्धन करता है। अतः वीर रस में टवर्गादि का प्रयोग गुण होता है।

(ब) लज्जा जनक, घृणास्पद, और अमंगल सूचक शब्द काव्य में **अश्लीलत्व** दोष के जनक है किन्तु कामशास्त्र में नहीं। वहाँ से गुण बन जाते हैं।

(स) शास्त्रीय या पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग '**अप्रतीतत्व**' दोष कहा जाता है किन्तु अपने-अपने सन्दर्भ में वे दोष नहीं होते। 'योगशास्त्र' के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग श्रृंगार रस के काव्य में दोष है किन्तु 'योगदर्शन' में नहीं।

(द) इसी प्रकार यदि वक्ता और श्रोता दोनों ही शास्त्र-ज्ञाता हैं, तो वहाँ यह दोष नहीं रहेगा।

(य) ग्राम्यत्व-दोष ग्रामीणों की बोल-चाल में दोष नहीं होता है।

अर्थोत्कर्ष के लिए जब बात दुहरायी जाती है वहाँ **पुनरुक्त** दोष नहीं रहता है। वहाँ वह गुण हो जाता है।

इसी प्रकार—

(१) "प्रसिद्ध अर्थ में हेतु का न होना दोष नहीं होता है।

(२) दूषित पदों के प्रयोग का अनुकरण करके बतलाने में सदोष पदों का उच्चारण करने में वक्ता दोष का भागी नहीं होता है अर्थात् अनुकरण में श्रुतिकटु आदि का दोषों दोषत्व नहीं होता है।

(३) वैय्याकरण यदि वक्ता है तो क्लिष्टत्व काव्यदोष गुण हो जाता है, इसी प्रकार यदि श्रोता भी वैयाकरण है तो क्लिष्टत्व गुण हो जाता है।

(४) वीभत्व रस के व्यंग्य होने पर श्रुतिकटुत्व तथा दीर्घ समासत्व (दोष) गुण हो जाता है।

(५) अध्याहार से यदि शीघ्र अर्थ की प्रतीति हो जाए तो वहाँ न्यूनतम दोष नहीं रहता है।

प्रश्न १६. कविता के उपकरण (तत्व) क्या हैं, इनका स्पष्ट विवेचन कीजिए।

काव्य क्या है? इस प्रश्न का उत्तर आचार्यों ने काव्य के लक्षणों को लिखकर दिया है, किन्तु काव्य की परिभाषाएं व्यक्ति, देश, काल आदि सापेक्ष हैं, अतः वे पूर्ण होते हुए भी अपूर्ण हैं। काव्य की आत्मा के निर्धारण-प्रसंग में भी आचार्यों ने काव्य, उसकी आत्मा और उपकरणों की ओर संकेत किया है। उसके द्वारा भी काव्य के तत्वों

का स्पष्ट निर्देश नहीं मिला है। किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि भाव और भाषा शैली काव्य के अनिवार्य उपकरण हैं। 'स्पृहणीय' सुन्दर भाव ही काव्य-साहित्य का मूलतत्व है और उसकी अभिव्यक्ति का अनिवार्य माध्यम भाषा-शैली है। रस-भाव या उदात्त भाव काव्य का प्राणतत्व है तो भाषा-शैली उसका शरीरतत्व है।" वास्तव में यही दो तत्व काव्य के प्रधान उपकरण या तत्व हैं किन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने कल्पना तत्व को विशेष महत्व दिया है। भाव के अन्तर्गत ही बुद्धितत्व या विचारतत्व का भी समावेश हो जाता है किन्तु विद्वानों ने इन दोनों तत्वों में पार्थक्य मान कर इन्हें दो तत्व स्वीकार किया है। डा० श्यामसुन्दरदास ने काव्य में तीन प्रधान उपकरण या तत्व माने हैं, उनका विचार है कि—

(१) "बुद्धितत्व अर्थात् वे विचार जिन्हें लेखक या कवि अपने विषय-प्रतिपादन में प्रयुक्त और अपनी कृति में अभिव्यक्त करता है। (२) रागात्मक तत्व अर्थात् वे भाव जिनका उसको काव्य-विषय स्वयं उसके हृदय में उत्पन्न करता है और जिनका वह पाठकों के हृदय में संचार करना चाहता है तथा (३) कल्पनातत्व अर्थात् मन में किसी विषय का चित्र अंकित करने की शक्ति जिसे वह अपनी वृत्ति में प्रदर्शित करके पाठकों के हृदय-चक्षु के सामने भी वैसा ही चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न करता है।" किन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने चार तत्व माने हैं, उनके नाम हैं—(१) बुद्धितत्व, (२) भावतत्व, (३) कल्पनातत्व, (४) कला या शैली (भाषा-शैली)।

काव्य बुद्धि, भाव, कल्पना और भाषा-शैली का समन्वित परिणाम है। एक के अभाव में काव्य का अस्तित्व खतरे में पड़ सकता है। किन्तु हम किस तत्व को प्रधान मानें और किसे अप्रधान। हमारे विचार से सर्वाधिक प्रधान तत्व-भाव "काव्य में भाव-तत्व की ही प्रधानता प्रतीत होती है, बुद्धितत्व का स्थान गौण होता है। बुद्धितत्व के अभाव में काव्य का कोई न कोई रूप अवश्य सम्भव है, वह चाहे अस्थिहीन मांस के शिथिल श्लथ के सदृश ही क्यों न हो। किन्तु केवल बुद्धितत्व कभी काव्य का विधान नहीं कर सकता। वह तो शुष्क, नीरस और भयावह अस्थिपंजर के सदृश ही प्रतीत होगा। इसलिए काव्य में बुद्धितत्व सदैव ही भावाश्रित रहता है।" इसी बात को मेरी Merry नामक पाश्चात्य विद्वान् ने इस प्रकार लिखा है—

In literature there is, no such thing as pure thought, thought is always the handmaid of emotion." (the Problem of Style, Page 73.)

"अर्थात् साहित्य में बुद्धि अपने शुद्ध रूप में नहीं रहती। वह सदा ही भावना की अनुगामिनी भृत्या के रूप में आती है।"

बुद्धितत्व का काव्य में महत्वपूर्ण स्थान है, वह कवि को विचारसम्पदा प्रदान करता है। कवि के दृष्टिकोण को स्वस्थ दिशा देने का कार्य भी बुद्धि का है। वह जीवन और जगत् के चिरन्तन सत्यों को मूर्त्त रूप प्रदान करने में सहयोग देता है द्धितत्व उचितानुचित के विवेक का कार्य भी करता है। डा० त्रिगुणायत ने बुद्धि के।

निम्न कार्य स्वीकार किये हैं—

(१) भावों को आधारभूमि के रूप में,

(२) भावों को स्पष्टतर करने के लिए,

(३) लेखक के दृष्टिकोण के स्वरूप निर्माण के रूप में,

(४) भावों की व्यवस्थित अभिव्यक्ति के रूप में,

(५) भावभिव्यक्ति में चमत्कार की योजना के रूप में।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि काव्य में बुद्धितत्व का विशेष महत्व है; उसके द्वारा ही काव्य की रूपरेखा व्यवस्थित होती है। वह कल्पना की उन्मुक्त गति को संयमित करता है, और काव्य को लोकमंगल का विधायक बनने के लिए बाध्य करता है।

भावतत्व—भाव या रस काव्य का प्राण है। यह भाव ही काव्य का आधार है। इसी भावतत्व की पूर्ण परिणति के लिए अन्य तत्वों का प्रयोग किया जाता है। भावतत्व ही काव्य का ऐसा एक अनिवार्य तत्व है जिसके महत्व को सभी स्वीकार करते हैं, यही तत्व काव्य की मूलभूत एकता की प्रतिष्ठा करता है। "मनोवेग, जिन्हें साधारणतः भाव ही कहा जाता है, काव्य के भाव-पक्ष के प्राण हैं। कवि की संस्कार-जन्य प्रतिभा जीवन के विविध वातावरणों के मार्मिक चित्रों को आत्मसात् करती रहती है। मनोवेगों के किसी विशेष उद्रेक द्वारा यह एकत्रित चित्र वाग्धारा के माध्यम से काव्य का निर्माण करते हैं। काव्य के कल्पनातत्व, बुद्धितत्व और शैलीतत्व यह तीनों तत्व भावतत्व पर आश्रित हैं।" भाव ही कवि-कल्पना का प्रेरक तत्व है। वह काव्य में प्रभाव उत्पन्न करता है। वही वास्तव में काव्य है, वही संगीतात्मकता का प्रेरक है। निःसन्देह भाव ही काव्य का मूलतत्व है। उसी तत्व की सहायता के लिए अन्य तत्वों का प्रयोग होता है। श्रेष्ठ काव्य के निर्माण के लिए भावों में उदात्तता, गहनता और विस्तार होना आवश्यक है।

भाषा-शैली तत्व—कल्पना, बुद्धि और भाव-तत्व की तरह शैली-तत्व भी काव्य का अनिवार्य तत्व है। भाव आत्मतत्व है तो भाषा-शैली शरीरतत्व। भावार्थ जब शब्दार्थ रूप ग्रहण करता है तभी वह साहित्य रूप को ग्रहण करता है। "काव्य का शैली तत्व मनोगत भावों को मूर्त रूप प्रदान करने वाला सहज साधन है। शैली काव्य के बाह्य रूप को अलंकृत करने के अतिरिक्त उसके भावगत रूप को विकसित करती है। भावों के पोषक उपादान के रूप में यह रस-संचार करने में सहायक होती है। भाव-सौन्दर्य की सार्थकता शैली-गत सौन्दर्य पर ही निर्भर है। सुन्दर शैली के अभाव में भावों का सहज सौन्दर्य भी विकृत हो जाता है। प्रत्येक लेखक की अन्तर्तम भावनाओं और व्यक्तित्व के अनुसार शैली अपना विशिष्ट महत्व रखती है।" निश्चय ही शब्द और अर्थ प्रत्येक साहित्यकार की अपनी सम्पत्ति होते हैं किन्तु जो उनका समुचित प्रयोग करना जानता है और करता है महान् साहित्यकार के पद को अभिषिक्त करता है।

कल्पना तत्व—काव्य के तत्वों में एक अन्य महत्वपूर्ण तत्व कल्पना है। काव्य-रूप की सृष्टि करने वाली शक्ति कल्पना ही है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को समक्ष प्रस्तुत करने का काम कल्पना करती है। यह अमूर्त्त को मूर्त्त रूप प्रदान करती है। पात्रों के चरित्र की सृष्टि करती है। विभिन्न भावों के चित्र अंकित करना भी इसी कल्पना का कार्य है। भूत, भविष्य और वर्तमान का साक्षात्कार हम कल्पना के द्वारा ही करते हैं अतः काव्य में कल्पना का महत्व स्वयं सिद्ध है। कल्पना से उत्पन्न चित्र ही भावों को उत्तेजित करते हैं, भाषा-शैली उन्हें शब्द रूप प्रदान करती है। "सूक्ष्म विशेषताओं और गुणों को, चेष्टा, क्रियाकलाप और अभिव्यक्ति के प्रयोजन को तथा भाव की उलझन, तीव्रता और प्रभाव की कल्पना की सहायता के बिना पूर्णतया प्रगट नहीं किया जा सकता। कल्पना की चल-चित्रावली जब उद्घाटित होने लगती है, तब अनुभूत, अतीत जीवन की झाँकियाँ हमारे सामने नाचने लगती हैं। जिस प्रकार भाव की अनुभूति आनन्दमयी है उसी प्रकार कल्पना की झाँकी भी मधुर और संवेद्य है। सुख या दुःख चाहे जिसके चित्र यह कल्पना की चित्रावली प्रस्तुत करें हम उसे देखने की अटूट तृष्णा से ओत-प्रोत हैं। वास्तव में कल्पना की सामर्थ्य ही कवि की प्रतिभा है।" शेक्सपीयर ने इसीलिए लिखा भी है कि—"The lunatic, the lover and the poet are of 'magination all compact." अर्थात् उन्मत्त, प्रेमी और कवि का कल्पना से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कल्पना को प्राच्य एवं पाश्चात्य दोनों ही काव्य-संसार तथा उनके काव्यशास्त्र महत्व प्रदान करते

काव्य के भाव, कल्पना, बुद्धि और भाषा-शैली नामक चारों तत्वों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। वे परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं, एक दूसरे को पूर्णता प्रदान कर काव्य का रूप ग्रहण करते हैं। "कल्पना, शैली और विचार-तत्व मूल उदात्त भाव-तत्व की श्रेष्ठ सिद्धि में ही सहायक होते हैं। कल्पना भाव को पुष्ट करती है, उसकी नई-नई सामग्री जुटाती है, नए-नए चित्र उपस्थित कर भाव एवं कला दोनों को बल देती है कल्पना का सम्बन्ध मानसिक सृष्टि से है। बुद्धितत्व कल्पना को उच्छृङ्खल बनने से रोकता है और भावों को उदात्त बनाता है। बुद्धि-तत्व से काव्य में सत्यं एवं शिवं की रक्षा होती है, तो कल्पना और भावतत्व से सुन्दरम् का निर्माण होता है। कल्पना से सुन्दरम् का शरीर निर्मित होता है तो भावों में उसकी आत्मा रहती है। शैली अभिव्यक्ति का माध्यम है इसी से तो कवि के हृदय के साथ पाठक के हृदय का सहस्पन्दन होता है।"

प्रश्न १६. काव्य में कल्पना तत्व, को स्पष्ट करते हुए उसका स्वरूप, कार्य और उसके भेदों का विवेचन कीजिए।

काव्य ही नहीं, प्रत्येक कला का जन्म कल्पना के कारण ही संभव हो पाता है। प्रत्येक कला में यथार्थ तथा कल्पना का समन्वय ही कला-सृष्टि के लिए उत्तर-दायी है। हमें इन्द्रियों की संवेदना से जो प्रत्यक्षीकरण (Perception) होता है उसे हम

प्रत्यक्ष ज्ञान या यथार्थ का ज्ञान कहते हैं, किन्तु प्रत्यक्ष इन्द्रिय-संवेदनों के अभाव में भी नाना प्रकार के रमणीय एवं भयानक, सुखद एवं दु:खद चित्र जो मन के सामने उपस्थित हो जाते हैं यह कल्पना का ही व्यापार है। कल्पना पूर्वानुभूत वस्तुओं को नवीन परिधान एवं रंग-रूप में हमारे सामने उपस्थित करने की अद्भुत क्षमता रखती है। भारतीय काव्यशास्त्रियों ने काव्यानन्द को अलौकिक कह कर लौकिक अनुभव से उसकी जो भिन्नता प्रकट की है उसका तात्पर्य यही है कि काव्य में लौकिक अनुभूति कल्पना द्वारा पुनर्मृजन को प्राप्त होकर एक सर्वथा नवीन अनुभूति बन जाती है जो ब्रह्मास्वाद न होकर भी ब्रह्मास्वाद-सहोदर अवश्य है। कवि की कल्पना शक्ति के कारण ही आचार्य मम्मट ने कवि की सृष्टि को "नियतिकृत नियमरहिताम्" कहा है। कवि जब किसी भौतिक संवेदना को ग्रहण करता है तो उसकी कल्पना-शक्ति उस संवेदना का इस प्रकार पुनर्निर्माण करती है कि वह सर्वथा एक नवीन वस्तु बन जाती है। इसीलिए वाल्मीकि की 'सीता उस सीता से भिन्न है जो जनकनंदिनी थी, तुलसी के राम तुलसी के मानसपुत्र हैं वे दाशरथीराम नहीं हैं।

सामान्य व्यक्ति किसी करुणाजनक दृश्य को देखकर करुणा का अनुभव तो करता है किन्तु उसका यह अनुभव काव्य में करुण रस नहीं बन पाता। ऐसा क्यों है? क्योंकि काव्य के सृजन के लिए अनुभूति के साथ उस कल्पनाशक्ति की भी नितांत आवश्यकता होती है जो हमारी सीमित भौतिक अनुभूति को व्यापक सामान्य के साथ जोड़ती है। जब तक उस अनुभूति को मानव मात्र की अनुभूति नहीं बनाया जायेगा तब तक वह काव्य बनेगा कैसे? इसी को आचार्य शुक्ल ने आलंबनत्व धर्म का साधारणीकरण कहा है। कल्पना एक अनुभूति के साथ विभिन्न बिम्बों (Image) का सम्बन्ध जोड़ती है। सभी अनुभूतियों के पारस्परिक विरोध (Contradictions) का परिहार करके समन्वय स्थापित करती है और कभी उन्हें सर्वथा नवीन रूप एवं सौन्दर्य से मंडित करके उपस्थित करती है। इस प्रकार काव्य में सौन्दर्यतत्व का जन्म कल्पना से ही होता है। कल्पना के ही कारण खण्डित अनुभूतियाँ संश्लिष्ट चित्रों के रूप में उपस्थित होती हैं और कल्पना के ही कारण लौकिक जीवन के दु:खद भाव शोक, भय, घृणा, क्रोध आदि काव्य में रस-रूप में परिणत होकर आनन्द-रूप ही हो जाते हैं। कवि किसी वस्तु को देखने के साथ-साथ अपनी कल्पना की आँखों से उस व्यापक सत्य को भी उस वस्तु के साथ देख लेता है जो उस वस्तु में ऊपर दिखाई नहीं देता, जिसे देखने के लिए अन्तर्दृष्टि चाहिये। यहाँ अंतर्दृष्टि अपनी आत्मा के सौन्दर्य को उस पदार्थ-विशेष की अनुभूति के साथ जोड़ देती है। इस प्रकार उस पदार्थ का भौतिक रूप एक अभौतिक, अलौकिक सौन्दर्य में बदल जाता है। हमारे आचार्यों ने काव्य के हेतुओं में प्रतिभा को सर्वप्रथम और प्रमुख माना है। यह प्रतिभा व्यक्ति की अद्भुत कल्पना-शक्ति ही है। कल्पना की आवश्यकता काव्य के सृजनकर्ता के लिए ही नहीं है वरन् यह भावुक या सहृदय में भी होनी चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति की कल्पना-शक्ति एक जैसी नहीं होती, किन्तु हर व्यक्ति में कल्पना-शक्ति होती अवश्य है। काव्य के श्रोता या पाठक में जितनी दूर तक कल्पना की क्षमता

होगी, वह काव्य को उतनी दूर तक हृदयंगम कर सकेगा। कालिदास के विरही यक्ष की पीड़ा की अनुभूति हमें तब तक हो ही नहीं सकती जब तक हमारे अन्दर कल्पना की वह क्षमता नहीं जिससे हम यक्ष के हृदय में प्रवेश कर सकें। महाश्वेता और मातंगकन्या के सौन्दर्य की मूर्ति हमारे मन के सामने तब तक उपस्थित ही नहीं हो सकती जब तक बाणभट्ट जैसी कल्पनाशक्ति के हम धनी न हों। काव्य के सृजन एवं आस्वाद दोनों के लिए कल्पनाशक्ति की अपेक्षित मात्रा काव्य के प्रकार पर निर्भर करती है। अभिधा-मूलक काव्य का सृजन एवं आस्वाद कम कल्पना-शक्ति वाले व्यक्ति के लिये संभव है किन्तु जिस काव्य में लक्षणा एवं व्यंजना की प्रधानता है उसके सृजन एवं आस्वाद दोनों के लिए अधिक कल्पना-क्षमता की अपेक्षा है। इसीलिए यह सम्भव है कि मैथिलीशरण गुप्त के काव्य का रसज्ञ सहृदय पंत जी के काव्य का पूर्ण आस्वाद ग्रहण न कर सके।

भारतीय काव्य-शास्त्र में कल्पना-शक्ति को नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा आदि कहकर कवित्व का प्रधान हेतु स्वीकार किया गया है। अलंकार-विधान का जन्म भी कल्पना से ही होता है। किन्तु भारतीय काव्य-शास्त्र की दृष्टि प्रधानतः रसवादी होने के कारण कल्पना को भाव का साधन स्वीकार किया गया है। इसी चिंतन-परम्परा का परिपाक हम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निम्नलिखित शब्दों में पाते हैं—

"काव्य-विधायिनी कल्पना वही कही जा सकती है जो या तो किसी भाव द्वारा प्रेरित हो अथवा भाव का प्रवर्तन या संचार करती हो। सब प्रकार की कल्पना काव्य की प्रक्रिया नहीं कही जा सकती। अतः काव्य में हृदय की अनुभूति अंगी है....कल्पना उसकी सहयोगिनी है।"

किन्तु पाश्चात्य कवियों एवं काव्य-शास्त्रियों ने कल्पना को व्यापक महत्व के साथ स्वीकार किया है और उसके महत्व का प्रतिपादन इस सीमा तक किया है कि कल्पना को काव्य के सृजन में स्वतः समर्थ तत्व स्वीकार कर लिया है। शैली के अनुसार—

"कल्पना की अभिव्यक्ति ही कला है"। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में अभि-व्यंजना (Expression) कल्पना ही व्यापार है। उसने कल्पना (Imagination) को **'प्रातिभज्ञान'** तथा ब्लेक ने **'विशुद्ध अंतर्दृष्टि'** कहकर पुकारा है। वर्ड्सवर्थ ने काव्य की निम्नलिखित प्रसिद्ध परिभाषा दी है—

"Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings. It takes itis origin from emotions recollected in tranquility." इसमें भी कल्पना को ही प्रधानता प्रदान की गयी है।

काव्य में कल्पना के विभिन्न कार्य हैं—**ऐक्य विधान** अर्थात् अंतर और बाह्य में ऐक्य स्थापित करना।

पुनर्सृजन करना—स्मृति द्वारा पूर्वानुभूत पदार्थों के नवीन रूप का निर्माण करना।

समाहार—कल्पना के ही भरोसे पर कवि काव्य में विभिन्न प्रसंगों की उद्-भावना करता है।

अलंकार विधान—कल्पना द्वारा ही अप्रस्तुत पक्ष को प्रस्तुत किया जाता है। उदाहरणार्थ मुख की कमल से तुलना, मुख में कमल की सम्भावना, संदेह अथवा मुख पर कमल का आरोप कल्पना ही द्वारा सम्भव है।

कल्पना के विभिन्न भेद विभिन्न आधारों पर किये जा सकते हैं यथा (क) पुनरावृत्यात्मक कल्पना (Reproductive imagination) जब कल्पना द्वारा पिछले दृश्य जैसे के तैसे दुहराये जाते हैं।

(ख) सृजनात्मक कल्पना (Creative imagination) जब पूर्वानुभवों से नवीन योग बनाये जाते हैं। जैसे हमने स्त्री और पक्षियों को अलग-अलग देखा है किन्तु दोनों के योग से कल्पना एक नवीन चित्र परी का निर्माण कर देती है।

इसी प्रकार कल्पना के साथ संकल्प के योग को आधार मानकर इसे (क) **संकल्पित** (Active) तथा (ख) **असंकल्पित** (Passive) दो भागों में बाँटा जा सकता है। जिस कल्पना के पीछे मानसिक प्रयास रहता है उसे संकल्पित या सक्रिय और जिसके पीछे कोई मानसिक प्रयास नहीं होता उसे असंकल्पित या निष्क्रिय कल्पना कहा जाता है। दिवास्वप्नों में जो कल्पना होती है वह इसी कोटि की कल्पना है। इसी को स्वच्छंद कल्पना (Fancy) भी कहा गया है।

विभिन्न इन्द्रियों से प्रदत्त संवेदनाओं या ज्ञान के ही समान कल्पना भी उतने प्रकार की मानी जा सकती है। चित्रों (दृश्यों) के निर्माण में दृष्टि-कल्पना, ध्वनियों से सम्बन्धित ध्वनि-कल्पना, घ्राण से सम्बन्ध रखने वाली गंध-कल्पना, तथा इसी प्रकार स्पर्श एवं स्वाद-कल्पना भी है।

इस प्रकार काव्य में कल्पना का प्रमुख स्थान है और कवि-कर्म एवं भावना दोनों के लिए वह समान रूप से आवश्यक है फिर भी कल्पना और यथार्थ का समन्वय ही काव्य को श्रेष्ठ बनाता है। यथातथ्य चित्रण आदि अकाव्य है तो उन्मुक्त कल्पना (Free imagination), जो भावानुभूति की उपकारी न हो, को भी काव्य के क्षेत्र से बाहर ही समझना चाहिये।

प्रश्न १८. काव्य में प्रकृति-चित्रण विषय पर एक लघु लेख लिखिए।

"कविता वह साधन है जिसके द्वारा हमारे मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।" आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इस उद्धरण के अनुसार मानवीय सृष्टि एवं शेष सृष्टि में परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध की स्थापना, विवेचना और व्याख्या में काव्य महत्वपूर्ण योगदान प्रदान करता है। ईश्वरीय सृष्टि की प्रकृति और पुरुष दूसरे शब्दों में मानव सृष्टि एवं मानवेतर सृष्टि दो अन्यतम विभूतियाँ हैं। दोनों का साहचर्य जीवन में निरन्तर रहा है। भले ही आज सभ्यता के विकास के मिथ्याभिमान में मानव प्रकृति से दूर जा पड़ा हो, किन्तु सत्य यह है कि सभ्यता के प्रारम्भ में मानव मानवेतर सृष्टि

पर ही आधारित था। और यह भी सत्य है कि मानव हृदय की रागात्मक वृत्तियों को प्रकृति का सौन्दर्य अपनी ओर बरबस आकृष्ट कर लेता है क्योंकि प्रकृति अनादि काल से मानव की सहचरी रही है। जन्म लेकर मानव ने जब नेत्रोन्मोलन किया तो उसे एक ओर ऊपर नीलगगन दिखाई पड़ा, पैरों तले उसने पृथ्वी का स्पर्श किया तो दूसरी ओर लहलहाते लतागुल्मों तथा पादप श्रेणियों से निःसृत मन्द सुगन्ध पवन का सेवन किया। प्रकृति की गोद में जन्म लेते ही पादपों ने फलदान द्वारा तथा निर्झरों ने निर्मल एवं शीतल जल द्वारा उसकी सहजवृत्तियों का समाधान किया। हिमाच्छादित उत्तुंग पर्वत श्रेणियों, अगाध-जल-राशि, सूर्य की प्रखर किरणों, वर्षाकालीन मेघों के गर्जन-तर्जन, करका क्रन्दन को सुनकर मानव निश्चय ही आश्चर्यचकित विस्मित हुआ होगा। वहीं से मानव के मुख से जिज्ञासावश "**कस्मै देवाय हविषा विधेम** जैसी स्तुतियाँ भी निकली होंगी, फिर क्रमशः भय और आश्चर्य के स्थान पर प्रकृति उसके चिन्तन-मनन का विषय बनी होगी। और यह भी निश्चय है कि प्रकृति के सौम्य रूप के दर्शन से उसके हृदय में आशा का उदय हुआ होगा। फलतः मानव ने प्रकृति के मंगलकारी अंगों—सूर्य, चन्द्र, जलद, मारुत आदि में देवत्व की प्रतिष्ठा कर ली। देवत्व की स्थापना के साथ सौन्दर्य का भी योग हो गया। इस प्रकार मानव हृदय में प्रकृति के प्रति पूज्यभाव का आविर्भाव हुआ, प्रकृति के विविध अङ्गों को दिव्यनाम देकर उसने उनका गुणगान किया। वेदादि आर्ष ग्रन्थ इन स्तुतियों से सम्भृत हैं। वैदिक ऋषियों की नवनवोन्मेषिनी प्रतिभा द्वारा कृत प्रकृति-चित्रण ऋग्वेद के पृथ्वीसूक्त, उषासूक्त आदि अनेक सूक्तों में देखा जा सकता है, जिसमें वैदिक ऋषियों की मनोरम रहस्यात्मक भावाभिव्यक्तियों का चरम निदर्शन प्रस्तुत है।

रामायण, महाभारत में प्रकृति के अनेक रम्य स्थल हैं। आदिकवि ने प्रकृति के एक पक्षी के दुःख से दुःखी होकर ही लिखा था—मा निषाद प्रतिष्ठांत्वमगमः। वाल्मीकि के राम भी अपनी प्रियतमा सीता के विरह में प्रकृति से अपना दुःख निवेदन करते फिरते थे और प्रकृति भी उनका दुःख बँटाने के लिए रो पड़ी थी—

जलप्रपाताश्रुमुखाः शृंगैरुच्छ्रित बाहवः।

संस्कृत साहित्य का अधिकांश सृजन तपस्वी ऋषियों द्वारा ही हुआ है। वे ऋषि प्रकृति की गोद में जन्म लेते थे और प्रकृति की गोद में ही उनका लालन-पालन और वर्द्धन होता था। यही कारण है कि संस्कृत-काव्यों में हमें प्रकृति के विविध रूपों के मार्मिक शैली में हृदयहारी संश्लिष्ट वर्णन मिल जाते हैं जो कि अपने में अद्वितीय हैं।

बौद्धकाल में 'मारविजय' में भगवान बुद्ध की कामदेव पर विजय के सम्बन्ध में प्रकृति के अनेक सौम्य चित्र उपस्थित किए गए हैं।

गुप्तकाल में कालिदास ने भी प्रकृति का संश्लिष्ट आलम्बन रूप में अंकन किया है। कालिदास का 'मेघदूत' प्रकृति का मनोहारी मंजुल रूप पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करता, जहाँ आलम्बन, उद्दीपन, अलंकृत रूप में तो चित्र हैं ही किन्तु प्रधानता आलम्बन

रूप की ही है। कवि का 'कुमारसम्भव' प्रकृति नटी के ललित रूप की रमणीय रङ्ग-शाला है। 'रघुवंश' में भी प्रकृति-चित्रण का अभाव नहीं है।

संस्कृत साहित्य में भवभूति तो प्रकृति-चित्रण के अनुपम कलाकार हैं। उनकी रचनाओं में प्रकृति के संश्लिष्ट आलम्बन रूप में रम्य-कोमल एवं रुक्ष-भीषण सभी प्रकार के मंजुल चित्र मिलते हैं। परवर्ती काल में 'किरातार्जुनीयम्', 'शिशुपालवध', 'नैषधीय चरित' आदि अन्य महाकाव्यों में प्रकृति के विभिन्न चित्र उपलब्ध होते हैं। 'कादम्बरी' में बाणभट्ट ने श्लिष्ट प्रकृति-चित्रण पर अपनी अप्रतिम प्रतिभा का परिचय दिया है।

किन्तु संस्कृत जैसे स्वतंत्र प्रकृति चित्रण से हिन्दी-साहित्य शून्य रहा। इसका कारण एक तो महाकाव्यों का अभाव हो सकता है तथा दूसरा प्रवृत्ति। शृंगारपरक काव्य भी इसमें कुछ कारण हो सकते हैं। विद्यापति ने केवल उद्दीपन के लिए प्रकृति को अपनाया तथा जायसी ने 'बारहमासा' में मानव जीवन के साथ प्रकृति का तादात्म्य स्थापित कर प्रकृति-वर्णन प्रणाली को अत्यन्त ऊँचा उठा दिया। हिन्दी के मध्यवर्ती युग में प्रकृति वर्णन का उद्दीपन रूप प्रयुक्त हुआ। आधुनिक काल में प्रकृति मुख्य वर्ण्य-विषय बन बैठी।

कवियों ने प्रकृति का अवलोकन विभिन्न रूपों में किया है। इस दृष्टिकोण से प्रकृति वर्णन को वर्ग विशेष की विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए निम्न रूपों में विभाजित किया जा सकता है—

आलम्बन रूप में—हिन्दी साहित्य में आलम्बन रूप में प्रकृति-चित्रण आधुनिक काल की देन है। इससे पूर्व एकाध स्थलों पर ही इस रूप में चित्रण मिलता है। साहित्य जगत की इतिवृत्तात्मकता से अब का भावुक कवि किसी विराम-विश्राम स्थल की खोज करता है। उस समय सहचरी प्रकृति उसका ध्यान आकर्षित करती है। प्रकृति के नाना दृश्य कवि के हृदय को छूकर आत्मविभोर कर देते हैं और उनकी सम्पूर्ण सौम्यता, विशालता, गम्भीरता, शीतलता, विनम्रता, मूक रूप से निरन्तर प्रेरणा प्रदान करती है। कवि की अपनी मनोभावना समस्त प्रकृति को समेट कर लेखनी के प्रभाव में स्वतन्त्र रूप से प्रवाहित हो उठती है। आधुनिक काल में प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी में आलम्बन रूप में प्रकृति-चित्रण मिलता है। प्रसाद की 'कामायनी' के आशा सर्ग की ये पंक्तियाँ देखिये—

"स्वर्ण शालियों की कलमें थीं
दूर दूर तक फैल रहीं।
० ० ०
"अचल हिमालय का शोभनतम
लता कलित शुचि सानु शरीर।"

नाम परिगणनात्मक—आलम्बन रूप में प्रकृति-चित्रण का यह दूसरा रूप है। इसे अनेक आलोचक प्रकृति-चित्रण का रूप ही नहीं मानते हैं त दूसरे इसे निकृष्ट

कोटि में मानते हैं। यह प्रकृति-चित्रण की कवायद मात्र है। इसमें केशव पटु हैं। वैसे हरिऔध और पन्त आदि में भी एकाध स्थलों पर मिल जाता है। इस वर्णन मे पाठक के चित्त में प्रकृति के दृश्य का कोई चित्र उपस्थित नहीं होता है इसमें प्रेषणीयता का अभाव रहता है। अनुभूति एवं अभिव्यक्ति में पूर्ण सामंजस्य नहीं होता है। प्रकृति का कोई चित्र जब तक पाठक को आकृष्ट न करे, उसे उत्कृष्ट कोटि का चित्र कैसे माना जाये ? उदाहरणत: जायसी की निम्न पंक्तियाँ देखिए—

"लवंग सुपारी जायफर सब फर फरे अपूर।
आसपास घन इमली और घनतार खजूर;"

हरिऔध का एक पद देखिये—

जम्बू अम्बकदम्ब निम्ब फलसा जम्बीर औ आँवला
लीची दाड़िम नारिकेल इमिली औ शिशपा इङ्गुदी।
नारंगी अमरूद बिल्व बदरी सागौन शालादि भी
श्रेणी-बद्ध-तमाल ताल कदली और शाल्मली थे खड़े ॥

वस्तुत: यह नाम परिगणनात्मक चित्रण निकृष्ट कोटि का माना जाता है।

उद्दीपन रूप में—मानव की सहज प्रवृति है बाह्य प्राकृतिक व्यापारों से आत्मीयता स्थापित करना। मनुष्य की चित्तवृत्ति सदा एक सी नहीं रहती है। कभी तो सुख-सागर में वह इतना लीन होता है कि संसार के सर्वाधिक सुखी मनुष्यों में वह अपनी गणना करता है किन्तु फिर ऐसा भी समय आता है जबकि दु:ख के काले बादल चारों ओर से उस पर छाकर उसे कुछ भी आगे देखने नहीं देते। सुख और दु:ख, संयोग और वियोग, यही जीवन के दो मुख्य पहलू हैं। मानव की चित्तवृत्ति जब अधिक उत्तेजित होती है तब बाह्य पदार्थों को भी वह अपनी मनोदशा के अनुसार देखता है। इतना ही नहीं यह बाह्य व्यापार उसकी वृत्तियों को अधिक उत्तेजना प्रदान करते हुए प्रतीत होते हैं। यही प्रकृति का उद्दीपन रूप है। हिन्दी साहित्य में प्रकृति-चित्रण के उद्दीपन रूप का प्राधान्य रहा है। भक्ति और रीतिकाल अनेक कवियों ने विरह विधुरा नायिकाओं को प्रियतम के विरह प्रकृति के रम्य रूपों से उद्दीप्त होता दिखाया गया है। सूर की गोपियों को—**"पिया बिन नागिन काली रात"** लगती है। और कभी गोपियों को प्रकृति का सुखद वातावरण कृष्ण के वियोग में जलाकर रख देता है।

बिनु गुपाल बैरिन भई कुंजै।
तब ये लता लगति अति सीतल, अब भई विषम ज्वाल की पूजैं
वृथा बहति जमुना खग बोलत, वृथा कमल फूलै अति गुंजै।
पवन पानि घनसार सजीवनि, दधि-सुत किरन भानु भई भुंजै।

वर्षाकाल में मेघों की घोर गर्जना सुनकर तुलसी के राम का मन सीता की अनुपस्थिति में अत्यन्त भयभीत हो उठता है—

घन घमण्ड नभ गरजत घोरा।
प्रिय हीन डरपत मन मोरा ॥

नूतन किसलय मनहु कृसानू।
काल निसा सम निसि ससि भानू॥

अलंकार विधान रूप में—आरम्भ से ही कविगण अपनी नायिकाओं के शरीर को सुरम्य प्राकृतिक उपमानों से विभूषित करते आए हैं। श्याम कुन्तलों के मध्य सिन्दूरपूरित जायसी की पद्मावती की माँग, मेघों के मध्य विद्युत सी दमकती है। तुलसी की मृगशावक-नयनी सीता जनक के उपवन में जिधर दृष्टिपात करती है उधर सित सरोजों की वृष्टि होने लगती है। विद्यापति की राधा का मुख निर्माण तो चन्द्रमा का सार लेकर ही हुआ है। अब भी यह प्रणाली मिलती है। निराला, गुप्त, पन्त, प्रसाद, हरिऔंध आदि ने नायिकाओं के सौंदर्य-चित्रण में प्रकृति के उपादानों का सहारा लिया। किन्तु इस प्रकार के वर्णन में कवि को आकार-साम्य एवं प्रभाव-साम्य की ओर विशेष ध्यान रखना चाहिये। केवश के वर्णनों में आकार-साम्य तो मिल जाता है किन्तु प्रभाव-साम्य नहीं मिलता। कवि को इस प्रकार के उपमानों से बचना चाहिए।

उपदेशात्मक रूप में—प्रकृति की गतिविधियों पर दृष्टिपात करने पर एक विशेष गति (नियम) पर हमारा ध्यान जाता है। ऋतुएँ क्रम से आती हैं। विशेष प्रकार की परिस्थितियों में विशिष्ट प्रकार के फूल कुसुमित होते हैं। सूर्य और चन्द्र नियमित रूप से उदय एवं अस्त होते हैं। पददलित दूर्वा अपने अन्तर में छिपाई कोमलता का अर्पण दूसरों को करती है। वृक्ष श्रान्त क्लान्त पथिक को आश्रय दे विश्राम प्रदान करते हैं। भावुक कवि प्रकृति के इन व्यापारों को ध्यान से देखता है, इनसे वह एक प्रकार का उपदेश ग्रहण करता है। तुलसी का प्रकृत्ति वर्णन अधिकांशतः उपदेशात्मक है—

बरसहिं जलद भूमि नियराए। जथा नवहिं बुध विद्या पाए॥
बुन्द अघात सहहिं गिरि कैसे। खल के बचन संत सहैं जैसे
दामिनी दमकि रही घन माहीं। खल की प्रीति जथाथिर नाहीं॥

मानवीकरण—आधुनिक काल में प्रकृति पर चेतना का आरोप कर उसकी मानवीय भावनाओं का चित्रण किया गया है। यद्यपि प्रकृति-वर्णन की यह प्रणाली मुख्यतः आधुनिक काल की देन है तथापि प्रारम्भिक कवियों में भी इसके चित्र दृष्टिगत होते हैं। वेदों का उषःसूक्त भावनागत एवं आकारगत मानवीकरण का सुन्दर उदाहरण हैं। वेदों में इन्द्र का मानवीकरण मिलता है। वियोगावस्था का चित्रण करने के लिये जायसी ने सरोवर का रूपक दिया है। सूर का गोपियाँ वियोगनी की समस्त भावनाओं का आरोप यमुना पर करती हैं। पन्त की कल्पना चाँदनी को नारी का रूप प्रदान करती है। निराला ने सन्ध्या को परी का रूप दिया है। प्रसाद की उषा का मानवीकृत रूप देखिए—

सिन्धु सेज पर धरा वधू अब तनिक संकुचित बैठी सी।
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में मान किए सी ऐंठी सी॥

हिन्दी के लगभग सभी प्रकृतिवादी कवियों ने प्रकृति के मानवीकरण रूप का चित्रण किया है।

भूमिका रूप में—प्रकृति का यह रूप विशेषतः महाकाव्यों में प्राप्त होता है। इसमें भूमिका रूप में पहले की घटनाओं का उल्लेख न करते हुए आगे की घटनाओं का वर्णन करते हैं। केशव की रामचन्द्रिका में यह रूप पाया जाता है। 'प्रियप्रवास' के आरंभ में सांध्यवर्णन "**दिवस का अवसान समीप था**" भी भूमिका रूप में लिया जा सकता है क्योंकि उसके पश्चात् ही सायंकाल कृष्ण की मुरलिका बज उठने का उल्लेख है।

रहस्यात्मक रूप में—प्रकृति के संसर्ग में आते ही उसकी नियामिका सत्ता के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होती है। भावुक कलाकारों को प्रकृति के अणु अणु में वह अदृश्य ब्रह्म रमा हुआ प्रतीत होता है। यह प्रवृत्ति कबीर, जायसी, तुलसी आदि सन्त कवियों में पाई जाती है। कबीर की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं चली मैं भी हो गई लाल॥

आधुनिक काल के रहस्यवादी कवियों में महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा, निराला, प्रसाद आदि आते हैं। प्रसाद 'कामायनी' में एक स्थान पर प्राकृतिक उपादानों को देख अपने कुतूहल को इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

विश्व देव सविता पूषा सोम मरुत चंचल पवमान।
वरुण आदि सब घुम रहे हैं किसके शासन में अम्लान॥

दूती रूप में—प्रकृति को दूती रूप में प्रस्तुत करने की कला प्राचीन है। 'मेघदूत' में कालिदास ने मेघ द्वारा यक्ष का सन्देश भेजा है। जायसी की पद्मावती भी पक्षियों द्वारा प्रिय तक सन्देशा पहुँचाना चाहती है—

"पिउ सों कहेउ संदेसड़ा हे भौंरा! हे काग।"

सूर ने भ्रमर की कल्पना की है और आधुनिक काल में हरिऔध ने 'प्रिय प्रवास' में पवन दूत की। पन्त बादल को दूत बनाते हैं।

इन विभिन्न रूपों में प्रकृति चित्रण हिन्दी साहित्य में मिलता है। आधुनिक काल में स्वतन्त्र प्रकृति चित्रण की प्रधानता रही। भारतेन्दु, प्रेमघन, श्रीधर पण्डित रामनरेश त्रिपाठी, मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध तथा प्रसिद्ध छायावादी कवियों का प्रकृति प्रेम बड़े प्रशंसनीय रूप में दिखाई पड़ता है। वस्तुतः भारतेन्दु काल में प्रकृति के प्रति भाव-स्पन्दन उत्पन्न हुआ; द्विवेदी काल में प्रकृति तथा मानव के मध्य कुछ गहनता आई और दोनों का प्रगाढ़ सम्बन्ध छायावादी काव्य में संभव हुआ है।

प्रश्न १९—यथार्थवाद एवं आदर्शवाद का परिचय दीजिए।

'साहित्य समाज का दर्पण है', दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब अंकित होता है। इस साहित्य रूपी दर्पण में मानव-जीवन एवं समाज का जितना यथार्थ चित्रण होता है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। मानव-जीवन के दो पक्ष हैं एक वह जिसे हम अपनी आँखों

से देखते हैं, दूसरा वह जो समाज के कल्याण के लिए होना चाहिए। यह निःसन्देह सच है कि जो कुछ हमें दृष्टिगत होता है, वह यथार्थ होते हुए भी प्रायः हमें इष्ट और प्रिय नहीं होता, कभी-कभी वह भयङ्कर रूप में विकृत, कुरूप और वीभत्स भी होता है।

"यथार्थवादी अनुभव की बेड़ियों में जकड़ा होता है और चूँकि संसार में बुरे चरित्रों की प्रधानता है—यहाँ तक कि उज्जवल से उज्जवल चरित्र में भी कुछ न कुछ दाग-धब्बे रहते हैं, इसलिए यथार्थवादी हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव-चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई-ही-बुराई नजर आने लगती हैं।

किन्तु हमारे समाज को कैसा होना चाहिए इसकी कल्पना हमारे मन और मस्तिष्क में होती है, यही मनोरम कल्पना वीभत्स-यथार्थ को देख कर भी निराश नहीं होने देती, अपितु हमारी निराशा को दूर कर सुखद लोक में पहुँचा देती है। "अँधेरी गर्म कोठरी से काम करते-करते जब हम थक जाते हैं तब इच्छा होती है कि किसी बाग में निकलकर निर्मल स्वच्छ वायु का आनन्द उठाएँ। इसी कमी को आदर्शवाद पूरा करता है।····यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठा-कर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ आदर्शवाद में यह गुण है, वहाँ इस बात की भी शंका है कि हम ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठें जो सिद्धांतों की मूर्तिमात्र हों, जिनमें जीवन न हो। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं है; लेकिन उस देवता में प्राण-प्रतिष्ठा करनी मुश्किल है।"

प्रेमचन्द के इस उद्धरण से स्पष्ट है कि प्रेमचन्दजी यथार्थ एवं आदर्श का समन्वय चाहते हैं। वे अति यथार्थ और अति आदर्श के विरोधी हैं। वे न तो कोरे यथार्थ को श्रेयस्कर मानते हैं और न कोरे आदर्श को। अतः वे 'आदर्शोन्मुख यथार्थ-वाद' के समर्थक हैं।

प्रेमचन्द के इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि विचारकों के समक्ष यह प्रश्न सदा से उपस्थित रहा है कि साहित्य में लेखक यथार्थवादी चित्रण करे अथवा आदर्श-वादी। क्योंकि दोनों पक्ष एकाङ्गी हैं, एक यथार्थ चित्रण कर गन्दगी, मलीनता, अश्लीलता का चित्रण करता है, जो 'सत्यं' होते हुए भी 'शिवं' और 'सुन्दरम्' से दूर होता है। जबकि जीवन में 'शिवं' और 'सुन्दरम्' भी नितान्त अपेक्षित है, अनिवार्य है। किन्तु थोथा आदर्शवादी सत्य से दूर और पलायनवादी होता है, ऐसा साहित्य प्राणहीन होता है। इस पृष्ठभूमि में हम विद्वान् लेखकों के विचारों का उद्धरण देकर उनकी मान्यताओं को स्पष्ट करना चाहते हैं।

यथार्थवाद—यथार्थवादी साहित्य में जीवन का सहज स्वाभाविक यथार्थ निरूपण होता है, यह यथार्थवादी निरूपण पूर्ण होना चाहिए अन्यथा समाज को वह अधोगति की ओर ले जाने में सहयोगी होता है क्योंकि मानव मन अच्छाई की अपेक्षा

बुराई की ओर अधिक अग्रसर होता है, इसीलिए यथार्थवादी कृतियाँ प्रायः लोक-कल्याणकारिणी सिद्ध नहीं होती हैं अपितु वे तद्वत कार्य करने की प्रेरणा ही प्रदान करती हैं। किन्तु यह स्थिति सर्वथा नहीं रहती है। अपितु कभी-कभी इसके विपरीत भी देखा जाता है। इस प्रसङ्ग में प्रसाद जी ने लिखा है।

"यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टि-पात। उसमें स्वभावतः दुख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। लघुता से मेरा तात्पर्य है साहित्य के माने हुए सिद्धान्त के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण के अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुःख और अभावों का वास्तविक उल्लेख। ....जाति में जो धार्मिक और साम्प्रदायिक परिवर्तनों के स्तर आवरण स्वरूप बन जाते हैं, उन्हें हटाकर अपनी प्राचीन वास्तविकता को खोजने की चेष्टा भी साहित्य में तथ्यवाद की सहायता करती है।....उस व्यापक दुःख-संवलित मानवता को स्पर्श करने वाला साहित्य यथार्थवादी बन जाता है। इस यथार्थवादिता में अभाव, पतन और वेदना के अंश प्रचुरता से होते हैं।....वस्तुतः यथार्थवाद का मूलभाव है वेदना। जब सामूहिक चेतना छिन्न-भिन्न होकर पीड़ित होने लगती है, तब वेदना की विवृत्ति आवश्यक हो जाती है।....यथार्थवाद इतिहास की सम्पत्ति है। वह चित्रित करता है कि समाज कैसा है या था।" (प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृ० १२०-१२२)।

प्रसाद जी के इस कथन से यथार्थवाद के सम्बन्ध में निम्न तथ्य स्पष्ट होते हैं—(१) यथार्थवादी साहित्य कल्पना की अपेक्षा वास्तविकता का चित्रण करता है, व्यक्ति के अभावों का चित्रण करता है। (२) उसमें समसामयिक युग के चित्रण के साथ ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख भी किया जा सकता है। (३) यथार्थवाद मानवता का विरोधी नहीं है, अपितु वह उसका सहयोगी है।

निःसन्देह साहित्य में यथार्थवाद का महत्व है, उसे साहित्य से बहिष्कृत नहीं किया जा सकता है क्योंकि आदर्शवाद कल्पना पर आश्रित होता है अतः उसके द्वारा साहित्य का विशेष उपकार न होगा, जब हम यथार्थ की भूमि पर आदर्श को महत्व देंगे तभी वह लोकमंगलविधायक होगा, अन्यथा नहीं। यह तो सर्वविदित सत्य है कि साहित्य में आदर्श को इसलिए महत्व प्राप्त है कि वह यथार्थ की उग्रता का विरोध कर सन्तुलन बनाये रहता है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है कि "ये दोनों साहित्य की चित्रण शैली के दो स्थूल विभाग हैं। दोनों ही शैलियाँ लेखक के दृष्टिकोण पर अवलम्बित रहती हैं। कला की सौन्दर्य-सत्ता की ओर दोनों का झुकाव रहता है। आदर्शवाद में विशेष या इष्ट के आग्रह द्वारा ईष्ट ध्वनित होता है। यथार्थवाद में सामान्य या अनिष्ट चित्रण द्वारा इष्ट की व्यंजना होती है।" लगभग इसी भाव को रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' ने लिखा है, वे दोनों को आवश्यक मानते हुए लिखते हैं कि "यथार्थवाद मेरे लिए चित्रणशैली है, जीवनदर्शन नहीं और आदर्शवाद मेरे निकट जीवन-हीन परम्पराओं का दास बनाने वाला मतवाद नहीं वरन् एक क्रान्तिमुखी मर्यादा

है।" निःसन्देह यथार्थ या आदर्श एकाकी साहित्य का चिरन्तन आदर्श नहीं बन सकता है, दोनों ही अपने-अपने रूप में महत्वपूर्ण हैं। प्रेमचन्द ने यथार्थ के विषय में लिखा है कि "यथार्थ का रूप अत्यन्त भयंकर होता है और यथार्थ को ही आदर्श मान लें तो संसार नरक तुल्य हो जाय।" महादेवी वर्मा ने यथार्थ के गुण-दोषों की चर्चा करते हुए लिखा है कि "घृणित कुत्सित के प्रति हमारी करुण सम्वेदना की प्रगति और क्रूर कठोर के विरुद्ध हमारी कोमल भावना की जागृति यथार्थ का ही वरदान है। परन्तु अपनी विकृति में यथार्थवाद ने हमें क्या दिया है इसे जानने के लिए हम अपने नैतिकपतन के नग्नरूप पर आश्रित साहित्य को देख सकते हैं।" (आधुनिक कवि, प्रथम भाग, भूमिका) बाबू गुलाबराय ने यथार्थवाद का वास्तविक स्वरूप व्यक्त करते हुए लिखा है कि :—

"यथार्थ वह है जो नित्य प्रति हमारे सामने घटता है। उसमें पाप-पुण्य, सुख-दुःख की धूप-छांह का मिश्रण रहता है। यह सामान्य भावभूमि के समतल रहकर वर्तमान की वास्तविकता से सीमाबद्ध रहता है। स्वर्ण के स्वर्णिम सपने उसके लिए परी देश की वस्तुएँ हैं जो उसकी पहुँच से बाहर हैं।.....वह संसार की कलुष-कालिमा पर भव्य आवरण नहीं डालना चाहता। वह स्वर्ण को भी कालिमामय मिट्टी के कणों से मिश्रित देखना चाहता है। दूसरी ओर आदर्शवादी स्वप्न-द्रष्टा होता है। वह संसार में ईश्वरीय न्याय और सत्य की विजय देखना चाहता है। वह संघर्ष में भी साम्य देखने के लिए उत्सुक रहता है.....यदि वर्तमान दुःखमय है तो उज्ज्वल भविष्य की सुन्दर झाँकी देखने में मग्न रहता है। वह आशावादी होता है और आशा के एक विन्दु से सुख के सागर की सृष्टि कर लेता है।"

इस प्रकार यथार्थवादी चित्रण में समाज की वास्तविकता का रूपायन होता है। इसमें सुख-दुःख और पाप-पुण्य का समान रूप से चित्रण होता है जबकि दूसरी ओर आदर्शवाद भविष्य की ओर निहारता है और वह आशावादी होता है। यदि केवल यथार्थवाद को ही अपनाया जायगा, तो प्रेमचन्द्र के कथनानुसार "**यथार्थ हमको निराशावादी बना देता है।**" इसलिए वे आदर्शोन्मुख यथार्थवाद को स्वीकार करते हैं।

अब प्रश्न यह है कि आदर्शवाद का स्वरूप और उसकी विशेषतायें क्या हैं? आदर्शवाद अपने देश-विशेष की संस्कृति और संस्कारों पर आधारित होता है अतः उसकी अपनी कुछ सीमायें होती हैं। वह देश विशेष सापेक्ष होता है। महादेवी वर्मा ने यथार्थ और आदर्श को परस्पर सापेक्ष माना है, किन्तु वे यह स्वीकार करती हैं कि आदर्शवादी रचना में भाव-संयोजन की कठिनाई होते हुए भी अभिव्यक्ति में सहजता होती है किन्तु यथार्थवाद में ऐसी बात नहीं है। वहाँ तो भावना में स्पष्टता होते हुए भी अभिव्यक्ति की शैली में सहजता नहीं होती है।

"आदर्श का सत्य निरपेक्ष है, परन्तु यथार्थ की सीमा के लिए सापेक्षता आवश्यक ही नहीं अनिवार्य रहेगी, इसी से एक की भावना जितनी कठिन है दूसरे की अभिव्यक्ति उससे कम नहीं। आदर्श का भावन मनुष्य के हृदय और बुद्धि के परिष्कार

पर निर्भर होने के कारण सहज नहीं परन्तु एक बार भावन हो जाने पर उसकी अभि-व्यक्ति, यथार्थ के समान कठिन बन्धन नहीं स्वीकार करती।"

(आधुनिक कवि, प्र० भा०, भूमिका, पृष्ठ २)

महादेवी के इस कथन से यह स्पष्ट है कि यथार्थ और आदर्श की अपनी सीमाएँ हैं। महादेवी आदर्शवाद में कल्पना और अनुभूति तथा यथार्थवाद में भौतिकता और लोकमंगल की समन्वय देखती हैं।

"एक ओर हम यह भूल गए कि आदर्शवाद की रेखाएँ कल्पना के सुनहले-रुपहले रंगों से तब तक नहीं भरी जा सकतीं जब तक उन्हें जीवन के स्पन्दन से न भर दिया जावे और दूसरी ओर हमें यह स्मरण नहीं रहा कि यथार्थ की तीव्र धारा को दिशा देने के पहले उसे आदर्श के फूलों का सहारा देना आवश्यक है।"

(साहित्य-सन्देश, ८ फरवरी १९४१, पृ० २७१)

निःसन्देह यह भी सत्य है कि सत्य के दो रूप हैं एक वस्तुस्थिति और दूसरा उसका इष्ट आदर्श आकार। रोम के काव्यशास्त्री होरेस का भी मत है कि "कवि अपने ज्ञान और आदर्शवादी चेतना के बल पर सांसारिक सत्य को उपयुक्त चिन्तन के अनन्तर भव्य रूप में प्रस्तुत करता है।"

आदर्शवाद के स्वरूप को व्यक्त करते हुए एक आलोचक ने लिखा है—

"सामान्य शब्द प्रयोग के अनुसार आदर्शवादी वह है जो उच्च नैतिक, धार्मिक आध्यात्मिक और सौन्दर्यपरक प्रतिमानों, आदर्शों को स्वीकार कर अपने तथा समाज के जीवन को उनके अनुसार ढालने का प्रयत्न करे। वह व्यक्ति भी आदर्शवादी माना जाता है जो किसी समाज, सम्प्रदाय या वर्ग-विशेष की प्रस्तुत दशा से असन्तुष्ट होकर उसके लिये किसी नये आदर्श की कल्पना करता है। पृथ्वी पर स्वर्ग, ईश्वर का राज्य, सतयुग, रामराज्य, मनुष्य की तथाकथित आदिम पूर्णावस्था, शोषणरहित समाज आदि को स्थापित करना चाहता है। कोरा आदर्शवाद या आदर्शवादी के, रूप में निन्दात्मक अर्थ में इन शब्दों का प्रयोग उस समय किया जाता है, जब आदर्श एकदम असम्भव होता है या 'स्वयं प्रस्तावक के जीवन में उसका स्पर्श भी नहीं मिलता।"

इस प्रकार आदर्शवाद के इस विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि इसमें कल्पना की अधिकता होती है, उसमें मीठे-मीठे आकर्षण होते हैं, जो मानव को सद्‌गुणों की ओर आकृष्ट करते हैं, जिसमें केवल अच्छाई का निरूपण होता है। जब कि यथार्थ-वाद गुण-अवगुण दोनों का निरूपण करता है। आदर्शवाद में वर्ण्य-विषय के गुणों को महत्व दिया जाता है, उसके गुणों पर रीझ कर आदर्शवादी अवगुणों को भी गुण मानता है। आदर्शवादी व्यक्ति का हृदय अनुराग से भरा होता है, वह एक प्रकार से कवि होता है, अतः वह उसका भव्य, मोहक तथा प्रभावशाली चित्रण करता है, जब कि यथार्थवादी आलोचक होता है। अतः उसकी दृष्टि एक स्थान पर रमने की अपेक्षा वह सर्वत्र दृष्टिपात करता है।

डा० भगीरथ मिश्र ने यथार्थ और आदर्श का तुलनात्मक विवेचन करते हुए

लिखा है कि—

"आदर्शवादी साहित्य व्यक्ति-प्रधान विशेष होता है और उसका नायक अथवा विषय भी ऐसा होता है जो कि जन-साधारण के बीच में कुछ विशेषता रखता है और जिसकी ओर सर्वसाधारण की दृष्टि स्वभावत: खिंच जाता है। उन आकर्षक प्राकृतिक गुणों से युक्त मानव-समाज कुछ विशेष सुखमय एवं संगठित रूप में दृष्टिगोचर होता है। यह शक्ति और विशेषताओं का आकर्षण धीरे-धीरे प्रेम का रूप धारण कर लेता है और जन-समाज उसके जीवन में उसकी प्रतिष्ठा व पूजा और उसके चले जाने पर स्मारक और जयन्ती आदि के रूप में उसका स्मरण करता है। ये विशेषतायें जीवन की ही विशेषताएँ हैं। आदर्शवाद व्यक्ति-विशेष को लेकर उसके गुणों की ओर हमें खींचता है और उसके चरित्रों का अनुकरण सांसारिक समस्याओं के समाधान के लिए उपयुक्त समझता है। प्रगतिवाद (यथार्थवाद) हमारे अन्तर्गत सामाजिक और नैतिक भाव जाग्रत करता है। समाज के दु:खों की ओर हमारा ध्यान ले जाता है और जीवन-समस्याओं को, सामाजिक विषमताओं को विकराल रूप में जैसा कि हम नित्य के जीवन में देखते हैं—उपस्थित करता है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों ही विचारधाराओं के पक्षधर अपने-अपने वाद का समर्थन करते हैं। कुछ दोनों के समन्वय के हिमायती हैं, जो कि अधिक उचित मत है। इतना होने पर भी हम दोनों वादों के गुण-दोषों का श्री राजनाथ शर्मा के शब्दों में इस प्रकार उल्लेख कर सकते हैं—

	यथार्थवाद	आदर्शवाद
गुण :		
	(१) जीवन के प्रति यथार्थ, स्वाभाविक और वास्तविक दृष्टिकोण।	(१) भविष्य और अव्यक्त की ओर झुकाव।
	(२) समाज की व्यवस्था की शक्तिशाली प्रतिक्रिया।	(२) सामंजस्य, सुव्यवस्था, पूर्णता की ओर संकेत।
	(३) वर्णन में यथार्थता पर अधिक बल और स्पष्टता।	(३) मार्गदर्शक।
	(४) आदर्श की प्राप्ति के लिए प्रयत्न।	(४) जीवनोपयोगी सिद्धान्तों का प्रतिपादन।
		(५) दृढ़ता की देन।
दोष :		
	(१) यथार्थवाद का दुरुपयोग।	(१) पुरानी परिपाटी का अनुकरण।
	(२) जीवन के हेय और अश्लील पक्ष का चित्रण।	(२) वर्तमान जीवन से सम्बन्ध-विच्छेद।
	(३) गन्दे समाज द्वारा निषिद्ध घोषित	(३) अस्वाभाविकता से परिपूर्ण।

विषयों का अनुराग-पूर्वक चित्रण ।

(४) अर्थ-गाम्भीर्य या चमत्कार का अभाव ।

(४) धार्मिक संकीर्णता का समावेश ।

(५) स्वतन्त्रता की बद्धता ।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि यथार्थ एवं आदर्श दोनों में ही अपने-अपने गुण-दोष हैं । एक में जीवन के सत्य का, समाज का यथार्थ चित्रण है तो दूसरे में जीवन के लिए काम्य, प्रिय तथा मोहक आदर्शों की स्थापना का आग्रह है, दोनों परस्पर पूरक हैं । दोनों की साहित्य एवं समाज में उपयोगिता है ।

प्रश्न १७—'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' विषय पर एक लघुलेख लिखिए ।

'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' साहित्य जगत् में लोकप्रिय वाक्य है । भारतीय साहित्य इस सूत्र के मूलभावों से सदा से ही अनुप्राणित रहा है । इस वाक्य पर भारतीयता की गहरी छाप अंकित प्रतीत होती है परिणामतः हमें इसके अभारतीय होने का स्वप्न में भी संदेह नहीं होता है । परन्तु यह वाक्य और इसके तीनों ही शब्द भारतीय संस्कृति से अनुप्राणित होते हुए भी इसका मूलतः प्रचलन विदेशी है । सर्वप्रथम इसका प्रयोग प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने यूनानी भाषा में किया था, जहाँ से अंग्रेजी साहित्य में अनुवादित होकर प्रचलित हुआ—the truth, the good, the beautiful, तदनन्तर महर्षि देवेन्द्रनाथ ने बंगाली भाषा में इसका प्रयोग किया और वहाँ से इसका आगमन हिन्दी भाषा-साहित्य में हुआ । किन्तु आज यह वाक्य हमारी भाषा और साहित्य का प्रमुख अंग बन चुका है, और साहित्य की कसौटी का आधार भी बन गया है ।

यद्यपि 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' का मूल रूप भारतीय भाषा में नहीं है, परन्तु भारतीय विचारधारा से इसका प्रगाढ़ सम्बन्ध है । इस भावना से सम्पूर्ण भारतीय साहित्य अनुप्राणित है । गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को वाणी के तप का उपदेश देते हुए कहा है कि—

> **अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यवत् ।**
> **स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ।।** (गीता १७/१५)

इस श्लोक के 'सत्यं' प्रियं, हितं' शब्द क्रमशः सत्यं सुन्दरम्, शिवं के भावों की पूर्ण अभिव्यंजना कर देते हैं । अतः हम कह सकते हैं कि भारतीय साहित्य में इस भावना को चिरकाल से महत्व दिया गया है । भारवि के 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य में हित और सुन्दर के योग को अति दुर्लभ बताया गया है—"**हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः ।**" निःसंदेह साहित्य इस दुर्लभ को सुलभ बनाने के कार्य को पूर्ण करता है । भारतीय त्रिदेवों की त्रिमूर्ति में विष्णु सत्य के, शंकर शिव के और ब्रह्मा सौन्दर्य के प्रतीक मान्य हैं । डा० गुलाबराय ने सत्यं शिवं सुन्दरम् को ज्ञान, भावना और संकल्प नामक तीन वृत्तियों तथा ज्ञान, भक्ति और कर्म का प्रतीक बतलाया है ।

यह वाक्य निश्चित ही महत्वपूर्ण और उपयोगी है । आज तो यह एक आकाश-

दीप की भाँति साहित्य के पथ को आलोकित कर रहा है। इसका साहित्यिक महत्व अपरिमित होते हुए भी अनेक विद्वान् इसको साहित्य की कसौटी स्वीकार नहीं करते हैं। सत्य और सौन्दर्य को प्रायः सभी स्वीकार कर लेते हैं। परन्तु शिवत्व पर उन्हें आस्था नहीं है किंतु यह धारण अत्यन्त भ्रामक एवं असङ्गत है। साहित्य का 'शिवं' से उसी प्रकार अभिन्न सम्बन्ध है जिस प्रकार सत्यं और सौन्दर्य से। 'शिवं का अभिप्राय है लोकहित, लोककल्याण और ऐसे किसी भी साहित्य को उत्तम नहीं कहा जा सकता, जो लोकहित की अवज्ञा करे। लोककल्याण की भावना से आपूरित साहित्य ही श्रेष्ठ साहित्य कहकर विभूषित किया जा सकता है। हंसवाहिनी और वीणा-पुस्तक-धारिणी देवी सरस्वती हमारे साहित्य और काव्य की अधिष्ठात्री हैं। यह देवी सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की प्रतीक है। उनका हंस नीर-क्षीर-विवेकी होने के कारण सत्य का प्रतीक, उनकी वीणा सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करने के कारण सौन्दर्य की प्रतिनिधित्व-कर्त्री और उनकी पुस्तक इन दोनों का सामंजस्य स्थापित करने के कारण सत्य और हित दोनों की साधिका है अतः वह शिवं की प्रतीक है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी लिखा है कि "सत्य की पूजा सौंदर्य में है, विष्णु की पूजा नारद की वीणा में है।" इस प्रकार विद्या की अधिष्ठात्री भगवती वीणापाणि के स्वरूप में सत्यं, शिवं और सुन्दरम् का समावेश है और सत्साहित्य वही है जो कि इन तीनों से समन्वित होता है।

वस्तुतः सत्यं, शिवं, सुन्दरम् अपना पृथक अस्तित्व रखते हुए भी परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं और पूरक होने पर ही श्रेष्ठ साहित्य के साधक हैं। कर्त्तव्य की भावना सत्यं को शिवं के रंग में रंग देती है और भावना के बंधन तोड़कर वही सत्य सौंदर्य का रूप धारण करता है, सत्य उसी समय से ग्राह्य होता है अतः वह सौंदर्य से आवेष्टित होता है। असुन्दर सत्य कभी ग्राह्य नहीं होता है, कविवर पन्त ने ठीक लिखा है कि—

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय में बनता प्रणय अपार
लोचनों में लावण्य अनूप
लोक सेवा में शिवं अविकार॥

अस्तु, यह सत्य है कि सत्य ही शिव और सौंदर्य का रूप धारण कर मधुर और हृदय-ग्राही बन जाता है। सौंदर्य और सत्य की अभिन्नता के सम्बन्ध में प्रसिद्ध अँग्रेजी कवि कीट्स ने भी लिखा है—

Beauty is truth, truth is beauti, that is all. Ye know on earth, and all ye need to know.

नारद ने शुकदेव से कहा है कि—"**सत्यस्य वचनं श्रेयः**" इस नारद के कथन में सत्य और शिव को एकाकार कर दिया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सत्य, शिव और सौंदर्य एक दूसरे से पृथक् होते हुए भी साहित्य के प्रांगण में जब एकाकार हो जाते हैं, तब उनका उचित समन्वय ही श्रेष्ठ कला का प्रादुर्भाव कराता है।

साहित्य में 'सत्यं, शिवं और सुन्दरम्' के महत्व का सम्यक् अवलोकन करने के पश्चात् हमारे समक्ष यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इन तीनों का अभिप्राय क्या हैं। सत्य किसे कहते हैं ? क्या काव्य और संसार का सत्य एक ही है ? या इनमें कुछ अन्तर भी है।

साहित्य और सत्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है किन्तु साहित्य का 'सत्य' इतिहास और विज्ञान के सत्य से भिन्न होता है क्योंकि इतिहास में वर्णनात्मकता होती है और विज्ञान में तथ्यों का आकलन। जब कि साहित्य में इन दोनों तत्वों का अस्तित्व होते हुए भी वह इन दोनों से भिन्न होता है। "इतिहास का सत्य घटनाओं के इतिवृत्तात्मक वर्णन में सीमित होता है, विज्ञान का सत्य वस्तुओं के विश्लेषणात्मक एवं वास्तविक वर्णन में सन्निहित है अथवा इतिहास और विज्ञान हमें यह बताते हैं कि कौन-कौन सी घटनाएँ किस प्रकार घटीं, जीवन और संसार में कौन-कौन सी वस्तुएँ हैं आदि। साहित्य का सत्य इस सत्य से भिन्न होता है। साहित्यकार का लक्ष्य इतिवृत्तात्मक वर्णन करना नहीं, अपितु रसोद्रेक द्वारा आनन्द की सृष्टि करना होता है। वह यह न कह कर कि जीवन कैसा है, वह यह बताता है कि जीवन कैसा होना चाहिए अथवा जीवन कैसा हो सकता है।" इस प्रकार स्पष्ट है कि इतिहासकार अथवा वैज्ञानिक वस्तु का प्रत्यक्ष और यथार्थ वर्णन करता है जब कि साहित्यकार हृदयस्थ भावों के प्रभाव का वर्णन करता है। भविष्य का मार्ग दर्शन करता है। निश्चय ही वैज्ञानिक या इतिहासकार केवल सत्य के शरीर की रक्षा करता है और साहित्यकार उसकी आत्मा और उसके भव्य रूप की। "काव्यगत 'सत्य' केवल वास्तविकता की कसौटी पर कसा जाने वाला 'सत्य' नहीं होता, वह सम्भाव्य सत्य भी हो सकता हैं। बाह्य जगत् से स्वतन्त्र चित्रों की सृष्टि करने वाली हमारे मन की शक्ति का ही दूसरा नाम 'कल्पना' है इसी सहायता से प्रतिभाशाली लेखक एवं कवि अपनी अमर रचनाएँ लिखने में समर्थ होते हैं।

काव्य के सत्य को स्पष्ट करने के लिए हम दो उदाहरण लेकर अपने विचारों को व्यक्त करेंगे। तुलसी के '**कनकभूधराकार शरीरा**' वाक्य का यह अर्थ नहीं है कि कुम्भकरण का शरीर वस्तुत: सोने के पहाड़ के सदृश था, अपितु उनका आशय केवल यह है कि सोने के पर्वत को देखकर हमारे हृदय पर जो चित्र अंकित होता है, उस शरीर को देखकर उसकी लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई का प्रभाव भी हमारे मनःपटल पर वैसा ही होता है। हमारा आशय यह है कि कल्पना पूर्वसंचित अनुभवों के सहयोग से कवि के समक्ष एक मनोहारी चित्र प्रस्तुत करती है। और कवि शब्द-शक्तियों के सहयोग से पाठक के सामने मनोमोहक वर्णन प्रस्तुत करता है। पाठक-श्रोता उसे यथार्थ समझ कर उसका आनन्द ग्रहण करता हुआ आनन्द के सागर में निमज्जित हो जाता है। काव्य का आनन्द अलौकिक माना गया है, उस आनन्द का संवेदन निर्विकल्प और सविकल्पक कोटि से भिन्न अलौकिक है—"**तद्ग्राहकं च न निर्विकल्पकं विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात् नापि सविकल्पकं चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदन-**

सिद्धत्वात् ।" इसी अलौकिक आनन्द की सृष्टि करना कवि या साहित्यकार का चरम लक्ष्य होता है। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए उसका 'सत्य' कल्पनाश्रित रहता है। परिस्थिति या वस्तु-विशेष के प्रभाव को अविकल प्रस्तुत करना कवि का सत्य है। यदि वह इस कार्य में सफल रहता है तो साहित्य के सत्य का वह निर्वाह करता है। "साहित्य का सत्य भावानुभूति की यथातथ्य अभिव्यक्ति है।"

'रामचरितमानस' में लक्ष्मणशक्ति के प्रसंग में राम ने कहा है कि लक्ष्मण मेरा सहोदर भ्राता है तथा लक्ष्मण सुमित्रा के इकलौते पुत्र हैं, जबकि यह दोनों कथन असत्य हैं, क्योंकि राम अपनी माता के एकाकी पुत्र थे, सुमित्रा के दो बेटे लक्ष्मण व शत्रुघ्न थे। यही नहीं, उसी प्रसङ्ग में राम यह भी कहते हैं कि यदि मैं ऐसा जानता तो पिता के वचन का पालन ही नहीं करता और वन में लक्ष्मण विपत्ति को क्यों पाता—

जौं जनतेउँ बन बन्धु बिछोहू ।
पिता वचन मनतेउँ नहिं ओहू ॥
\+ + +
अस विचारि जियँ जागहु ताता ।
मिलइ न जगत सहोदर भ्राता ॥
\+ + +
निज जननी के एक कुमारा ।
तात तासु तुम्ह प्रान अधारा ॥

किन्तु राम के इन वचनों को असत्य नहीं माना जा सकता; क्योंकि ये वचन करुणा-व्यथित बन्धुवियोगी के हैं, इनमें करुण-शोक का अतिरेक व्यंजित है। कवि का यही अभिप्राय है कि करुणा के प्रवाह में मर्यादा, धैर्य और मानसिक सन्तुलन नहीं रहता है। साहित्य का सत्य इसी की व्यंजना में निहित है।

साहित्य में 'शिवं' का अस्तित्व परं विवादास्पद है। इसी प्रसङ्ग में 'कला कला : लिए' तथा 'कला जीवन के लिए' जैसे विवादों को प्रश्रय मिला है। अनेक विद्वान में यथार्थवाद की स्थापना पर बल देते हैं और जीवन का यथार्थ चित्रण करना-कराना अपना ध्येय मानते हैं किन्तु ये समस्त मत एकपक्षीय हैं। साहित्य में इन सभी का महत्व है। नीति और सदाचार भी साहित्य में आवश्यक है। किन्तु उचित रूप में उनका समावेश होना चाहिए। मम्मट ने तो स्पष्ट रूप में साहित्य का एक प्रयोजन **'शिवेतरक्षतये'** बताया है। इस वाक्य की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है कि **"आदित्यादेर्मयूरादीनामिवानर्थ निवारणम्"** अर्थात् अनर्थ निवारण भी साहित्य का एक लक्ष्य है। इसलिए 'शिवं' भी साहित्य का एक महत्वपूर्ण अंग है। आचार्य शुक्ल भी काव्य में लोकमंगल को महत्वपूर्ण स्थान देते हैं और इसीलिए उनकी दृष्टि से तुलसी सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। साहित्य में 'शिवं' के अस्तित्व के प्रसङ्ग में आचार्य श्याम सुन्दरदास ने लिखा है कि—

"साहित्य की कृति में दुहरी गंगा भी बहती है। एक पृथ्वी की प्रत्यक्ष धारा और दूसरी आकाश की स्वर्ग गंगा। आँख ऊपर उठाते ही वह छिपी हुई ज्योतिर्मयी आकाश गंगा भी प्रत्यक्ष हो जाती है। जब तक दृष्टि पार्थिव शरीर पर रहती है, वह प्रकाश की अमरधारा सुदूर आकाश की छायामय वस्तु रहती है, पर दृष्टि ऊपर उठते ही वह चन्द्रतारकमयी स्वर्ग-गंगा आपसे आप चमक उठती है। वाद-विवाद का प्रश्न नहीं रह जाता। आँख के सामने ही दोनों धाराएँ आ जाती हैं। दोनों ही गंगा हैं। दोनों ही सुन्दर हैं। दोनों ही सत्य हैं। दोनों से ही हमारा भला होता है। दोनों ब्रह्म कमण्डल से निकलती हैं। दोनों ही शिव की जटा पर ठहरी हैं। दोनों ही हमें पवित्र करती हैं, सुख देती हैं, रसमय बनाती हैं, पर अन्तर केवल इतना ही है कि एक पृथ्वी पर बहती है, उसका हम स्पर्श करते हैं और दूसरी स्वर्ग में बहती है, उसका हम दर्शन करते हैं—अनुभव करते हैं। अनुभव इन्द्रिय-प्रधान है और द्वितीय ज्ञान-प्रधान अथवा भाव-प्रधान।"

शिवं का चित्रण और उसके द्वारा समाज का कल्याण करना साहित्य का परम अभीष्ट है जीवन के प्रति आस्था एवं कर्त्तव्यनिष्ठा की भावना को उत्पन्न करना भी शिवं है, इस प्रकार लोकमंगल-विधायक साहित्य मानव जीवन का आदर्शमय भव्य-चित्र प्रस्तुत कर अपने 'शिवं' रूप को ही व्यक्त करता है, इसीलिए साहित्य 'हितेन सह' कहलाता है।

काव्य **सौन्दर्य** को व्यक्त करता है, साहित्य मानव मन अथवा बाह्य संसार के सौन्दर्य को शब्द रूप प्रदान कर संसार के समक्ष प्रस्तुत करता है। जो कवि या साहित्यकार काव्य के इस तत्व को सफलतापूर्वक व्यक्त कर लेता है, उसे हम सफल साहित्यकार का पद प्रदान करते हैं। "मानव-मन की पवित्रतम वृत्ति का उद्घाटन आचरण के श्रेष्ठतम स्वरूप का दिग्दर्शन तथा मर्यादा के भव्यतम चित्र का चित्रण करके साहित्यकार अपनी वृत्ति से आन्तरिक सौन्दर्य की सृष्टि करता है। अलंकार-योजना सुन्दर शब्द-विधान, उपयुक्त पद-विन्यास, भाषा-सौष्ठव आदि के द्वारा वह सौन्दर्य के बाह्य पक्ष का सृजन करता है।"

प्रश्न यह है कि सौन्दर्य क्या है? इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि **"जो जाहि भावै'** वैसे सौन्दर्य की परिभाषा लिखना सरल नहीं है क्योंकि वह तो 'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदैव रूपं रमणीयताया' अर्थात् सौन्दर्य प्रतिक्षण नवीन रूप धारण करता है। अतः सौन्दर्य की परिभाषा क्या हो सकती है। वह तो द्रष्टा के मन की वस्तु है, वह विषयीगत (Subjective) है। इसीलिए बिहारी ने लिखा है—

समै समै सुन्दर सबै रूप कुरूप न कोइ।
मन की रुचि जेती जितै तित तेती रुचि होइ॥

किन्तु अन्य विद्वान उसे विषयगत मानते हैं, तो कुछ उभयगत। इस प्रसङ्ग में बिहारी की यह पंक्ति उद्धृत की जा सकती है—

रूप रिझावन हार, ये नैना रिझवार॥

निष्कर्ष रूप में हमारा अपना विचार यह है कि सौन्दर्य के विषय में विभिन्न दृष्टिकोण हैं। आचार्य शुक्ल ने सौन्दर्य के विषय में लिखा है कि—

"कुछ रूप-रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो हमारे मन में अति ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं। हमारी अन्तःसत्ता की यही तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है। जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायगी।"

साहित्य सत्य, शिव और सौन्दर्य का चित्रण करता है। साहित्य में तीनों का अस्तित्व-सुरक्षित है। तीनों के समन्वय में साहित्य की पूर्णता है। भारतीय साहित्य में इन तीनों को समान महत्व प्राप्त है। यदि हम सूत्र रुप में कहें तो कह सकते हैं कि तीनों का अस्तित्व भिन्न न होकर अभिन्न है, इसी अभिन्नता में पूर्णता है "सत्यं, शिवं, सुन्दरं तत्वतः तीन नहीं। प्रत्यक्ष के क्षेत्र में जो सौन्दर्य है वही चिन्तन के क्षेत्र में शिवत्व है।"

अध्याय २

शब्दशक्ति

प्रश्न १८—शब्दशक्तियों का सामान्य परिचय दीजिए।

भारतीय काव्य-शास्त्र में शब्दशक्तियों के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार हुआ है। व्याकरणशास्त्र, न्यायदर्शन मीमांसादर्शन तथा साहित्य आदि में शब्द तथा शब्द-शक्तियों के सम्बन्ध में अनेक निर्णय किये जा चुके हैं। शब्द की **अभिधा, लक्षणा** और **व्यंजना** नामक तीन् शक्तियां (वृत्तियाँ) चिर प्रसिद्ध हैं। मीमांसकों ने **तात्पर्या** नामक वृत्ति को भी मान्यता प्रदान की है; व्यंजना वृत्ति की स्थापना अपेक्षाकृत नवीन है। ध्वनिवादी आनन्दवर्द्धन एवं अभिनवगुप्त ने इस शब्द-शक्ति का प्रतिपादन किया और आचार्य मम्मट ने मनोयोग तथा अकाट्ययुक्तियों से व्यंजनावृत्ति की प्रतिष्ठा की है। व्यंजना साहित्यशास्त्र की प्राणदायिनी वृत्ति है।

शब्द एवं अर्थ के सम्बन्ध में विचार करने वाले तत्व को शब्दशक्ति कहते हैं। शब्द तथा वाक्य की सार्थकता उनके अर्थ में है। अर्थवान् शब्द ही शब्द कहलाते हैं। जिस शक्ति या व्यापार द्वारा अर्थबोध होता है उसे **शब्दशक्ति** कहते हैं—'**शब्दार्थ-सम्बन्धः शक्ति**'। यह शक्ति अर्थबोधक व्यापार का मूल कारण भी कहलाती है।

"शब्द की शक्ति असीम है। शब्द, उच्चारण का ही हमारे मन, कल्पना और

अनुभूति पर प्रभाव पड़ता है। अचार या चटनी का नाम लेते ही मुँह में पानी भर आता है। भूत या साँप शब्द का उच्चारण करते ही मन में भय का संचार होता है। यह प्रभाव अर्थगत है। अतः जिस शक्ति के द्वारा शब्द का यह अर्थगत प्रभाव पड़ता है, वही **शब्दशक्ति** कहलाती है। शब्द का अर्थबोध कराने वाली शक्ति ही शब्दशक्ति है। वह एक प्रकार का शब्द और अर्थ का समन्वय है। शब्द का व्यापार अर्थगत व्यापार है।[1]

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य चिन्तामणि ने लिखा है कि **"जो सुन पड़े सो शब्द है, समुझि परै सो अर्थ"** अर्थात् जो सुनाई पड़े वह शब्द है, तथा उसे सुनकर जो समझ में आवे, वह उसका अर्थ है।

जितने प्रकार के शब्द होंगे, उतनी ही प्रकार की शक्तियाँ होंगी। शब्द वाचक, लक्षक और व्यंजक तीन प्रकार के होते हैं।[2] तथा इन्हीं के अनुरूप तीन प्रकार के अर्थ—वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ होते हैं।[3] शब्द और अर्थ के अनुरूप ही शब्द की तीन शक्तियाँ—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना होती हैं।[4] मीमांसक आचार्य कुमारिलभट्ट तात्पर्या नामक एक चौथी शब्दशक्ति—तात्पर्या शक्ति भी मानते हैं।[5]

प्रश्न १६—अभिधा नामक काव्य की शब्दशक्ति का सोदाहरण विवेचन कीजिए।

अभिधा—साक्षात् संकेतित अर्थ को बतलाने वाली शब्द की प्रथम शक्ति को **अभिधा** कहते हैं, वह शब्द वाचक कहलाता है।[6] मुख्य या प्रथम अर्थ की बोधक होने के कारण इस अभिधा शक्ति को **मुख्या या अग्रिमा** भी कहते हैं।[7] लोक व्यवहार में बिना संकेतग्रह के शब्द के अर्थ की प्रतीति न होने के कारण संकेत की सहायता से ही शब्द अर्थ-विशेष का प्रतिपादन करता है। अतः जिस शब्द का जहाँ जिस अर्थ में अव्यवहृत संकेत का ग्रहण होता है, वह शब्द उस अर्थ का वाचक है। इसी अभिधेय अर्थ की बोधिकावृत्ति अभिधा कही जाती है।[8] पंडितराज जगन्नाथ "शब्द एवं अर्थ के परस्पर सम्बन्ध को अभिधा कहते हैं।" सभी अर्थों का मुख होने के कारण यह

१. काव्यशास्त्र, पृ० २२७।
२. मम्मट : काव्यशास्त्र २।५ स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यंजकस्त्रिधा।
३. वही ,, २।६ वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः—
   विश्वनाथ : साहित्यदर्पण २।२ अर्थो वाच्यश्च लक्ष्यश्च व्यंग्यश्चेति त्रिधा मतः।
४. वही २।३ वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः।
   व्यंग्यो व्यंजनया ताः स्युस्तिस्रः शब्दस्य शक्तयः।
५. मम्मट : काव्यप्रकाश २।६ तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्।
६. वही ,, २।७ साक्षात्सङ्केतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः।
७. साहित्यदर्पण २।४ तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा।
८. काव्यप्रकाश २।८ स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते।

मुख्य है। मुकुलभट्ट ने 'अभिधावृत्तिमातृका' में लिखा है कि "जिस प्रकार शरीर के सभी अवयवों में सर्वप्रथम मुख दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार सभी प्रकार के अर्थों से पहले इसी का बोध होता है। अतः मुख की भाँति मुख्य होने के कारण इसे अन्य सभी प्रतीत अर्थों का मुख कहते हैं। साक्षात् संकेतित अर्थ ही सभी अर्थों का 'मुख' होता है। इसका बोध सभी प्रकार के प्रतीत अर्थों से पूर्व ही हो जाता है, अतः इसे शब्द की प्रथमा शक्ति कहते हैं।"[1] अभिधा के महत्व को व्यक्त करते हुए भट्टलोल्लट ने लिखा है कि वह शब्द का व्यापार बाण के समान दीर्घ-दीर्घतर होता है—सोऽयमिषोरिव-दीर्घदीर्घतरोऽभिधा व्यापारः।" इस कथन के द्वारा अभिधावादी अभिधाशक्ति की असीम व्यापकता सिद्ध करते हैं।

हिन्दी के आचार्यों में भिखारीदास काव्यनिर्णय में अभिधा का लक्षण इस प्रकार लिखते हैं—

अनेकार्थ हू सब्द में एक अर्थ की व्यक्ति।
तेंहि वाच्यारथ को कहें सज्जन अभिधासक्ति।

रसपीयूषकार सोमनाथ ने लिखा है—

या अक्षर को यह अरथ ठीकहिं ये ठहराय।
जानि परे जातें सु वह अभिधावृत्ति कहाय।।

डा० भगीरथ मिश्र ने अभिधावृत्ति के महत्व का वर्णन करते हुए लिखा है कि—

"भट्टनायक आदि अभिधा को विशेष महत्त्व देते हैं। उनकी दृष्टि से रस की अनुभूति कराने में अभिधा शक्ति ही प्रधान है। उनके द्वारा साधारणीकरण और भोजकत्व के द्वारा रसास्वादन होता है। अतः अभिधा ही मुख्य शक्ति है। हिन्दी के प्रसिद्ध आचार्य कवि देव का भी कथन है—

अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षणालीन।
अधम व्यंजना रस विरस, उलटी कहत नवीन।।

उनके मत से प्राचीनों के मत के अनुसार उतम काव्य अभिधा में रहता है। इससे ही रस की निष्पत्ति होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत था कि अभिधा तथा वाच्यार्थ का महत्व है।

"....वास्तव में व्यंग्यार्थ या लक्ष्यार्थ के कारण चमत्कार आता है; परन्तु वह चमत्कार होता है वाच्यार्थ में ही। अतः इस वाच्यार्थ को देने वाली अभिधा शक्ति का अपना महत्व है। अभिधा के द्वारा अर्थ निश्चित रहता है; फिर भी उसमें कल्पना आदि का चमत्कार रहता है जैसे—

सोहत ओढ़े पीत पट, स्याम सलोने गात।
मनों नीलमणि सैल पर आतप पर्यौ प्रभात।।

अभिधा शक्ति से जिन वाचक शब्दों का अर्थ-बोध होता है, वे तीन प्रकार के

१. अभिधावृत्ति मातृका १

होते हैं—रूढ़ि, यौगिक और योगरूढ़ि।

(१) **रूढ़ि**—रूढ़ि या रूढ़ शब्द वे हैं, जिनकी व्युत्पत्ति नहीं की जा सकती है, जो समुदाय के रूप में अर्थ की प्रतीति कराते हैं। ये शब्द अखंडशक्ति से अर्थ का द्योतन करते हैं। जैसे—पेड़, चन्द्र, पशु, घर, घोड़ा आदि।

उदाहरण—अजौं तर्‌यौना ही रह्यौ, श्रुति सेवत इक अंग।
नाक बास बेसरि लह्यौ, बसि मुकुतन के संग॥ (बिहारी)

इस दोहे में तर्‌यौना, श्रुति, नाक, बेसर आदि रुढ़ि शब्द हैं, जिनके अर्थ निश्चित है। तथा इसकी व्युत्पत्ति करना सम्भव नहीं है।

(२) **यौगिक**—यौगिक वे शब्द होते हैं, जिनकी व्युत्पत्ति हो सकती है। इन शब्दों का अर्थ उनके अवयवों से ज्ञात होता है—पाचक, नरपति, भूपति, सुधांशु आदि शब्द यौगिक हैं। भूपति शब्द भू+पति से निर्मित है। 'भू' का अर्थ पृथ्वी है और पति का अर्थ 'स्वामी'। इन दोनों के मिलने से पृथ्वी का स्वामी अर्थ होता है, इसी प्रकार अन्य यौगिक शब्दों की व्युत्पत्ति की जा सकती है।

उदाहरण—चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गंभीर।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के बीर॥

इस उदाहरण में वृषभानुजा और हलधर यौगिक शब्द हैं, क्योंकि वृष+भानु+जा, वृषभ+अनुजा, वृषभानु+जा, हल+धर आदि के रूप में इन शब्दों की व्युत्पत्ति की जा सकती है।

(३) **योगरूढ़ि**—योगरूढ़ि शब्द हैं वे जो यौगिक होते हैं किन्तु उनका अर्थ रूढ़ होता है। यद्यपि प्रकृति-प्रत्यय का अर्थ अलग-अलग निकलता है, किन्तु वे एक अन्य विशिष्ट अर्थ को व्यक्त करते हैं। इसमें अवयव-शक्ति और समुदाय-शक्ति दोनों ही अपना कार्य करती हैं। उदाहरण के लिए 'पंकज शब्द' लिया जा सकता है। इसकी व्युत्पत्ति करने पर 'पंक+ज' रूप बनता है। यौगिक अर्थ है 'पंक से जन्म लेने वाला।' पंक (कीचड़) से जन्म लेने वाले पदार्थों में सेवार, घोंघा, कमल आदि हैं। किन्तु यह शब्द केवल 'कमल' के अर्थ में रुढ़ हो गया है।

इस प्रकार के अन्य शब्दों में पशुपति, जलज, पयोद, चन्द्रमौलि आदि हैं

उदाहरण—जेहि सुमिरत सिधि होय, गुणनायक करिवरवदन।
(रामचरित मानस)

इस पंक्ति में प्रयुक्त 'गणनायक' शब्द केवल 'गणेश' का बोधक है, अन्य किसी सेनानायक का नहीं। अतः वह योगरुढ़ि शब्द है।

प्रश्न २०—लक्षणा नामक शब्द शक्ति की परिभाषा लिखते हुए उसके भेदों का उदाहरण सहित विवेचन कीजिए।

शब्द का अर्थ अभिधामात्र में ही सीमित नहीं रहता है। जब मुख्यार्थ या वाच्यार्थ में बाधा आती है, तब रुढ़ि या प्रयोजन के आधार पर दूसरा अर्थ लगाया जाता है। यह अर्थ वक्ता के प्रयोग के आधार पर होता है। यदि वक्ता का आशय

अभिधागम्य नहीं होता है, तो उससे सम्बद्ध दूसरा अर्थ, लक्ष्यार्थ लक्षणावृत्ति से ज्ञात होता है—**'मुख्यार्थभिन्नाभिन्नार्थसूचकः लक्ष्यार्थः ।'**

लाक्षणिक अर्थ को व्यक्त करने वाली शक्ति का नाम लक्षणा है । वे शब्द-लक्षक हैं जिनसे वह अर्थ निकलता है । आचार्य मम्मट ने लक्षणा की परिभाषा और उसका स्वरुप इस प्रकार लिखा है—

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात्
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥

(काव्य प्रकाश २।९)

"मुख्यार्थ का बाध-अन्वय की अनुपपति या तात्पर्य की अनुपपति होने पर उस मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ या अन्य अर्थ का सम्वन्ध होने पर रुढ़ि से अथवा प्रयोजन-विशेष से जिस शब्दशक्ति के द्वारा अन्य अर्थ लक्षित होता है वह शब्द का आरोपित व्यापार लक्षणा कहलाता है।" आशय यह है कि मुख्य अर्थ के ज्ञान में बाधा होने पर और उस (मुख्यार्थ) के साथ सम्बन्ध (योग) होने पर प्रसिद्धि या प्रयोजन वश अन्य अर्थ जिस शब्दशक्ति से विदित होता है, उसे लक्षणा कहते हैं ।

इस प्रकार लक्षणा के व्यापार के लिए तीन तत्व आवश्यक हैं—

(१) मुख्यार्थ का बाध ।
(२) मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ का योग (सम्बन्ध) ।
(३) रूढ़ि या प्रयोजन ।

मुख्यार्थ का बाध—जब मुख्य अर्थ की प्रतीति में बाधा पड़ती है अथवा यह ज्ञात हो कि वक्ता जिस अर्थ को व्यक्त करना चाहता है, वह व्यक्त न हो तब उसे मुख्यार्थ का बाध कहते हैं ।

मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ का योग या सम्बन्ध—मुख्यार्थ के बाधित होने पर जो अन्य अर्थ ग्रहण किया जाता है, उसका मुख्य अर्थ के साथ सम्बन्ध नितान्त आवश्यक है । यही मुख्यार्थ का योग है ।

रूढ़ि या प्रयोजन—रूढ़ि का अर्थ है प्रसिद्धि, अर्थात् किसी विशेष प्रकार से कहने का ढंग या अभिप्राय विशेष का कारण वक्ता का किसी विशेष (लाक्षणिक) अर्थ को व्यक्त करना । उदाहरण के लिए 'तुम पूरे गधे हो' किसी मित्र ने अपने मित्र से कहा यार तुम पूरे गधे हो मनुष्य गधा कैसे हो सकता है, अतः यहाँ मुख्यार्थ में बाधा है, क्योंकि कहाँ मनुष्य और कहाँ गधा । किन्तु 'गधे' शब्द का एक अन्य अभिद्रेक अर्थ भी है—'मूर्खता' । जिस शब्द की शक्ति से अति मूर्खता का अर्थ व्यक्त होता है, उसे लक्षणा कहते हैं । गधे की मूर्खता प्रसिद्ध ही है ।

उपयुक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष यह है कि लक्षणा में मुख्यार्थ का बाध, मुख्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ का परस्पर योग आवश्यक है, रूढ़ि अथवा प्रयोजन में से किसी एक का होना भी आवश्यक है ।

हिन्दी के आचार्य सोमनाथ ने 'रसपीयूष' में लक्षणा का निम्न लक्षण लिखा

है—

मुख्यारथ को छोड़ि कै पुनि तिहि के ढिग और।
कहै जु अर्थ सुलक्षणा वृत्ति कहत कवि और॥

भिखारीदास काव्यनिर्णय में लक्षणा का लक्षण इस प्रकार लिखते हैं:—

मुख्य अर्थ के बाध तें, सब्द लाच्छनिक होत।
रूढ़ि औ, प्रयोजनवती, द्वै लच्छना उदोत॥

उदाहरण—"कार्य में कुशल है—'कर्मणिकुशल:।" इस वाक्य में कुशल शब्द का अर्थ किसी कार्य में दक्ष है। किन्तु 'कुशल' शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है—"कुशान् लाति आदत्ते इति कुशल:" कुश (घास) का लाने वाला। किन्तु इस वाक्य में यह अर्थ अभिप्रेत नहीं है। अत: यहाँ पर मुख्यार्थ का बाध हुआ है। लोक में कुशल शब्द 'दक्ष' या 'चतुर' अर्थ में रूढ़ (प्रसिद्ध) है। इस प्रकार 'कर्मणि कुशल: या कार्य में कुशल' शब्द की दक्ष अर्थ में लक्षणा है।

इसी प्रकार 'गंगा में गाँव है' (गङ्गायां घोष:) किन्तु गंगा के जल के प्रवाह में गाँव नहीं हो सकता; अत: यहाँ पर मुख्यार्थ बाधित है। इसलिए इससे सम्बद्ध 'गंगा किनारे घोष' है तट का सामीप्य सम्बन्ध—मुख्यार्थ का योग है। तथा अर्थ लक्षणा से ज्ञात होता है कि गङ्गा की पवित्रता और मनोरम वातावरण की अभिव्यक्ति इसका प्रयोजन है।

अन्य उदाहरण—

लाज को अचै के, कुल धरम पचै के।
बिथा वृन्दन संचै के भई मगन गुपाल में॥

इस उदाहरण में 'लाज को अँचै जाना' "कुलधर्म को पचाना" व्यथासमूह को संचित करना' तथा 'गुपाल में डूबना' इन वाक्यों में मुख्यार्थ का बाध है। किन्तु इस प्रकार की उक्तियाँ रूढ़ि के रूप में प्रचलित हैं। अत: यहाँ रूढ़ि के कारण लक्षणा हुई इसका अर्थ हुआ—"लाज को छोड़कर एवं कुलधर्म की परवाह न कर तथा पीड़ा को सहते हुए मैं कृष्ण से अनुरक्त हुई।"

लहरें व्योम चूमती उठतीं, चपलायें असंख्य नचतीं।
गरल जलद की खड़ी झड़ी में बूँदें निज संसृति नचतीं॥ (कामायनी)

इस उदाहरण के 'व्योम चूमती' शब्द में लक्षणा। लहरों का व्योम चूमना संभव नहीं है किन्तु इसका अर्थ है 'स्पर्श करना।' कवि इस शब्द का प्रयोग एक विशेष प्रयोजन से करता है और वह है—'प्रलय की भयंकरता वताना।' यहाँ पर प्रयोजनवती लक्षणा है। प्रलय के समय समुद्र की लहरें मानो आकाश को छू रही थीं।

लक्षणा के भेद—लक्षणा के अनेक भेद-उपभेदों की चर्चा काव्यशास्त्र में हुई है। आचार्य मम्मट ने प्रयोजनवती लक्षणा के छ: भेद माने हैं किन्तु विश्वनाथ ने लक्षणा के सोलह मुख्य भेद माने हैं। काव्यशास्त्र में लक्षणा के अस्सी भेदों तक की चर्चा रही है। सामान्यत: लक्षणा के भेदों को निम्न तालिका से देखा जा सकता है—

मम्मट-निर्दिष्ट लक्षणा के छः भेद निम्न हैं—
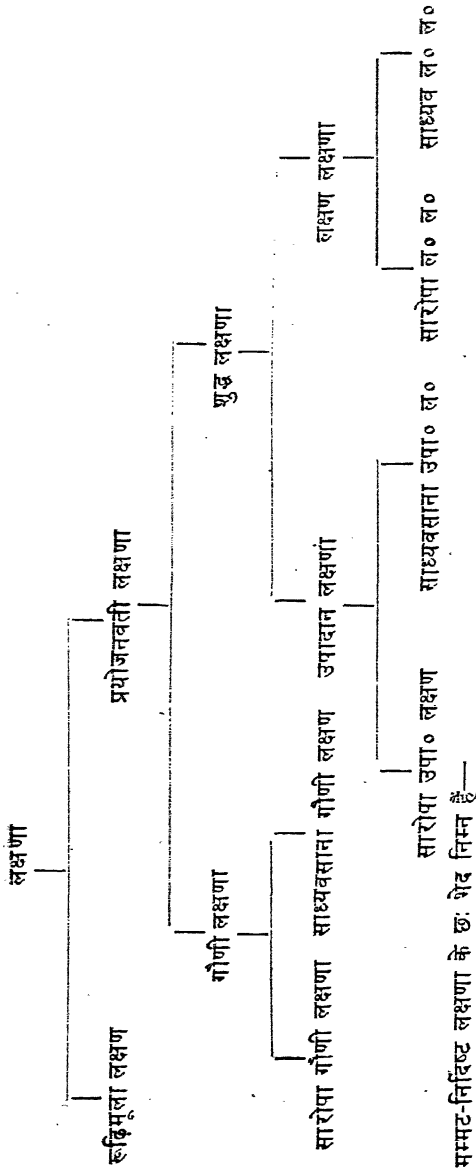
(१) **गौणी लक्षणा**—"जहाँ साद्दश्य सम्बन्ध अर्थात् समान गुण या धर्म के कारण लक्ष्यार्थ की प्रतीति हो वहाँ गौणी लक्षणा होती है।" जैसे—'मुखकमल' इस वाक्य में मुख्य अर्थ का बाध हो रहा है क्योंकि मुख कमल नहीं हो सकता है। किन्तु गौणी लक्षणा के द्वारा मुख एव कमल के गुणों के साम्य (सुन्दरता-कोमलता) के कारण मुख को कमल कहा गया है। एक उदाहरण में लाक्षणिक अर्थ का ज्ञान साद्दश्य-सम्बन्ध से हुआ है, अतः यहाँ गौणी लक्षणा है। एक अन्य उदाहरण—

"मुरलिका कर-पंकज में लसी,
जब अचानक थी बजती कभी।
तब अनूप पीयूष-प्रवाह में,
जन-समागम था अवगाहता ॥ (प्रिय प्रवास)

इस उदाहरण के प्रथम चरण के 'कर-पंकज' में गौणी लक्षणा है। साद्दश्य सम्बन्ध के द्वारा लक्ष्यार्थ का बोध हो रहा है— कि

हाथ कमल के समान कोमल हैं। अतः गौणी लक्षणा है।

(२) **शुद्धा लक्षणा**—"जहाँ सादृश्य-सम्बन्ध के अतिरिक्त किसी अन्य सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ की प्रतीत होती है। वहाँ शुद्धा लक्षणा होती है।" इस लक्षणा में गुण (सादृश्य सम्बन्ध) का सहारा नहीं लिया जाता है, अन्य सम्बन्धों द्वारा यह निर्मित होती है अतः इसे शुद्धा कहते हैं। वे अन्य सम्बन्ध हैं—आधाराधेय भाव सम्बन्ध, तात्कर्म्य सम्बन्ध, सामीप्य सम्बन्ध, कार्यकारण सम्बन्ध, अंगादि सम्बन्ध आदि।

सामीप्य सम्बन्ध का एक उदाहरण—

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी॥

इस पद में क्योंकि आँचल में दूध नहीं होता है, अतः मुख्यार्थ का बाध है। आँचल के सामीप्य के कारण स्तन में दूध का होना अर्थ ग्रहण किया जाता है। 'मातृत्व का बोध' कराना लक्षणा का प्रयोजन है। सादृश्य सम्बन्ध के अतिरिक्त दूसरे सामीप्य सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ की प्रतीति हो रही है अतः यहाँ शुद्धा लक्षणा है।

शुद्धा लक्षणा के दो भेद होते हैं—उपादान लक्षणा और लक्षणलक्षणा।

(१) **उपादान लक्षणा**—इसका दूसरा नाम अजहत्स्वार्था भी है। "जहाँ प्रयोजन-प्राप्त अर्थ की सिद्धि के लिए अन्य अर्थ के ग्रहण किये जाने पर भी मुख्यार्थ बना रहे (अपना अर्थ न छूटे) वहाँ उपादान लक्षणा होती है।"[1] उपादान लक्षणा में मुख्य अर्थ का पूर्णतः परित्याग किया जाता है अपितु उसे ग्रहण कर लिया जाता है। उपादान का शाब्दिक अर्थ है—ग्रहण करना या लेना। इस लक्षणा को अजहत्-स्वार्था भी कहते हैं क्योंकि मुख्यार्थ अपने अर्थ न छोड़ते हुए—(अजहत्) दूसरे अर्थ को भी ग्रहण (उपादान) करता है। स्वार्था (स्व+अर्थ) अपने मुख्यार्थ का त्याग न करने के कारण ही इसके ये दोनों नाम हैं—जैसे **कुन्ताः प्रविशन्तिः**—'भाले प्रवेश कर रहे हैं, 'भाला' अचेतन पदार्थ है, उसका आना असम्भव है, अतः यहाँ मुख्यार्थ का बाध हो रहा है। किन्तु भाले को हाथ में लिए हुए व्यक्ति का प्रवेश यहाँ इष्ट है। अतः मुख्यार्थ का योग है। इस प्रकार 'भाला' अपने अर्थ को न छोड़कर भाला धारण करने वाले व्यक्ति का सूचक भी है अतः यहाँ उपादान लक्षणा है।

उदाहरण— **खेलत ब्रज होरी सजे, बाजे बजे रसाल।**
पिचकारी चालति घनीं, जहँ तहँ उड़त गुलाल॥ (काव्य निर्णय)

इस उदाहरण में पिचकारी के चलने का वर्णन है किन्तु वह अचेतन होने के कारण चल नहीं सकती है। अतः मुख्यार्थ का बाध हो गया। पुनः इससे सम्बन्धित अन्य अर्थ किया गया—पिचकारी चलाने वाला। दूसरा अर्थ ग्रहण करने पर भी मुख्यार्थ—'पिचकारी' को छोड़ा नहीं है। अतः इस उदाहरण में उपादान लक्षणा है।

१. का० प्र० २।१०. स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्व समर्पणम्।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा॥

(४) **लक्षण-लक्षणा**—इसका दूसरा नाम जहत्स्वार्था भी है। जहाँ मुख्यार्थ की बाधा होने पर प्रसंगानुकूल मुख्यार्थ को त्याग कर, लक्ष्यार्थ को ग्रहण किया जाता है, वहाँ लक्षणलक्षणा होती है। लक्षणलक्षणा में मुख्यार्थ का पूर्णतः त्याग किया जाता है तथा मुख्यतः लक्ष्यार्थ को ही ग्रहण किया जाता है। स्व+अर्थ=अपने अर्थ को, जहत् =छोड़कर, दूसरे अर्थ को ग्रहण करने के कारण इसे जहत्स्वार्था भी कहते हैं, जैसे—"कलिंग साहसिक" 'कलिंगवासी साहसी हैं' वह अर्थ होता है। इस उदाहरण में मुख्य अर्थ 'कलिंग' को छोड़कर लक्ष्य अर्थ 'वासी' के लिए अपने को समर्पित कर दिया गया है। जैसा कि विश्वनाथ ने लक्षणलक्षणा का लक्षण लिखते हुए स्पष्ट किया है—"वाक्यार्थ में मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ के अन्वय-बोध के लिए जहाँ कोई शब्द अपने स्वरूप का समर्पण कर दे अर्थात् मुख्य अर्थ को छोड़कर लक्ष्य अर्थ का उपलक्षणमात्र बन जाय, उस लक्षणा को लक्षणलक्षणा कहते हैं, क्योंकि यह उपलक्षण का ही हेतु होती है, इसमें मुख्यार्थ का वाक्य में अन्वय नहीं होता।"[1]

उदाहरण—कर समेटि, कच, भुज उलटि, खसें सीस-पट-टारि।
काकौ मन बाँधै न यह जूरा बाँधनि हारि॥

(बिहारी, ६८७)

इस उदाहरण में 'मन बाँधै' मन को बाँधना लक्षणलक्षणा है। किन्तु 'मन' ऐसी वस्तु नहीं है कि जिसे बाँधा जाय। इसलिए मुख्यार्थ बाधित है। मुख्यार्थ के बाध होने पर लक्ष्यार्थ ग्रहण किया गया—'मन को आसक्त करना' अर्थात् जूड़ा बाँधने वाली नायिका किसके मन को आसक्त नहीं करती है। इस प्रकार इस अर्थ को ग्रहण करने पर मुख्यार्थ को पूर्णतः छोड़ दिया गया है। उपादान-लक्षणा एवं लक्षणलक्षणा का अन्तर स्पष्ट करते हुए पं० रामदहिन मिश्र ने लिखा है कि "लक्षणा शक्ति अर्पित शक्ति है। वक्ता की इच्छा शब्द को यह अर्पित करती है। अतः लक्षणा का स्वरूप कुछ विवक्षाधीन रहता है। इस पर किसी का यह हठ करना कि यहाँ यही लक्षणा हो सकती है, नितान्त भ्रान्ति-मूलक है। उपादान-लक्षणा में इतना ही कहा गया है कि मुख्यार्थ का भी उपादान होना चाहिए। इसलिए उसका नामान्तर 'अजहत्स्वार्था' भी है। अतः यह कहने वाले की इच्छा पर निर्भर है कि मुख्यार्थ का अन्वय करे या न करे। जब वाक्यार्थ में मुख्यार्थ अन्वित होगा तब उपादान-लक्षणा होगी और जब अन्वय न होगा तब लक्षण-लक्षणा।"[2]

(५) **सारोपा लक्षणा**—एक वस्तु में दूसरी वस्तु की अभेद-प्रतीति को आरोप कहते हैं। जिस वस्तु का आरोप किया जाए वह आरोप्यमाण या विषयी कही जाती है और जिस वस्तु पर आरोप किया जाता है उसे आरोप का विषय कहते हैं। जिस

१. सा० द० २।७. अर्पण स्वस्य वाक्यार्थे परस्यान्वयसिद्धये।
उपलक्षणहेतुत्वादेषा लक्षणलक्षणा॥

२. काव्य-दर्पण, पृ० ३३

लक्षणा में विषयी (आरोप्यमाण) और आरोप के विषय दोनों का शब्दशः उल्लेख हो वहाँ सारोपा लक्षणा होती है। इस प्रकार सारोपा लक्षणा में विषयी (उपमान) और विषय (उपमेय) दोनों का उल्लेख किया जाता है। इन दोनों के विषय को छिपाया नहीं जाता है, अपितु समानरूप से निर्देश किया जाता है। जैसे—

मोहन मो दृग पूतरी, वौ छवि सिगरी प्रान।
सुधा—चितोंन सुहावनी, मींच बाँसुरी तान॥

इस दोहे में दृग पर पूतरी का, छवि पर प्राण का, चितवन पर सुधा का तथा बाँसुरी पर मृत्यु का आरोप है। मोहन, छवि, चितवन और बाँसुरी की तान आरोप के विषय हैं। इस तरह दृगपुतरी, प्राण, सुधा एवं मृत्यु आरोप्यमाण हैं। इनका शब्दतः कथन भी है। "मोहन की आँख की पुतली, छवि को प्राण, चितवन को अमृत एवं वंशी-ध्वनि को मृत्यु ठहराने में मुख्यार्थ का बाध है। किन्तु लक्षणा के द्वारा अत्यन्त 'प्रिय आनन्ददायक, पीड़ा देने वाला अर्थ किया गया।"

(६) **साध्यवसाना लक्षणा**—आरोप के विषय का विषयी के द्वारा तिरोभूत होना अध्यवसान है। साध्यवसाना में विषयी (उपमान) द्वारा विषय (उपमेय) को निगरण (आत्मसात) कर लिया जाता है। आचार्य मम्मट ने साध्यवसाना का लक्षण इस प्रकार लिखा है—'आरोप्यमाण के द्वारा आरोप के विषय के निगीर्ण किये जाने पर साध्यवसाना लक्षणा होती है—

उदाहरण—**पगली हाँ सम्हाल ले कैसे छूट पड़ा तेरा अंचल।**
देख बिखरती है मणिराजी, अरी उठा बेसुध चंचल। (कामायनी)

इस उद्धृत पद में 'अंचल' तथा 'मणिराजी' से क्रमशः 'आकाश' और 'ताराओं के समूह' का अर्थ व्यक्त हो रहा है। इसमें विषयी के द्वारा विषय का ज्ञान होने से साध्यवसाना लक्षणा है।

उपर्युक्त लक्षणा के भेद मम्मट के काव्यप्रकाश पर आधारित हैं। वैसे अनेक आचार्यों ने लक्षणा के भेदों का निरूपण अनेक प्रकार से किया है। "मम्मट ने मुकुल-भट्ट का अनुसरण करते हुए इसके छः भेदों का वर्णन किया है—**लक्षणा तेन षड्विधा**। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने लक्षणा के चालीस भेदों का उल्लेख किया है। उनका विभाजन इस प्रकार है। लक्षणा के दो भेद—रूढ़ लक्षणा एवं प्रयोजनवती लक्षणा इन दोनों के भी दो-दो भेद—उपादान लक्षणा एवं लक्षण लक्षणा। इस प्रकार चार भेद हुए। पुनः इन चारों के सारोपा एवं साध्यवसाना के नाम से दो-दो भेद हुए। इस प्रकार आठ भेद हुए। फिर इनके भी दो-दो भेद शुद्धा एवं गौणी के नाम से करने पर सोलह लक्षणाएं हुई। मम्मट एवं मुकुलभट्ट ने यहाँ तक केवल छः लक्षणाओं का ही निरूपण किया है। मम्मट एवं मुकुलभट्ट ने उपादान एवं लक्षणलक्षणा नामक भेद केवल शुद्धा में ही दिखाये हैं, गौणी में नहीं, जब कि विश्वनाथ ने गौणी के भी दो भेद किये हैं। यहाँ आठ भेद रूढ़ लक्षणा के एवं आठ भेद प्रयोजनवती के हैं प्रयोजनवती के गूढ़व्यंग्या एवं अगूढ़ व्यंग्या के नाम से सोलह भेद हुए और इनके भी दो भेद धर्मगत

एवं धर्मगत लक्षणा के नाम से बत्तीस भेद हुए। रूढ़िलक्षणा के आठ भेद एवं प्रयोजनवती के बत्तीस मिलकर कुल चालीस प्रकार हुए। पद एवं वाक्यगत होने से इनके कुल अस्सी भेद हुए "**पदवाक्यगतत्वेन प्रत्येकं ता अपि द्विधा।**"[1]

आचार्य विश्वनाथ ने गूढ़व्यंग्या एवं अगूढ़व्यंग्या नामक दो अन्य लक्षणाओं का भी उल्लेख किया है। ये दोनों प्रयोजनवती लक्षणा के भेद हैं—"अभिधा या लक्षणा के द्वारा प्रयोजन की अभिव्यक्ति नहीं होती है। अतएव प्रयोजनवती लक्षणा को सर्वत्र सव्यंग्य माना जाता है। जहाँ व्यंग्य अर्थ इतना गूढ़ होता है कि उसके अर्थ का आनन्द मार्मिक सहृदय ही ले सकें तो वहाँ गूढव्यंग्या लक्षणा और जहाँ व्यंग्य अगूढ़ या अगम्भीर या स्पष्ट रूप से प्रकट होने लगे और जिसे सभी समझने लगें तो वहाँ अगूढ़ व्यंग्या लक्षणा होती है।"

गूढ़व्यंग्या लक्षणा का उदाहरण—

चाले की बातें चलीं सुनति सखिन के टोल।
गोये हू लोयन हँसत विहँसत जात कपोल।। (विहारी)

इस दोहे में सखियों के मध्य बैठी नायिका के गौने (चाले) की बात चलने पर नायिका आँखें छिपाने पर भी हँसने लगी और कपोल भी मुस्करा उठे। "यहाँ आँखों के हँसने एवं कपोलों के मुस्कुराने में मुख्यार्थ का बाध है। क्योंकि मनुष्य हँसता है, आँख या कपोल नहीं। अतः यहाँ विहँसने का लक्ष्यार्थ उल्लसित होना ग्रहण किया गया। यहाँ संचारी भाव हर्ष एवं नायिका मध्या होना व्यंजित है। यह व्यंग्य सर्वजन-सुलभ न होकर सहृदय-संवेद्य है। अतः गूढ़व्यंग्या हुई।"

अगूढ़व्यंग्या लक्षणा का उदाहरण—

पल न चलै जकि-सी रही, थकि सी रही उसास।
अब ही तन रितयो, कहो मनु पठयौ किहि पास।। (बिहारी ५३४)

इस दोहे में सखी नायिका से कह रही है कि—तुम्हारी पलकें स्तम्भित हैं, तुम भी स्तम्भित-सी हो रही हो। तुम्हारी साँस थकी हुई सी प्रतीत हो रही है। अभी तुमने अपने शरीर को वेचैन कर दिया है, पता नहीं मन किसके पास भेज दिया है। इस दोहे के चतुर्थ चरण '**मन पठायौ केहि पास**' में अगूढ़-व्यंग्य लक्षणा है। क्योंकि मन ऐसी वस्तु नहीं है, जो किसी के पास भेज दिया जाय। साँस का थकना, शरीर का रिक्त होना, पलकों का न चलना, आदि मुहावरे भी अपना अर्थ सहज ही व्यक्त कर देते हैं। इस दोहे में नायिका का पूर्वानुराग वर्णन से स्पष्ट है अतः इस दोहे में अगूढ़-व्यंग्या लक्षणा है।

विपरीतलक्षणा—लक्षणा का एक अन्य भेद विपरीतलक्षणा के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें कथन का अर्थ मुख्यार्थ से विपरीत ग्रहण किया जाता है अतः इसे विपरीत लक्षणा कहते हैं। जैसे 'तुम सूख-सूखकर हाथी हुए जा रहे हो।' कोई व्यक्ति सूख-

१. भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि सिद्धान्त, पृ० ९६-९७

सूखकर हाथी नहीं हो सकता है। अतः यहाँ विपरीत लक्षणा है। और इसका आशय है कि 'तुम बहुत दुर्बल हो गये हो।'

लक्षणा का महत्व—लक्षणा शब्द शक्ति का असीमित महत्व है, वह अर्थ के विस्तार में सहायक होती है। किसी भी शब्द का अर्थविस्तार लक्षणा की परिधि में आ जाता है। चाहे वह अतिशयोक्ति के अर्थ का सूचक हो, या रूपक अलंकार का अभिप्रेत हो या आरोपित अर्थ हो अथवा रूढ़िगत अर्थ हो, जिसमें मुहावरे-लोकोक्ति अर्थ का विस्तार कर देते हैं, यह भी लक्षणा का ही कार्य है। लाक्षणिक प्रयोग किसी बात को सौ बार कहने से भी अधिक प्रभावशाली होता है। लक्षणा के भेदोपभेदों में प्रदत्त उदाहरण लक्षणा के महत्व के प्रतिपादक हैं। उन उदाहरणों से अर्थ विस्तार की सीमाओं का ज्ञान हो जाता है।

लक्षणा और व्यंजना का अन्तर—(१) लक्षणा एवं व्यंजना दोनों ही शब्द की शक्तियाँ हैं, इन दोनों में मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति होती है। (२) लक्षणा के लिए मुख्यार्थ में बाधा आवश्यक है, किन्तु व्यंजना के लिए मुख्यार्थ में बाधा की अपेक्षा गूढ़ार्थ व्यक्त होता है। (३) लक्षणा शब्दशक्ति में मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ की कहीं न कहीं आपस में गुण या लक्षण में समानता होती है, इसके विपरीत व्यंजना में मुख्यार्थ और व्यंग्यार्थ में कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता है। (४) लक्षणा से केवल एक अर्थ की प्रतीति होती है, जबकि व्यंजना शब्दशक्ति द्वारा प्रसंग के अनुरूप कई-कई अर्थों की प्रतीति सम्भव है।

प्रश्न २४—व्यंजना शब्दशक्ति का सामान्य परिचय देते हुए उसके भेदों का उदाहरण सहित विस्तार से विवेचन कीजिए।

सामान्य परिचय—शब्दशक्तियों में तीसरी शब्दशक्ति 'व्यंजना' है। व्यंजना शब्द की निष्पति वि+अंजना दो शब्दों में हुई है। वि उपसर्ग है तथा अंज प्रकाशेन धातु है। व्यंजना का अर्थ है 'विशेष प्रकार का अंजन। "अंजन के लगाने से नेत्रों की ज्योति बढ़ जाती है किन्तु जब विशेष प्रकार से अंजन लगाया जाता है तो परोक्ष वस्तु भी दृष्टिगोचर होने लगती है।" व्यंजना के द्वारा इसी प्रकार के अप्रकटित अर्थ स्पष्ट होते हैं। जब अभिधा एवं लक्षणा अर्थ व्यक्त करने में असमर्थ हो जाता है तब व्यंजना-शक्ति काव्य के छिपे हुए गूढ़ सौन्दर्य को प्रकट करती है।

इसी सौन्दर्य के 'ध्वन्यर्थ' 'सूच्यर्थ,' 'आक्षेपार्थ', 'प्रतीयमानार्थ' भी आचार्यों ने कहा है। आचार्य मम्मट ने प्रतीयमानार्थ को विवेचन करते हुए लिखा है कि "जैसे सुन्दरियों के उन-उन मनोहर अंगों की चारुता के अतिरिक्त भी उनकी सम्पूर्ण शरीर यष्टि में एक विशेष प्रकार की लावण्य नामक वस्तु उल्लसित होती रहती है, उसी प्रकार महाकवियों की सरस सुन्दर वाणी में उल्लसित होने वाला प्रतीयमानार्थ कुछ दूसरी ही वस्तु होता है।"

व्यंजना का साहित्यशास्त्र में महत्वपूर्ण स्थान है। अन्य शास्त्र इसे महत्व नहीं देते हैं। ध्वनिवादी आचार्यों के कथनानुसार साहित्यशास्त्र की आधारशिला व्यंजना वृत्ति

पर ही निर्भर है क्योंकि इस शास्त्र में नीरस उक्ति रसिक साहित्यिक को इष्ट नहीं है। नैयायिक, वैयाकरण, मीमांसक और वेदान्ती अभिधा के महत्व से सन्तुष्ट हो जायें, पर साहित्यशास्त्र तो रसप्रधान है, रसास्वाद के बिना सहृदय की तृप्ति नहीं होती और उस रसाभिव्यक्ति के लिए व्यंजनावृत्ति की सत्ता नितान्त आवश्यक है, अतः किसी सहृदय ने कहा है—व्यंजना व्यंग-प्रधान एक नवीन वृत्ति है, जिसमें वक्रोक्तियों का प्रचुर प्रयोग किया जाता है।

व्यंजना का लक्षण—जब अभिधाशक्ति अर्थ बतलाने में असमर्थ हो जाती है, तो लक्षणा के द्वारा अर्थ बतलाने की चेष्टा की जाती है किन्तु कुछ ऐसे भी अर्थ होते हैं जिनकी प्रतीति अभिधा एवं लक्षणा के द्वारा नहीं होती। इस स्थिति में एक तीसरी शक्ति की आवश्यकता प्रतीत होती है। अभिधा एवं लक्षणा शक्तियों के अपना-अपना कार्य कर शान्त हो जाने पर जिस शक्ति के द्वारा अर्थ का ज्ञान होता है, उसे व्यंजना शब्द-शक्ति कहते हैं—

विरतास्वाभिधाद्यासु ययार्थो बोध्यते परः।
सा वृत्तिर्व्यंजना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च।

विश्वनाथ की इस कारिका से एक स्पष्ट ध्वनि यह निकलती कि वे व्यंजना का सम्बन्ध शब्द एवं अर्थ दोनों से मानते हैं।

आचार्य मम्मट के अनुसार संकेत न होने के कारण जब अभिधा नामक शब्द-व्यापार समर्थ नहीं रहता है और प्रयोजन की प्रतीति में हेतु (मुख्यार्थयोग, रूढ़ि तथा प्रयोजन) न रहने के कारण लक्षणा भी समर्थ नहीं रहती है तब व्यंजना के अतिरिक्त अन्य कोई शब्द व्यापार नहीं—

यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यंजनान्नापरा क्रिया॥ (का० प्र० २।२४)

व्यंजना के स्पष्टीकरण के लिए संस्कृत काव्यशास्त्र का सर्वाधिक प्रचलित उदाहरण—'गंगा में गाँव है' इस उदाहरण को लिया जा सकता है। गंगा में गाँव की स्थिति सम्भव नहीं है। अतः लक्षणा से यह आशय निकला कि 'गंगा के तट पर गाँव' है। कोई शक्ति अर्थ से अधिक अर्थ व्यक्त नहीं कर सकती है। अतः वक्ता के अभिप्राय—गाँव की पवित्रता एवं शीतलता को व्यक्त करने के लिए तीसरी शक्ति की कल्पना नितान्त अपरिहार्य है, और तीसरा अर्थ व्यंजना शक्ति के द्वारा प्रकट होता है। इस प्रकार 'गंगा में गाँव है' इस उदाहरण में शैत्य और पावनत्व की प्रतीति व्यंजना शक्ति से ही सम्भव है।

हिन्दी के आचार्यों ने भी व्यंजना के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उसकी परिभाषाएँ लिखी हैं, उनमें से कुछ निम्न हैं—

भिखारी दास : **व्यंजक व्यजक जुत्त पद, व्यंग तासु जो अर्थ।**
ताहि बुझैवे की सकति, है व्यंजना समर्थ।
सूधौ अर्थ जु बचन को, तेहि तजि औरे बैन॥
समुझि परे तेहि कहत हैं सरित व्यंजना ऐन॥ (काव्य-निणय)

सोमनाथ : अधिक कहै कहि अर्थ को व्यंजक सु जानि ।
समुझ लीजिए अर्थ पुनि और चीज हू होय ॥
रसिकन कौ सुखदानि अति व्यंग कहावत सोय ।
कहै व्यंग सो व्यंजना वृत्ति बढ़ावै फूल ॥ (रस-पीयूस-निधि)

प्रतापसाहि : व्यंग्य जीव है कवित में शब्द अर्थ गति अंग ।
सोई उत्तम काव्य है वरणै व्यंग्य प्रसंग ॥

कुलपति : व्यंग जीव ताको कहें शब्द अर्थ है देह ।
गुण में भूषण भूषणै दूषण दूषण ॥

उपर्युक्त हिन्दी के आचार्यों के लक्षण काव्य में व्यंग्य अर्थ एवं व्यंजना शक्ति के महत्व को घोषित करते हैं ।

प्रश्न २५. व्यंजना के भेदों का निरूपण कीजिए ।

व्यंजना दो प्रकार की होती है—शाब्दी व्यंजना एवं आर्थी व्यंजना । शाब्दी व्यंजना के दो उपभेद होते हैं—अभिधामूला एवं लक्षणामूला ।

शाब्दी व्यंजना—शाब्दी व्यंजना में शब्दों का प्राधान्य एवं महत्व होता है । शब्द के परिवर्तन के साथ ही अर्थ भी परिवर्तित हो जाता है । अनेकार्थक शब्दों का अर्थ निश्चित होने पर ही शाब्दी व्यंजना अपना कार्य करती है । "जब अभिधा शक्ति द्वारा संयोगादि अनेकार्थक शब्दों के एक अर्थ का निर्णय हो जाने पर जिसके द्वारा अन्य अर्थ का ज्ञान होता है उसे अभिधामूला व्यंजना कहते हैं"—

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्याप्तिरञ्जनम् ॥

(मम्मट का० प्र० २।१९)

"जिन शब्दों से एक से अधिक अर्थ निकलें उन्हें अनेकार्थक शब्द कहते हैं । अभिधामूला शाब्दी व्यंजना में संयोग आदि के द्वारा अनेक अर्थ वाले शब्दों का एक विशेष अर्थ निश्चित किया जाता है । इस प्रकार विशेष अर्थ के नियन्त्रित कर देने से अनेकार्थक शब्दों के अन्य अर्थ अवाच्य हो जाते हैं । अर्थात् वे अर्थ अभिधा शक्ति से प्रकट नहीं होने के कारण वाच्यार्थ नहीं होते । इस प्रकार अनेकार्थवादी शब्दों के वाच्यार्थ से भिन्न जो अन्य अर्थ का बोध होता है उसका बोध कराने वाली व्यंजना को अभिधामूला व्यंजना कहते हैं । अभिधा पर आश्रित होने के कारण इसे अभिधामूला व्यंजना कहा जाता है । अभिधाशक्ति के संयोगादि के द्वारा एक अर्थ का बोध कराकर रुक जाने के बाद एक विशेष अर्थ का बोध होता है ।"[1]

अनेकार्थवाची शब्दों का नियन्त्रण निम्न चौदह आधारों पर होता है—संयोग, असंयोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ प्रकरण, लिंग, अन्यसन्निधि, सामार्थ्य, औचित्य, देश,

१. भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि सिद्धान्त पृ०, १०४ ।

काल, व्यक्ति और स्वर आदि ये सब शब्द के अर्थ का अनिर्णय अथवा संदेह होने पर विशेष ज्ञान के कारण होते हैं अर्थात् इन साधनों से विशेष अर्थ का ज्ञान होता है ।[1]

उदाहरणार्थ—

संयोग—अनेकार्थक शब्द के किसी एक ही अर्थ के साथ प्रसिद्ध सम्बन्ध को संयोग कहते हैं । हरि शब्द के अनेक अर्थ हैं परन्तु 'सशङ्खचक्रोहरिः' कहने पर हरि शब्द से शंख, चक्र को धारण करने वाले विष्णु का बोध होता है :

'शङ्ख चक्र युत हरि लसें'

विप्रयोग—असंयोग या वियोग—'असंखचक्रोहरि,' कहने पर भी हरि शब्द वियोग के कारण विष्णु का ही सूचक है क्योंकि वियोग या असंयोग की बात वहीं हो सकती है, जहाँ पहले उसका अस्तित्व हो । एक अन्य उदाहरण—"सोहत नाग न मद बिना ।" मद हाथी का ही प्रसिद्ध है । मद के बिना कहने से भी नाग का अर्थ हाथी ही होता है ।

साहचर्य—साथ रहने का नाम साहचर्य है । यद्यपि भीम पद का अर्थ 'भयानक' है और अर्जुन का अर्थ 'जंगली वृक्ष है' । परन्तु 'भीमार्जुनौ' कहने से दोनों सहचारी पाण्डवों का ही बोध होता है । इसी प्रकार 'राम-कृष्ण ब्रजभूषण जानौ' राम और कृष्ण में राम शब्द अनेकार्थक है—उससे दशरथ-पुत्र राम, बलराम, परशुराम के अर्थ निकलते हैं । किन्तु कृष्ण के साहचर्य के कारण यहाँ राम का अर्थ बलराम है ।

विरोध—जहाँ किसी प्रसिद्ध विरोध के कारण अर्थ का नियन्त्रण हो, वहाँ विरोध कहलाता है, जैसे—कर्णार्जुन' प्रसिद्ध विरोध के कारण 'कर्ण' शब्द का अर्थ सूत-पुत्र कर्ण का ग्रहण होता है न कि कान का । इसी प्रकार 'रामार्जुन का विरोध' इस वाक्य में राम और अर्जुन दोनों शब्द अनेकार्थक हैं । राम के परशुराम, राम एवं बलराम आदि अर्थ हैं; इसी प्रकार अर्जुन के सहस्रबाहु, पाण्डव अर्जुन तथा अर्जुन वृक्ष आदि तीन अर्थ हैं, किन्तु "भार्गवार्जुन में संग्राम हुआ" वाक्य में विरोध के कारण राम शब्द का अर्थ परशुराम तथा अर्जुन का अर्थ सहस्रबाहु है ।

अर्थ—अर्थ से आशय यह है कि जो अर्थ दूसरी प्रकार सम्भव न हो अथवा शब्द के अर्थ के कारण अनेकार्थक शब्द एक ही अर्थ का संकेत हो; जैसे—'संसार के दुःख-नाश के लिए स्थाणु का भजन करो ।' 'स्थाणु' शब्द के दो अर्थ—शिव तथा ठूँठ या खम्भा है । संसार के दुःख-नाश के लिए 'स्थाणु' का अर्थ शिव है ठूंठ नहीं; क्योंकि ठूँठ में यह शक्ति नहीं है ।

१. भर्तृहरि : वाक्यपदीय २।३१७-३१८ ।

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्यसन्निधिः ॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिःस्वरादयः
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥

प्रकरण—जहाँ प्रसंग के अनुसार अनेकार्थक शब्द का एक ही अर्थ निकले, वहाँ 'प्रकरण' होता है, जैसे—भोजन करते समय 'सैन्धव लाओ' यदि यह वाक्य कोई कहता है तो 'सैन्धव' शब्द का अर्थ 'नमक' होगा, न कि घोड़ा। वैसे सैन्धव शब्द के दो अर्थ—नमक और घोड़ा होते हैं किन्तु प्रसंगानुकूल 'नमक' अर्थ ही नियन्त्रित होता है।

लिंग— जब कोई विशेष चिन्ह देखकर अनेकार्थवाची शब्द के एक अर्थ का निर्णय हो, जैसे 'मकरध्वज कुपित हुआ' मकरध्वज शब्द के दो अर्थ हैं—समुद्र एवं कामदेव। किन्तु कुपित चिह्न कामदेव का ही है। समुद्र अचेतन है, वह कुपित नहीं हो सकता है।

अन्य सन्निधि—जब किसी अन्य अर्थ के सामीप्य के कारण विशेष अर्थ का बोध हो; जैसे—

"मधुशाला में मधु पीकर
सब झूम रहे थे।"

यहाँ 'मधु' का अर्थ 'शहद' एवं 'शराब दोनों ही हो सकते किन्तु मधुशाला की समीपता के कारण अभीष्ट अर्थ 'मदिरा' ही है।

सामर्थ्य—'मधुना मत्तः पिकः अथवा "मधु ने मुदित किया कोकिल को।" (कोयल बसन्त के कारण मतवाली है) इस वाक्य में 'मधु' शब्द अनेकार्थक है—उसके दैत्य, वसन्त, मद्य आदि अनेक अर्थ होते हैं किन्तु कोयल के मत्त करने का सामर्थ्य केवल वसन्त में है। अतः सामर्थ्य के कारण भी अनेकार्थक शब्दों का नियन्त्रण होता है।

औचित्य—जहाँ औचित्य के कारण अनेकार्थवाची शब्द के एक अर्थ का निर्णय हो; जैसे—'तरु पै द्विज बैठ्यों कहे', इस वाक्य में 'प्रयुक्त द्विज शब्द अनेकार्थ—पक्षी, ब्राह्मण, तथा चन्द्रमा का वाचक है किन्तु औचित्य और सामर्थ्य के कारण 'द्विज' शब्द का अर्थ यहाँ पक्षी है।

देश—जहाँ अनेकार्थवाची शब्द के एक अर्थ का निर्णय देश-स्थान के आधार पर किया जाता है, जैसे—"मरु में जीवन दूर है।" 'जीवन' शब्द अनेकार्थक है, इसके प्राण एवं जल अर्थ हैं। किन्तु रेगिस्तान में 'जीवन' का अर्थ जल ही होगा।

काल—जहाँ काल (समय) के आधार पर अनेकार्थवाची शब्द के एक अर्थ का निर्धारण होता है, जैसे—"चित्रभानुर्विभाति" इस उदाहरण में 'चित्रभानु' शब्द अनेकार्थक (सूर्य एवं अग्नि आदि) है। यदि हम इस उदाहरण का प्रयोग दिन में करते हैं तो इसका अर्थ सूर्य होगा और यदि 'रात' में प्रयोग होता है तो 'अग्नि।'

व्यक्ति—यहाँ व्यक्ति का आशय स्त्रीलिंग एवं पुल्लिंग आदि से है। व्यक्ति (लिंग) के द्वारा भी एक अर्थ का निर्णय होता है, जैसे—"मित्रं भाँति' मित्र सुशोभित हो रहे हैं। यहाँ मित्रं शब्द का अर्थ सुहृद है। और यही उदाहरण 'मित्रो भाति' हो तो सूर्य चमक रहा है क्योंकि 'नपुंसक लिंग में मित्र शब्द का अर्थ सुहृद एवं पुल्लिंग में सूर्य होता है। एक अन्य उदाहरण—

"ए री दे मेरी बीर जैसे तैसे इन आँखिन दतें।
कढ़िगौ अबीर पै अहीर तो कढ़ै नहीं।।"

बीर शब्द अनेकार्थक—'भाई', 'पति', 'सखी', 'योद्धा' है, किन्तु 'बीर' शब्द का प्रयोग स्त्रीलिंग में यहाँ हुआ है, अतः अभीष्ट अर्थ—'सखी' ही मानना चाहिए।

'स्वर' के उदाहरण काव्य में नहीं मिलते हैं जैसा कि कविराज विश्वनाथ ने लिखा है—'स्वर' उदात्तादिक वेद में ही विशेष अर्थ के निर्णायक होते हैं—

"स्वरस्तु वेद एव विशेष प्रतीतिकृत,
न काव्य इति तस्य विषयो नोदाहृतः।"

(साहित्य दर्पण २।१४ वृत्ति)

उपर्युक्त आधार शब्द का अर्थ निश्चय कर देते हैं। यह कार्य व्यंजना का नहीं है, अपितु इस कार्य को अभिधा ही सम्पन्न करती है। अभिधा द्वारा एक अर्थ निश्चित हो जाने पर व्यंजना अन्य अर्थ का संकेत करती है। अभिधामूला शाब्दी व्यंजना का उदाहरण—

चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि ये वृक्ष भानुजा, वे हलधर के बीर।। (विहारी)

इस दोहे में 'राधाकृष्ण की यह जोड़ी जिरजीवी हो। इनका गहरा प्रेम क्यों न जुड़े? दोनों में कौन किससे घटकर है? ये वृषभानुजा हैं और वे हलधर के भाई।' या वाच्यार्थ है। किन्तु 'वृषभानुजा' तथा 'हलधर' शब्द अनेकार्थक हैं, अतः उनसे दूसरा और तीसरा अर्थ भी ध्वनित होता है कि ये (वृष-भानुजा) बैल की वहिन हैं और वे (हलधर) बैल हैं। तीसरे अर्थ में वे वृष-राशि में उत्पन्न हैं और वे शेषनाग के अवतार।

इस उदाहरण में शाब्दी व्यंजना है, अतः 'वृषभानुजा' और 'हलधर' के स्थान पर यदि "वृषभानुसुता" और 'बलराम' शब्दों का प्रयोग कर दिया जाय तो यह व्यंग्यार्थ नष्ट हो जायगा।

लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना—जहाँ पर मुख्यार्थ की बाधा होने पर लक्षणा शक्ति से दूसरा अर्थ निकलता है, किन्तु जब उसके वाद भी दूसरे अर्थ की प्रतीति हो, वहाँ लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना होती है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार इसका लक्षण इस प्रकार है—"जिसके लिए लक्षणा का आश्रयण किया जाता है वह प्रयोजन, जिस शक्ति के द्वारा प्रतीत होता है, वह व्यंजना लक्षणाश्रया (लक्षणामूला) कहलाती है।"[1] विश्वनाथ ने 'गंगायां घोषः' का उदाहरण देकर स्पष्ट किया है कि "अभिधा के द्वारा 'गंगा' पद से जलमय प्रवाह रूप मुख्यार्थ को बोधित करके अभिधा के शान्त होने पर

१. सा० द० २।१५।

लक्षणोपास्यते यस्य कृते तत्तु प्रयोजनम्।
यया प्रत्याय्यते सा स्याद् व्यंजना लक्षणाश्रया।।

तटादिरूप लक्ष्यार्थ का बोध करके लक्षणा के विरत होने पर शीतलता और पवित्रता का आधिक्य जिस शब्दशक्ति के द्वारा प्रतीत होता है उसे लक्षणामूला व्यंजना कहते हैं।" एक अन्य उदाहरण देखिए—

फली सकल मन कामना, लूट्यौ अगणित चैन।
आजु अँचै हरि रूप सखि, भये प्रफुल्लित नैन॥

इस उदाहरण में लक्षणा के 'फली' का अर्थ है' पूर्ण हुई', 'लूट्यौ' का अर्थ है। 'प्राप्त किया' और 'अंचै' का अर्थ है 'देखा', किन्तु व्यंजना से सम्पूर्ण पद का व्यंग्यार्थ है—"प्रियतम के दर्शन से अत्यधिक आनन्द प्राप्त किया।

दूसरा उदाहरण—

आनन में मुस्कानि सुहावनि बंकता नैनन्ह माँझ हुई है।

'मुस्कान' शब्द से संकोच का अभाव तथा सम्पूर्ण पंक्ति का व्यंग्यार्थ सौन्दर्यातिरेक की सूचना है।

प्रश्न २६. आर्थी व्यंजना का निरूपण कीजिए।

आर्थी व्यंजना के अर्थ की सहायता से व्यंग्यार्थ का ज्ञान होता है "जहाँ पर व्यंग्यार्थ किसी शब्द पर आधारित न हो, वरन् उस शब्द के अर्थ द्वारा ध्वनित होता हो, वहाँ आर्थी व्यंजना होती है।" आर्थी व्यंजना की एक विशेषता यह है कि शब्द के परिवर्तित हो जाने पर व्यंजना वाचक शब्द पर तथा लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना लाक्षणिक शब्द पर अवलम्बित रहती है। किन्तु आर्थी व्यंजना केवल अर्थ की विशिष्टता के कारण सम्भव हुआ करती है।"

काव्य के अर्थ तीन प्रकार के होते हैं—वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ। इसलिए आर्थी व्यंजना वाच्यार्थ या व्यंग्यार्थ पर निर्भर रहती है। वाच्यार्थ पर आश्रित आर्थी व्यंजना को 'वाच्यसम्भवा', लक्ष्यार्थ पर आश्रित व्यंजना को 'लक्ष्यसम्भवा' तथा व्यंग्यार्थ पर आश्रित व्यंजना को 'व्यंग्यसम्भवा' कहते हैं।

आचार्य मम्मट एवं विश्वनाथ ने अर्थ वैशिष्ट्य के निम्न प्रकारों का निर्देश किया है—जब वक्ता, बोद्धव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्यसन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल, चेष्टा, आदि की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ का बोध होता है, तब वह आर्थी व्यंजना कहलाती है।[1]

वक्तृवैशिष्ट्य—वक्ता के वैशिष्ट्य के कारण जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, वहाँ वक्तृवैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना होती है—जैसे—

पति देवता सुतिय महँ मातु प्रथम तव रेख।
महिमा अमित न कहि सकहिं सहस सारदा सेस। (रामचरितमानस)

१. का० प्र० २।२१-२२।
सा० द० २।१६-१७॥

वक्तृबोधव्य वाक्यानामन्यसन्निधि वाच्ययोः
प्रस्ताव देशकालानां काकोश्चेष्टादिकस्य च।
वैशिष्टयादन्यमंर्थ बोधयेतूनार्थ सम्भवा॥

इस उदाहरण में राम को पतिरूप में वरण कर सीता पार्वती से प्रार्थना कर रही हैं। वाच्यार्थ द्वारा यहाँ यह व्यंजित है कि जब पार्वती इतनी महान हैं तो सीता जी की मनोकामना अवश्य पूर्ण करेंगी। इस उदाहरण में वाच्यार्थ द्वारा व्यंजना हो रही है अतः इसे वाच्यसम्भवा कह सकते हैं। [आर्थी व्यंजना के लक्ष्यसम्भवा, व्यंग्य-सम्भवा आदि भेद भी होते हैं किन्तु विस्तार भय से उनके उदाहरण यहाँ देना सम्भव नहीं है।]

बोद्धव्य वैशिष्ट्य—जहाँ श्रोता की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, उसे बोद्धव्यवैशिष्ट्यसम्भवा आर्थी व्यंजना कहते हैं। जैसे—

घर न कन्त हेमन्त रितु, राति जागती जाति।
दनकि द्यौस सोवन लगी, भली नहीं यह बात॥

इस दोहे में सखी नायिका से कह रही है कि तुम्हारा पति आजकल घर पर नहीं है और एक तुम हो कि रात्रि जागरण करती हो और दिन में छिपकर सोती हो। यह बात अच्छी नहीं है। यह इस दोहे का वाच्यार्थ है किंतु इससे यह व्यंग्यार्थ निकलता है कि तुम उपपति के साथ रात्रि में रमण करती हो। यह व्यंग्यार्थ श्रोताजन्य है, वही इसके मर्म को समझ सकती है।

काकुवैशिष्ट्य—जहाँ काकु अथवा कंठध्वनि की विशेषता के कारण वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है वहाँ काकुवैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना होती है। जैसे —

दृग लखि हैं मधुचन्द्रिका, सुनि कल धुँनि कान।
रहि हैं मेरे प्रान तन, पीतम करौ पयाँन॥

(भिखारीदास : काव्यनिर्णय)

इस उदाहरण में नायिका जाने को तो कह रही है किन्तु कंठध्वनि से यह भी व्यंजित है कि आपके परदेश जाने से मेरे शरीर में प्राण नहीं रहेंगे। व्यंग्य यह है कि आप विदेश न जाइये अन्यथा आपके बिना जीवित नहीं रहूँगी।

वाक्य वैशिष्ट्य—जहाँ वाक्य की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ का बोध होता है वहाँ वाक्यवैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना होती है। जैसे—

आपु दियौ मन फेरि लै, पलटै दीन्ही पीठि।
कौन चाल यह रावरी, लाल लुकावत दीठि॥ (बिहारी : २६०)

इस दोहे में नायिका नायक से कह रही है, कि आपने पहले जो मन दिया था, उसके बदले में आजकल पीठ दे रहे हैं। यह कौन सी रीति है। व्यंग्यार्थ यह है कि अब आप किसी अन्य स्त्री पर आसक्त हैं, आपका मेरे प्रति जो स्नेह-अनुराग था, वह समाप्त हो गया।

अन्यसन्निधि-वैशिष्ट्य—जहाँ वक्ता तथा श्रोता के अतिरिक्त दूसरे व्यक्ति के संसर्ग के कारण व्यंग्यार्थ ज्ञात होता है, वहाँ अन्य सन्निधि वैशिष्ट्य व्यंग्यार्थ होता है। जैसे—

मधुकर समुझि कही किन बात।
पर मद पिये मत्त न हूजियत, काहे कौं इतरात।
बीच जो परै सत्य सो भाखे, बोले सत्य सरूप।
मुख देखे को न्याउ न कीजै, कहाँ रक कहँ भूप।। (सूरदास)

सूरदास का भ्रमरगीत प्रसंग अन्यसन्निधि वैशिष्ट्य व्यंग्यार्थ का सुन्दर उदाहरण है। इस पद में भ्रमर से कही हुई बातें एक ओर भ्रमर पर घटती हैं तो दूसरी ओर उद्धव पर अच्छी चोट भी करती हैं।

वाच्यवैशिष्ट्य—जहाँ वाच्य की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो, वहाँ वाच्यवैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना होती है। जैसे—

सन सूक्यो बीत्यौ बन्यौ, ऊखो लई उखारि।
हरी-हरी अरहर अजौं, धरि धरहरि जिय नारि।। (बिहारी १३५)

इस दोहे में नायिका के दुःख का वर्णन है क्योंकि उसके रमग स्थान धीरे-धीरे समाप्त होते जा रहे हैं किन्तु नायिका की सखी उसको आश्वासन देते हुए कहती है कि अभी हरी-हरी अरहर खड़ी हुई है जहाँ रति-क्रीड़ा निर्विघ्न चल सकती है। हरी अरहर में शीघ्र ही कोई देख भी नहीं सकेगा। यही इस दोहे का व्यंग्यार्थ है।

प्रस्ताव वैशिष्ट्य—जहाँ विशेष प्रकरण या प्रसंग के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो, वहाँ प्रस्ताव वैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना होती है। जैसे—

तात प्रताप प्रभाउ तुम्हारा, को कहि सकइ को जाननि हारा।
अनुचित उचित काजु कछु होऊ, समुझि करिय भल कह सब कोऊ।
सहसा करि पीछे पछिताहीं कहहि बेद बुध ते बुध नाहीं।

यहाँ राम लक्ष्मण से कह रहे हैं, तथा राम का आशय यह है कि भरत के प्रति तुम्हारी शंका व्यर्थ है। यही इसका व्यंग्यार्थ है।

देशवैशिष्ट्य—देश अथवा स्थान की विशेषता के कारण जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो, वहाँ देश वैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना होती है। जैसे—

घाम घरीक निवारियै, कलित ललित अलि-पुंज।
जमुना-तीर तमाल-तरु-तिमिल मीलती कुंज।। (बिहारी १२७)

इस दोहे में स्थान को शीतलता, निर्जनता और मिलन के उपयुक्त स्थान आदि की व्यंजनाएँ हैं जो कि स्थानजन्य हैं अतः देशवैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना है।

कालवैशिष्ट्य—जहाँ काल या समय की विशेषता के कारण व्यंग्य का बोध हो, वहाँ कालवैशिष्ट्य-जन्य आर्थी व्यंजना होती है। जैसे—

छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधवी गंध।
ठौर-ठौर झूमत झपत, भौंर झौंर मधु अंध।। (बिहारी ४९६)

इस दोहे में यह व्यंग्यार्थ है कि मानिनी नायिका का मान मधुर वसन्त ऋतु में नहीं रह सकता है। यह ऋतु (काल) प्रिय से आनन्द लेने की ऋतु है।

चेष्टावैशिष्ट्य—यहाँ चेष्टा या हाव-भाव के द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती

है, वहाँ चेष्टावैशिष्ट्य जन्य आर्थी व्यंजना होती है। जैसे—

डिगत पानि, डिगुलात गिरि, लखि सब ब्रज बेहाल।
कंप किसोरी दरस के, खरे लजाने लाल॥ (बिहारी ६०१)

इस दोहे में श्रीकृष्ण के कम्प और लज्जा के कारण राधा के प्रति उसका प्रेम व्यंजित हो रहा है।

आर्थी व्यंजना में शब्द का सहयोग सदैव रहता है। इस सम्बन्ध में आचार्य मम्मट ने लिखा है कि 'आर्थी व्यंजना में व्यंग्य रूप अन्य अर्थ का बोध किसी विशेष शब्द के द्वारा होता है। शब्द प्रमाण के द्वारा गम्य अर्थ ही (जाना हुआ) व्यंजना के द्वारा अर्थान्तर का बोध कराता है। अतः अर्थ की व्यंजकता में शब्द की सहकारिता भी रहती है।"[1] आचार्य विश्वनाथ भी व्यंजना में शब्द और अर्थ की सहकारिता स्वीकार करते हैं।[2]

व्यंजना का महत्व—व्यंजना नामक शब्द-शक्ति काव्य में सरसता प्रभविष्णुता एवं चमत्कार की दृष्टि से अन्य शब्द की शक्तियों से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

सहृदय रसिक जनों के लिए सीधी-सादी उक्ति कोई महत्व नहीं रखती, वह तो सामान्य अर्थ व्यक्त कर लुप्त हो जाती है। जबकि व्यंजना का प्रयोग प्रभावशाली सिद्ध होता है। सहृदय-समाज में कटु बात भी चीनी में लिपटी कुनेन की गोली की तरह प्रभावशाली सिद्ध होती है। किन्तु उसका ऊपरी आवरण मीठा और सहज ही होता है।

व्यंजना शब्द-शक्ति न तो केवल अभिधा की तरह शब्द में सीमित है और न लक्षणा की तरह अर्थ में सीमित है अपितु यह शब्द और अर्थ दोनों में रहती है। अन्य महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि व्यंजना शब्द-शक्ति के कारण ही काव्य अधिक मार्मिक, सरस और ग्राह्य बन गया है।

प्रश्न २७.—मीमांसकों द्वारा प्रतिपादित 'तात्पर्या' नामक शब्दशक्ति (वृत्ति) का विवेचन कीजिए।

तात्पर्यावृत्ति—वाचक, लक्षक तथा व्यंजक शब्दों के वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ तीन अर्थ होते हैं। मीमांसकों के एक वर्ग ने अभिधा, लक्षणा, एवं व्यंजना के अतिरिक्त 'तात्पर्या' नामक वृत्ति भी स्वीकार की है। मम्मट ने लिखा है—**'तात्पर्यो-ऽर्थोऽपि केषुचित्'** उस वर्ग का कहना है कि ये शब्दशक्तियाँ शब्द के अर्थ का द्योतन करती हैं, अतः समस्त वाक्य के अर्थ की प्रतीति इन अभिधा, लक्षणा आदि शब्द-शक्तियों से सम्भव नहीं है, अतः सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ के ज्ञान के लिए एक अन्य शक्ति की कल्पना नितान्त आवश्यक है क्योंकि पृथक्-पृथक् शब्दों के स्वतन्त्र अर्थ के अतिरिक्त आकांक्षा, योग्यता, और आसक्ति के सहयोग सूत्र में बँधे हुए अन्वित शब्दों से निर्मित

१. काव्य प्रकाश ३।२३।
२. साहित्य दर्पण २।१८।

सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ भी होता है जिसे वाक्यार्थ कहते हैं—

"आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधिवशाद्वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीत्यभिहितान्वयवादिनां मतम्। वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधान वादिनः।"[1]

इस वाक्यार्थ का बोध अभिधा, लक्षणा आदि शब्दशक्तियों से सम्भव नहीं है। इस अर्थ का बोध मीमांसकों के अनुसार 'तात्पर्या-शक्ति' से होता है; यह तात्पर्यार्थ अभिधावृत्ति गम्य नहीं हैं अपितु अभिधावृत्ति के द्वारा प्रकट किये गये अर्थ को अन्वित कर एक विशेष प्रकार के अर्थ को व्यक्त करती है। इस अर्थ में वाच्यार्थ का योग न होकर विलक्षण प्रकार का वाक्यार्थ होता है। प्रत्येक वाक्य आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि के सहयोग से अपना अर्थ व्यक्त करता है। अतः वाक्य के स्वरूप को समझना आवश्यक है। विश्वनाथ के अनुसार योग्यता, आकांक्षा तथा आसत्ति से युक्त पद-समूह का नाम वाक्य है—

'वाक्यं स्याद्योग्यताकांक्षासत्तियुक्त : पदोच्चय।'[2]

योग्यता—'एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में बाधा का न होना ही योग्यता है; जैसा कि विश्वनाथ ने लिखा है—**योग्यतापदार्थानां परस्परसम्बन्धे बाधाभावः।**"[3] उदाहरण के लिए वह पानी से सिंचन करता है। इस वाक्य में योग्यता विद्यमान है क्योंकि पानी का धर्म सींचना है किन्तु यदि हम कहें—'अग्नि से सींचता है' इस वाक्य में योग्यता का अभाव है; क्योंकि आग की योग्यता सींचने में न होकर जलाने में है।

आकांक्षा—आकांक्षा का शाब्दिक अर्थ है जिज्ञासा। वाक्य के अर्थ को पूर्ण करने के लिए किसी दूसरे पद की चाह का होना आकांक्षा है; जैसे—'जले से' इस शब्द के सुनने के बाद आकांक्षा होती है क्या....। इस प्रकार 'सींचता है' यह सुनने के बाद आकांक्षा होती है कौन, किसे ? और यदि यही शब्द इस रूप में हो—'जल से सींचता है' 'जल से मुख धोता है'। तो कहा जायेगा कि यह वाक्य पूर्ण है, अर्थ व्यक्त करने में समर्थ है। अतः कह सकते हैं कि—"किसी ज्ञान की समाप्ति या पूर्ति का न होना आकांक्षा है—अकांक्षा प्रतीतिपर्यवसानविरहः। स च श्रोतुर्जिज्ञासा रूपः।"[4]

आसत्ति—"प्रकृतोपयोगी पदार्थों की उपस्थिति के अविच्छेद अर्थात् अव्यवधान को आसत्ति कहते हैं—"**आसत्तिर्बुद्ध्यविच्छेद।**"[5] यह व्यवधान दो प्रकार का होता है—एक काल कृत, दूसरा अनुपयुक्त शब्द के प्रयोग से; जैसे एक शब्द के कहने

१. काव्य प्रकाश, २।६ की वृत्ति।
२. साहित्यदर्पण २।१।
३. सा० द० २।१ की वृत्ति।
४. वही २।१ की वृत्ति।
५. वही २।१ की वृत्ति।

के बाद दूसरे शब्द के मध्य अधिक समय का होना तथा असंगत शब्दों का एक स्थान पर आ जाना 'राम जाता घंटा पर्वत' इस शब्द का कोई अर्थ नहीं है क्योंकि शब्दों में आसक्ति का अभाव है। एक सार्थक वाक्य के शब्द-समूह में पारस्परिक सम्बन्ध आवश्यक है, अतः आकांक्षा योग्यता और आसत्तियुक्त पदसमूह ही वाक्य है। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने तात्पर्यावृत्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—"निष्कर्ष यह कि 'वाक्य' में योग्यता, आकांक्षा, और सन्निधि (आसत्ति) का होना आवश्यक है। वाक्य अनेक पदों से युक्त होता है। वाक्य में जो पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र पद होते हैं, उनके पृथक्-पृथक् अर्थ का बोध कराना, अर्थात् सम्बन्ध-रहित पदों का अर्थ बतलाना, अभिधा का कार्य है। उनके बिखरे हुए पदों के अर्थों का परस्पर—एक को दूसरे के साथ—जोड़कर जो वाक्य बनता है, उस वाक्य के अर्थ का जो शक्ति बोध कराती है उसे 'तात्पर्याख्या वृत्ति' कहते हैं। इस वृत्ति का प्रतिपाद्य अर्थ '**तात्पर्यार्थ**' कहा जाता है। इस वृत्ति का बोधक वाक्य होता है।"

अध्याय ३

अलंकार

प्रश्न २८. काव्य में अलंकारों का स्थान निर्धारित कीजिए, और यह भी स्पष्ट कीजिए कि क्या वे काव्य के अनिवार्य तत्व हैं ?

अलंकारों की पृष्ठभूमि—मानवसमाज सौंदर्योपासक है, उसकी इस प्रवृत्ति ने ही अलंकारों को जन्म दिया है। शरीर की सुन्दरता को बढ़ाने के लिए जिस प्रकार मनुष्य ने भिन्न-भिन्न प्रकार के आभूषणों का प्रयोग किया, उसी प्रकार उसने भाषा को सुन्दर बनाने के लिए अलंकारों की योजना की। अपनी बात को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए चमत्कार अथवा रमणीयता का आश्रय लेना पड़ता है, उसी प्रकार काव्य को सुन्दर एवं प्रभावपूर्ण बनाने के लिए चमत्कार अथवा रमणीयता का आश्रय लेना पड़ता है, यही रमणीयता अथवा चमत्कार काव्य में 'अलंकार' कहलाता है।

अलंकार हमारी आत्मप्रदर्शन तथा आत्माभिव्यक्ति की प्रवृत्ति के परिणाम हैं, हमारी यह प्रवृत्ति पुरातन है। वास्तव मे यह कहना अधिक उपर्युक्त होगा कि इस प्रवृत्ति का उदय मानव जन्म के साथ ही हुआ है। क्योंकि मानव-हृदय में भाव तथा मनोवेग उत्पन्न होते हैं, और उनको अभिव्यक्त करने के लिए वाणी निरन्तर सचेष्ट रहती है। भावाभिव्यंजन के लिए, अपने कथ्य को अधिक आकर्षक और चमत्कारी बनाने के लिए हम वाणी को अलंकार धारण कराते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अलंकार मनुष्य के मनोवेगों को चमत्कारी—रूप में प्रकट करने का एक साधन

है—the more emotions grow upon a man, the more his speech abounds a figure. Feelings swamp ideas and language is used to express not reality of things but the state of one's emotions.

इस प्रकार सिद्ध यह होता है कि "अलंकार वाणी के विभूषण हैं। इसके द्वारा अभिव्यक्ति में स्पष्टता, भावों में प्रभविष्णुता और प्रेषणीयता तथा भाषा में सौंदर्य का सम्पादन होता है। स्पष्टता और प्रभावोत्पादन के हेतु वाणी अलंकार का रूप धारण करती है। इसलिए काव्य में इनका महत्वपूर्ण स्थान हैं।" वाणी को अलंकृत करना ही अलंकारों का ध्येय है। ये काव्य के सौंदर्य के वर्द्धक तथा चमत्कृति को आकर्षक बनाते हैं। काव्य में अलंकारों का वही स्थान है जो शरीर के लिए लौकिक आभूषणों का। जिस प्रकार आभूषण साक्षात् सम्बन्ध से शरीर की शोभा वृद्धि करते हैं और साथ ही साथ आत्मा को भी प्रफुल्लित करते हैं, वैसे ही काव्य के अलंकार भी साक्षात् सम्बन्ध से काव्य के शरीर शब्द और अर्थ को अलंकृत करते हैं तथा परम्परा सम्बन्ध से काव्य की आत्मा को पुष्ट करते हैं।

अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति एवं लक्षण—अलंकार शब्द की रचना 'अलं' तथा 'कृ' धातु से हुई है, इस अलंकार शब्द का अर्थ है—'सजावट'। अलंकार शब्द में 'अलं' और 'कार' दो शब्द हैं। अलं का अर्थ है भूषण अर्थात् जो अलंकृत करे वह अलंकार है—**'अलंकरोतीति अलंकारः। अथवा अलंक्रियते अनेनेत्यलंकारः'** जिसके द्वारा किसी की शोभा होती है, वह अलंकार है। प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार अलंकार-कर्त्ता या विधायक हैं। द्वितीय के अनुसार वे साधन मात्र हैं। अलंकार के सर्वसम्मत अर्थ की दृष्टि से द्वितीय व्युत्पत्ति अधिक संगत है, जिसके अनुसार अलंकार काव्य की शोभा का साधन मात्र है।

दण्डी ने काव्य शोभा के विधायक रूप में अलंकारों को महत्व दिया है—'काव्य शोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते' यहाँ अलंकार (१) काव्य के समग्र सौन्दर्य के रूप में तथा (२) इसी सौन्दर्य के उपकरण के रूप में ग्रहण किया गया है। आचार्य वामन ने अलंकार को सौन्दर्य का पर्यायवाची माना है। उनका कथन है—काव्यं ग्रह्य-मलंकारात्। **"सौन्दर्यमलंकारः"** उनका स्पष्ट आशय यह है कि अलंकार गुणों का उत्कर्ष करते हैं, सौन्दर्य को बढ़ाते हैं। स्वयं काव्य के साध्य न होकर वे साधन हैं। आचार्य भामह के अनुसार 'शब्द और अर्थ का वैचित्र्य ही अलंकार हैं'—वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टावाचामलंकृतिः अर्थात् लोकोत्तर चमत्कार के उत्पादक शब्द और अर्थ के वक्रत्व अथवा वैचित्र्य को विशिष्ट अलंकार कहते हैं।

काव्य में अलंकारों का स्थान—आचार्यों की अलंकार-विषयक मान्यतायें भिन्न-भिन्न हैं, परिणामस्वरूप परवर्ती काल में काव्यशास्त्रियों का एक पक्ष काव्य के लिए अलंकारों को अनिवार्य मानता है और दूसरा पक्ष गौण।

(१) ध्वनिवादी आनन्द ने अलंकारवादियों के अलकार के अंगित्व पर प्रहार करते हुए कहा कि 'अलंकारों का विधान रसादि के अंग रूप से होना चाहिए न कि

अङ्गि रूप में—'**विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन ।**' (ध्व० २।१)

आचार्य कुन्तक ने 'सालंकारस्य काव्यता' का प्रतिपादन कर अलंकार को काव्य का अविभाज्य अंग माना है ।

आचार्य मम्मट रसवादी आचार्य हैं, वे अलंकारों का उद्देश्य रस को पुष्ट करना मानते हैं । तदनुसार उनका अलंकार का लक्षण इस प्रकार है—

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ (का० प्र० ८।६७)

अलंकार हार आदि आभूषणों के समान हैं और वे रस के उपकारक हैं । यही नहीं, मम्मट ने अपने काव्य के लक्षण में 'अनलंकृती पुनः क्वापि' लिखकर काव्य में अलंकारों की अनिवार्य उपयोगिता के आग्रह को समाप्त कर दिया था ।

किन्तु अलंकारवादी आचार्य पीयूषवर्षी जयदेव ने मम्मट की इस मान्यता का उपहासात्मक विरोध करते हुए लिखा है कि 'जो काव्य को अलंकार रहित मानता है, तो अपने को पण्डित मानने वाला वह व्यक्ति अग्नि को उष्णतारहित क्यों नहीं मानता'—

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती । (चन्द्रालोक १।८)

भामह भी अलंकारवादी हैं, उनका मत यह है कि आभूषण से रहित सुन्दरी का मुख अपने प्रिय को अच्छा नहीं लगता है—

"न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्"

इसी स्वर में स्वर मिलाते हुए परवर्ती रीतिकालीन आचार्य केशवदास ने लिखा है—

जदपि सुजाति सुलक्षणी सुवरन सरस सुवृत्त ।
भूषण बिन न विराजई कविता वनिता मित्त ॥

किन्तु ध्वनि सिद्धान्त की पूर्ण प्रतिष्ठा होने पर काव्य में अलंकारों की सत्ता नितान्त आवश्यक अथवा अपरिहार्य नहीं रही । आचार्य विश्वनाथ ने मम्मट और आनन्दवर्धन से प्रेरणा प्राप्त कर अलंकार का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—'अलंकार शब्द और अर्थ का अस्थिर धर्म है; वे अलंकारों को केयूर की भाँति शोभा-वर्द्धन तथा रस रूप आत्मा का उपकारक मानते हैं'—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत् । (सा० द० १०।१)

आचार्य विश्वनाथ के इस मन्तव्य का संक्षिप्त आशय यह है कि (१) **अलंकार काव्य के अनिवार्य गुण नहीं हैं । वे अस्थायी धर्म हैं ।** (२) **काव्यशोभा अलंकार पर निर्भर नहीं है, वह शोभा का कर्त्ता न होकर शोभा की वृद्धि ही करता है ।** (३) **काव्य का सौन्दर्य है रस । अलंकार का गौरव उसी का उपकार करने में है ।** इन मान्यताओं की स्थापना ध्वनिवादी आचार्यों ने की । इन आचार्यों ने आत्मस्थानीय

ध्वनि को केन्द्र-विन्दु मानकर गुण, रीति और अलंकार आदि पर भी विचार किया था। तदनुसार "बाह्य प्रसाधन कटक-कुण्डल आदि की तरह शब्दार्थ रूप काव्य-शरीर के शोभातिशायी रूप में अलंकारों को मान्यता दी। पूर्व-ध्वनि-काल में अलंकार शोभा-कारक था, अब वह शोभावर्द्धक माना गया। पूर्व में गुण भी अलंकार के सामान्य रूप में परिगृहीत था, पर अब वह अंगी रसादि का आश्रित होकर स्वतन्त्र तथा अलंकार से प्रधान हो गया और अलंकार अंगाश्रित होने से अप्रधान माना गया। अलंकार का महत्व, जो पूर्व में अपने आप में था, अस्वीकृत हो गया और ध्वनिकाल में रसादि के उत्कर्षक होने में ही उसका महत्व माना गया।'[1] परवर्ती-काल में राजशेखर, हेमचन्द्र, विद्याधर, विद्यानाथ, रुद्रभट्ट, द्वितीय वाग्भट्ट, विश्वनाथ, भानुदत्त मिश्र, केवल मिश्र, अप्पय दीक्षित, जगन्नाथ, विश्वेश्वर, अच्युतराय आदि आचार्यों ने आनन्दवर्धन और मम्मट की मान्यता का पूर्णतः अनुकरण किया है।

हिन्दी के अधिकांश आचार्यों ने इस विषय में संस्कृत के आचार्यों का पूर्णतः अनुकरण किया है। आचार्य केशव अलंकारहीन कविता के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं। यही नहीं, वे न तो वामन के समान काव्य की प्रतिष्ठा अलंकार पर मानते हैं और न अलंकारहीन कविता को निष्प्राण ही मानते हैं। उन्हें तो कभी-कभी बाह्य श्रृंगार सौन्दर्य का अपकर्षक प्रतीत होता है—

काहे को सिंगार कै बिगारति है मेरी आली।
तेरे अंग बिना ही सिंगार के सिंगार हैं॥ (कविप्रिया १।१२)

देव अलंकृत काव्य को उत्कृष्ट मानते हुए कहते हैं—

कविता कामिनी सुखद पद, सुबरन सरस सुजाति।
अलंकार पहिरे अधिक अद्‌भुत रूप लखाति॥ (काव्य रसायन)

अर्थ के अभाव में काव्य मृतक के समान है। '**मृतक काव्य बिनु अर्थ को**।' दूलह के मत में '**बिन भूषन नहिं भूषइ कविता**' तथा अलंकृत काव्य का कर्त्ता कवि लोकप्रियता प्राप्त करता है। भिखारीदास के अनुसार '**भूषन है भूषन सकल**' अर्थात् अलंकार काव्य सौन्दर्य का एक मात्र भूषण है। श्रीपति के मतानुसार—

जदपि दोष बिनु गुन सहित, सब तन परम अनूप।
तदपि न भूषन बिनु लसैं, बनिता कविता रूप॥

आधुनिक आचार्यों में रामचन्द्र शुक्ल ने अलंकार को कथन की रोचक, सुष्ठु और प्रभावपूर्ण प्रणाली माना है '**मैं अलंकार को केवल वर्णन प्रणाली** मात्र समझता हूँ, जिसके अन्तर्गत चाहे किसी **वस्तु का वर्णन किया जा सकता है**, अन्यत्र एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि—**अलंकार है क्या? वर्णन करने की अनेक प्रकार की**

१. ध्वन्यालोक २।१६।

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्य-क्रियो भवेत्।
अपृथग्-यत्न-निर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः॥

चमत्कारपूर्ण शैलियाँ, जिन्हें काव्यों से चुनकर प्राचीन आचार्यों ने नाम रखे हैं और लक्षण बनाये। ये शैलियाँ न जाने कितनी हो सकती हैं, अतः नहीं कहा जा सकता कि जितने अलंकारों के नाम ग्रन्थों में मिलते हैं उतने ही अलंकार हो सकते हैं।....भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति अलंकार है।

सुमित्रानन्दन पंत पल्लव की भूमिका में अलंकार के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि "अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभि-व्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की पूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं, वे वाणी के आचार-व्यवहार, रीति-नीति हैं, पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं, वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव हैं। जहाँ भाषा की जाली केवल अलंकारों के चौखटे में फिट करने के लिए बुनी जाती है, वहाँ भावों की उदारता शब्दों की कृपण जड़ता में बँधकर सेनापति के दाता और सूम की तरह 'इकसार' हो जाती है।" पंतजी ने आगे भी लिखा है कि अलंकारों की आयोजना भावभिव्यक्ति के लिए ही होनी चाहिए एवं प्रत्येक अलंकार को अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखने का प्रयास न करना चाहिए। अलंकार साधन ही हैं, साध्य नहीं। यदि वे अभीप्सित स्थान में पहुँचने के मार्ग न रहकर स्वयं अभी-प्सित स्थान अभीप्सित विषय बन जाते हैं तो "काव्य के साम्राज्य में अराजकता पैदा हो जाती है, कविता साम्राज्ञी हृदय के सिहासन से उतार दी जाती है और उपमा, अनुप्रास, यमक, रूपक आदि उसके अमात्य, सचिव, शरीररक्षक तथा राजकर्मचारी, शब्दों की छोटी-मोटी सेनाएँ संगृहीत कर स्वयं शासक बनने की चेष्टा में विद्रोह खड़ा कर देते हैं और साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।"

अलंकार **शब्दान्तर से उक्ति-चमत्कार का नाम है**। यहीं यह प्रश्न स्वभावतः उत्पन्न होता है कि क्या प्रत्येक उक्ति-चमत्कार काव्य है? क्या काव्य में उक्ति-चमत्कार अनिवार्य है?

"अलंकार सम्प्रदाय के आचार्य प्रथम प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में देते हैं और रस-वादी आचार्य 'नहीं' में। अलंकार सम्प्रदाय के अनुसार प्रत्येक चमत्कारपूर्ण उक्ति काव्य पद की अधिकारिणी है और प्रत्येक काव्योक्ति में चमत्कार अनिवार्यतः विद्यमान रहता है। किन्तु रसवादी आचार्यों की मान्यता इससे भिन्न है। उनका कहना है कि न तो प्रत्येक चमत्कृत उक्ति ही काव्य हो सकती है और न प्रत्येक काव्योक्ति में ही चमत्कार अनिवार्यतः वर्तमान रहता है। आधुनिक युग में रसवादी आचार्यों में आचार्य शुक्ल ने उक्ति-चमत्कार अथवा सूक्ति को काव्य पद तो दिया ही नहीं है अपितु उसकी निन्दा भी की है, उनका स्पष्ट मत है कि "भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप-गुण और क्रिया को अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली उक्ति अलंकार है।" शुक्लजी का 'कभी-कभी' कहना अलंकार को काव्य में वैकल्पिक सिद्ध करता है। लगभग यही स्वर मम्मट के '**अनलंकृति पुनः क्वापि**' का था। आशय

स्पष्ट है कि रसवादी आचार्य न तो रसानुभूति से शून्य कोरे अलंकार को काव्य मानते हैं और न उनकी स्थिति ही काव्य में अनिवार्य मानते हैं।

आधुनिक युग के समर्थ आलोचक डा० नगेन्द्र का भी लगभग यही मत है। वे भी कोरे उक्ति-चमत्कार को काव्य नहीं मानते हैं "......वही चमत्कारपूर्ण उक्ति काव्य हो सकती है, जिसका चमत्कार भाव की रमणीयता कोमलता, सूक्ष्मता अथवा तीव्रता के आश्रित हो। ऐसी उक्ति जिसका चमत्कार बौद्धिक ग्रन्थियों के सुलझाने से संबंध रखता है या केवल कल्पना-विधान के आश्रित है, काव्यपद की अधिकारिणी कभी नहीं हो सकती। यही कारण है कि चित्र काव्य अथवा प्रहेलिका आदि को जिनमें भाव की रमणीयता का सर्वथा अभाव रहता है, प्राचीन आचार्यों ने भी काव्य की कोटि से बहिष्कृत कर दिया है। अतएव यह तो स्पष्ट है कि जहाँ चमत्कार भाव के आश्रित न होकर कोरे बौद्धिक विधान के आश्रित रहता है अर्थात् श्रोता के मन में हल्की-से-हल्की भी भाव-तरंग उत्पन्न नहीं करता, वहाँ हमारे हृदय में लेखक के बुद्धि-विधान के प्रति आश्चर्य और विस्मय की भावना तो जग सकती है, इसके अतिरिक्त किसी गूढ़ समस्या के सुलझ जाने से या बौद्धिक ग्रन्थि के खुल जाने से जो एक प्रकार का बौद्धिक आनन्द मिलता है, उसका भी अनुभव हो सकता है, परन्तु काव्यानुभूति संभव नहीं है। सभी प्रकार का चमत्कार काव्यानन्द नहीं दे सकता, जिसमें भाव का योग नहीं, जो बौद्धिक विधान मात्र है, वह बौद्धिक आनन्द ही होगा, इसमें ऐन्द्रियता का रस नहीं होगा।"[1]

किन्तु हमारा विचार यह है कि अलंकार काव्य-सौन्दर्य का उत्कर्ष भी करते हैं, कभी-कभी उक्ति-चमत्कार भी हृदय को काव्य का आनन्द प्रदान करती है रसवादी आचार्यों के मत से भी अलंकार शब्द अर्थ का, रस भाव का और वर्ण्य-विषय का उपकार करते हैं। "वास्तव में भाव की रमणीयता, कोमलता, सूक्ष्मता सर्वथा साधारण शब्दों द्वारा बिना किसी प्रकार की वक्रता के व्यक्त की जा सके यह सम्भव नहीं। अतः काव्य में उक्ति-चमत्कार का महत्व भी स्वीकार्य है।" अतः यदि हम यह कहें कि अलंकार काव्य का न केवल बाह्य-तत्व है और न ही पूर्ण अस्तित्वसम्पन्न अंतरंग तत्व। अपितु वह बाह्य एवं अन्तर का एक ऐसा संश्लिष्ट तत्व है, जिसका काव्य में महत्वपूर्ण स्थान है, तो अधिक समीचीन होगा। सम्भवतः इसलिए भोजराज ने अलंकारों की शारीरिक आभूषणों से तुलना करते हुए उन्हें तीन प्रकार का माना है—बाह्य, आभ्यन्तर और बाह्याभ्यन्तर "अलंकाराश्च त्रिधा—बाह्याः, आभ्यन्तराः बाह्याभ्यन्तराश्च। तेषु बाह्याः वस्त्रमाल्य-विभूषणादयः। आभ्यन्तराः दन्तपरिकर्म नखच्छेद अलककल्पनादयः। बाह्याभ्यन्तराः—स्नान, धूप, विलेपनादयः।

अलंकारों के सम्बन्ध में एक प्रश्न यह भी है कि—रसानुभूति में अलंकार किस प्रकार योग देते हैं? इस प्रश्न पर विचार करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि "रस मन की वह अवस्था है जिसमें हमारी मनोवृत्तियाँ अन्वित हो जाती हैं। अतएव रसानु-

१. रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ८९।

भूति में अलंकार का योग है, इसका परीक्षण करने के लिए हमें यह देखना चाहिए कि अलंकार किस प्रकार हमारी वृत्तियों को अन्वित करने में सहायक होता है। वैसे तो सभी अलंकारों का मूलाधार अतिशय है, जो हमारी वृत्तियों को उद्दीप्त करता हुआ बाद में उन्हें पूर्ण अन्विति के लिए तैयार कर देता है।.....सारांश यह है कि अलंकार अतिशय के चमत्कार द्वारा किसी-न-किसी प्रकार हमारी वृत्तियों को उद्दीप्त करके उन पर धार रखकर तीव्रतर बना देते हैं। ये उद्दीप्त वृत्तियाँ जब अन्वित होती हैं तब स्वभावतः ही इनकी अन्विति में अपेक्षाकृत गहराई आ जाती है—और उसकी सहायता से हमारी रस की अनुभूति में भी तीव्रता एवं गहराई आ जाती है। इसी रूप में अलंकार रसानुभूति में योग देते हैं।[1] इस प्रकार हमारा विचार यह है कि काव्य में अलंकारों का महत्वपूर्ण स्थान है, अलंकार काव्य की शोभा-वृद्धि करते हैं किन्तु वे काव्य की आत्मा का पद नहीं ले सकते हैं, वे काव्य के आत्म-तत्व के सहायक है, वे अभिव्यक्ति-पक्ष के प्रतिनिधि हैं, अतः उनका काव्य में निर्विवाद महत्व है। किन्तु उनका यह महत्व रस-ध्वनि, गुण, रीति और औचित्य के अनन्तर है। वे काव्य के साध्य न होकर साधन मात्र हैं, इसी रूप में उनका महत्व है।

प्रश्न २६—अलंकारों का एक तर्कसम्मत वर्गीकरण प्रस्तुत कीजिए।

अलंकारों के वर्गीकरण के इतिहास में रुद्रट का महत्वपूर्ण स्थान है। वे अलंकारों को वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष इन चार वर्गों में विभक्त करते हैं। किन्तु उनका यह वर्गीकरण तर्कमूलक न था, इसमें अनेक असंगतियाँ भी थीं, अतः मान्य न हो सका। रुद्रट की अपेक्षा रुय्यक के वर्गीकरण का अधिक सम्मान हुआ है, जिसका आगे हम निर्देश करेंगे।।

अलंकारों के भेद—शब्द और अर्थ को चमत्कृत करने वाले अलंकार तीन प्रकार के होते हैं। शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार।

१. **शब्दालंकार**—यह अलंकार अपना सौन्दर्य शब्दविशेष के चमत्कार के द्वारा दिखलाते हैं, शब्दविशेष के परिवर्तन से शब्दालंकार प्रभावित होते हैं। जैसे अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि।

२. **अर्थालंकार**—जो अलंकार काव्य में अर्थ के द्वारा चमत्कार उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार के अलंकारों में शब्दविशेष का पर्याय भी कभी-कभी ग्राह्य होता है जो कि अर्थ में किसी प्रकार का आघात उपस्थित न करे। जैसे उपमा आदि।

३. **उभयालंकार**—जो अलंकार शब्द और अर्थ दोनों के आश्रित रह कर दोनों को चमत्कृत करते हैं, वे उभयालंकार कहलाते हैं। इन अलंकारों को शब्दार्थालंकार अथवा मिश्रितालंकार भी कहते हैं।

वर्गीकरण—आचार्यों ने प्रत्येक अलंकार में उक्ति-वैचित्र्य की विभिन्नता होने पर भी कुछ अलंकारों के मूलभूत तथ्यों में साम्य देखा है। और उसी के आधार पर

१. रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ८६ तथा ६२।

अलंकारों का वर्गों में विभाजन किया है। इस विभाजन की रूपरेखा भामह, उद्भट, रुद्रट, रुय्यक, विद्याधर और विद्यानाथ आदि आचार्यों ने प्रस्तुत की है। उस विभाजन की संक्षिप्त रूपरेखा यह है—

काव्यशास्त्री उद्भट ने विषयानुसार अलंकारों के छः वर्ग माने हैं।

प्रथम वर्ग—आठ अलंकार—पुनरुक्तवदाभास, छेक, वृत्ति, लाट, अनुप्रास, दीपक, उपमा, प्रतिवस्तूपमा (चार शब्दालंकार एवं चार अर्थालंकार)

द्वितीय वर्ग—नौ अलंकार—आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति यथासंख्य, उत्प्रेक्षा स्वभावोक्ति।

तृतीय वर्ग—तीन अलंकार—यथासंख्य, उत्प्रेक्षा तथा स्वभावोक्ति।

चतुर्थ वर्ग—सात अलंकार—प्रेयस्वत्, रसवत्, उर्जस्वी, पर्यायोक्ति, समाहित, उदात्त, श्लिष्ट।

पंचम वर्ग—ग्यारह अलंकार—अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुत, प्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, संकर, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृति।

षष्ठ वर्ग—छः अलंकार—संदेह, अनन्वय, संसृष्टि, भाविक, काव्यलिंग।

आचार्य मल्लिनाथ ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य रुय्यक और विद्याधर के वर्गीकरण का अध्ययन कर एक तर्कसंगत एवं समन्वित वर्गीकरण इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

(१) सादृश्यमूलक अलंकार

(क) भेदाभेद प्रधान—उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय और स्मरण।

(ख) अभेद प्रधान—

(अ) आरोपमूलक—रूपक, परिमाण, संदेह, भ्रान्तिमान, उल्लेख, अपह्नुति।

(ब) अध्यवसायमूलक—उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति।

(२) औपम्यमूलक अलंकार

(क) पदार्थगत—तुल्ययोगिता तथा दीपक।

(ख) वाक्यार्थगत—प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और निदर्शना।

(ग) भेदप्रधान—व्यतिरेक, सहोक्ति तथा विनोक्ति।

(घ) विशेषण विच्छित्ति—परिकर, समासोक्ति।

(च) विशेषविच्छित्ति—परिकरांकुर।

(छ) विशेषण-विशेष्य विच्छित्ति—श्लेष।

(ज) अप्रस्तुत प्रशंसा—अर्थान्तरन्यास, पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति, आक्षेप।

(३) विरोध गर्भ मूलक अलंकार

विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, चित्र, असंगति और विषम।

(४) शृङ्खलामूलक अलंकार

कारणमाला, एकावली, काव्यलिंग तथा सार।

(५) न्यायमूलक अलंकार

(च) तर्कन्यायमूलक—काव्यलिंग, अनुमान।

(छ) वाक्यन्यायमूलक—यथासंख्य, पर्याय, विकल्प, अर्थापत्ति, समुच्चय।

(ज) लोकन्यायमूलक—प्रत्यनीक, प्रतीप, समाधि, सम, उदात्त।

(६) गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक अलंकार

सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, गूढ़ोक्ति, युक्ति, भाविक, तथा विवृतोक्ति।

विद्याधर के पश्चात् विद्यानाथ ने रुद्रट, रुय्यक और विद्याधर के वर्गीकरण का अध्ययन करते हुए अर्थालंकारों को चार वर्गों में विभक्त किया है। उन्हीं के सूक्ष्म रूप में नौ वर्ग स्वीकार किये गये हैं—प्रमुख वर्ग (१) प्रतीयवस्तुगत, (२) प्रतीयमानौपम्य, (३) प्रतीयमानरसभावादि, (४) अस्फुट प्रतीयमान।

अवान्तर विभाग—(१) साधर्म्यमूलक, भेद प्रधान, अभेद प्रधान, भेदाभेद प्रधान, (२) अध्यवसायमूलक, (३) विरोधमूलक, (४) वाक्यन्यायमूलक (५) लोकव्यवहारमूलक, (६) तर्कन्यायमूलक, (७) शृङ्खलावैचित्र्यमूलक, (८) अपह्नवमूलक, (९) विशेषणवैचित्र्यमूलक।

उपर्युक्त वर्गीकरण आत्यन्तिक रूप में तर्कपूर्ण होते हुए भी एकान्ततः स्वीकार नहीं हैं फिर भी अलंकारों के अध्ययन के लिये विशेष उपयोगी हैं और इनके विशिष्ट अध्ययन की अपेक्षा भी है।

प्रश्न ३०. अलंकारों के क्रमिक विकास का परिचय दीजिए।

विशृङ्खलित सूत्रों के आधार पर भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में अनेक ऐसे काव्यशास्त्री मिलते हैं, जिनके ग्रन्थरत्न आज उपलब्ध नहीं हैं। प्राप्त ग्रन्थों में भरत का नाट्यशास्त्र प्राचीनतम है। भरत के नाट्यशास्त्र में चार अलंकारों का नाम नामोल्लेख हुआ है, वे हैं—अनुप्रास, उपमा, रूपक, दीपक। इनमें अनुप्रास शब्दालंकार हैं, शेष अर्थालंकार हैं। इन्हीं अलंकारों से क्रमशः विकसित होते हुए अलंकारों की संख्या लगभग दो सौ हो गई है।

अलंकारों के विकास के युग को तीन भागों में विभक्त किया जाता है, उनके नाम हैं—पूर्वकाल, मध्यकाल, और उत्तरकाल। प्रथम शतक से लेकर अष्टम शतक का समय **पूर्वकाल** के अन्तर्गत आता है। अष्टम शतक के अन्त से लेकर द्वादश शतक का समय **मध्यकाल** के अन्तर्गत आता है। त्रयोदश शतक से लेकर सप्तदश शतक का समय **उत्तरकाल** में आता है।

पूर्वकाल—नाट्यशास्त्र में चार अलंकारों का उल्लेख मिलता है। यहीं से काव्य-शास्त्र की परम्परा का प्रवर्त्तन होता है। परवर्ती काव्य-शास्त्र के ग्रन्थों में अलंकारों की संख्या निरन्तर बढ़ती रही है। अग्निपुराण काव्यशास्त्र के तत्वों का विवेचन करने वाला एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें अलंकारों की संख्या सोलह मिलती है। भामह का 'काव्यालंकार' अड़तीस अलंकारों का विवेचन करता है। अग्निपुराण एवं भामह के मध्य का समय लगभग ५०० वर्षों का है। इस अन्तराल में अनेक आलंकारिक हुए हैं, जिनका उल्लेख हमें 'काव्यालंकार' में 'परे' 'अन्ये' 'केषुचित्' आदि के रूप में मिलता है। अतः हम कह सकते हैं कि इस युग में अनेक आलंकारिक हुए हैं,

इन सभी के सामूहिक प्रयासों के कारण अलंकारों की संख्या सोलह से बढ़कर अड़तीस हो गई है। 'रावणवध' नामक काव्य के प्रणेता भट्टी के काव्य में भी अलंकारों की संख्या अड़तीस ही है। भामह एवं भट्टी का समय षष्ठशतक है भामह के अनुसार काव्य का प्रधान तत्व अलंकार है। वे रस और भाव को स्वतन्त्र न मानकर रसवत्, ऊर्जस्वित् आदि अलंकारों में समाविष्ट करते हैं। भामह के अलंकार पूर्वपरम्परा से प्राप्त हैं। ये अलंकारों का मूल **'वक्रोक्ति'** में मानते हैं, जिसका आधार अतिशयोक्ति है। भामह द्वारा स्वीकृत अलंकार निम्न हैं—

(१) अतिशयोक्ति, (२) अनन्वय, (३) अनुप्रास, (४) अपह्नुति, (५) अप्रस्तुत-प्रशंसा, (६) अर्थान्तरन्यास, (७) आक्षेप (८) आशी, (९) उत्प्रेक्षा, (१०) उत्प्रेक्षावयव, (११) उदात्त, (१२) उपमा, (१३) उपमारूपक, (१४) उपमेयोपमा, (१५) ऊर्जस्वी, (१६) तुल्ययोगिता, (१७) दीपक, (१८) निदर्शना, (१९) पर्यायोक्त, (२०) परिवृति, (२१) प्रेयः, (२२) भाविक, (२३) यथासंख्य, (२४) यमक, (२५) रसवत्, (२६) रूपक, (२७) विभावना, (२८) विरोध, (२९) विशेषोक्ति, (३०) व्यक्तिरेक, (३१) व्याज-स्तुति, (३२) श्लेष, (३३) सन्देह, (३४) समासोक्ति, (३५) समाहित, (३६) संसृष्टि, (३७) सहोक्ति, (३८) स्वभावोक्ति। दण्डी ने इन अलंकारों में थोड़ा परिवर्तन कर पैंतीस अलंकार स्वीकार किये हैं, उनके नाम निम्न हैं—(१) स्वभावोक्ति, (२) उपमा, (३) रूपक, (४) दीपक, (५) आक्षेप, (६) आवृत्तिदीपक, (७) अर्थान्तरन्यास, (८) व्यतिरेक, (९) विभावना, (१०) समासोक्ति, (११) अतिशयोक्ति, (१२) उत्प्रेक्षा, (१३) हेतु, (१४) सूक्ष्म, (१५) लेश, (१६) यथासंख्य, (१७) प्रेयः, (१८) रसवत्, (१९) ऊर्जस्वी, (२०) पर्यायोक्ति, (२१) समाधि, (२२) उदात्त, (२३) अपह्नुति, (२४) श्लेष, (२५) विशेष, (२६) तुल्ययोगिता, (२७) विरोध, (२८) अप्रस्तुतप्रशंसा, (२९) व्यजस्तुति (३०) निदर्शना, (३१) सहोक्ति, (३२) परिवृत्ति, (३३) आशीः, (३४) संसृष्टि, (३५) भाविक।

दण्डी के अनुसार प्राचीन आचार्यों ने इन अलंकारों को स्वीकार किया है। "ये अलंकार यद्यपि अर्थगत हैं, तथापि इन्हें वाणी का, शब्द का अलंकार इसीलिए कहा जाता है कि शब्द और अर्थ में अभेद सम्बन्ध माना जाता है।"

(काव्यादर्श २।४।७)

आचार्य वामन ने केवल इकतीस अलंकारों का निरूपण किया है। उन्होंने दण्डी के आशीः, उत्प्रेक्षावयव, उदात्त, ऊर्जस्वी आदि छोड़ दिये हैं। उद्भट ने इकतालीस अलंकार माने हैं।

मध्यकाल—अष्टम शतक से लेकर द्वादश शतक तक के चार सौ वर्षों का समय अलंकारों के विकास का काल है। इस काल में रुद्रट, भोज, मम्मट और रुय्यक आदि आचार्यों ने अलंकारों के विकास में महत्वपूर्ण कार्य किया है। इस युग में अलंकारों का पर्याप्त विकास हुआ है।

रुद्रट ने लगभग ५५-अलंकारों का विवेचन किया है। उनका महत्वपूर्ण कार्य

जहाँ अलंकारों के संवर्द्धन में है, वहीं उनका वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष के रूप में वर्गीकरण भी है।

इस युग के आचार्यों में भोजराज ने अलंकारों की संख्या ७२ मानी है, वे २४ शब्दालंकार, २४ अर्थालंकार तथा २४ उभयालंकार मानते हैं। भोज रसवादी आचार्य थे, किन्तु अलंकारों के महत्व को स्वीकार करते हैं।

आचार्य मम्मट रसवादी आचार्य थे, किन्तु उनकी दृष्टि समन्वयात्मक थी। उन्होंने छह शब्दालंकार तथा ६१ अर्थालंकारों का विवेचन किया है। मम्मट ने विनोक्ति तथा सम आदि नये अलंकारों की उद्भावना भी की थी। मम्मट ने निम्न अलंकारों का विवेचन किया है—

शब्दालंकार—वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्रालंकार, पुनरुक्तवदाभास।

अर्थालंकार—उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, उत्प्रेक्षा, सन्देह, रूपक, अपह्नुति, अर्थश्लेष, समासोक्ति, निदर्शना, अप्रस्तुतप्रशंसा, अतिशयोक्ति, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, दीपक, तुल्ययोगिता, व्यतिरेक, आक्षेप, विभावना, विशेषोक्ति, यथासंख्य, अर्थान्तर-न्यास, विरोध, स्वभावोक्ति, व्याजस्तुति, सहोक्ति, विनोक्ति, परिवृत्ति, भाविक, काव्य-लिंग, पर्यायोक्त, उदात्त, समुच्चय, पर्याय, अनुमान, परिकर, व्याजोक्ति, परिसंख्या, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर, सूक्ष्म, सार, असंगति, समाधि, सम, विषव, अधिक, प्रत्यनीक, मीलित, एकावली, स्मरण, भ्रान्तिमान, प्रतीप, सामान्य, विशेष, तद्गुण, अतद्गुण, व्याघात, संसृष्टि, सङ्कर।

मम्मट ने अलंकारों के स्वरूप का यथार्थ वर्णन किया है। उनके मत में अलं-कार काव्य के अंगभूत शब्द और अर्थ के शोभाकारक तत्व हैं।

रुय्यक ने 'अलंकार सर्वस्व' में १० शब्दालंकारों तथा ७५ अर्थालंकारों का विवेचन किया है। रुय्यक अलंकारवादी आचार्य हैं।

उत्तरकाल—तेरहवीं सदी से लेकर अठारहवीं सदी का काल उत्तरकाल में स्वीकार किया जा सकता है। इस काल में अलंकारों की संख्या की दृष्टि से पर्याप्त विकास हुआ है। जयदेव ने आठ शब्दालंकार तथा ८१ अर्थालंकारों का विवेचन किया है। जयदेव ने मम्मट द्वारा स्वीकृत संकर संसृष्टि और सूक्ष्म नाटक अलंकार स्वीकार नहीं किये हैं। शेष अलंकारों को मान लिया है। जयदेव ने कुछ नवीन अलंकारों की उद्भावना भी की है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ (चौदहवीं शताब्दी) ने बारह शब्दालंकार, ७० अर्थालंकार और ७ रसवदादि अलंकारों का विवेचन किया है। विश्वनाथ के ८९ अलं-कारों में ८४ अलंकार पूर्ववर्ती आचार्य द्वारा स्वीकृत हैं तथा ५ अलंकार नवीन हैं।

द्वितीय वाग्भट्ट ने अपने काव्यानुशासन में अन्य और अपर नामक दो नवीन अलंकारों की उद्भावना की है।

सत्रहवीं सदी में अप्पय दीक्षित ने 'कुवलयानन्द' नामक ग्रन्थ में अलंकारों का

व्यापक और परिष्कृत विवेचन किया है। इस समय तक अलंकारों की संख्या लगभग सवा सौ हो गई थी। जयदेव की अपेक्षा अप्पय दीक्षित ने सत्रह नवीन अलंकारों की उद्‌भावना की है।

पण्डितराज जगन्नाथ इस परम्परा के अन्तिम आचार्य हैं। इनके अपूर्ण ग्रन्थ 'रसगङ्गाधर' में लगभग एक सौ अस्सी अलंकारों का विवेचन हुआ है।

उपर्युक्त आचार्यों ने अलंकारों का विवेचन तीन वर्गों—शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार में किया है।

यह सम्पूर्ण विकास का इतिहास तीन कालों—पूर्व, मध्य और उत्तर काल के अन्तर्गत विभक्त किया जा सकता है।

प्रश्न ३१. निम्नलिखित अलंकारों के लक्षण और उदाहरण दीजिए —

अनुप्रास, यमक, श्लेष, वक्रोक्ति, पुनरुक्तवदाभास, वीप्सा, पुनरुक्तिप्रकाश, उपमा, पूर्णोपमा, मालोपमा, रसनोपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, प्रतीप, व्यतिरेक, अतिशयोक्ति, अन्योक्ति, अपह्नुति, भ्रान्तिमान, सन्देह, विभावना, विरोधाभास, स्मरण, असंगति, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, परिसंख्या मुद्रा, यथाक्रम, मीलित, उन्मीलित, अनन्वय, परिकर, सहोक्ति व्याजस्तुति, दीपक, विशेषोक्ति, निदर्शना, उल्लेख, तद्‌गुण, अतद्‌गुण, मानवीकरण, ध्वन्यर्थ-व्यंजना, विशेषण-विपर्यय।

अनुप्रास—**"जहाँ एक अथवा एक से अधिक वर्णों या वाक्यों की एक ही क्रम से आवृत्ति हो वहाँ 'अनुप्रास' अलंकार होता है।"** 'अनुप्रास' शब्द (अनु+प्र+आस) का अर्थ है बार-बार वर्णों का न्यास। प्राचीन आचार्यों ने इसे वर्णसाम्य—(वर्णसाम्यमनुप्रासः) कहा है। अनुप्रास में केवल व्यंजन वर्णों की समानता ही अपेक्षित है स्वरों की समानता नहीं। स्वर के विषम होने पर भी अनुप्रास अलंकार बना रहता है।

अनुप्रास के **भेद**—अनुप्रास अलंकार **पाँच** प्रकार का होता है—

(१) **श्रुत्यनुप्रास—"जहाँ एक ही उच्चारण-स्थान से उच्चरित होने वाले वर्णों की कई बार आवृत्ति हो, वहाँ श्रुत्युप्रास अलंकार होता है।**

उदाहरण— **मन-मधुकर मद-विह्वल हो विहरे।**
चल-सरसिज-दल पर पल-पल विचरे॥

इस उदाहरण में 'म', 'प' वर्णों का उच्चारण स्थान ओष्ठ है। 'द', 'ध', 'न', तथा 'ल' का उच्चारण दन्त स्थान से होता है, अतः यहाँ श्रुत्यनुप्रास अलंकार है।

(२) **छेकानुप्रास—"जहाँ अनेक व्यंजनों की स्वरूप और क्रम से एक बार आवृति हो वहाँ छेकानुप्रास अलंकार होता है।"** छेकानुप्रास में वर्णों की आवृत्ति उसी क्रम से होनी चाहिए—'सर' 'सर' में छेकानुप्रास है किन्तु 'सर' 'रस' में नहीं।

उदाहरण—मुक्ति मुकुता को मोल माल ही कहा है जब।
मोहन लला पै मन मानिक ही वारि चुकी॥

इस उदाहरण में मुक्ति-मुक्ता, मोल-माल, मन-मानिक में कुछ व्यंजनों के बार-बार आवृत्ति हुई है।

(३) वृत्यनुप्रास—जहाँ एक या एक से अधिक वर्णों की आवृत्ति एक या अनेक बार हो वहाँ वृत्यनुप्रास अलंकार होता है।

उदाहरण— तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये।

इस उदाहरण में 'त' वर्ण की कई बार आवृत्ति हुई है अतः यहाँ वृत्यनुप्रास अलंकार है।

(४) लाटानुप्रास—"जहाँ पर एक अर्थ वाले पदों अथवा वाक्यों की आवृत्ति हो, वहाँ लाटानुप्रास अलंकार होता है।"

उदाहरण— पराधीन जो जन नहीं स्वर्ग नरक ता हेतु।
पराधीन जो जन नहीं, स्वर्ग नरक ता हेतु॥

इस उदाहरण में सम्पूर्ण वाक्य की आवृत्ति हुई है और वाक्यों का अर्थ भी समान है परन्तु अन्वय करने से दोनों का अर्थ इस प्रकार क्रमशः हो जाता है—"जो मनुष्य पराधीन है उसके लिए स्वर्ग नहीं, उसके लिए नरक है।" तथा 'जो मनुष्य पराधीन नहीं, उसके लिए नरक भी स्वर्ग है।' इस प्रकार अन्वय भेद से भिन्न अर्थ होने के कारण यहाँ लाटानुप्रास है।

अन्त्यानुप्रास—जहाँ पद्य के चरण के अन्त में एक या अनेक स्वर व्यंजनों की आवृत्ति हो, वहाँ अन्त्यनुप्रास अलंकार होता है।

उदाहरण— घन घमण्ड नभ गरजत घोरा।
प्रिया हीन डरपत मन मोरा॥

इस उदाहरण में चरणान्त में 'ओरा' की आवृत्ति हुई है अतः यहाँ अन्त्यानुप्रास है।

यमक—जहाँ पर भिन्न अर्थ वाले शब्द या पद की एक ही क्रम से आवृत्ति हो वहाँ 'यमक' अलंकार होता है।

उदाहरण— कमलासन पर बैठे कमलासन
लगे तपस्या करने।

यहाँ सफेद दोनों ही पद सार्थक हैं किन्तु दोनों का अर्थ एक नहीं है, भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। प्रथम 'कमलासन' कमल या पद्मरूपी आसन के लिये प्रयुक्त है जबकि द्वितीय 'कमलासन' 'प्रजापति' या 'ब्रह्मा' के अर्थ-बोध के लिये है। अतः इस उदाहरण में 'यमक' अलंकार है।

श्लेष—जहाँ किसी शब्द के एक बार प्रयुक्त होने पर भी एक से अधिक अर्थ हों, वहाँ श्लेष अलंकार होता है।

'श्लेष' शब्द 'श्लिष्' धातु से बना है, इसका शाब्दिक अर्थ है 'चिपका हुआ।' आशय यह है कि जहाँ एक शब्द में अनेक अर्थ चिपके होते हैं, वहाँ श्लेष होता है।

उदाहरण— रहिमन पानी राखिए, बिन पानी सब सून।
पानी गये न ऊबरे मोती मानुस चून॥

इस उदाहरण में सफेद 'पानी' शब्द श्लिष्ट है और इसके तीन अर्थ होते

हैं—चमक (मोती के पक्ष में), प्रतिष्ठा (मनुष्य के पक्ष में), तथा जल (चूने के पक्ष में), अतः यहाँ श्लेष अलंकार है।

वक्रोक्ति—जहाँ पर श्लेष अथवा काकु [कण्ठ ध्वनिविकार] द्वारा विशेष अभिप्राय युक्त किसी कथन का श्रोता चमत्कार पूर्ण अन्य अर्थ लगा लेता है, वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है। 'वक्रोक्ति' का शब्दार्थ वक्र+उक्ति=टेढ़ा कथन या वक्रतापूर्ण उक्ति है। इस अलंकार में श्रोता वक्ता के कथन से अन्यार्थ की कल्पना करता ले है। इस अन्यार्थ की कल्पना में श्लेष अथवा कण्ठ की ध्वनि का सहारा लेता है।

उदाहरण—खरी होहु वारी नैकु, कहा हमें खोटी देखी।
सुनौ बैन नेकु सु तो आन ठाँ बजाइये॥

यहाँ राधाकृष्ण का सम्वाद है। दो श्लिष्ट शब्द **'खरी'** (खड़ी तथा अच्छी) और **बैन** (वचन और वीणा) शब्द के द्वारा वक्ता का चमत्कार प्रदर्शित है। श्रीकृष्ण राधा से खड़ी रहने के लिये कहते हैं किन्तु राधा श्लेष द्वारा बड़ी चतुरता से **'खरी'** शब्द का **'अच्छी'** अर्थ लगाकर उत्तर देती है कि आपने मुझ में क्या खोटापन देखा है। इसी प्रकार कृष्ण पुनः राधा से **'बैन'** (वचन) सुनने के लिये कहते हैं, परन्तु राधा **'बैन'** शब्द का दूसरा अर्थ वीणा लगाकर उत्तर देती है कि उसे दूसरे स्थान पर जाकर बजाइए। अतः इस उदाहरण में 'श्लेषवक्रोक्ति' अलङ्कार है।

पुनरुक्तवदाभास—जहाँ भिन्न अर्थ वाले शब्द देखने पर समानार्थी प्रतीत होते हों, वहाँ पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार होता है। यहाँ पुनरुक्ति का आभास मात्र होता है। वास्तव में पुनरुक्ति नहीं होती है।

उदाहरण—यह पर्वत रसमग्न अचल कितने प्रसन्न।

यहाँ पर्वत और अचल शब्दों में पुनरुक्ति प्रतीत हो रही है किन्तु अचल निश्चल अर्थ का वाचक है, अतः पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार है।

वीप्सा—जहाँ आदर, घृणा, हर्ष, शोक, विस्मय आदि भावों को प्रभावशाली रूप में व्यक्त करने के लिए किसी शब्द की आवृत्ति होती है, वहाँ वीप्सा अलङ्कार होता है।

उदाहरण—हा! हा! इन्हें रोकन कौं टोक न लगावौ तुम।
विसद-विवेक ज्ञान गौरव-दुलारे ह्वै॥

इस उदाहरण में 'हा' शब्द की आवृत्ति द्वारा गोपियों के विरह की तीव्र व्यंजना कराई गई है, अतः वीप्सा अलङ्कार है।

पुनरुक्ति प्रकाश—जहाँ सौन्दर्य सृजन अथवा छन्दपूर्ति के लिए शब्दों की आवृत्ति हो, वहाँ पुनरुक्ति प्रकाश अलङ्कार होता है।

उदाहरण—आई फिरि ओप ठाम-ठाम ब्रज गामनि के।
बिरहिनि बामनि के बाम अंग फरके॥

यहाँ ठाम-ठाम शब्दों की आवृत्ति सौन्दर्य-सृजन के लिए है अतः पुनरुक्तिप्रकाश अलङ्कार है।

अर्थालंकार उपमा लक्षण—"जहाँ दो भिन्न पदार्थों में समान गुण आदि के कारण सादृश्य या साधर्म्य की स्थापना की जाती है, वहाँ उपमा अलंकार होता है।"

उपमा अलङ्कार के चार तत्व होते हैं और जहाँ ये चारों अंग होते हैं, वहाँ पूर्णोपमा अलङ्कार होता है। (क) **'उपमेय' या प्रस्तुत** वह वस्तु, जिसकी किसी दूसरी वस्तु से तुलना की जाती है। (ख) **उपमान-अप्रस्तुत** वह वस्तु, जिससे किसी दूसरी वस्तु की तुलना की जाती है। (ग) **धर्म साधारण**—वह गुण जिसके कारण उपमेय तथा उपमान में साम्य स्थापित हो। (घ) **वाचक** वह पद या शब्द जिसके द्वारा उपमेय तथा उपमान का साम्य प्रतिपादित किया गया हो। उदाहरण के लिए—**'मुख चाँद सा सुन्दर है।'** इस उदाहरण में 'मुख' उपमेय है क्योंकि इसकी तुलना की जा रही है। **'चाँद' उपमान** है क्योंकि इससे मुख की तुलना की जा रही है। 'सुन्दर' **विशेषण** पद ही गुण रूप **धर्म** है। इसी सुन्दरता के आधार पर दोनों के मध्य सादृश्य स्थापित किया जा रहा है। 'सा' **वाचक** पद है, जिसके द्वारा उपर्युक्त सादृश्य की सूचना मिल रही है।

उपमा के भेद—उपमा के अनेक भेदोपभेदों की चर्चा मिलती है, पर उपमा के प्रमुख भेद निम्न हैं—पूर्णोपमा, मालोपमा तथा रशनोपमा।

पूर्णोपमा—पूर्णोपमा अलंकार में उपमान, उपमेय, सामान्य धर्म और वाचक शब्द नामक चारों तत्व वर्त्तमान रहते हैं।

उदाहरण—"फिर परियों के बच्चों से हम
सुभग सीप के पंख पसार।
समुद तरते शुचि ज्योत्स्ना में
पकड़ इन्दु के कर सुकुमार।" (पन्त: पल्लव)

इस पद की प्रथम दो पंक्तियों में पूर्णोपमा अलंकार है। इसमें 'परियों के **बच्चे' उपमान** हैं, हम (बादल) **उपमेय**, 'सुभग' **धर्म** तथा 'से' **वाचक पद** है, अतः यहाँ पूर्णोपमा अलङ्कार है।

मालोपमा—"जहाँ एक उपमेय के लिए अनेक उपमानों की योजना की जाय वहाँ 'मालोपमा' अलंकार होता है।"

इस अलङ्कार में उपमानों की माला सी बनायी जाती है। इस अलङ्कार के दो भेद होते हैं—(१) भिन्नधर्ममालोपमा तथा (२) एकधर्ममालोपमा।

उदाहरण—पीले पत्तों की शैया पर तुम विरक्ति सी मूर्च्छा सी।
विजन विपिन में मौन पड़ी हो विरह मलिन दुःख विधुरा सी॥

इस उदाहरण में 'छाया' उपमेय के लिए 'विरक्ति', 'मूर्च्छा', 'विधुरा' आदि अनेक उपमानों को माला ही प्रस्तुत कर दी है अतः यहाँ **मालोपमा** अलङ्कार है।

एक धर्मालोपमा—

उदाहरण—   जिय बिनु देह नदी बिनु वारी।
तैसे हि नाथ पुरुष बिन नारी॥

यहाँ प्राण, जल और पति क्रमशः शरीर नदी और नारी के लिए समान महत्व-पूर्ण हैं अतः यहाँ एक **धर्मामालोपमा** अलङ्कार है।

रसनोपमा—जहाँ उपमेय उत्तरोत्तर उपमान बनता चला जाए अथवा जहाँ उपमेय और उपमान की एक शृंखला (रसना) बन जाती है वहाँ 'रसनोपमा' अलंकार होता है। इस अलङ्कार में उपमेयों के उपमान बनने की रसना बन जाती हैं। पहला उपमेय दूसरे उपमेय का उपमान बन जाता है। दूसरा उपमेय तीसरे उपमेय का उप-मान। यही क्रम निरन्तर आगे भी चलता रहे, वहाँ रसनोपमा अलङ्कार होता है।

उदाहरण— **"मति-सी नति, नति-सी बिनति**
बिनति-सी रति चारु।
रति-सी गति, गति-सी भगति
तो मैं पवन कुमारु।" [देवेन्द्रनाथ शर्मा]

इस उदाहरण में 'मति' के लिए 'नति' (नम्रता) उपमेय है, पर 'विनति' (विनम्रता) के लिए उपमान। किन्तु 'विनति' भी 'रति' (प्रेम) के लिए 'उपमान' है। इसी प्रकार 'रति' 'गति' के लिए, 'गति' 'भगति' (भक्ति) के लिए। यहाँ उपमेय उत्तरोत्तर उपमान होता गया है अतः रसनोपमा अलङ्कार है।

उत्प्रेक्षा—"जहाँ उपमेय में उपमान की संभावना की जाय, वहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार होता है।" इस अलङ्कार में उपमेय तथा उपमान की भिन्नता प्रकट रहती है। किन्तु समानता में निश्चयात्मकता का अभाव रहता है। उत्प्रेक्षा अलङ्कार के वाचक शब्दों में मानो, जानो, निश्चय आदि प्रसिद्ध हैं। इन शब्दों का जहाँ प्रयोग होता है वहाँ वाच्या उत्प्रेक्षा होती है अन्यत्र सम्भावना के कारण प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा होती है।

उदाहरण—सोहत ओढ़े पीत पट, श्याम सलाने गात।
मनौ नील मनि सैल पर, आतप परयौ प्रभात॥ (बिहारी)

इस उदाहरण में 'पीत पट' में आतप की सम्भावना प्रकट की गई है और 'मनो' शब्द का प्रयोग भी है। अतः यहाँ वाच्या उत्प्रेक्षा है।

वस्तूत्प्रेक्षा—वस्तूत्प्रेक्षा वहाँ होती है, जहाँ एक वस्तु में दूसरी वस्तु की सम्भावना होती है।

उदाहरण— **नील परिधान बीच सुकुमार।**
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग॥
खिला हो ज्यों बिजली का फूल।
मेघ वन बीच गुलाबी रंग॥ (कामायनी)

यहाँ वस्तूत्प्रेक्षा इसलिए है क्योंकि **'नील परिधान'** के बीच खुले रहे मृदुल शरीरांग के लिए **'मेघवन'** के बीच गुलाबी रंग के फूल (दूसरी वस्तु) के खिलने की उत्प्रेक्षा की गई है अतः यहाँ वस्तूत्प्रेक्षा है।

हेतूत्प्रेक्षा—जहाँ अहेतु की सम्भावना की जाय वहाँ हेतूत्प्रेक्षा अलङ्कार होता है।

उदाहरण—　　निराकार तम मानो सहसा
　　　　　　ज्योति पुंज में हो साकार।
　　　　　　बदल गया द्रुत जगज्जाल में
　　　　　　धर कर नाम रूप नाना॥　　　　(पन्त)

इस उदाहरण में ज्योतिपुञ्ज में साकार होने वाले नाना रूप जगज्जाल का 'हेतु' निराकार तम को माना गया है जो कि वास्तविक हेतु नहीं है, वह कल्पित हेतु है। अतः यहाँ 'हेतुत्प्रेक्षा' अलङ्कार है।

फलोत्प्रेक्षा—'फलोत्प्रेक्षा' वहाँ होता है, जहाँ जो 'फल' नहीं है, उसमें फल की सम्भावना की जाती है।"

उदाहरण—मानहुँ विधि तन अच्छ छवि, स्वच्छ राखिबे काज।
　　　　　दृग-पग पोंछन को किए भूषण पायन्दाज॥　　(विहारी)

स्पष्टीकरण—यहाँ नेत्र रूपी पैरों को साफ करना आभूषणों का फल न होने पर भी फल मान लिया गया है, अतः यहाँ फलोत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

गम्योत्प्रेक्षा—जहाँ उत्प्रेक्षा वाचक (जनु, मनो आदि) शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता किन्तु सम्भावना की जाती है, वहाँ प्रतीयमाना या गम्योत्प्रेक्षा होती है।

उदाहरण—निरख सखि ये खंजन आये।
　　　　　फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मनभाये॥　　(साकेत)

खंजन ही मानो प्रियतम के नेत्र हैं, इस उदाहरण में 'मानो' शब्द का प्रयोग न होने के कारण गम्योत्प्रेक्षा है।

रूपक—जहाँ प्रस्तुत (उपमेय) में अप्रस्तुत (उपमान) का निषेध रहित आरोप या अभेद स्थापन किया जाय, वहाँ 'रूपक' अलङ्कार होता है। स्पष्टीकरण— रूपक का अर्थ है रूप ग्रहण करना या आरोप करना। अतः इस अलङ्कार में प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के रूप का आरोप होता है।

उदाहरण—　　'चरण कमल बन्दहुँ हरिराई'

इस उदाहरण में चरण (उपमेय) पर कमल (उपमान) का आरोप है अतः यहाँ रूपक अलङ्कार है।

सांग रूपक—जहाँ उपमान का उपमेय में अंगों सहित आरोप किया जाता है, वहाँ सांगरूपक अलङ्कार होता है।

उदाहरण—बीती विभावरी जागरी।
　　　　　अम्बर पनघट में डुबो रही तारा घट उषा नागरी।
　　　　　　　　　　　　　　　　(प्रसाद : लहर)

इस उदाहरण में उषा पर, 'नागरी' का, अम्बर पर पनघट का, तारागणों पर घट का आरोप है, अतः यहाँ सांगरूपक अलङ्कार है।

निरंग या निरवयव रूपक—जहाँ केवल उपमान का उपमेय में आरोप किया जाता है अर्थात् अंगों के बिना ही उपमेय में उपमान का आरोप होता है वहाँ निरंग

रूपक अलङ्कार होता है। निरंग का अभिप्राय है अंगों से रहित। अर्थात् इस अलङ्कार में एक अंग का ही आरोप किया जाता है।

उदाहरण—प्रिय पति ! वह मेरा प्राणप्यारा कहाँ है ?
दुःख-जलनिधि डूबी का सहारा कहाँ है ? (प्रियप्रवास)

यहाँ 'दुःख' में 'जलनिधि' का आरोप किया गया है किन्तु दुःख के अन्य अवयवों पर 'जलनिधि' के अन्यान्य अवयवों का नहीं। अतः यहाँ निरंगरूपक अलङ्कार है।

परम्परित रूपक—जहाँ एक आरोप दूसरे आरोप के कारण रूप में विद्यमान रहता है, वहाँ 'परम्परित रूपक' अलंकार होता है।

उदाहरण— **राम कथा कलि पन्नग-भरनी।**
पुनि बिवेक-पावक कहँ अरनी॥ (तुलसीदास : मानस)

स्पष्टीकरण—"यहाँ 'कलि' (युग) में 'पन्नग' (सर्प) का आरोप किया गया है और यह (आरोप) 'रामकथा' (उपमेय) में 'भरनी' (सर्प-मन्त्र) रूप दूसरे आरोप के कारण रूप में अवस्थित है। यदि पहले आरोप को हटा लिया जाय तो दूसरे आरोप की परम्परा ही निरर्थक हो जाएगी, अतः यहाँ **'परम्परित'** रूपक अलंकार है। इसी प्रकार दूसरी पंक्ति में 'विवेक' में 'पावक' का आरोप 'रामकथा' में 'अरनी' (आग उत्पन्न करने के लिए काष्ठ-विशेष) रूप दूसरे आरोप के कारण रूप में अवस्थित है।"

प्रतीप—जहाँ प्रसिद्ध उपमान को उपमेय अथवा उपमेय को ही अधिक आकर्षक या उत्कृष्ट सिद्ध कर उपमान का अपकर्ष वर्णित हो वहाँ 'प्रतीप' अलंकार होता है।" **'प्रतीप'** शब्द का अर्थ है उलटा या विपरीत। इस अलंकार में **'उपमा'** अलंकार के ठीक विपरीत स्थिति होती है। 'क्योंकि 'उपमा' में उपमेय की उपेक्षा उपमान का उत्कर्ष रहता है किन्तु 'प्रतीप' में उपमान का अपकर्ष।

उदाहरण— है सुन्दरि ! तुव आनन सम शशि"

काव्य में मुख की तुलना चन्द्रमा से की जाती है अतः मुख उपमेय और चन्द्रमा उपमान है। किन्तु इस उदाहरण में प्रसिद्ध उपमान चन्द्रमा को उपमेय बनाकर प्रसिद्ध उपमेय मुख को उपमान बनाकर तुलना की गई है। अतः यहाँ 'प्रतीप' अलंकार है।

व्यतिरेक—"जहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय की अधिकता अथवा उत्कर्ष का वर्णन हो वहाँ 'व्यतिरेक' अलंकार होता है।" व्यतिरेक का शब्दार्थ है आधिक्य या उत्कर्ष। अतः व्यतिरेक अलंकार में उपमेय के आधिक्य का वर्णन होता है। इस उपमेय के उत्कर्ष के वर्णन के कारण उपमान का अपकर्ष या हीनता स्वयं वर्णित हो जाती है।

उदाहरण—विधि ते कवि सब विधि बड़े यामें संशय नाँहि
षट्रस विधि की सृष्टि में नवरस कविता माँहि॥

यहाँ विधाता की अपेक्षा कवि के उत्कर्ष का वर्णन है। क्योंकि कवि की सृष्टि में नौ रस होते हैं और विधाता की सृष्टि में छह रस। अतः यहाँ व्यतिरेक अलंकार है।

अतिशयोक्ति—**जहाँ उपमेय (प्रस्तुत) को छिपाकर उपमान (अप्रस्तुत) के साथ उसके अभेद का वर्णन हो, वहाँ 'अतिशयोक्ति' अलंकार होता है अथवा जहाँ पर किसी वस्तु का चमत्कार पूर्ण अतिशय वर्णन हो, वहाँ अतिशयोक्ति अलंकार होता है।** अतिशयोक्ति शब्द की रचना अतिशय उक्ति से हुई है। अतिशय का अर्थ है—अतिक्रान्त, उल्लंघन, बढ़ा-चढ़ाकर। अतः इस अलंकार में उपमेय को पूर्णतः छिपाकर उपमान के साथ उसके अभेद का वर्णव किया जाता है।

उदाहरण— **बाँधा था विधु को किसने**
इन काली जंजीरों से?
मणि वाले फणियों का मुख
क्यों भरा हुआ हीरों से॥ (प्रसाद)

इस पद में **उपमेय** 'मुख' और 'केशों' को छिपाकर केवल **उपमान** 'विधु' और 'फणियों' (सर्पों) का वर्णन किया गया है, तथा इनके साथ 'मुख' और 'केशों' का अभेद-स्थापन कर दिया गया है, अतः यहाँ 'अतिशयोक्ति' अलंकार है।

अन्य उदाहरण— **धनुष उठाया ज्यों ही उसने,**
और चढ़ाया उस पर बाण।
धरा सिन्धु नभ कांपे सहसा,
विकल हुए जीवों के प्राण॥

स्पष्टीकरण—इस उदाहरण में धनुष उठाते ही पृथ्वी और आकाश काँप गये, समस्त प्राणी व्याकुल हो गये, इस वर्णन में अतिशयोक्ति है अतः यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार है।

अतिशयोक्ति के अन्य भेद—(१) "जहाँ उपमेय को छिपाकर, उसका कथन केवल उपमान के द्वारा किया जाता है, वहाँ **'रूपकातिशयोक्ति'** अलंकार होता है जैसा कि 'बाँधा था' उदाहरण में स्पष्ट है। (२) जहाँ अभेद रहने पर भी भेद प्रदर्शन पूर्वक अतिशयोक्ति होती है, वहाँ **'भेदकातिशयोक्ति'** अलंकार होता है। (३) जहाँ सम्बन्ध रहने पर भी उसका अभाव दिखलाते हुए अतिशयोक्ति की जाती है, वहाँ **'असम्बन्धातियोक्ति'** अलंकार होता है। (४) जहाँ सम्बन्ध न रहने पर भी सम्बन्ध दिखलाते हुए अतिशयोक्ति की जाती है, वहाँ **'सम्बन्धातिशयोक्ति'** अलंकार होता है। (५) जहाँ कार्यकारण की एक साथ वर्त्तमानता दिखलाते हुए अतिशयोक्ति होती है, वहाँ **'अक्रमातिशयोक्ति'** अलंकार होता है, (६) जहाँ 'कारण' के पहले ही 'कार्य' का समुपस्थित होना चित्रित करते हुए अतिशयोक्ति होती है वहाँ **'अत्यन्तातिशयोक्ति'** अलंकार होता है। (७) जहाँ कारण के ज्ञानमात्र से कार्य के होने की अतिशयोक्ति होती है वहाँ **'चपलातिशयोक्ति'** अलंकार होता है। (८) जहाँ अपह्नुति से मिली हुई अतिशयोक्ति का वर्णन होता है वहाँ **'सापह्नवातिशयोक्ति'** अलंकार होता है।"

अन्योक्ति-अप्रस्तुत-प्रशंसा—**जहाँ अप्रस्तुत (उपमान) के वर्णन से प्रस्तुत (उपमेय) की प्रतीति हो, वहाँ अप्रस्तुत-प्रशंसा या अन्योक्ति अलंकार होता है।"** स्पष्टो-

करण—अप्रस्तुत का अर्थ जिसका वर्णन करना कवि को अभिप्रेत नहीं है तथा प्रस्तुत का अर्थ जिसका वर्णन करना है। इस अलंकार में अप्रस्तुत और प्रस्तुत में परस्पर सम्बन्ध अवश्य होना चाहिए। अन्यथा अप्रस्तुत से प्रस्तुत का बोध सहज न हो सकेगा। अप्रस्तुत-प्रशंसा को ही **'अन्योक्ति'** कहते हैं।

उदाहरण—नहि पराग नहि मधुर मधु नहि विकास इहि काल।
अली कली ही सो बंध्यो आगे कौन हवाल॥

स्पष्टीकरण—यहाँ प्रस्तुत नववधू के प्रेम में आबद्ध राजा जयसिंह को अप्रस्तुत 'नवेली कली के प्रेम में आबद्ध भ्रमर' के द्वारा सम्बोधित किया गया है। राजा एवं भ्रमर का प्रेम दोनों को समान सम्बद्ध कर देता है, अतः यहाँ अन्योक्ति अथवा अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है।

अपह्नुति—जहाँ उपमेय (प्रकृत) का निषेध कर उपमान (अप्रकृत) की स्थापना की जाय, वहाँ 'अपह्नुति' अलंकार होता है।" 'अपह्नुति' शब्द का अर्थ है छिपाना। इस अलंकार में प्रस्तुत तथ्य को छिपाकर दूसरे तथ्य का प्रतिपादन किया जाता है। यह निषेध शब्द द्वारा भी होता है और संकेत मात्र भी।

उदाहरण— सुन्दरि यह तव मुख नहि।
नभ में हंसता चाँद॥

स्पष्टीकरण—इस उदाहरण में सुन्दर मुख को छिपाकर विहंसते चन्द्र (उपमान जो कि सत्य नहीं है) की स्थापना की गई है अतः अपह्नुति अलंकार है।

उदाहरण— न जाने सौरभ मिस कौन।
संदेशा मुझे भेजता मौन॥

इस उदाहरण में **'मिस'** शब्द का प्रयोग कर अप्रस्तुत की स्थापना की गई है अतः यहाँ **कैतवाह्नुति** अलंकार है।

अन्य भेद—शुद्धापह्नुति में वास्तविक उपमेय का निषेध कर उपमान का आरोप (स्थापना) किया जाता है। 'सुन्दरि यह तव' उदाहरण शुद्धा का है। **'हेत्वपह्नुति'** में सकारण उपमेय का निषेध कर उपमान की स्थापना की जाती है। **'पर्यस्तापह्नुति'** में किसी वस्तु के धर्म का निषेध कर दूसरी वस्तु में आरोप किया जाता है। **'भ्रान्तापह्नुति'** वहाँ होती है जहाँ किसी संदेह का निवारण सत्य बात को प्रकट कर किया जाता है। **'छेकापह्नुति'** में किसी सत्य के व्यक्त होने पर मिथ्या समाधान द्वारा उसका निवारण या गोपन किया जाता है।

भ्रान्तिमान [भ्रम]—जहाँ रूप, रंग और कर्म सादृश्य के कारण एक वस्तु में किसी अन्य वस्तु का ज्ञान कर लिया जाए, वहाँ भ्रान्तिमान अलंकार होता है— यह भ्रान्ति सदैव चमत्कारपूर्ण होती है। अर्थात् वास्तविक न होकर कवि-कल्पना-प्रसूत होती है।

उदाहरण— **नाक का मोती अधर की कान्ति से।**
बीज दाडिम का समझ कर भ्रान्ति से॥

देख उसको ही हुआ शुक मौन है।
सोचता है अन्य शुक यह कौन है ।।　　　　[साकेत]

उर्मिला ने नाक में मोती पहन रखा है जो श्वेत होकर भी अरुण अधरों की लाली से लाल हो गया है और अनार के दाने के समान लगने लगा है। नासिका अपने सौन्दर्य तथा नुकीलेपन के कारण तोते की चोंच का भ्रम पैदा कर रही है। इसीलिए लक्ष्मण कहते हैं कि शुक यह सोचकर मौन हो गया है कि "यह दूसरा शुक कौन है, जो दाडिम के दाने का स्वाद ले रहा है।"

यहाँ शुक द्वारा एक वस्तु (नाक और उसके मोती) में अन्य वस्तु (शुक और उसके द्वारा खाये जाते हुए अनारके दाने) का ज्ञान वर्णित किया गया है यह बात-कवि-कल्पना-जन्य है अतः '**भ्रान्तिमान**' अलंकार है।

सन्देह—"**जहाँ प्रस्तुत में अप्रस्तुत का संशयपूर्ण वर्णन हो वहाँ संदेह अलंकार होता है।** जहाँ उपमेय और उपमान में 'रूप, रंग आदि के साम्य के कारण समानता हो, इस साम्य के कारण संशयपूर्ण वर्णन हो, वहाँ '**सन्देह**' अलंकार होता है।

उदाहरण—**सारी बिच नारी है कि नारी बिच सारी है।**
कि सारी हीकी नारी है कि नारी हीकी सारी है ।।

स्पष्टीकरण—इस अलंकार में नारी और साड़ी के विषय में संशय है अतः सन्देह अलंकार है।

विभावना—**जहाँ कारण के अभाव में कार्य का वर्णन हो, वहाँ 'विभावना' अलंकार होता है**—'**बिना हेतु जहँ वरनिये प्रकट होत है काज**' कारण से कार्य होता है। बिना कारण के कार्य की सिद्धि सम्भव नहीं है। किन्तु जहाँ बिना कारण के ही कार्य के होने का वर्णन हो, वहाँ विभावना अलंकार होता है।

उदाहरण—　　**बिनु पग चलै, सुनै बिनु काना।**
कर बिनु करम; करै विधिनाना ।।　　　　(मानस)

चलने का कारण 'पैर' है किन्तु 'पैर' के बिना भी चलने का वर्णन है, इसी प्रकार 'कान' सुनने के कारण हैं, उनके अभाव में सुनना सम्भव नहीं है, हाथ कर्म के कारण है, किन्तु कान और हाथ के बिना भी क्रमशः 'सुनना' तथा 'कर्म का होना' यहाँ वर्णित है अतः "**विभावना**" अलंकार है।

विरोधाभास—**जहाँ दो वस्तुओं में मूलतः विरोध न होने पर भी विरोध के आभास का वर्णन किया जाय, वहाँ 'विरोधाभास' अलंकार होता है।** विरोध प्रतीत तो हो किन्तु वास्तव में वह विरोध न होकर केवल उसका आभास ही हो, वहाँ विरोधाभास अलंकार होता है।

उदाहरण—**या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोय।**
ज्यों-ज्यों बूड़े स्याम रंग, त्यों-त्यों उज्ज्वल होय ।। (बिहारी)

इस उदाहरण में ज्यों-ज्यों श्याम रंग में अनुरागी चित्त डूबता है, त्यों-त्यों उज्ज्वल होता जाता है, विरोध भाव प्रतीत हो रहा है। क्योंकि काले रंग में डूबने पर

काला ही होना चाहिये न कि उज्ज्वल (श्वेत)। लेकिन यहाँ विरोध नहीं है क्योंकि 'श्यामरंग' का आशय 'श्रीकृष्ण की भक्ति' से है। कृष्ण की भक्ति में भक्त का चित जितना ही डूबेगा, उसका हृदय उतना ही उज्ज्वल होगा अतः यहाँ विरोध का आभास-मात्र है।

'स्मरण'—वस्तु विशेष को देखकर उसके सादृश्य के कारण पहले देखी-सुनी वस्तु का जहाँ चमत्कारपूर्ण स्मरण वर्णित हो, वहाँ स्मरण अलंकार होता है—"सम सोभा लखि आन की सुधि आवत जेहि ठौर।

'स्मरण' अलंकार में तीन बातें होती हैं—(१) पहले हम किसी वस्तु को देख या सुन चुके हों, (२) उसी के समान वस्तु को देखना तथा (३) उसका चमत्कार-पूर्ण वर्णन होना, ये तीनों बातें जहाँ हों वहाँ **'स्मरण'** अलंकार समझना चाहिए।

उदाहरण—**सघन कुञ्ज छाया सुखद सीतल मन्द समीर।**
मन ह्वै जात अजौं वहै वा जमुना के तीर॥ (बिहारी)

इस उदाहरण में यमुना नदी के किनारे पर स्थित कुञ्जों की छाया में गोपियों को कृष्ण की लीलाओं की याद आ जाती है अतः **'स्मरण'** अलंकार है।

असंगति—"असंगति अलंकार में कार्य और कारण का भिन्न-भिन्न स्थान पर वर्णन होता है—अन्ते हेतु अन्ते काज जानौ असंगति।" सामान्यतः कारण और कार्य साथ-साथ रहते हैं। किन्तु कारण कहीं और कार्य का कहीं वर्णन हो तो 'असंगति' अलंकार होता है।

उदाहरण—दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुरचित प्रीति।
परत गांठ दुरजन हिये, दई यह नई रीति॥ (बिहारी)

यहाँ दो बातें कही गयी हैं और इनमें कारण और कार्य अन्यत्र हैं—जैसे आँखें उलझती (कारण) कहीं और हैं और परिवार के बन्धन टूटते (कार्य) कहीं और हैं। इसी तरह सहृदय के हृदय में प्रीति कहीं होती है (कारण) और दुर्जनों के हृदय में गाँठ (कार्य) कहीं पड़ती है।

दृष्टांत—जहाँ उपमेय और उपमान तथा उनके साधारण धर्मों का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव दृष्टिगोचर हो, वहाँ 'दृष्टान्त' अलंकार होता है। जहाँ उपमेय तथा उपमान वाक्यों में साधारण धर्मों की समानता बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से प्रकट हो वहाँ **'दृष्टांत'** अलंकार होता है। **बिम्ब-प्रतिबिम्ब** भाव का आशय यह है कि वास्तविक भिन्नता होने पर भी समानता प्रतीत हो। इस प्रकार उपमेय रूप में कही गयी बात से मिलती-जुलती बात उपमान रूप में दूसरे वाक्य में होती है।

उदाहरण— "एक म्यान में दो तलवारें,
कभी नहीं रह सकती हैं।
किसी और पर प्रेम नारियाँ,
पति का क्या सह सकती हैं॥" (नूरजहाँ)

स्पष्टीकरण—एक म्यान में दो तलवारों का रहना वैसे ही सम्भव नहीं है,

जैसे कि एक 'पति' का दो नारियों पर अनुरक्त रहना। 'इन दोनों ही वाक्यों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव दृष्टिगत हो रहा है। अतः इस उदाहरण में 'दृष्टान्त' अलंकार है।

अर्थान्तरन्यास—जहाँ साधर्म्य या वैधर्म्य के द्वारा सामान्य का विशेष से, विशेष का सामान्य से समर्थन वर्णित हो वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है—"कहि विसेस सामान्य पुनि कै सामान्य विसेस"

'सामान्य' का अर्थ है सर्व साधारण बात तथा **'विशेष'** का अर्थ किसी विशिष्ट व्यक्ति या घटना से सम्बद्ध बात। आशय यह है कि अर्थान्तरन्यास में उपमेय वाक्य में यदि सामान्य बात होती है तो उसके समर्थन के लिए उपमान वाक्य में विशेष बात। इसी प्रकार यदि उपमेय वाक्य में विशेष बात होती है तो उसके समर्थन के लिए उपमान वाक्य में सामान्य बात।

सामान्य का विशेष से समर्थन—उदाहरण—

"जो 'रहीम' उत्तम प्रकृति,
का करि सकत कुसंग।
चन्दन विष व्यापत नहीं,
लिपटे रहत भुजंग।। (रहीम)

इस उदाहरण के पूर्वार्द्ध में 'सामान्य बात' प्रतिपादित है कि—यदि प्रकृति, उत्तम है तो बुरी संगति उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकती। इस 'सामान्य' तथ्य का समर्थन उत्तरार्द्ध के 'विशेष' से किया गया है—क्या चन्दन में सांप लिपटे नहीं रहते? किन्तु वह उत्तम प्रकृति का है अतः उसमें विष फैल नहीं पाता। अतः यहाँ 'अर्थान्तर-न्यास' अलंकार है।

सामान्य से विशेष के समर्थन का उदाहरण—

सबै सुहाए ई लगे बसत सुहाये ठाम।
गोरे मुख बेंदी लसे अरुन पीत सित स्याम।। (बिहारी)

'इस उदाहरण में नायिका के गोरे मुख पर बिन्दी के शोभित' होने की विशेष बात कही गई है कि गोरे मुख पर लाल रोरी की, पीली केसर की, श्वेत चन्दन की और श्याम कस्तूरी की बिन्दी सुन्दर लगती है। इस विशेष प्रस्तुत का समर्थन सामान्य बात—अच्छी जगह रहने से सब अच्छे लगते हैं—"**सबै सुहाए ई लगे बसत सुहाए ठाम।**" इस सामान्य अप्रस्तुत के किया गया है। अतः यहाँ अर्थान्तिरन्यास अलंकार है।

परिसंख्या—**जहाँ किसी वस्तु या व्यापार को स्थान से हटाकर दूसरे स्थान पर उसका वर्णन हो वहाँ परिसंख्या अलंकार होता है—इक थल बरजि दूजे थल ठहराई।"** परिसंख्या शब्द परि+संख्या=सब प्रकार से गणना करना अर्थ का बोधक है। किसी वस्तु की अनेक स्थानों पर स्थिति संभव होने पर भी उसका निषेध कर एक स्थान पर कवि जब उसको स्थापित करता है, वहाँ परिसंख्या अलंकार होता है। जैसे—रामराज्य में मलीनता का सर्वत्र अभाव था, यदि कहीं थी तो केवल धुएँ में।

या छत्रों में ही स्वर्णदण्ड था प्रजा में नहीं।

उदाहरण—पत्रा ही तिथि पाइयत वा घर के चहुं पास।
नित प्रति पून्यों ही रहत आनन ओप उजास।। (बिहारी)

यहाँ नायिका की मुख आभा के कारण सदैव पूर्णिमा रहती है अतः तिथि का ज्ञान 'चन्द्रमा से न होकर पत्र (समय सूचक पंचांग) से ही होता है, अतः 'परिसंख्या' अलंकार है।

मुद्रा—जहाँ प्रस्तुत अर्थ वाले पदों से किसी अन्य अर्थ का भी ज्ञान हो जाता है, **वहां मुद्रा अलंकार होता है—"प्रकृत अर्थ पर पदनिसों सुद्ध प्रकासत अर्थ।"**—'मुद्रा' का अर्थ होता है—रुपया या मुहर। जिस प्रकार 'मुद्रा' से व्यक्ति-विशेष का ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार मुद्रा अलंकार में द्वयर्थक शब्दों से विशिष्ट अर्थ का भी संकेत मिल जाता है।

उदाहरण—करुणे क्यों रोती है 'उत्तर' में और अधिक तू रोई।
मेरी विभूति है जो उसको 'भवभूति' क्यों कहे कोई।।

साकेत महाकाव्य में उर्मिला की विरहावस्था का वर्णन है। उस वर्णन में करुणा का आधिक्य है। उसी प्रसंग में गुप्तजी करुण-रसाचार्य भवभूति और उनके नाटक 'उत्तर रामचरित' का बोध 'उत्तर' तथा 'भवभूति' शब्द से करा रहे हैं। अतः यहाँ 'मुद्रा' अलंकार है।

यथासंख्य [क्रमालङ्कार]—जहाँ क्रम से कहे गये पदार्थों का सम्बन्ध उसी क्रम से वर्णित हो वहाँ 'यथासंख्य' अथवा क्रमालंकार होता है—यथासंख्य का शाब्दिक अर्थ है क्रम के अनुसार या क्रमशः। अतः जहाँ पहले जिस क्रम में वर्णन हो तदनुसार फिर पदार्थों का अन्वय हो, वहाँ यथासंख्य या क्रमालङ्कार होता है।

उदाहरण— **नीचे जल था ऊपर हिम था**
एक तरल एक सघन।
एक तत्व की ही प्रधानता
जड़ कहो उसे या चेतन।। (कामायनी)

प्रथम दो पंक्तियों में क्रमालंकार है क्योंकि जल और हिम क्रमशः तरल और सघन होते हैं।

उदाहरण— **बसन्त ने सौरभ ने पराग ने,**
प्रदान की थी अति कान्त भाव से।
वसुन्धरा को, पिक को, मिलिन्द को,
मनोज्ञता, मादकता, मदान्धता। (प्रियप्रवास)

स्पष्टीकरण—इस पद में **बसन्त, सौरभ,** और **पराग** का क्रमशः वसुन्धरा, पिक और मिलिन्द के साथ मनोज्ञता, मादकता और मदान्धता से सम्बन्ध है अतः **'यथासंख्य'** अलंकार है।

मीलित—**जहाँ सादृश्य के कारण एक वस्तु दूसरी वस्तु में इतनी मिल**

जाय कि उनका भेद प्रकट न रहे वहाँ 'मीलित' अलंकार होता है—"मीलित सोइ सादृश्य तें भेद जबै न लखाय।"—'मीलित' शब्द का अर्थ '**छिपालेना**' है। अतः जहाँ समान गुण, रूप, रंगवाली वस्तुएँ इतनी मिल जायें कि उनका भेद प्रतीत न हो वहाँ '**मीलित**' अलङ्कार होता है।

उदाहरण—'मिलि चन्दन बेंदी रही गोरे मुख न लखात' (बिहारी)

स्पष्टीकरण—चन्दन की बिन्दी का रंग और सुन्दरी के मुख का रंग समान है अतः रंग साम्य के कारण वह दिखलाई नहीं देती है। अतः यहां '**मीलित**' अलंकार है।

उन्मीलित—जहाँ मीलित के अभेद का किसी कारण उद्घाटन वर्णित हो वहाँ '**उन्मीलित**' अलङ्कार होता है।' अथवा "**जहाँ दो वस्तुओं में समानता होने पर भी किसी कारण विशेष से भेद प्रकट हो जाये वहाँ 'उन्मीलित' अलङ्कार होता है।**" यह अलकार 'मीलित' से विपरीत होता है। आशय यह है कि दो समान गुण, रंगवाली वस्तुओं के साम्य वर्णन के बाद उसके अन्तर का वर्णन जहाँ हो वहाँ **उन्मीलित** अलंकार होता है।

उदाहरण—डीठि न परत समानदुति कनकु-कनकु से गात।
भुषण कर करकस लगँ परसि पिछाने जात॥ (बिहारी)

इस उदाहरण में स्वर्ण के आभूषण समान रंगवाली नायिका के शरीर में मिलकर एकाकार हो गये हैं। किन्तु स्पर्श करने पर ज्ञात होता है कि स्वर्णाभूषण यह है और नायिका का शरीर यह। स्पर्श से ज्ञात होने के कारण यहाँ '**उन्मीलित**" **अलंकार** है।

अन्य उदाहरण—मिली चन्दन बेंदी रही, गोरे मुख न लखाय।
ज्यों-ज्यों मद-लाली चढ़ै त्यों-त्यों उधरत जाय॥ (बिहारी)

स्पष्टीकरण—प्रस्तुत उदाहरण की प्रथम पंक्ति में 'मीलित' अलंकार है। क्योंकि चन्दन की विन्दी का रंग और नायिका का रंग समान है, अतः बिन्दी दिखाई नहीं देती। किन्तु जैसे-जैसे मद की लाली बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे भेद प्रतीति होती जाती है। अतः यहाँ द्वितीय पंक्ति में '**उन्मीलित**' अलङ्कार है।

अनन्वय—जहाँ एक ही वाक्य में एक ही वस्तु उपमेय और उपमान रूप में प्रस्तुत हो, वहाँ 'अनन्वय' अलङ्कार होता है।

जब कवि को उपमेय के लिए उपमान नहीं मिलता, या जब उपमेय और उपमान एक ही को मान लिया जाता है, ऐसी स्थिति में 'अनन्वय' अलंकार होता है, अन्य किसी से अन्वय न होने के कारण इसे 'अनन्वय' कहते हैं।

उदाहरण— "राम राम से भरत भरत से
और न उनसे कोई"

इस उदाहरण में कवि 'राम को राम के समान' तथा 'भरत को भरत के

समान' कहकर शान्त हो जाता है क्योंकि राम और भरत दोनों उपमेय-उपमान स्वयं ही हैं।

परिकर—**जहाँ साभिप्राय विशेषण पदों का प्रयोग किया जाता है वहाँ 'परिकर' अलंकार होता है।**

उदाहरण— **चक्रपाणि हरि को निरख**
असुर जात भजि दूरि।
रस बरसत घनस्याम तुम
ताप हरत मुद पूरि॥

स्पष्टीकरण—इस उदाहरण में 'चक्रपाणि', 'रस बरसत' तथा 'घनश्याम' ये तीन विशेषण साभिप्राय प्रयुक्त हैं—"हाथ में सुदर्शन चक्र लिए श्रीकृष्ण को देखकर असुरों का भागना निश्चित है। रस बरसाने वाले घनश्याम में ताप हरने और आनन्द देने की क्षमता है, अतः यह 'परिकर' अलंकार है।

सहोक्ति—जहाँ सह [साथ, सहित, सार्थ, संग आदि] अर्थ बोधक शब्दों के सहयोग से एक से अधिक अर्थों का बोध होता है वहाँ **'सहोक्ति'** अलंकार होता है। तथा दो वस्तुओं की तुल्यकालीन दो क्रियाओं का एक ही पद [सहार्थक शब्द की सामर्थ्य से] कथन होता है, वहाँ भी सहोक्ति अलंकार होता है।

उदाहरण—निज पलक, मेरी विकलता, साथ ही
अवनि से, उर से, मृगेक्षिणी ने उठा,
एक पल निज स्नेह-श्यामल दृष्टि से
स्निग्ध कर दी दृष्टि मेरी दीप-सी॥

लक्षण के अनुसार इसमें अवनी से पलक का उठाना तथा 'उर से विकलता को दूर करना' ये दोनों ही कार्य 'साथ' शब्द के प्रयोग से हो गये हैं। अतः यहाँ **'सहोक्ति'** अलंकार है।

व्याजस्तुति—जहाँ किसी की स्तुति के बहाने निन्दा या निन्दा के बहाने स्तुति का वर्णन होता है, वहाँ 'व्याजस्तुति' अलंकार होता है।

उदाहरण—कहतु कौन रण में तुम्हें, धीर, वीर सरदार।
लखि रिपु बिनु हथियार जो डारि देत हथियार॥ (वीर सतसई)

इस उदाहरण में प्रकट रूप में वीर व्यक्ति की निन्दा है। 'कि तुम्हें कौन धीर और वीरों का सरदार कहता है? तुम तो बिना हथियार शत्रु को देखकर हथियार छोड़ देते हो। किन्तु यहाँ निन्दा में स्तुति है। क्योंकि कवि कहना यह चाहता है कि तुम वास्तव में महान् वीर हो जो हथियार रहित शत्रु पर आक्रमण नहीं करते हो। इस प्रकार इस उदाहरण में निन्दा से स्तुति व्यंग्य है अतः यहाँ व्याजस्तुति अलंकार है।

दीपक—जहाँ पर प्रस्तुत [उपमेय] और अप्रस्तुत [उपमान] का एक ही धर्म कहा जाए, वहाँ दीपक अलंकार होता है।'—जिस प्रकार एक स्थान पर रखा हुआ दीपक अपने समीप की सभी वस्तुओं को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार इस अलंकार

में प्रस्तुत और अप्रस्तुत के साथ एक धर्म का सम्बन्ध रहता है। गुण या क्रिया के आधार पर धर्म का इसमें वर्णन रहता है। इसमें समता की प्रतिति मात्र होती है।

उदाहरण—और हू उपाय केते सहज सुढंग ऊधो
साँस रोकिबे कौ कहा जोग ही कुढंग हैं।
कुटिल कटारी है अटारी उतंग अति
जमुना तरंग है तिहारौ सतसंग है।।

स्पष्टीकरण—उद्धव का सतसंग प्रस्तुत गोपियों को उतना ही कष्टदायक है जितना की अटारी से गिरना, कटारी से मरना, यमुना में डूब मरना (अप्रस्तुत) आदि। आशय यह है कि सतसंग प्रस्तुत और अटारी आदि अप्रस्तुत का एक ही मृत्यु रूप धर्म का यही कथन है अतः दीपक अलंकार है।

दीपक के भेद—कारक दीपक—जहाँ पर क्रिया अनेक हों तथा कारक एक हो।

**उदाहरण—कहत नटत, रीझत खिजत, मिलत, खिलत लजियात।
भरे भौन में करत हैं नयननु ही सौं बात।।**

यहाँ पर कहत, नटत आदि क्रियायें अनेक हैं उनका एक ही कारक (नायिका) है अतः यहाँ 'कारक दीपक' अलंकार है।

देहरी दीपक—जहाँ एक ही पद का दो वाक्यों में अन्वय हो, वहाँ 'देहरी दीपक अलंकार होता है।

उदाहरण—दुःख विभीषण को हरौ रावन को अभिमान।।

इस उदाहरण में 'हरौ' क्रिया का विभीषण के दुःख और रावण के अभिमान के साथ सम्बन्ध है अतः यहाँ 'देहरी-दीपक' अलंकार है।

विशेषोक्ति—जहाँ प्रसिद्ध कारण के होने पर भी उसके फल (कार्य) का न होना वर्णित हो वहाँ विशेषोक्ति अलंकार होता है। इस अलंकार में कारण के होने पर भी कार्य के न होने का वर्णन होता है, किन्तु सामान्यतः नियम यह है कि कारण के उपस्थित होने पर उसका कार्य भी रहता है। यह वर्णन कविजन्य होता है तथा चमत्कारपूर्ण होता है।

उदाहरण—नीर भरे निसि दिन रहत तऊ न प्यास बुझात।।

प्यास पानी से बुझती है अतः वह प्यास बुझाने का कारण है किन्तु यहाँ जल रूप कारण के होने पर भी प्यास बुझना रूप कार्य नहीं हो रहा है अतः यहाँ विशेषोक्ति अलंकार है।

निदर्शना—जहाँ पर वर्णित विषयों का परस्पर सम्बन्ध अनुपपन्न होने के कारण अन्त में उपमा में परिणत हो जाए, वहाँ 'निदर्शना' अलंकार होता है। इस अलंकार में वाक्यों का सम्बन्ध असम्भव होते हुए भी बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से उपमा में परिणत होता है। आशय यह है कि असम्भव होते हुए भी सादृश्य सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

उदाहरण—कहाँ अल्प मेरी मति, कहाँ काव्य अति गूढ़ ।
सागर तरबो उडुप सो, चाहतु हों मति मूढ़ ।।

इस उदाहरण में वर्णित-काव्य रचना तथा नौका से सागर पार करना दोनों वाक्यों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है । किन्तु बिम्ब-प्रतिबिंब भाव से दोनों का सम्बन्ध जुड़ जाता है । जिस प्रकार नौका से समुद्र पार करना असंभव है, उसी प्रकार तुच्छ बुद्धि वाले मुझ से काव्य की रचना कठिन है यह उपमा रूप में परिणिति है । अतः यहाँ 'निदर्शना' अलंकार है ।

उल्लेख—जहाँ एक वस्तु का, ज्ञाताओं के भेद के कारण अथवा विषय भेद के कारण अनेक रूपों में वर्णन किया जाता है वहाँ उल्लेख अलङ्कार होता है । इस अलंकार में एक पदार्थ का विविध रूप से वर्णन या अनेक व्यक्तियों द्वारा अपने-अपने अनुभव के आधार पर वर्णन होता है ।

उदाहरण— **तू रूप है किरण में, सौन्दर्य है सुमन में**
तू प्राण है पवन में, विस्तार है गगन में ।

श्री रामनरेश त्रिपाठी यहाँ भगवान के अनेक रूपों का उल्लेख कर रहे हैं अतः यहाँ एक व्यक्ति द्वारा वर्णित उल्लेख अलंकार है ।

उदाहरण—रिस में सिव, रस में रसिक, छवि में ससि इक स्याम ।

श्रीकृष्ण क्रोध में शंकर, रस में रसिक और छवि में चन्द्रमा के समान हैं । एक ही कृष्ण का अनेक प्रकार से वर्णन है अतः यहाँ 'उल्लेख' अलंकार है ।

तद्गुण—जहाँ कोई वस्तु अपना (प्रस्तुत) गुण त्यागकर निकटवर्ती किसी दूसरी वस्तु (अप्रस्तुत) का उत्कृष्ट गुण ग्रहण कर लेती है, वहाँ तद्गुण अलंकार होता है—"जहाँ आपनो रंग तजिलेत और को रंग ।" तद्गुण शब्द का अर्थ है वैसा ही गुण या उसका गुण । अर्थात् अपना गुण त्याग कर दूसरे के गुण को ग्रहण करना । यहाँ समीपस्थ या साथ-साथ वर्णित दूसरे गुण को ग्रहण करता हुआ वर्णन होता है ।

उदाहरण—"नाक का मोती अधर की कान्ति से,
बीज दाडिम का समझकर भ्रान्ति से ।
देखकर सहसा हुआ शुक मौन है,
सोचता है अन्य शुक यह कौन है ।।" (साकेत)

स्पष्टीकरण—इस उदाहरण की प्रथम दो पंक्तियों में 'तद्गुण' अलंकार है । क्योंकि उर्मिला की नाक का श्वेत मोती अपना गुण त्यागकर उर्मिला के लाल अधरों का गुण ले लेता है अतः लालरंग के अनार के बीज का भ्रम उत्पन्न कर रहा है ।

अतद्गुण—"जब कोई वस्तु अपने समीपस्थ वस्तु के गुणों को ग्रहण करने की सम्भावना होने पर भी गुण-ग्रहण नहीं करता, तो वहाँ अतद्गुण अलङ्कार होता है—"जहाँ संग में और को रंग कछू नहि लेत" । अतद्गुण अलंकार तद्गुण अलंकार से विपरीत होता है । इसमें वर्णित वस्तु दूसरे के गुणों से अप्रभावित रहती है जबकि तद्गुण में दूसरे के प्रभाव से प्रभावित ।

उदाहरण—**संगति सुमति ते पावहीं परे कुमति के धन्ध।**
राखौ मेलि कपूर में, हींग न होत सुगन्ध ॥

कपूर के साथ रहने पर भी हींग उसका गुण ग्रहण नहीं करती है, अतः अतद्-गुण अलंकार है।

मानवीकरण (Personification)—अमूर्त्त भावों को मूर्त्त करना मानवीकरण है। अथवा अचेतन पर चेतन का आरोप मानवीकरण है।

लक्षण—जहाँ भावनाओं में मानव गुणों का, उसके कार्यों के आरोप का वर्णन होता है, अथवा अमूर्त्त भावों का मूर्त रूप में वर्णन होता है, वहाँ मानवीकरण अलङ्कार होता है।

उदाहरण—सिन्धु-सेज पर धरा-वधू अब,
तनिक संकुचित बैठी सी।
प्रलय-निशा की हलचल स्मृति में
मान किए सी ऐंठी सी ॥ (कामायनी)

इस उदाहरण में अचेतन धरा पर चेतन वधू का आरोप किया गया है अतः सम्पूर्ण मानिनी नायिका का हो गया है। इसलिये यहाँ 'मानवीकरण अलंकार है।

अन्य उदाहरण—बीती विभावरी जागरी।
अम्बर-पनघट में डूबो रही
तारा घट उषा नागरी ॥ [प्रसाद]

उपर्युक्त पंक्तियों में '**मानवीकरण**' अलंकार है क्योंकि प्रसाद जी ने उषा को रूपसी रूप में देखा है। जो अम्बर के पनघट पर तारों के घट को डुबा रही है।

ध्वन्यर्थ-व्यंजना [Onomatopoeia]—'ध्वन्यर्थ-व्यंजना' शब्द का अर्थ है—"भाव-बोध के लिए ध्वनि की प्रधानता।" काव्य में भाव और नाद की मैत्री से सौन्दर्य बढ़ जाता है। अतः इस अलंकार का भी अपना महत्व है।

लक्षण—जहाँ काव्यगत शब्दों की ध्वनि से ही अर्थ-बोध ध्वनित हो उठे, वहाँ 'ध्वन्यर्थ-व्यंजना' अलङ्कार होता है।

उदाहरण—कंकण किंकिणि नूपुर धुनि सुनि। (निराला)

स्पष्टीकरण—यहाँ कंकण और किंकिणियों की मधुर-ध्वनि से एक विशिष्ट आनन्द की प्राप्ति होती है। अतः ध्वन्यर्थ-व्यंजना अलंकार है।

विशेषण-विपर्यय (Transferred Epithet)—**जहाँ विशेषण के लिङ्ग का बचन के अनुसार परिवर्तन कर दिया जाता है, वहाँ विशेषण-विपर्यय अलङ्कार होता है।**

अभिधा के अनुसार अपने स्थान से हटाकर जब विशेषण का विपर्यय (स्थान परिवर्तन) कर दिया जाता है वहाँ लक्षणा के सहारे अर्थ में चमत्कार आ जाता है। यही नहीं, जब कोई विशेषण चेतन से अचेतन पर स्थानान्तरित कर दिया जाता है, वहाँ भी **विशेषण-विपर्यय** होता है।

उदाहरण—"**अभिलाषाओं की करवट फिर सुप्त व्यथा ।**" (प्रसाद ; आँसू)

अभिलाषाएँ करवट नहीं लेती, आदमी करवट लेता है। व्यथाएँ सुप्त नहीं हैं, आदमी सुप्त है अतः यहाँ **विशेषण-विपर्यय** अलंकार है।

प्रश्न ३२. अलंकार सम्प्रदाय का सामान्य परिचय दीजिए।

अलंकार सम्प्रदाय का उद्भव एवं विकास चिर प्राचीन है। अलंकारों का अस्तित्व वेदों तक में विद्यमान है। वेद, उपनिषद् और ब्राह्मणग्रन्थ में 'अरंकृत', तथा 'अलंकार' शब्द मिलते हैं। निरुक्त में महर्षि यास्क ने 'अरंकृत' शब्द का पर्याय 'अलंकृत' बतलाया है—'सोमा अरंकृता अलंकृता:.........' (निरुक्त १०।१-२)। रामायण-महाभारत आदि ग्रन्थों में भी अलंकार का स्पष्ट प्रयोग मिलता है। अनेक अलंकारों के उदाहरण वहाँ भरे पड़े हैं।

यास्क, पाणिनी, वार्तिककार कात्यायन, आदि के ग्रन्थों में अलंकार-विषयक विवेचन भी मिलते हैं।

राजशेखर द्वारा उल्लिखित आचार्यों के ग्रन्थ न मिलने के कारण "उपमादि अलंकारों का विकास वेद, वेदांग, रामायण, महाभारत आदि से ही मानना समुचित है।"

काव्यशास्त्र-विषयक उपलब्ध ग्रन्थों में भरत मुनि का नाट्य-शास्त्र प्राचीनतम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में उपमा, रूपक, दीपक और यमक अलंकारों का विवेचन हुआ है—"**उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा।**" इस प्रकार काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भरत का नाट्यशास्त्र ही वह प्राचीनतम ग्रन्थ है जिसमें अलंकारों का उल्लेख हुआ है। किंतु भरत का यह ग्रन्थ नाट्य-शास्त्र के तत्वों का ही व्यापक विवेचन करता है, अतः वह नाट्यशास्त्र-विषयक ग्रन्थ है।

अलंकार सम्प्रदाय का प्राचीनतम ग्रन्थ 'काव्यालंकार' है और इसके लेखक भामह हैं। इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम अलंकारों का क्रमबद्ध विवेचन मिलता है। भामह ने काव्य में अलंकारों के महत्व तथा अनिवार्य उपयोगिता की घोषणा करते हुए लिखा है कि—"**न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्।**" इस प्रकार भामह ने कमनीय होने पर भी वनिता के अनलंकृत मुख को असुन्दर घोषित कर गुण से अधिक महत्व अलंकार को प्रदान किया है। भामह के युग में अलंकार लोकातिक्रान्तगोचर अतिशयोक्ति का रूप था। भामह के मत में काव्य का प्राण अलंकार है और अलंकार का सर्वस्व वक्रोक्ति। यही कारण है कि भामह ने रस और भाव के स्वतन्त्र अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं किया है अपितु उनका समावेश रसवत्, ऊर्जस्वित अलंकारों में किया है। अतः हम कह सकते हैं कि अलंकार सम्प्रदाय की स्थापना भामह से हुई है, उन्हें अलंकार काव्य की आत्मा के रूप स्वीकार्य थे।

अलंकार सम्प्रदाय के दूसरे महत्वपूर्ण आचार्य दण्डी हैं। दण्डी ने अलंकार को काव्य-शोभा का कर्त्ता धर्म माना है—"**काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान प्रचक्षते।**"

इस अलंकार को वे काव्य का शाश्वत धर्म मानते हैं, वे भामह की वक्रोक्ति की अपेक्षा अतिशय को अलंकार की आत्मा मानते हैं और अलंकार के साथ गुण और रीति की भी प्रतिष्ठा करते हैं। दण्डी के युग में अलंकार ने काव्य के शोभा विधायक तत्व के रूप में सन्धि-सध्यंग, वृत्ति-वृत्यंग, लक्षण, रस आदि अनेक तत्वों को आत्मसात् कर लिया था। फलस्वरूप अलंकारों के अंगित्व को पूर्ण प्रतिष्ठा मिल गई थी।

यच्च सन्ध्यङ्गवृत्यङ्गलक्षणाद्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टनलङ्कारतयैव नः॥ (काव्यादर्श २/३६७)

तीसरे अलंकार शास्त्री के रूप में 'उद्भट' आते हैं। उद्भट ने भामह के काव्यालंकार की टीका के रूप में 'भामह विवरण' नामक ग्रन्थ प्रस्तुत किया है। इनका विवेचन सूक्ष्म एवं समृद्ध है।

अलंकार शास्त्र के इतिहास में आचार्य वामन का स्थान भी महत्वपूर्ण है। वामन काव्य में अलंकारों का महत्वपूर्ण स्थान मानते हैं। उनकी मान्यता है कि अलंकार काव्य-सौन्दर्य के प्रतिष्ठाता हैं, वे अलंकारों के द्वारा ही काव्य को ग्राह्य मानते हैं, तथा सौन्दर्य ही अलंकार है—

काव्यं ग्राह्यमलंकारात्।
सौन्दर्यमलङ्कारः ॥

वामन ने एक नवीन मान्यता का भी उल्लेख किया है, "यद्यपि उन्होंने गुण-विशिष्ट-पदरचना रूप काव्य की आत्मा में गुण के द्वारा उत्पन्न शोभा के उत्कर्षक को भी अलंकार मानकर ध्वनिकालीन अलंकार-विषयक मान्यता का भी उल्लेख किया है। दण्डी का अलंकार काव्य-शोभा का विधायक था, तो वामन का अलंकार काव्य-शोभातिशय का साधक। वामन की एक विशेषता यह भी है कि वे गुण को काव्य का नित्यधर्म मानते हैं तथा अलंकारों को सहायक तत्व। गुण और अलंकारों का स्पष्ट विवेचन भी वामन ने किया है। वामन अलंकारवादी आचार्य तो थे, किन्तु वे काव्य की आत्मा का पद रीति को देते थे। इसीलिए अलंकार-विषयक उनकी मान्यता काफी सन्तुलित है, तथा किसी भी पूर्वाग्रह से रहित भी।

भामह एवं दण्डी आदि आचार्यों ने अलंकार के अन्तर्गत रस को आत्मसात् कर लिया था, इस मान्यता का खण्डन करने वाले आचार्यों में रुद्रट महत्वपूर्ण हैं। रुद्रट ने रसवत् आदि अलंकारों को पूर्णतः अस्वीकार किया है। रुद्रट ने एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य यह किया है कि उन्होंने अलंकारों का वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष के आधार पर वर्गीकरण किया है। यही नहीं, रस के महत्व को स्वीकार करते हुए लिखा है कि "**तस्मात् कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।**" अलंकारवादी रुय्यक की यह मान्यता भी दर्शनीय है कि प्राचीन आलंकारिकों के अनुसार काव्य में अलंकार ही प्रधान हैं—

तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्।

परवर्ती आचार्यों में दण्डी की मान्यता का समर्थन केवल भोजराज ने किया है, अन्यथा सभी आचार्यों ने वामन की मान्यता के आधार पर विकसित ध्वनिकालीन आचार्यों के द्वारा स्वीकृत 'अलंकार का शोभातिशय हेतु' वाला स्वरूप ही मान्य किया है।

संस्कृत के अलंकारशास्त्रियों में 'अलंकार-सर्वस्व' के लेखक रुय्यक भी प्रसिद्ध हैं। वाग्भट का 'वाग्भटालंकार', जयदेवकृत 'चन्द्रालोक' और अप्पयदीक्षित का 'कुवलयानन्द' अलंकार-विषयक महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

जयदेव की यह घोषणा 'जो विद्वान् अलंकार से रहित शब्द और अर्थ को काव्य मानते हैं वे अग्नि को भी शीतल क्यों नहीं मानते'—

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्मणमनलकृती॥

इसी स्वर में स्वर मिलाते हुए हिन्दी के अलंकारवादी आचार्य केशव भी कहते हैं कि—

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिन न बिराजई कविता बनिता मित्त॥

हिन्दी के अन्य कवि भी अलंकारवादी थे किन्तु रीतिकालीन काव्य में रस और ध्वनि के समक्ष उन्हें सफलता नहीं मिली।

अलंकार सम्प्रदाय के परवर्ती आचार्यों में रुय्यक, जयदेव, अप्पय दीक्षित आदि महत्वपूर्ण हैं। इन सभी ने अलंकार सम्प्रदाय के साहित्य का विकास किया, किन्तु इनकी प्रतिभा भामह, दंडी, वामन आदि से अधिक विकसित न हो सकी। यही नहीं, ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिष्ठित हो जाने के कारण अधिकांश आचार्य मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि अलंकारों का व्यापक विवेचन करने के बाद भी समन्वयवादी थे। अलंकार और रस के यथार्थ स्वरूप की व्याख्या करने वाले थे। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि भामह, दंडी आदि से प्राचीन और अर्वाचीन अलंकार शब्द का प्रयोग उसके अंग रूप का ही प्रतिपादक है, अंगी रूप का नहीं। यदि किसी आचार्य ने अंगी रूप में प्रतिपादन किया भी है, तो यह सिद्धान्त अन्य आचार्यों को मान्य नहीं हुआ है। अतः स्पष्ट रूप में यह कहा जा सकता है कि अलंकार आपाततः सौन्दर्य का वर्द्धक है, काव्य सौन्दर्य को उत्पन्न करने का साधन है, स्वयं साध्य नहीं। वह शोभाकारक या 'सौन्दर्यमलंकारः' नहीं है।

रीति

प्रश्न ३३. (अ) रीति की व्युत्पत्ति करते हुए उसके अर्थ को स्पष्ट कीजिए।
(ब) रीति सम्प्रदाय का सामान्य परिचय दीजिए।
(स) काव्य की रीतियों का सोदाहरण परिचय दीजिए।

लक्षणग्रन्थों में प्रयुक्त 'रीति' शब्द 'रीङ् गतौ' धातु से निष्पन्न हुआ है। 'रीति' शब्द का अर्थ—ढंग, शैली, प्रकार, मार्ग तथा प्रणाली है। भोजराज ने 'सरस्वती कंठाभरण' में रीति शब्द को 'मार्ग' का पर्यायवाची माना है—'वैदर्भीकृतः पन्थाः मार्ग इति स्मृतः। रीति शब्द की एक व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है—"**रियन्ते परम्परया गच्छन्त्यऽनयेति करणसाधनोऽयं रीतिः शब्दः मार्गपर्यायः।**" इस व्युत्पत्ति के आधार पर भी रीति शब्द 'मार्ग' का पर्याय सिद्ध होता है। दूसरे आचार्य रीति शब्द से गुणाभिव्यंजक वर्णों की योजना का अर्थ ग्रहण करते हैं—"माधुर्यादि गुणानां विशेषो ज्ञायतेऽनयेति रीतिरितिः व्युत्पत्तेः"।

'रीति' तत्व काव्य का एक महत्वपूर्ण अंग है। जिस प्रकार ईश्वर की निर्माण-शक्ति से निर्मित लावण्यवती नारी अनिर्वचनीय सौन्दर्य को प्राप्त कर सहृदय मानस के विलास एवं आकर्षण की वस्तु होती है, उसी प्रकार लोकोत्तर काव्य-निर्माण-कुशल कवि द्वारा निर्मित कविता सहृदय के हृदय में रसनिष्पत्ति कर उसे आनन्द के सागर में निमग्न कर देती है। यह आनन्द कवि की रीति या शैली पर विशेष निर्भर रहता है, क्योंकि कविता कामिनी का यह भव्य-भवन रीति पर ही खड़ा होता है।

आचार्य वामन ने रीति सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की है, उनके अनुसार पदों की विशिष्ट रचना ही रीति है—"**विशिष्टापदरचना रीतिः।**" वामन के अनुसार पद-रचना की विशेषता अथवा उत्कर्ष गुणों पर निर्भर है—"**विशेषो गुणात्मा।**" उनके मत में गुण काव्य की शोभा के आधायक तत्व हैं तथा ये काव्य में नित्य धर्म हैं। वामन के मत में रीति काव्य की आत्मा है—'**रीतिरात्मा काव्यस्य।**'

वामन रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार कर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते हैं अपितु काव्य का समस्त सौन्दर्य रीति पर ही आश्रित मानते हैं। पूर्ववर्ती काव्यशास्त्री आचार्य दंडी ने भी इस मत को स्वीकार किया था, उन्होंने रीति एवं गुणों को परस्पर सम्बद्ध कर एक मानने की चेष्टा भी की थी। उनका कहना है कि—"**वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः।**"

अर्थात् वैदर्भी आदि रीतियों के प्राण दश गुण हैं। यद्यपि दंडी ने इस रीति सिद्धान्त की चर्चा की थी, किन्तु इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा का सम्पूर्ण श्रेय वामन को है। आनन्दवर्धन भी रति पर विचार करते हुए लिखते हैं कि—"**वाक्य वाचक चारुत्व हेतुः**" अर्थात् रीति शब्द और अर्थ में सौन्दर्य का विधान करती है। आनन्द ने रस के

साथ भी रीति का महत्वपूर्ण सम्बन्ध माना है, उनके अनुसार—'पदरचना माधुर्य गुणों के आधार पर ही आश्रित रहती है और इसकी अभिव्यक्ति में सहायक होती है—"गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ति माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा रसान्"। आचार्य विश्वनाथ भी रीति को रस का उपकारक मानते हैं।[1] उनके अनुसार रीति पदों के मेल या संगठन को कहते हैं। वह अङ्ग संस्थान की तरह मान्य है। जैसे पुरुषों के शरीर का संगठन होता है। उसी प्रकार काव्य के देह रूप शब्दों और अर्थों का भी संगठन होता है। इसी संगठन का नाम रीति है। यह काव्य के आत्मभूत तत्व रस, भाव आदि की उपकारक होती है। "जिस प्रकार पुरुष या स्त्री की शरीर रचना देखने में सुकुमारता, मधुरता अथवा क्रूरता, कठिनता आदि उसके गुणों का ज्ञान होता है और उससे उस देहधारी की विशेषता का बोध होता है। इसी प्रकार काव्य में भी रचना से माधुर्य आदि गुणों के व्यंजन के द्वारा रसों का उपकार (उत्कर्ष) होता है।"[2] वक्रोक्तिजीवित के लेखक कुन्तक ने इस सिद्धान्त को स्वीकार करने की अपेक्षा इसका विरोध किया था। इसका प्रभाव सम्भवतः मम्मट पर भी पड़ा था और उन्होंने प्रत्यक्ष रूप में रीतियों को स्वीकार न कर वृत्तियों के रूप में इन्हें स्वीकार किया है उनके (मम्मट) अनुसार वृत्ति—नियत वर्णों में रहने वाला रसविषयक व्यापार है—**वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः।**

वे क्रमशः उपनागरिक, परुषा तथा कोमला नामक वृत्तियाँ वैदर्भी, गौड़ी तथा पांचाली रीतियों के स्थान पर स्वीकार करते हैं। राजशेखर ने रीतियों को काव्य का बाह्य तत्व स्वीकार किया है, उनका कथन इस प्रकार है— **'वचन विन्यासक्रमो रीतिः'** शारदातनय भी **'वचन विन्यासक्रम'** को रीति कहते हैं। किन्तु आचार्य विद्याधर रसानुकूल शब्द और अर्थ की योजना को रीति मानते हैं—**"रसोचित शब्दार्थ निबन्धनम् रीतिः।"** आचार्य शिङ्गभूपाल 'पदविन्यास की भङ्गी' रीति मानते हैं। रसगङ्गाधर के लेखक पण्डितराज जगन्नाथ ने भी रीतियों का उल्लेख किया है।

जिस प्रकार अवयवों का उचित सन्निवेश शरीर का सौन्दर्य बढ़ाता है, शरीर का उपकारक होता है, उसी प्रकार गुणाभिव्यंजक वर्णों (रीति) का यथास्थान पर प्रयोग शब्दार्थ शरीर तथा काव्य की आत्मा का विशेष उपकार करता है। अतः काव्य में रीति का विशेष महत्व है। क्योंकि वह काव्यशरीर की एक मात्र आधार है।

रीति भेद निरूपण—आचार्य वामन ने वैदर्भी, गौड़ी एवं पांचाली नामक तीन रीतियाँ मानी हैं।[3] प्रायः यह तीनों ही अधिकांश आचार्यों को मान्य हैं।

वैदर्भी—विदर्भ देश के कवियों के द्वारा अधिक प्रयोग में आने के कारण

१. सा० द० ९।१ पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनां।

२. साहित्य दर्पण हिन्दी टीका : आचार्य शालिग्राम, पृ० २७०।

३. सा त्रिधा वैदर्भी गौडीया पांचाली च (काव्यालंकार सूत्र १. २. ९.)।

इसका नाम वैदर्भी है। आचार्य विश्वनाथ ने इसकी विशेषताओं के आधार पर इसका लक्षण इस प्रकार लिखा है—

माधुर्यव्यंञ्जकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भीरीतिरिष्यते ॥[१]

माधुर्यव्यंजक वर्णों के द्वारा की हुई समासरहित अथवा छोटे समासों से युक्त मनोहर रचना को वैदर्भी कहते हैं। इसका दूसरा नाम ललिता भी है। वामन तथा मम्मट इसे उपनागरिका भी कहते हैं।[२] आचार्य आनन्दवर्धन इन गुणों से सम्पन्न वृत्ति को पूर्णतः समास रहित स्वीकार करते हैं तथा उसे 'असमासा' कहते हैं। रुद्रट के अनुसार यह कोमल और सुकुमार गुणों से युक्त होने के कारण शृंगार, करुण और प्रेयस् आदि रसों के लिए अधिक उपयुक्त है। रुद्रट के अनुसार वैदर्भी का स्वरूप इस प्रकार है—"समासरहित अथवा छोटे-छोटे समासों से युक्त, श्लेषादि दस गुणों से युक्त एवं चवर्ग से अधिकतया युक्त, अल्पप्राण अक्षरों से व्याप्त सुन्दर वृत्ति वैदर्भी कहलाती है।"[3]

वैदर्भी रीति काव्य में विशेष प्रशंसित रीति है। कालिदास को वैदर्भी रीति की रचना में विशेष सफलता मिली है। किसी-किसी आचार्य के अनुसार वैदर्भी रीति में निर्मित काव्य ही वास्तविक काव्य है, वैदर्भी के अभाव में काव्य की कल्पना ही व्यर्थ है क्योंकि वाणी रूपी मधु का परिस्रवण वैदर्भी रीति में ही प्रवाहित होता।[४] इस प्रकार वैदर्भी रीति काव्य में सर्वश्रेष्ठ मान्य है। वामन वैदर्भी को 'समग्रगुणा वैदर्भी' कहते हैं। दंडी वैदर्भी के प्राणभूत दसगुण मानते हैं।[५] राजशेखर के अनुसार वैदर्भी रीति से कर्णप्रिय माधुर्य गुण का प्रवाह प्रवाहित होता है।[६] साहित्य में वैदर्भी रीति अन्य रीतियों की अपेक्षा अधिक समादृत हुई है।

परिभाषा—माधुर्यव्यंजक वर्णों से युक्त, दीर्घसमासों से रहित अथवा छोटे समासों वाली ललितपद रचना का नाम वैदर्भी है, यह रीति शृंगार आदि ललित एवं मधुर रसों के लिए अधिक अनुकूल होती है।

उदाहरण—मधुशाला वह नहीं; जहाँ पर मदिरा बेची जाती है।
भेंट जहाँ मस्ती की मिलती मेरी तो वह मधुशाला ॥

इस पद में कोमल और मधुरवर्णों का प्रयोग हुआ है, समासों का अभाव है।

१. सा० द० ६/२-३।
२. का० प्र० ६/८० माधुर्यव्यंजकैर्वर्णैरूपनारिकोच्यते।
३. सा० द० हिन्दी टीका ६।३ की वृत्ति और हिन्दी पृ० २७१।
४. सतिवक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधुः ॥
५. काव्यादर्श १।४२ इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दशगुणा स्मृताः।
६. काव्यमीमांसा : वाग्वैदर्भी मधुरिमगुणं स्यन्दते श्रोत्रलेह्यम् ॥

पदावली ललित है, श्रुतिमधुर है, अतः वैदर्भी रीति है।

गौडी—यह ओजपूर्ण शैली है। दण्डी इसमें दसगुणों का समावेश नहीं मानते हैं, वामन गौडी रीति के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखते हैं कि इसमें ओज और कान्ति गुणों का प्राधान्य तथा समास की बहुलता रहती है। मधुरता तथा सुकुमारता का इसमें अभाव रहता है।

"समस्तात्युद्भटपदामोजः कान्तिगुणान्वितम्
गौडीमिति गायन्ति रीतिं विचक्षणाः।"

रुद्रट ने इसे दीर्घ समासवाली रचना माना है, जो कि रौद्र, भयानक, वीर, आदि उग्ररसों की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त होती है। दण्डी वैदर्भी के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखते हैं, कि इसके विपरीत गुण गौडी रीति में होते हैं—

"एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि।"

राजशेखर के मतानुसार दीर्घसमासवाली, सानुप्रास तथा योगवृत्ति सम्पन्न गौडी रीति है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने गौडी रीति का लक्षण इस प्रकार लिखा है—"ओजगुण प्रकाशक वर्णों से सम्पन्न, शब्दाडम्बर तथा समासबहुल रचना गौडी रीति कहलाती है।

ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्धः आडम्बरः पुनः।
समास बहुला गौडी (सा० द० ९।३-४)।

इस रीति की रचना में उद्दीपक वर्णों का प्रयोग होता है, जिससे शौर्य भावना का आविर्भाव होता है।

इसी गौडी रीति का दूसरा नाम 'परुषा' है। मम्मट के अनुसार इसका लक्षण इस प्रकार है—**ओजः प्रकाशकैस्तैस्तुपरुषा** (का० प्र० ९।८०)। आचार्य आनन्दवर्धन इसे 'दीर्घसमासवृत्ति' कहते हैं क्योंकि इसमें समासात्मक रचना की अधिकता रहती है। आचार्य पुरुषोत्तम के मतानुसार गौडी रीति का लक्षण इस प्रकार है—

बहुतर समासयुक्ता सुमहाप्राणाक्षरा च गौडी या।
रीतिरनुप्रासमहिमपरतन्त्रा स्तोक वाक्या च॥

अर्थात् अलंकारों से अलंकृत, समास युक्त, महाप्राण वर्णों से युक्त लम्बे वाक्यों वाली रचना गौडी रीति में होती है।

परिभाषा—ओज प्रकाशक वर्णों से सम्पन्न, दीर्घ समास वाली, शब्दाडम्बरवर्ती रीति गौडी होती है।

उदाहरण— **अच्छहि निरच्छ रच्छहि उजारौं इमि।**
तो से तिच्छतुच्छन को कछवै न गंत हौं।
जारि डारों लङ्कहि उजारि डारौं उपवन।
फारि डारों रावण को तो मैं हनुमन्त हौं॥

इस उदाहरण में संयुक्ताक्षरों का प्रचुर प्रयोग है, ओज गुण की अभिव्यक्ति हो रही है। वर्ण कर्णकटु तथा महाप्राण—ट, ठ, ड, ण, ह आदि का प्रयोग हुआ है, अतः

इस पद में गौडी रीति है।

पांचाली—पांचली रीति का उल्लेख भामह तथा दण्डी ने नहीं किया है। इस रीति का सबसे पहले उल्लेख वामन ने किया था। उनके अनुसार—यह माधुर्य और सुकुमारता से सम्पन्न रीति है और अगठित, भावशिथिल, छायायुक्त (कान्ति रहित), मधुर और सुकुमार गुणों से युक्त होती है।[1] सूत्र रूप में यह 'माधुर्य और सौकुमार्योपपन्ना पांचाली' रीति होती है। राजशेखर के मत में यह शब्द और अर्थ के समान गुम्फन से युक्त होती है।[2] विश्वनाथ के अनुसार पांचाली रीति का लक्षण इस प्रकार है :—

वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः।
समस्तपञ्चषपदा बन्धः पाञ्चालिका मता॥ (सा०द० ९।४)

अर्थात् यह पाँच छः समासयुक्त पदों के बन्ध वाली रचना होती है। काव्यप्रकाशकार इसे 'कोमलावृत्ति' कहते हैं—"**कोमला परैरिति**"। उद्भट इसे 'ग्राम्यावृत्ति' कहते हैं। आनन्दवर्धन इसे 'मध्यम समास से युक्त पांचाली वृत्ति' कहते हैं। '**समासेन च मध्यमेनभूषिता**'। भोज ओज एवं कान्ति समन्वित पदों की मधुर सुकुमार रचना को पांचाली कहते हैं।

उदाहरण— **मधु राका मुस्काती थी,**
पहले जब देखा तुमको।
परिचित से जाने कबके,
तुम लगे उसी क्षण हमको।

इस उदाहरण में प्रसाद गुण की अधिकता है। समास का अभाव है। शब्दावली कोमल है, अतः पांचाली रीति है।

राजशेखर 'मागधी' नामक एक अन्य रीति भी स्वीकार करते हैं। जो मगध देश में व्यवहृत होती है। भोज 'अवन्तिका' नामक रीति का उल्लेख करते हैं। एक 'लाटी' नामक रीति भी है, इसका प्रयोग लाटदेश में होता है। रुद्रट के अनुसार लाटी मध्यम समास वाली होती है। इसका उपयोग उग्ररसों में होता है। विश्वनाथ लाटी को वैदर्भी पांचाली के बीच की रीति मानते हैं—

"**लाटी तु रीति वैदर्भीपांचाल्योरन्तरे स्थिता।**" (सा० द० ९।५)

रुद्रट इसी प्रसङ्ग में पाँच अन्य वृत्तियों का इस प्रकार उल्लेख करते हैं—मधुरा, परुषा, प्रौढ़ा, ललिता, भद्रा। किन्तु मम्मट ने इन वृत्तियों को स्वीकार नहीं किया है। मम्मट ने उपनागरिका, परुषा, और कोमला वृत्तियाँ स्वीकार की हैं, जो कि

१. का० सू० वृ० १।२।१३ वृत्ति।
आश्लिष्टश्लथभावां तां पूरणच्छाययाश्रिताम्।
मधुरां सुकुमारांच पांचाली कवयो विदुः॥
२. काव्यमीमांसा : शब्दार्थयोः समोगुम्फः पांचाली रीतिरिष्यते॥

दूसरे विद्वानों की सम्मत वैदर्भी आदि रीतियाँ ही हैं—

"केषांचिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतियो मताः।"

प्रश्न ३४—रीति का वृत्ति, प्रवृत्ति, शैली एवं वक्रोक्ति से अन्तर स्पष्ट कीजिए।

रीति एवं वृत्ति—काव्यशास्त्र में **रीति एवं वृत्ति** का समान प्रयोग मिलता है, अतः वृत्तियों के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान परम आवश्यक है।

काव्यशास्त्र में वृत्तियाँ दो प्रकार की प्रसिद्ध हैं। एक तो अर्थवृत्तियाँ या नाट्यवृत्तियाँ। इनके अन्तर्गत भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी का निरूपण किया गया है—इन्हें नाट्य की माता का पद दिया गया है—**"वृत्तयो नाट्य मातरः**[१]**"**। दूसरी काव्यवृत्तियाँ या शब्दवृत्तियाँ हैं। इनके अन्तर्गत उपनारिका, परुषा और कोमला नामक वृत्तियों की चर्चा की जाती है। रीतियों और शब्द-वृत्तियों में पर्याप्त साम्य है। इसीलिए मम्मट, आनन्दवर्धन आदि इनमें अन्तर नहीं मानते हैं। किन्तु कुछ आचार्य इन्हें भिन्न मानते हैं। उनके अनुसार **रीति में संघटना और वर्ण-योजना रहती है, जबकि वृत्ति में केवल वर्ण योजना**। अतः दोनों समान नहीं हैं। "वृत्तियों का विभाजन रचना के गुण पर है और रीतियों का वर्गीकरण देश या प्रान्त पर है। तथा गुण सम्बद्ध होने पर भी बाह्यरूप की प्रधानता है। वृत्तियों का सम्बन्ध मानसिक पक्ष की ओर है।"[२]

रीति एवं प्रवृत्ति—काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में प्रवृत्ति शब्द भी बहुत प्रचलित हैं, किन्तु यह रीति से भिन्न है। नाट्यशास्त्र में प्रवृत्ति के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है कि जो विशेषता नाना देशों के वेष, भाषा तथा आचार-विचार की व्यंजना करती है, उसे प्रवृत्ति कहते हैं—**"प्रवृत्तिरिति कस्मात्। पृथिव्यां नानादेशवेश भाषाचारवार्त्ताः ख्यापयतीति प्रवृत्तिः।"** राजशेखर के अनुसार वेषविन्यास के क्रम का नाम प्रवृत्ति है—**"वेष विन्यास क्रमः प्रवृत्तिः"**। दशरूपककार धनंजय के मतानुसार—"देश तथा काल के अनुरूप नायक की विभिन्न वेश, क्रिया आदि प्रवृत्ति शब्द से अभिहित की जाती है।" इनका ज्ञान लोकवृत्त से ही होता है—

देश भाषा क्रिया वेष लक्षणाः स्यु प्रवृत्तयः।
लोकादेवावगम्यैतां यथौचित्यं प्रयोजयेत्॥

संक्षेप में रीति एवं प्रवृत्ति का अन्तर यह है **कि रीति का सम्बन्ध काव्य रचना के सौन्दर्य से है, जबकि प्रवृत्ति व्यक्ति की वेषभूषा, आचार-विचार की सूचक है। रीति का नियामक रस है, जबकि प्रवृत्ति का वस्त्रालंकार आदि।**

रीति एवं शैली—अंग्रेजी के Style शब्द का रूपान्तरण शैली है। यह भी रचना की एक रीति या प्रकार ही है। रीति शब्द संकुचित अर्थ में विशिष्ट पद रचना

१. सर्वेषामेव काव्यानां वृत्तयो मातृकाः स्मृता
२. ध्वन्यालोक—व्यवहारोहि वृत्तिरुच्यते।

है और व्यापक अर्थ में वह आज की शैली के अर्थ को भी व्यक्त करती है। शैली शब्द 'शील' से बना है। इस शब्द से कर्त्ता के स्वभाव, रुचि प्रवृत्ति, चरित्र और मनोवृत्ति का पता चलता है। "साहित्य शास्त्र में शैली का अर्थ है विशेष काव्य रचना या अभिव्यंजना पद्धति।"

रीति और वक्रोक्ति—रीति काव्य के बाह्य रूप से विशेष सम्बन्ध रखती है, जबकि वक्रोक्ति अन्तरंग पक्ष से विशेष सम्बद्ध है। रीति सिद्धान्त में अप्रत्यक्ष रूप से (गुणों के अन्तर्गत) रस की स्वीकृति है जबकि वक्रोक्ति का रस ध्वनि से विशेष सम्बन्ध है।

प्रश्न ३५—काव्य गुणों का परिचय देते हुए यह बताइए कि वामन निरूपित दस गुणों का भामह द्वारा निरूपित तीन गुणों में अन्तर्भाव कहाँ तक उचित है और क्यों ?

काव्य शरीर की चर्चा करते हुए विद्वानों ने शब्दार्थ को काव्य का शरीर, रस को काव्य की आत्मा; गुण को आत्मा के धर्म, काव्य के दोषों को काणत्व-अन्धत्व तथा अलंकार को कटक-कुण्डलादि के समान माना है। काव्य के इस रूपक की चर्चा प्राचीन साहित्य में चिरकाल से मिलती है।

अलंकार शास्त्र के उद्भव के साथ ही 'रीति' सम्प्रदाय का आविर्भाव हुआ है। रीति सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक वामन 'गुण' को 'रीति' का आवश्यक तत्व मानते हैं। उनके अनुसार विशिष्ट पदरचना रीति है और गुण उसके विशिष्ट आत्मरूप धर्म है।[१] दण्डी गुणों को वैदर्भमार्ग का प्राण मानते हैं।[२]

'गुण' का शब्दार्थ है—दोषाभाव, विशेषता, आकर्षक अथवा शोभाकारी धर्म। काव्यशास्त्र में भी यह शब्द दोषाभाव, तथा काव्य के शोभाकारी धर्म के रूप में मान्यता प्राप्त है। भरत दोष के विपर्यय को गुण कहते हैं—

"**एतएव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः।**"[३] दण्डी के अनुसार गुण काव्य के शोभा विधायकधर्म हैं। वामन भी 'काव्य के शोभाविधायक धर्म को गुण कहते हैं'— "**काव्य शोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः**"[४] आनन्दवर्धन ने अंगीरूप रस के आश्रित धर्म को गुण' कहा है—"**तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणा स्मृताः।**"[५] मम्मट भी गुणों को रसाश्रित कहते हैं कि आत्मा के शौर्यादि गुणों की भाँति अंगीभूत रस के उत्कर्षकारी स्थिर धर्म गुण हैं—

१. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति १।२।८।
२. काव्यादर्श १।४२।
३. नाट्य शास्त्र १७।९५।
४. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ३।१।१।
५. ध्वन्यालोक २।३।

ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्ष हेतुवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥[1]

आचार्य विश्वनाथ भी रस के अंगीभूत धर्मों को गुण मानते हैं—**रसास्यांगित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा गुणाः ।**[2] उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर गुण विषयक मान्यता को दो वर्गों में मिलकर अध्ययन किया जा सकता है; प्रथम वर्ग उन आचार्यों का है जो गुण को शब्दार्थ का गुण मानते हैं, इनमें वामन और दण्डी हैं। द्वितीय वर्ग में ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन, मम्मट और विश्वनाथ हैं; ये गुण को रसाश्रित मानते हैं, तथा गुण की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं करते हैं। किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ का मत उपर्युक्त आचार्यों से भिन्न है। वे "गुण को शब्दार्थ का धर्म मानते हैं और रस को आत्मा मानते हैं किन्तु उसे रस शून्य बतलाते हैं।"

आचार्य मम्मट ने शौर्यादि के समान गुणों को रस का धर्म माना है। जिस प्रकार शौर्य आदि आत्मा के उत्कर्षक होते हैं उसी प्रकार गुण रस के उत्कर्षक होते हैं। इनकी स्थिति अचल है। इस प्रकार रस एवं गुण परस्पर सम्बद्ध हैं। मम्मट ने गुणों को शब्दार्थ का धर्म नहीं माना है और इस सिद्धान्त का खंडन करते हुए लिखा है कि 'जिस प्रकार शौर्यादि गुण आत्मा के धर्म हैं, न कि शरीर के, उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण भी रस रूप आत्मा के धर्म हैं न कि वर्णादि (वर्ण, रचना, वृत्ति) रूप शरीर के—**"आत्मन एवं हि यथा शौर्यादयो नाकारस्य तथा रसस्यैव माधुर्यादयो गुणा न वर्णानाम् ।**[3] **पुनश्च** वे लिखते हैं कि माधुर्य आदि गुण रसके धर्म हैं, ये वर्णों पर आश्रित नहीं हैं—**अतएव माधुर्यादयो रसधर्माः समुचितैर्वर्णैर्व्यंज्यन्ते, न तु वर्णमात्राश्रयाः ।**[4] किन्तु यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि जब गुण रस के धर्म हैं—ये मधुर शब्द हैं अथवा यह मधुर अर्थ 'यह व्यवहार में क्यों आता है। इसका उत्तर देते हुए मम्मट ने लिखा है कि 'यह व्यवहार गौण रूप से किया जाता है, मुख्यतः गुण तो रस के धर्म हैं—**'गुणवृत्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता ।**[5]

अतः निष्कर्ष यह है कि गुण शब्दार्थनिष्ठ न होकर रसनिष्ठ हैं और ये रसाश्रित हैं। गुणों की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि **'गुण' काव्य के उत्कर्षाधायक वे तत्व हैं जो मुख्यतः रसाश्रित हैं तथा गौण रूप में उन्हें शब्दार्थनिष्ठ कहा जा सकता है।**

गुण-संख्या—गुणों की संख्या के विषय में आचार्यों में पर्याप्त मतवैषम्य है, प्राचीन आचार्यों के यहाँ गुणों की संख्या निरन्तर घटती और बढ़ती रही है किन्तु

१. काव्यप्रकाश ८।१।
२. साहित्यदर्पण ८।१।
३. काव्यप्रकाश वृत्ति—८।६६।
४. वही ,, ।
५. वही ८।७१।

है और व्यापक अर्थ में वह आज की शैली के अर्थ को भी व्यक्त करती है। शैली शब्द 'शील' से बना है। इस शब्द से कर्त्ता के स्वभाव, रुचि प्रवृत्ति, चरित्र और मनोवृत्ति का पता चलता है। "साहित्य शास्त्र में शैली का अर्थ है विशेष काव्य रचना या अभिव्यंजना पद्धति।"

रीति और वक्रोक्ति—रीति काव्य के बाह्य रूप से विशेष सम्बन्ध रखती है, जबकि वक्रोक्ति अन्तरंग पक्ष से विशेष सम्बद्ध है। रीति सिद्धान्त में अप्रत्यक्ष रूप से (गुणों के अन्तर्गत) रस की स्वीकृति है जबकि वक्रोक्ति का रस ध्वनि से विशेष सम्बन्ध है।

प्रश्न ३५—काव्य गुणों का परिचय देते हुए यह बताइए कि वामन निरूपित दस गुणों का भामह द्वारा निरूपित तीन गुणों में अन्तर्भाव कहाँ तक उचित है और क्यों ?

काव्य शरीर की चर्चा करते हुए विद्वानों ने शब्दार्थ को काव्य का शरीर, रस को काव्य की आत्मा; गुण को आत्मा के धर्म, काव्य के दोषों को काणत्व-अन्धत्व तथा अलंकार को कटक-कुण्डलादि के समान माना है। काव्य के इस रूपक की चर्चा प्राचीन साहित्य में चिरकाल से मिलती है।

अलंकार शास्त्र के उद्भव के साथ ही 'रीति' सम्प्रदाय का आविर्भाव हुआ है। रीति सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक वामन 'गुण' को 'रीति' का आवश्यक तत्व मानते हैं। उनके अनुसार विशिष्ट पदरचना रीति है और गुण उसके विशिष्ट आत्मरूप धर्म है।[1] दण्डी गुणों को वैदर्भमार्ग का प्राण मानते हैं।[2]

'गुण' का शब्दार्थ है—दोषाभाव, विशेषता, आकर्षक अथवा शोभाकारी धर्म। काव्यशास्त्र में भी यह शब्द दोषाभाव, तथा काव्य के शोभाकारी धर्म के रूप में मान्यता प्राप्त है। भरत दोष के विपर्यय को गुण कहते हैं—

"एतएव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः।"[3] दण्डी के अनुसार गुण काव्य के शोभा विधायक धर्म हैं। वामन भी 'काव्य के शोभाविधायक धर्म को गुण कहते हैं'—**"काव्य शोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः"**[4] आनन्दवर्धन ने अंगीरूप रस के आश्रित धर्म को गुण' कहा है—**"तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणा स्मृताः।"**[5] मम्मट भी गुणों को रसाश्रित कहते हैं कि आत्मा के शौर्यादि गुणों की भाँति अंगीभूत रस के उत्कर्षकारी स्थिर धर्म गुण हैं—

१. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति १।२।८।
२. काव्यादर्श १।४२।
३. नाट्य शास्त्र १७।९५।
४. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ३।१।१।
५. ध्वन्यालोक २।३।

ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्ष हेतुवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥[1]

आचार्य विश्वनाथ भी रस के अंगीभूत धर्मों को गुण मानते हैं—**रसास्यांगित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा गुणाः।**[2] उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर गुण विषयक मान्यता को दो वर्गों में मिलकर अध्ययन किया जा सकता है; प्रथम वर्ग उन आचार्यों का है जो गुण को शब्दार्थ का गुण मानते हैं, इनमें वामन और दण्डी हैं। द्वितीय वर्ग में ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन, मम्मट और विश्वनाथ हैं; ये गुण को रसाश्रित मानते हैं, तथा गुण की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं करते हैं। किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ का मत उपर्युक्त आचार्यों से भिन्न है। वे "गुण को शब्दार्थ का धर्म मानते हैं और रस को आत्मा मानते हैं किन्तु उसे रस शून्य बतलाते हैं।"

आचार्य मम्मट ने शौर्यादि के समान गुणों को रस का धर्म माना है। जिस प्रकार शौर्य आदि आत्मा के उत्कर्षक होते हैं उसी प्रकार गुण रस के उत्कर्षक होते हैं। इनकी स्थिति अचल है। इस प्रकार रस एवं गुण परस्पर सम्बद्ध हैं। मम्मट ने गुणों को शब्दार्थ का धर्म नहीं माना है और इस सिद्धान्त का खंडन करते हुए लिखा है कि 'जिस प्रकार शौर्यादि गुण आत्मा के धर्म हैं, न कि शरीर के, उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण भी रस रूप आत्मा के धर्म हैं न कि वर्णादि (वर्ण, रचना, वृत्ति) रूप शरीर के—**"आत्मन एवं हि यथा शौर्यादयो नाकारस्य तथा रसस्यैव माधुर्यादयो गुणा न वर्णानाम्।**[3] **पुनश्च** वे लिखते हैं कि माधुर्य आदि गुण रसके धर्म हैं, ये वर्णों पर आश्रित नहीं हैं—**अतएव माधुर्यादयो रसधर्माः समुचितैर्वर्णैर्व्यज्यन्ते, न तु वर्णमात्राश्रयाः।**[4] किन्तु यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि जब गुण रस के धर्म हैं—ये मधुर शब्द हैं अथवा यह मधुर अर्थ 'यह व्यवहार में क्यों आता है। इसका उत्तर देते हुए मम्मट ने लिखा है कि 'यह व्यवहार गौण रूप से किया जाता है, मुख्यतः गुण तो रस के धर्म हैं—**'गुणवृत्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता।**[5]

अतः निष्कर्ष यह है कि गुण शब्दार्थनिष्ठ न होकर रसनिष्ठ हैं और ये रसाश्रित हैं। गुणों की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि **'गुण' काव्य के उत्कर्षाधायक वे तत्व हैं जो मुख्यतः रसाश्रित हैं तथा गौण रूप में उन्हें शब्दार्थनिष्ठ कहा जा सकता है।**

गुण-संख्या—गुणों की संख्या के विषय में आचार्यों में पर्याप्त मतवैषम्य है, प्राचीन आचार्यों के यहाँ गुणों की संख्या निरन्तर घटती और बढ़ती रही है किन्तु

१. काव्यप्रकाश ८।१।
२. साहित्यदर्पण ८।१।
३. काव्यप्रकाश वृत्ति—८।६६।
४. वही ,,।
५. वही ८।७१।

आचार्य मम्मट ने भामह तथा आनन्दवर्धन से प्रेरणा ग्रहण कर तीन गुणों को मान्यता प्रदान की है। मम्मट ने वामन निर्दिष्ट दस शब्द गुण तथा दस अर्थ गुणों का माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीन गुणों में समावेश किया है। मम्मट परवर्ती काल में आचार्य विश्वनाथ तथा हिन्दी के आचार्यों ने मम्मट की मान्यता को प्रायः स्वीकार कर लिया है।

भरत के नाट्यशास्त्र (१७।६६) में दस गुणों को स्वीकार किया गया है—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता एवं कान्ति नामक दस गुण होते हैं—

श्लेषः प्रसादः समता समाधि र्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम् ।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणाः दशैते ॥

परवर्ती अग्निपुराणकार ने तीन प्रकार के—शब्दगत, अर्थगत तथा शब्दार्थोभयगत गुण माने हैं। इन तीनों प्रकार के गुणों की संख्या उन्नीस है। शब्दगतश्लेष, लालित्य, गाम्भीर्य, सुकुमारता, उदारता, सत्य तथा यौगिकी नामक सात गुण हैं।

अर्थगत छः गुण निम्न हैं—माधुर्य, संविधान, कोमलता, उदारता, प्रौढ़ि तथा सामयिकता। शब्दार्थोभयगत छः गुण निम्न हैं—प्रसाद, सौभाग्य, यथासंख्य, उदारता, पाक तथा राग।

आचार्य दण्डी ने भरतमुनि के समान ही गुणों की सत्ता स्वीकार की है किन्तु **नामों में अन्तर है।**

वामनाचार्य का गुणों के प्रसंग में योगदान विशेष उल्लेखनीय है। वामन शब्द-गत दस तथा अर्थगत दस गुण मानते हैं, इस प्रकार वामन के मत में **गुण बीस हैं। वामन के अनुसार गुण शब्दार्थ के नित्य धर्म हैं।** शब्दगत तथा अर्थगत गुणों के नाम समान हैं—

श्लेषः प्रसादः समतामाधुर्य सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्ति समाधयः ॥

अर्थात् श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति तथा समाधि नामक गुण हैं। किन्तु वामन के गुणों के नाम समान होने पर भी इनके लक्षण भिन्न हैं।

भोजराज के सरस्वतीकण्ठाभरण तक गुणों की संख्या चौबीस हो जाती है। वामन के दस गुणों के अतिरिक्त निम्न चौदह गुण और भी हैं—उदात्त, उर्जित, प्रेयान्, सुशब्द, सूक्ष्म, गम्भीर, विस्तार, संक्षेप, सम्मितत्व, भाविक, गति, रीति, उक्ति, तथा प्रौढ़ि। "भोज ने बाह्य (शब्दगुण), आभ्यन्तरिक (अर्थगुण) और वैशेषिक (प्रसंग गुण) के आधार पर चौबीस के उपभेद करके गुणों की संख्या बहत्तर तक पहुँचा दी है।

आचार्य कुन्तक ने औचित्य और सौभाग्य नामक दो 'साधारण' गुण तथा माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य नामक विशेष गुणों का उल्लेख किया है। कुन्तक के कवि स्वभाव पर आधृत तीन मार्ग—सुकुमार, विचित्र और मध्यम हैं।

औचित्य और सौभाग्य तीनों ही मार्गों में एक ही रूप में प्राप्त होते हैं शेष चार गुण प्रत्येक मार्ग में अलग-अलग रूप में मिलते हैं।[1] आनन्दवर्धन ने द्रुति, दीप्ति और व्यापकत्व के आधार पर माधुर्य, ओज तथा प्रसाद नामक तीन गुण माने हैं। आनन्द-वर्धन का प्रभाव मम्मट पर विशेष है। मम्मट ने वामन के गुणों का इन्हीं तीन गुणों में समाहार कर लिया है। पीयूषवर्षी जयदेव ने गुणों की संख्या आठ मानी है—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सौकुमार्य तथा उदारता।[2] जयदेव ने वामनाचार्य के 'कान्ति', तथा 'अर्थव्यक्ति' का शृंगार रस तथा प्रसाद गुण में क्रमशः अन्तर्भाव कर लिया है।[3] यही नहीं, भोज आदि के द्वारा प्रतिपादित न्यास, निर्वाह, औचिती, शास्त्रान्तररहस्योक्ति और संग्रह नामक गुणों को गुण नहीं माना है। जयदेव के मत में ये केवल वैचित्र्य के बोधक हैं।[4]

प्राचीन आचार्यों में भामह ने तीन गुणों के विषय में विचार किया था, किन्तु इस मान्यता को महत्व प्राप्त नहीं हुआ था। आनन्दवर्धन से प्रेरणा प्राप्त कर मम्मट ने तीन गुणों के महत्व का प्रतिपादन किया। यही नहीं, उन्होंने वामन आदि के गुणों का सयुक्ति खण्डन का माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीन गुणों की स्थापना समारम्भ के साथ की है। उनका कथन है कि—

माधुर्योजप्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश।[5]

प्राचीन आचार्यों में वामन ने गुणों पर पर्याप्त विचार किया है। वामन ने भरत तथा दण्डी के निरूपित गुणों के आधार पर वीस गुणों की स्थापना की है, अतः इन आचार्यों के गुणों का समाहार वामन के बीस गुणों में हो जाता है। वैसे तो यह नाम एवं संख्या का ही अन्तर है, भोजनिरूपित गुणों का अन्तर्भाव भी इन्हीं बीस में हो जाता है। मम्मट ने वामन के बीस गुणों में से कतिपय का समावेश माधुर्यादि तीन गुणों में किया है, कुछ को दोषाभाव मात्र कहा है। और कुछ केवल दोषमात्र हैं, अतः गुण दस या बीस न होकर केवल तीन हैं—

केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परेश्रिताः।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश॥[6]

मम्मट के अनुसार वामन के 'प्रसाद', : 'श्लेष', 'समाधि', और 'उदारता' नामक गुणों का अन्तर्भाव ओज गुण में हो जाता है। विश्वनाथ ने लिखा है कि—श्लेष, समाधि, औदार्य और प्रसाद नामक प्राचीन आचार्यों के गुणों का समावेश ओज

१. वक्रोक्तिजीवित १।३०-५१।
२. चन्द्रलोक ४।२-६।
३. वही ४।१०।
४. वही ४।१२।
५. काव्यप्रकाश ८।६८,।
६. काव्य प्रकाश।

गुण के अन्तर्गत हो जाते हैं।

श्लेषः समाधिरौदार्यं प्रसाद इति ये पुनः ।
गुणाश्चिरन्तनैरुक्ता ओजस्यन्तर्भवन्ति ते ॥

तथा 'अर्थव्यक्ति' 'प्रसाद' का ही दूसरा नाम है—

'प्रसादेनार्थव्यक्तिर्गृहीता' । (का० प्र० ८।७२ पर वृत्ति)

कान्ति और सुकुमारता क्रमशः ग्राम्यत्व और 'दुःश्रवत्व' नामक दोषों का परिहार रूप है। मार्गाभेदस्वरूपिणी 'समता' कहीं-कहीं दोष रूप है। वामन के प्रसाद गुण का अन्तर्भाव ओज में होता है तथा उनका अर्थव्यक्ति ही मम्मटादि का प्रसाद गुण है।

आचार्य मम्मट का गुणविषयक मत आज विशेष रूप से मान्यता प्राप्त है। आचार्य विश्वनाथ भी मम्मट के मतानुयायी हैं। हिन्दी साहित्य के आचार्य मम्मट और विश्वनाथ की मान्यता का अनुसरण करते हुए केवल तीन गुणों को मान्यता प्रदान करते हैं। चिन्तामणि एवं कुलपति मिश्र तीन गुणों को, देव दस गुणों को स्वीकार करते हैं किन्तु वाद में देव का अनुकरण प्रायः नहीं हुआ है।

प्रश्न ३६—माधुर्यादि तीन गुणों का सोदाहरण विवेचन कीजिए।

भरत के अनुसार काव्य का माधुर्य श्रुतिमधुरता है। दण्डी के अनुसार रस-मयता ही माधुर्य है। वामन के मत में माधुर्य से अभिप्राय समास-साहित्य तथा उक्ति वैचित्र्य है। 'ध्वनिवादी आचार्यों के मत में सहृदय को द्रवित करने वाला गुण माधुर्य है।' "मम्मट के अनुसार हृदय को भावविभोर करने की विशेषता माधुर्य गुण में है। इस प्रकार माधुर्य का अर्थ हुआ श्रुतिसुखदता, समासरहितता; उक्तिवैचित्र्य, आर्द्रता, चित्त को द्रवित करने की विशेषता, भावमयता, आह्लादकता।"[1] वास्तव में जिस गुण के कारण अन्तःकरण आनन्द से द्रवीभूत हो जाता है, उसे माधुर्य गुण कहते हैं।[2] यह गुण संभोग-श्रृंगार की अपेक्षा करुणरस में, करुण रस से वियोग श्रृंगार में, वियोग-श्रृंगार की अपेक्षा शान्त रस में क्रमशः अधिकाधिक होता है।[3]

माधुर्य गुण में निम्न विशेषतायें मिलती हैं, अथवा माधुर्य गुण में निम्न वर्णों का प्रयोग होता है—

१. क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, त, थ, द, ध, न, प, फ, व, भ, म और ह्रस्व र, तथा ण वर्ग माधुर्य गुण के व्यंजक होते हैं।

१. हिन्दी साहित्यकोष, पृ० २६८।

२. काव्यप्रकाश ८।६८।

आह्लादकत्वं माधुर्यं श्रृंगारे द्रुतिकारणम् ।

३. काव्यप्रकाश ८।६८-६९……।

श्रृङ्गारे अर्थात् सम्भोगे द्रुतिर्गलितत्वमिव ।
करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् ॥

२. माधुर्य गुण में छोटे-छोटे समास होते हैं। समासहीन पदों का प्रयोग अधिक उत्तम होता है।

३. ट, ठ, ड तथा ढ वर्ण का माधुर्य गुण में प्रयोग वर्जित है।

४. यह रचना समास रहित अथवा अल्पसमास युक्त होने पर ही माधुर्य गुण पूर्ण कही जा सकती है।

उदाहरण—अलि-पुञ्जन की मद-गुञ्जन सों,
वन-कुञ्जन मञ्जु बनाय रह्यो।
लगि अङ्ग अनङ्ग-तरङ्गन सों,
रति-रङ्ग उमङ्ग बढ़ाय रह्यो।
बिकसे सर कंजन कम्पित कै,
रजरंजन लै छिरकाय रह्यो।
मलयानिल मन्द दसों दिसिवे,
मकरन्द अमन्द फैलाय रह्यो॥

इस उदाहरण में 'ट' वर्ग का अभाव है। ञ, ङ, न, भ आदि वर्णों का बाहुल्य है तथा छोटे-छोटे समास हैं अतः माधुर्य गुण है।

द्वितीय उदाहरण—

निरख सखी ये खंजन आये।
फेरे उन मेरे रंजन ने इधर नयन मनभाये॥

इस उदाहरण में भी उपर्युक्त माधुर्य गुण की समस्त विशेषतायें विद्यमान हैं।

ओज गुण—काव्य में जो गुण श्रोता के मानसपटल पर उत्साह, वीरता तथा आवेश आदि के बिम्ब उत्पन्न करता है, वह ओज गुण कहलाता है। ओज गुण वीर रस के काव्य में रहता है। वीर रस की अपेक्षा वीभत्स में और वीभत्स रस की अपेक्षा रौद्र रस में क्रमशः अधिकाधिक रहता है।[1] (क) ओज गुण के काव्य में क वर्ग आदि के प्रथम वर्ण का दूसरे वर्ण के साथ संयोग रहता है तथा द्वितीय वर्ण का चतुर्थ वर्ण के साथ। जैसे—कच्छ, पुच्छ, दग्ध, बग्ग आदि। (ख) 'र' वर्ण से युक्त वर्णों की अधिकता रहती है। जैसे—वक्र, नक्र आदि। (ग) ट, ठ, ड, तथा ढ आदि वर्णों का प्राधान्य रहता है। (घ) लम्बे समास, संयुक्त वर्ण एवं पद तथा कठोर वर्णों की रचना का ओज गुण में बाहुल्य रहता है।

उदाहरण—इन्द्र जिमि जम्भ पर,
बाडव सुअम्भ पर,

१. काव्यप्रकाश ८।६९-७०।
दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति।
वीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च॥

रावन सदम्भ पर,
रघुकुल राज है।
पौन वारिवाह पर,
सम्भु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्रबाहु पर,
राम द्विजराज है। (शि० भू०)

इस उदाहरण में संयुक्ताक्षरों का आधिक्य है, ओज गुण है। अतः पढ़कर भुजायें फड़कने लगती हैं।

द्वितीय उदाहरण—

मारहिं चपेटन्हि डाटि दांतन्ह काटि लातन्ह मींजहीं।
चिक्करहिं मर्कट भालु छलबल करहिं जेहिं खल छीजहीं।
(रा० च० मा० ६।८१)

इस पद में ट वर्ग के वर्णों तथा संयुक्ताक्षरों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। इसमें वीर रस तथा ओज गुण की सत्ता विद्यमान है।

प्रसाद गुण—प्रसाद का शाब्दिक अर्थ है—प्रसन्नता या खिल जाना। अतः जिस काव्य को पढ़कर मन प्रसन्न हो जाय, हृदय की कली खिल उठे, वहाँ प्रसाद गुण होता है, इस गुण की विशेषता है सहजग्राह्यता।

जिस प्रकार सूखे ईंधन में अग्नि, स्वच्छ वस्त्र में जल तुरन्त ही व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार जो गुण चित्त में तत्काल व्याप्त हो जाता है, वह प्रसाद गुण कहलाता है। इस गुण की सभी रसों तथा सभी रचनाओं में स्थिति रहती है।[1] विशेष रूप से प्रसाद गुण वहाँ होता है। जहाँ सरल, सहज भावव्यंजक शब्दावली का प्रयोग होता है, अर्थ की स्पष्टता एवं सहज-ग्राह्यता इस गुण की विशेषता है।

उदाहरण—नाम अजामिल से खलतारन,
तारन वारन वारवधू को।
नाम हरे प्रह्लाद - विषाद,
पिता भव सांसति सागर सूको।
नाम सों प्रीति प्रतीति विहीन,
गल्यो कलिकाल करालन चूको।
राखि हैं राम जु जाके हिये,
'तुलसी' हुलसै बल आखर दूको।।

इस पद को पढ़ते ही इसका भाव स्वतः स्पष्ट हो जाता है अतः यहाँ प्रसाद

१. काव्य प्रकाश ८।७०-७१—
शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः।
व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः।।

गुण है, रचना भी सरल एवं सुबोध शैली में है।

द्वितीय उदाहरण—

सुरभित हरियाली हो जहाँ दीखती तू,
सुमधुर मतवाली कूक को कूजती तू।
सहृदय जन तेरे शब्द से हैं लुभाते,
कवि जन गुण तेरे नित्य सानन्द गाते ॥

अथवा

वह आता,
दो टूक कलेजे के करता,
पछताता पथ पर आता।   (निराला : भिखारी)

इन दोनों ही पदों की शैली सरल, स्वतः भावगम्य एवं सुबोध है अतः यहाँ प्रसाद गुण है।

प्रश्न ३७—गुण एवं अलङ्कारों के पारस्परिक अन्तर को सप्रमाण स्पष्ट कीजिये।

भारतीय साहित्यशास्त्र में गुण तथा अलंकार का महत्वपूर्ण स्थान है। काव्य के लिए ये दोनों तत्व किस रूप में उपयोगी हैं इस पर पर्याप्त विचार किया गया है। इसी प्रसङ्ग में काव्य शरीर के रूपक की चर्चा चली है तदनुसार—"शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं, रस-भाव आत्मतत्व है, माधुर्यादि गुण शौर्यादि की भाँति रसरूप आत्मतत्व से अपृथक् सिद्ध धर्म हैं, श्रुतिदुष्टादि दोष काणत्व आदि की भाँति रसरूप आत्मतत्व के सौन्दर्यापकर्षक हैं, वैदर्भी आदि रीतियाँ शरीर संस्थान (अङ्गरचना) के समान काव्य-संस्थान हैं और उपमादि अलंकार कटक-कुण्डल आदि आभूषणों की भाँति शब्द और अर्थ के सौन्दर्यवर्द्धक हैं।"[1] उपर्युक्त रूपक में गुणों को काव्य का आवश्यक तत्व तथा अलंकारों को शोभावर्द्धक तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है। यदि अलंकार न भी हों तो काव्य-शरीर की कुछ हानि नहीं, किन्तु यदि गुण न हो तो काव्य शरीर व्यर्थ ही हो जाता है। गुण एवं अलंकारों के अन्तर को सर्वप्रथम 'काव्यालंकार सूत्र' के भाष्यकार भट्टोद्भट्ट ने व्यर्थ मान कर लिखा है कि "जिस प्रकार शरीर पर हारादि अलंकार संयोग सम्बन्ध से स्थित हैं, उसी प्रकार काव्य में शब्दार्थ-शरीर के समान उपमा, अनुप्रासादि संयोगवृत्ति से, माधुर्यादिगुण रस में समवायवृत्ति रहते हैं। इनमें भेद की कल्पना असङ्गत है।[2]

१. साहित्यदर्पण १/२ की वृत्ति—"काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः, काणत्वादिवत्, रीतियोऽवयव संस्थानविशेषवत्, अलङ्काराः कटककुण्डलादिवत् इति।"

२. 'समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादय इत्यस्तु गुणालङ्काराणां भेदः, ओजःप्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्यास्थितिरिति गड्डलिका-प्रवाहेणैवेषां भेदः इत्यभिधानमसत्।'   (काव्य प्रकाश से उद्धृत)

गुण एवं अलंकार के विषय में द्वितीय मत आचार्य वामन का है। वे गुण एवं अलंकार में अन्तर मानते हुए लिखते हैं कि काव्य-शोभा के उत्पादक धर्म गुण कहलाते हैं तथा काव्यशोभा की वृद्धि करने वाले धर्म अलंकार कहलाते हैं। गुण काव्य के नित्य धर्म हैं, उनके बिना काव्य में शोभा की उत्पत्ति सम्भव नहीं है—

काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः। का० सू० वृ० ३।१।१

तदतिशय हेतवस्त्वलंकाराः। का० सू० वृ० ३।१।२

पूर्वे नित्याः गुणाः तैर्विनाकाव्यशोभानुपपत्तेः ३।१।३

इस प्रकार वामन गुणों को काव्य का आवश्यक तत्व मानते हैं तथा अलंकारों को शोभावर्द्धक मात्र। अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति भी इसी भाव का समर्थन करती है—**"अलंक्रियतेऽनेनेतिकरण व्युत्पत्त्याऽलंकार शब्दः।"** वामन अपने आशय का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि "जैसे लावण्यादि गुणों से विशिष्ट रमणी का सौन्दर्य कटक-कुण्डल आदि अलंकारों की सुन्दर योजना से द्विगुणित हो जाता है वैसे ही माधुर्य आदि गुणों से युक्त कविता का स्वरूप अनुप्रास, उपमा आदि अलंकारों की सुन्दर योजना से और भी मनोहारी बन जाता है। कविता के माधुर्य आदि गुण तो रमणी के सौन्दर्य आदि गुणों की भाँति हैं जिनके अभाव में अनुप्रास-उपमा आदि अलंकार वैसे सौन्दर्यहीन प्रतीत होते हैं जैसे कि लावण्य आदि के अभाव में युवती के कटक-कुण्डल आदि अलंकार हीनप्रभ लगते हैं।[1]

तृतीय मत आनन्दवर्धन का है जो गुण एवं अलंकार में भेद मानते हुए गुणों को काव्य की आत्मा रस का धर्म मानते हैं तथा अलंकारों को काव्य के अङ्गभूत शब्द **और अर्थ का धर्म। मम्मट ने उद्भट के** मत का खंडन किया है, वामन के मत को भी सदोष बतलाकर आनन्दवर्धन के मत का समर्थन किया है। आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य के अङ्गीभूत रसादि के आश्रय में रहने वाले धर्म गुण कहलाते हैं तथा अलंकार काव्य के अंगभूत शब्दार्थ के धर्म हैं—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अंगाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्॥[2]

आनन्दवर्धन के अनुसार यह स्पष्ट है कि गुण आन्तरिक तत्व हैं जबकि अलंकार वाह्य।

भोजराज ने इस विषय पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि अलंकृत

१. काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति ३।१।२—
युवतेरिवरूपमङ्गकाव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलङ्कारविकल्पकल्पनाभिः॥
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्योवपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलङ्करणानि संश्रयन्ते॥

२. ध्वन्यालोक २।६।

काव्य होने पर भी गुणाभाव में वह श्रव्य नहीं है, गुणालंकार में गुण मुख्य हैं।[1]

समन्वयवादी मम्मट गुण का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि 'शरीर स्थित आत्मा के शौर्य आदि धर्म जिस प्रकार आत्मा के साथ एकाकार होकर शाश्वत रहते हैं तथा आत्मा के शोभावर्द्धक होते हैं। उसी प्रकार काव्य के माधुर्य, ओज तथा प्रसादादि गुण रस के साथ नित्य सम्बद्ध होकर काव्य की श्रीवृद्धि करते हैं।[2] मम्मट के अनुसार रसोत्कर्ष तथा रसनिष्ठत्व गुणों का धर्म है। रस काव्य का आत्मतत्व है:आत्म-तत्व का गौरव प्रदान करने के कारण इनका महत्व स्वयं सिद्ध है, जबकि अलंकार बाह्य तत्व है। अलंकार के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए मम्मट लिखते हैं कि जिस प्रकार कभी-कभी हार-केयूर आदि आभूषण मानव-शरीर के सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं उसी प्रकार कभी-कभी अनुप्रास, उपमा आदि अलंकार शब्दार्थ रूपी काव्यशरीर की सौंदर्य-वृद्धि करते हैं किन्तु शाश्वत श्रीवृद्धि नहीं।[3] क्योंकि कुरूप स्त्री द्वारा धारण किए गए अलंकार भारमात्र होते हैं तथा सुन्दरी के सौन्दर्यवर्द्धक भी। इसी प्रकार अलंकारों की भी स्थिति है।

निष्कर्ष यह है आचार्य मम्मट, भट्टोद्भट तथा वामन के मत को अनुचित मानते हैं। वामन का मत उन्हें इसलिए मान्य नहीं है क्योंकि गुणों की स्थिति रस के विना सम्भव नहीं है तथा अलंकारों की स्थिति रस के अभाव में भी सम्भव है। गुण रस के नित्य धर्म हैं,-उनके बिना काव्य-शोभा उत्पन्न नहीं हो सकती है। अलंकार काव्य के लिए अपरिहार्य नहीं है क्योंकि अलंकार के बिना भी सुन्दर तथा मनोहारी काव्य का सृजन हो सकता है।

प्रश्न ३८. शैली लेखक की वैयक्तिकता है ?

शैली की परिभाषा विद्वानों ने अनेक प्रकार से की है। प्रत्येक विद्वान का अपना दृष्टिकोण दूसरे से भिन्न है। यदि एक का मत है कि—"शैली विचारों का परिधान है" तो दूसरा कहता है कि "शैली विचारों का अंगन्यास है।" तो किसी के मत में "शैली लेखक की आत्मा है" तो किसी अन्य के अनुसार "शैली लेखक की वैयक्तिकता है।" बफन का मत है—Style is the man himself. इसी प्रकार गेटे ने अपने एक पत्र में लिखा था कि साहित्यकार की अन्तरात्मा की छाप ही उसकी

१. सरस्वतीकण्ठाभरण—अलंकृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम् ।
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालङ्कारयोगयोः ।

२. काव्यप्रकाश ८।६६ ।
ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥

३. काव्यप्रकाश ८।६७ ।
उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥

शैली है। दूसरी ओर संस्कृत साहित्य में 'रीतिरात्मा काव्यस्य' और 'वक्रोक्तिः काव्य-जीवितम्' आदि कथन भी शैली को प्रधानता देते हुए उसके स्वरूप को स्पष्ट करते हैं।

उपर्युक्त मन्तव्यों के अध्ययन के पश्चात् हमारा विचार यह है कि शैली अभि-व्यक्ति का एक प्रकार है। बाबू गुलाबराय ने लिखा है कि "काव्य में शैली का वही स्थान है जो मनुष्य में उसकी आकृति और वेशभूषा का। यद्यपि यह हमेशा ठीक नहीं कि जहाँ सुन्दर आकृति हो वहाँ सुन्दर गुण भी होते हों तथापि आकृति और वेशभूषा गुणों के मूल्यांकन को बहुत कुछ प्रभावित करते हैं।" निश्चय ही किसी लेखक की शैली के द्वारा उस कृति के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ विचार स्थिर कर सकते हैं। इसी प्रकार साहित्यिक शैली के द्वारा लेखक के व्यक्तित्व का अनुमान भी लगाया जा सकता है। मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा है कि "भावों की कुशल अभिव्यक्ति ही कला है।" कला ही शैली है। अतः शैली जितनी अच्छी और परिष्कृत होगी विचार भी उतने ही परिष्कृत होंगे। शैली की इसी विशेषता को लक्ष्य कर लार्ड चैस्टरटन ने अपने पुत्र के नाम पत्र में लिखा था—"शैली विचारों का परिधान है।" अर्थात् हमारे विचार ही शैली के माध्यम से प्रकट होते हैं। निश्चय ही जैसे विचार होंगे, वैसी ही हमारी शैली और वैसा ही हमारा व्यक्तित्व तथा विचार भी होगा। जिस प्रकार हम किसी व्यक्ति की वेशभूषा से उसकी रुचि का परिज्ञान कर लेते हैं, उसी प्रकार शैली द्वारा लेखक के विचारों का ज्ञान हो जाता है। शान्त और सात्विक विचारों वाले व्यक्ति की वेषभूषा अत्यन्त सामान्य होती है जब कि रंगीन हृदय वाले व्यक्ति की वेषभूषा चमक-दमक वाली। इसी प्रकार शान्त, गम्भीर और सात्विक विचारों वाले साहित्यकार की शैली में सर्वत्र गम्भीरता के दर्शन होते हैं जब कि दूसरे प्रकार के व्यक्तियों की शैली में अश्लीलता और प्रदर्शन। भावों की गम्भीरता के अभाव में उस कमी को शब्दाडम्बर के द्वारा पूर्ण किया जाता है।

शैली के सम्बन्ध में ऊपर व्यक्त सिद्धान्त-वाक्यों के सम्बन्ध में हमारा स्पष्ट मत यह है कि वे आंशिक रूप में ही सत्य हैं। उदाहरण के लिए 'शैली विचारों का परिधान है।' परिधान वस्त्र को कहते हैं, वस्त्र का आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है। वस्त्र का शरीर से सम्बन्ध तो है किन्तु उस परिधान को शरीर से अलग भी किया जा सकता है। इसी प्रकार शैली लेखक की आत्मा का पद भी नहीं ले सकती है क्योंकि वह तो अभिव्यक्ति की साधना मात्र है। शैली के सम्बन्ध में बफन का यह विचार—शैली मनुष्य है—Style is the man himself. पर्याप्त अंश में सत्य है। क्योंकि शैली पर उस साहित्यकार के व्यक्तित्व की छाप रहती है। डा० रामदत्त भारद्वाज ने इस विषय में विचार करते हुए लिखा है कि "कबीर, सूर, तुलसी, बिहारी आदि प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं पर उनके व्यक्तित्व की छाप पड़ी होती है। जब उनकी कोई पंक्ति हमारे सामने आती है तो नाम जाने बिना ही हमको यह आभास मिलने लगता है कि उक्त कवियों में से वह अमुक की है। रामचन्द्र शुक्ल की गद्यशैली

गम्भीर, सशक्त और प्रभावपूर्ण है, किन्तु श्यामसुन्दरदास की अपेक्षाकृत सरल है। जयशंकर प्रसाद का काव्य विशाल, गम्भीर एवं भावपूर्ण है, पर 'सुमित्रानन्दन पन्त के काव्य में कोमलता, करुणा, और बालसुलभ जिज्ञासा उपलब्ध है। सूर्यकान्त 'निराला' ने झुकना नहीं सीखा न साहित्य में, न जीवन में। अतएव उनकी शैली में शक्ति और गम्भीरता विद्यमान है। करुणा-कलित महादेवी वर्मा के काव्य में करुणा व्याप्त है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार कवि के स्वभाव और शैली में परस्पर साम्य है, उसी प्रकार विषय और शैली का भी परस्पर गहरा सम्बन्ध होता है। लौन्जाइनस ने ठीक ही कहा है कि **महान् आत्मा ही महान् काव्य की रचना करती है।** विषय प्रतिपादन के अनुसार एक ही लेखक की शैली कभी गम्भीर और कभी सरल होती है, यथा महावीर प्रसाद द्विवेदी की। वफन का कथन शत-प्रतिशत ठीक नहीं, अधिकांश में सत्य है, क्योंकि कभी-कभी व्यक्तित्व के पहचानने में भ्रम भी हो जाता है, यथा—

अमिय हलाहल मद भरे स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि-झुकि परत जेहि चितवत इक बार।

इस दोहे को कुछ लोग बिहारी का समझते थे, किन्तु है यह रसलीन कवि का जैसा कि शुक्ल जी ने अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में स्पष्ट किया हैं।"

साहित्य और साहित्यकार के व्यक्तित्व में एकरूपका रहती है। सूर और तुलसी का व्यक्तित्व भिन्न था, इस भिन्न व्यक्तित्व का प्रभाव उनके साहित्य में लक्षित होता है। तुलसी भक्त थे, तथा सामाजिक परिस्थितियों से असन्तुष्ट थे, किन्तु उनका व्यक्तित्व क्रांतिकारी होते हुए भी समन्वयवादी था, परिणामतः उनका साहित्य व्यापक एवं महान् है। लोकमंगल की भावना उनके असन्तोष की अभिव्यक्ति थी। विनय—पत्रिका उनके भक्त हृदय की अभिव्यक्ति है। अतः कह सकते हैं कि शैली लेखक की आत्मा एवं व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति है।

रामचन्द्र शुक्ल का व्यक्तित्व गम्भीर था, उनका साहित्य उनके व्यक्तित्व से प्रभावित है। डा० द्विवेदी ने लिखा है कि "वे इतने गम्भीर और कठोर थे कि उनके वक्तयों की सरसता उनकी बुद्धि की आँच से सूख जाती थी और उनके मतों का लचीलापन जाता रहता था। आपको या तो 'हाँ' कहना पड़ेगा या 'न'। बीच में खड़े होने का कोई उपाय नहीं। उनका अपना मत सोलह आने अपना है। तनकर वे कहते हैं, मैं ऐसा मानता हूँ, तुम्हारे मानने न मानने की मुझे परवाह नहीं।" इस कथन से स्पष्ट है कि उनका व्यक्तित्व कैसा था, जैसा उनका व्यक्तित्व था वैसा उनका साहित्य भी।

निष्कर्ष रूप में हम यही कहना चाहते हैं कि शैली विचारों का परिधान है, अङ्ग-न्यास है, शैली लेखक की वैयक्तिकता है, अथवा आत्मा है, उपर्युक्त समस्त कथन आंशिक रूप में ही सत्य हैं। साथ ही यह भी विदित होना चाहिये कि शैली लेखक की वैयक्तिकता होने पर भी वह उसकी आत्माभिव्यक्ति की साधिका है। निश्चय ही शैली, व्यक्तित्व तथा विचार परस्पर-सापेक्ष हैं।

वक्रोक्ति

प्रश्न ३६—वक्रोक्ति सिद्धान्त का विकासात्मक परिचय देते हुए उसके ार्थ तथा भेदों का विवेचन कीजिए।

अथवा

"वाणी के विलक्षण व्यापार का नाम वक्रोक्ति है।" इस कथन का विवेचन किजिए।

वक्रोक्ति का शब्दार्थ है—वक्र+उक्ति=टेढ़ा कथन या टेढ़ी उक्ति। सामान्य रूप में यह शब्द काव्यशास्त्र में भामह के द्वारा प्रयुक्त होता है। भामह ने काव्यालंकार में 'लोक-व्यवहार से भिन्न अतिशयोक्ति (लोकातिक्रांतगोचर) को वक्रोक्ति माना है, यही नहीं, वे समस्त अलंकारों का मूल भी वक्रोक्ति को मानते हैं।' वक्रोक्ति के अभाव में वे अलंकारों का अस्तित्व भी स्वीकार नहीं करते हैं।[1] वामन ने 'वक्रोक्ति' को उपमा प्रपंच के अन्तर्गत अर्थालंकार माना है।[2] दण्डी ने वक्रोक्ति को 'सर्वालंकार मूला' कहा है। रुद्रट उक्ति-प्रत्युक्ति में वक्रोक्ति अलंकार की सत्ता स्वीकारते हैं। चन्द्रालोककार जयदेव ने वक्रोक्ति को अर्थालंकार माना है। मम्मट और विश्वनाथ भी वक्रोक्ति को अर्थालंकार के रूप में मानते हैं। हिन्दी के आचार्यों में केशव, जसवन्तसिंह, मतिराम और भूषण आदि ने इसे अर्थालंकार माना है।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्तक ने वाणभट्ट के—वाक् छल, क्रीड़ालाप, परिहास-जल्पित, चमत्कारपूर्ण शैली, वचन विद्ग्धता[3] आदि वक्रोक्ति शब्द के अर्थों की पृष्ठभूमि में वक्रोक्ति को वैदग्ध्य-भंगी-भणिति[4] कहा है। **'वैदग्ध्य'** का अर्थ है : निपुण कवि के काव्य-निर्णाण करने का कौशल, **'भंगी'** का अर्थ है : विच्छित्ति, चमत्कार, चारुता, शोभा आदि और **'भणिति'** का अर्थ है वर्णनशैली। इस प्रकार कुन्तक के अनुसार "काव्य निर्माण की अपूर्व कुशलता से लोकोत्तर चमत्कारप्राण विचित्र कथन वक्रोक्ति है।"[5] कुन्तक ने वक्रोक्ति को विचित्र कथन—"विचित्रै वा-

---

१. काव्यालंकार २।८५ सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥

२. काव्य० सू० वृ० ४।३।८ "साहृश्याल्लाक्षणा वक्रोक्तिः।"

३. कादम्बरी पूर्व भाग : वक्रोक्ति निपुणेन विलासिजनेन,
वक्रोक्तिनिपुगेन आख्यायिकाख्यान (परिचय-चतुरेन) पृ० ८७।

४. वक्रोक्तिजीवित, १।१० "वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्य-भंगी-भणितिरुच्यते।"

५. वही १।१० की वृत्ति : वैदग्ध्यं विदग्धभावः, कविकर्मकौशलम् तस्य भङ्गी विच्छितिः, तया भणितिः।

भिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते"[1] भी कहा है। 'विचित्र' का अर्थ स्पष्ट करते हुए कुन्तक ने इसके तीन अर्थ किये हैं—(क) शास्त्र आदि में प्रसिद्ध (प्रयुक्त) शब्द-अर्थ के साधारण प्रयोग से भिन्न प्रयोग विचित्र कथन है।[2] (ख) शब्दार्थ-प्रयोग के प्रसिद्ध-मार्ग से भिन्न[3] कथन। (ग) सामान्य व्यवहार में प्रयुक्त शब्द-अर्थ के प्रयोग से भिन्न[4] कथन।

इन तीनों ही अर्थों का सारांश यह है कि कुन्तक का 'विचित्र' से अभिप्राय "शास्त्र तथा लोक-व्यवहार में प्रयुक्त होने वाले शब्द-अर्थ की रचना से विलक्षण शब्दार्थ की उक्ति—विचित्रोक्ति अर्थात् वक्रोक्ति है।" यह वक्रोक्ति प्रतिभा-सम्पन्न कवि के कर्म-कौशल से निर्मित होने पर ही वैचित्र्यपूर्ण होती है।

कुन्तक की वक्रोक्ति का आशय केवल इतना ही नहीं है, वे 'सहृदय-हृदयाह्लादकारिणी' वक्रोक्ति को ही स्वीकार करते हैं। वक्रोक्ति के इसी गुण पर वे विशेष रूप से रीझे हैं। इसी वक्रोक्ति को वे काव्य की आत्मा मानते है।[5] कुन्तक के मतानुसार 'अलंकृत होने पर ही काव्य की काव्यता है—' 'सालंकारस्य काव्यता'। कुन्तक ने अपने काव्य के लक्षण में इसी तथ्य को स्पष्ट किया है—"काव्य-मर्मज्ञ सहृदयों के आह्लादकारक सुन्दर वक्र कवि व्यापार से युक्त रचना में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर काव्य कहलाते हैं।"[6] महिमभट्ट "शास्त्र आदि के प्रसिद्ध मार्ग को छोड़कर चमत्कार की सिद्धि के लिए दूसरे ढंग से जो अर्थ का प्रतिपादन होता है उसे वक्रोक्ति कहते हैं।" (व्य० वि० १।६६)

कुन्तक के सम्पूर्ण विवेचन का सार यह है कि उनकी वक्रोक्ति चमत्कारप्राण है, वह चमत्कार उत्पन्न करने के कारण ही वक्र-उक्ति है। कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति से ही अर्थ का विभावन होता है। "अतः कवियों को इसके लिए विशेष सचेष्ट रहना चाहिए, क्योंकि इसके बिना न तो अलंकार का अस्तित्व रह सकता है और न उसका महत्व ही।" कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा सिद्ध किया है किन्तु उनके इस मत को परवर्ती काल में स्वीकार नहीं किया गया है। वे अकेले ही इस मत के प्रवर्त्तक तथा अनुयायी हैं, पीछे के काव्यशास्त्रियों ने तो वक्रोक्ति को केवल एक अलंकार माना

कुन्तक को वक्रोक्ति कवि प्रतिभाजन्य उक्ति-चारुत्व' होते हुए भी महत्वपूर्ण

१. व० जी० १।१० की वृत्ति।
२. वही १।७ की वृत्तिः "शास्त्रादि-प्रसिद्ध शब्दार्थोपनिबन्ध-व्यतिरेकी'।
३. वही १।१८ को वृत्ति-प्रसिद्ध-प्रस्थान व्यतिरेकी-वैचित्र्यम्।
प्रसिद्ध-प्रस्थानातिरेकेण-वैचित्र्येण।
४. वही १।१९ अतिक्रान्त-प्रसिद्ध व्यवहार'सरणिः।
५. वही वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्।
६. वही १।७ "शब्दार्थौ सहितौ वक्र-कविव्यापार-शालिनी।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी।"

है। इससे भी महत्वपूर्ण है कुन्तक की प्रतिभा। अपनी प्रतिभा से कुन्तक ने वक्रोक्ति का बड़े समारम्भ से प्रतिपादन किया है। उनकी वक्रोक्ति में वैचित्र्य अनिवार्य है, कुन्तक की वक्रोक्ति अपने में सभी प्रकार के काव्यों को समाहित करती है, व्यापक रूप में उन्होंने ध्वनि, रीति आदि को अपनी वक्रोक्ति में समेटने का प्रयास किया है।

डा. नगेन्द्र ने वक्रोक्ति के विषय में कुछ प्रश्नों का समाधान किया है।

प्रथम प्रश्न यह है कि **'क्या सभी वक्रोक्ति काव्य हैं?'** इसका उत्तर नकारात्मक ही दिया जा सकता है। यदि ऐसा नहीं होगा तो "ऐसी उक्तियों को भी, जिनमें साधारण बौद्धिक चमत्कार के कारण एक प्रकार की वक्रता विद्यमान रहती है, काव्य मानना पड़ेगा।" निश्चय ही बौद्धिक चमत्कार से काव्य और उसमें वक्रता तो उत्पन्न हो सकती है, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वह सरस हो, उसमें रागात्मकता भी हो और वह वास्तव में काव्य पद का अधिकारी हो।

दूसरा प्रश्न यह है कि **'क्या सभी काव्य वक्रतापूर्ण हैं?'** इस प्रश्न का उत्तर यही है कि समस्त काव्य वक्रतापूर्ण हो सकते हैं। कुन्तक की वक्रोक्ति तो विशेष रूप से व्यापक है। वैसे भी 'कुन्तक की वक्रता का विरोध इतिवृत्तात्मकता से है, तीव्रता से नहीं; और कुन्तक ने निश्चयपूर्वक रस को वक्रोक्ति के उपादान तत्वों में माना है, डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि "उक्ति की तीव्रता रस (या भाव) के आश्रित है और रस वक्रोक्ति के अन्तर्गत है, अतः तीव्रता भी उसके अन्तर्गत हुई।" किन्तु इसी बात को कुन्तक कुछ दूसरे रूप में कहते हैं। उनका मत यह है कि **'वक्रता से आह्लाद उत्पन्न होता है'**; जबकि नगेन्द्र का मत है कि 'आह्लाद से वक्रता उत्पन्न होती है, अतएव यद्यपि वक्रोक्ति काव्य का अनिवार्य माध्यम है, तथापि वह काव्य की आत्मा नहीं।"

प्रश्न ४०—वक्रोक्ति के कुन्तक निर्दिष्ट भेदों का वर्णन कीजिए।

वक्रोक्ति के भेद—कुन्तक ने वक्रोक्ति का व्यापक अध्ययन किया है, उस अध्ययन के परिणामस्वरूप कुन्तक ने वक्रोक्ति के छः भेद माने हैं। यद्यपि इन भेदों के वैचित्र्य के आधार पर अनेक भेद हो सकते हैं, किन्तु प्रधान भेद केवल निम्न हैं—

१. वर्ण-विन्यास-वक्रता २. पद-पूर्वार्द्ध-वक्रता ३. पद-परार्द्ध-वक्रता ४. वाक्य-वक्रता ५. प्रकरण-वक्रता ६. प्रबन्ध-वक्रता

वर्ण-विन्यास-वक्रता—रचना में वर्णों का विशेष प्रकार के प्रयोग का अध्ययन वर्ण-विन्यास-वक्रता के अन्तर्गत आता है। उसकी वक्रता, वैचित्र्यपूर्ण विन्यास, जो कि पाठक को हृदयाह्लाद प्रदान कर सके, वर्ण-विन्यास-वक्रता कहलाता है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि वर्ण सम्बन्धी समस्त चमत्कार वर्ण-विन्यास-वक्रता में समाविष्ट होता है। इसके अन्तर्गत शब्दालंकार—अनुप्रास, यमक, उपनागरिका आदि वृत्तियाँ, माधुर्य आदि गुणों का समावेश होत है।

पद-पूर्वार्द्ध-वक्रता—इसके अन्तर्गत शब्द विशेष के प्रयोग का वैचित्र्य समाविष्ट होता है। पद के पूर्वार्द्ध के विन्यास का वैचित्र्य ही पद-पूर्वार्द्ध-वक्रता है। इसे प्रकृति-वक्रता भी कहते हैं। इसके अनेक भेद हैं—

(१) रुढ़िवैचित्र्यवक्रता, (२) पर्यायवक्रता, (३) उपचारवक्रता, (४) विशेषण-

वक्रता, (५) संवृति वक्रता, (६) वृत्तिवक्रता, (७) लिंगवैचित्र्यवक्रता, (८) भाव-वैचित्र्यवक्रता, (९) क्रियावैचित्र्यवक्रता, (१०) प्रत्ययवक्रता।

पद-परार्धवक्रता—वक्रोति के इस भेद के अन्तर्गत पद के परार्द्ध में प्रकट विशेषताओं या वैचित्र्य का संकेत होता है। दूसरे शब्दों में सुप्-तिङ् आदि प्रत्ययों का वैचित्र्यपूर्ण प्रयोग ही प्रत्यय-वक्रता है। इसके अनेक भेद हैं, जैसे—काल, कारक, संख्या, पुरुष, उपग्रह, प्रत्यय तथा पदवक्रता आदि।

वाक्यवक्रता—पद समुदाय की वक्रता को वाक्यवक्रता कहते हैं। इसके अन्तर्गत सुन्दर और उदार वर्ण्य-विषय का सुन्दर और रमणीय वर्णन होता है। इसमें मुख्य रूप से दो प्रकार-सहजा और आहार्या (शिक्षाभ्यास से प्राप्त) प्रतिभा द्वारा चमत्कारपूर्ण वर्णन होता है।

प्रकरण-वक्रता—प्रसंगविशेष के वर्णन में वैचित्र्य उत्पन्न करना प्रकरण वक्रता कहलाता है। प्रकरणवक्रता किसी प्रसंग के औचित्य को प्रभावशाली बनाने में होती है। इसके अनेक रूप हो सकते हैं। पहला रूप तो वह है कि 'जहाँ पर कवि असीम उत्साह के साथ किसी प्रसंग को प्रकट करता है। यह उत्साह नायक की चारित्रिक दीप्ति या विशेषताओं के कारण होता है। जैसे रामचरित मानस का धनुर्भङ्ग प्रसंग।

दूसरा भेद वह है 'कवि अपनी रचना को ऊपर उठाने के उद्देश्य से अलौकिक रीति से नवीन कल्पना द्वारा प्रकरण की उद्भावना करता है।' जैसे—साकेत में वशिष्ठ द्वारा दिव्यदृष्टि-दान।

तीसरा भेद वहाँ होता है जहाँ इतिहास के कथाप्रसंग में नवीन कल्पना की जाती है, जैसे पद्मावत में रतनसेन की मृत्यु-देवपाल के हाथों कराना।

चतुर्थ भेद वह है जहाँ किसी सामान्य प्रसंग को रसमय बनाने के लिए कवि उसका विस्तार से वर्णन करता है, जैसे सूरदास का भ्रमर-गीत प्रसंग।

पाँचवा भेद वहाँ होता है, जहाँ प्रकरण के भीतर विशेष प्रसंग की कल्पना की जाती है।

छठा भेद वहाँ होता है 'जहाँ पर प्रबन्ध के अनेक प्रकरण इस सौन्दर्य और कल्पना के साथ रखे जाते हैं कि वे एक दूसरे के उपकारक-उपकार्य रूप में आते हैं। इस प्रकार की विशेषता नाटक में विशेष आवश्यक होती है।' प्रकरणविषयक अनेक प्रकार की वक्रतायें हो सकती हैं।

प्रबन्धवक्रता—इस वक्रता का सम्बन्ध सम्पूर्ण प्रबन्ध से होता है। नाटक और प्रबन्धकाव्यों में ही यह वक्रता होती है। यह वक्रोक्ति का एक व्यापक रूप है। इसके अनेक भेद हैं, जिनमें छः प्रमुख हैं—

१. मूलरस-परिवर्तन-वक्रता—वेणीसंहार, मेघनादवध, साकेत आदि में।

२. समापन वक्रता।

३. कथा-विच्छेद-वक्रता।

४. आनुषंगिक फल-वक्रता।

५. नामकरण-वक्रता—मुद्राराक्षस, वेणीसंहार, जयद्रथ वध आदि में ।

६. तुल्यकथावक्रता ।

कुन्तक ने प्रबन्धवक्रता के इन भेदों के अतिरिक्त अनेक भेद स्वीकार किये हैं । उनका कहना है कि 'जैसे प्रतिभा में आनन्त्य हैं उसी प्रकार कवि-प्रतिभा से जायमान वक्रता में ही आनन्त्य है'—

"एते च मुख्यतया वक्रताप्रकाराः कतिचिन्निदर्शनार्थं प्रदर्शिताः । शिष्टाश्च सहस्रशः सम्भवन्तीति महाकविप्रवाहे सहृदयैः स्वयमेवोत्प्रेक्षणीयाः ।"

(वक्रोक्तिजीवित १।१९ की वृत्ति)

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कुन्तक वक्रोक्ति को व्यापक स्तर पर स्वीकार करते हैं उनकी वक्रोक्ति कवि के समस्त व्यापार तक व्याप्त है । कुन्तक काव्य में आये समस्त चमत्कार को वक्रोक्ति की सीमाओं में समेटने का प्रयास करते हैं । अतः अंशतः इसमें शैली, गुण, रीति, अलंकार, ध्वनि, औचित्य, रस आदि का भी समावेश हो ही जाता है । कुन्तक का यह सिद्धान्त काव्य के चमत्कार के सूक्ष्म विश्लेषण के लिए मान्य आदर्श बन सकता है । विश्व के प्रायः सभी काव्यशास्त्री किसी न किसी रूप में वक्रोक्ति के महत्व को स्वीकार करते हैं ।

प्रश्न ४१. काव्य के विभिन्न सिद्धान्तों से वक्रोक्ति का अन्तर स्पष्ट करते हुए वक्रोक्ति एवं स्वभावोक्ति का अन्तर भी स्पष्ट कीजिए ।

वक्रोक्ति और ध्वनि—वक्रोक्ति एवं ध्वनि भारतीय काव्य-शास्त्र के महत्वपूर्ण सम्प्रदाय हैं, वक्रोक्ति सम्प्रदाय का उदय ध्वनि-सम्प्रदाय के विरोध में हुआ है किन्तु दोनों सम्प्रदायों के सिद्धान्तों में अनेकशः साम्य हैं । आनन्दवर्धन के अनुसार ध्वनि का स्वरूप इस प्रकार है—'जहाँ अर्थ अपने को तथा शब्द अपने वाच्यार्थ को गौण बना कर, ललना के अंगों में लावण्य के समान महाकवियों की सूक्तियों में वाच्यार्थ से भिन्न, उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं उस काव्य विशेष को विद्वान् ध्वनिकाव्य कहते हैं ।' वाच्यार्थ से भिन्न यह अर्थ स्वादु, प्रतीयमान तथा विचित्र है । जब कि उसी सरणि पर कुन्तक ने वक्रोक्ति का स्वरूप इस प्रकार व्यक्त किया है—'प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अभिधा अर्थात् वर्णन प्रकार वक्रोक्ति है । या यों कहिए कि प्राक्तन या अद्यतन संस्कार के परिपाक से प्रौढ़-कवि शक्ति रूप प्रतिभा द्वारा जायमान कवि-कर्म-कौशल के चमत्कार से युक्त कथन प्रकार ही वक्रोक्ति है ।

(१) इन दोनों ही सिद्धान्तों में साधारण का त्याग और असाधारण के कथन के लिए आग्रह है । (२) दोनों ही सिद्धान्तों में 'वैचित्र्य' को महत्व प्राप्त है । जिसे आनन्द ने **'अन्यदेव वस्तु'** के द्वारा और कुन्तक ने **'विचित्रा अभिधा'** के द्वारा व्यक्त किया है । (३) दोनों ही आचार्य इस **'वैचित्र्य'** को अलौकिक प्रतिभा से जन्य मानते हैं ।

किन्तु इन साम्यों के अतिरिक्त अनेक वैषम्य भी हैं जो संक्षेप में इस प्रकार हैं—ध्वनिवादी व्यंजना को महत्व देते हैं, जबकि कुन्तक के काव्य में अभिधा का महत्व है । यद्यपि कुन्तक की अभिधा एक विशिष्ट अभिधा है, जो कि लक्षणा और व्यंजना

को भी आत्मसात् कर लेती है। इसी प्रकार इनका वाचक शब्द लक्षणा और व्यंजना शब्दों को अपने में समेट लेता है। निष्कर्ष रूप में हम यही कह सकते हैं कि इन दोनों ही सिद्धान्तों ने अपने में घेरे काव्य के समस्त तत्वों को आत्मसात् करने का प्रयास किया है फिर भी इनमें अनेकशः वैषम्य है। "इसका रहस्य यही प्रतीत होता है कि ध्वनिकार ने जिस ध्वनि तत्व को व्यंजना वृत्ति से प्रतीयमान माना है, उस वक्रोक्ति-तत्व को वक्रोक्तिकार ने विचित्र अभिधावृत्ति से अभिधीयमान। ध्वनि-तत्व-काव्य का आत्मस्थानीय माना गया है और वक्रोक्ति तत्व वस्तु स्थानीय।"

वक्रोक्ति एवं रस—कुन्तक चमत्कारवादी आचार्य हैं, विचित्र अभिधारूप वक्रोक्ति उनके काव्य की आत्मा है फिर भी अपने ग्रन्थ में रस की यत्र-तत्र चर्चा करते हैं। वक्रोक्ति में रस का महत्व है। कुन्तक ने काव्य के प्रयोजन, गुण, काव्य-लक्षण आदि की चर्चा करते समय रस का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष उल्लेख किया है।

काव्य-प्रयोजन के विचार प्रसंग में कुन्तक ने लिखा है कि "काव्यमर्मज्ञ सहृदयों के अन्तःकरण में धर्म, अर्थ, काम मोक्ष रूप फल को भी तिरस्कृत करने वाला काव्यामृत का रस अपूर्व आनन्द का विस्तार करता है।"[1] इस प्रकार कुन्तक का चमत्कार भी रस की पृष्ठभूमि में ही अपूर्व आनन्द प्रदान करता है।

काव्य के लक्षण में भी वे 'हृदयाह्लादकारिणी' वाक्य का प्रयोग करते हैं।[2] काव्य हृदयाह्लादकारी रस के द्वारा ही होता है। 'यह काव्य का आनन्द या आह्लाद रसानन्द या रसास्वाद से भिन्न नहीं है।' काव्यमर्मज्ञ या सहृदय कुन्तक के मत में रसादि परमार्थज्ञ अर्थात् रसादि परम तत्व के वेत्ता ही हैं। सुकुमार मार्ग के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कुन्तक ने लिखा है कि "रसादि परमतत्व के ज्ञाता सहृदय के मन के अनुकूल होने के कारण यह सुकुमार मार्ग सुन्दर है।"[3] कुन्तक का सौभाग्य गुण भी "सरसात्मा-सहृदयों के मन में लोकोत्तर आनन्ददायक तथा सम्पूर्ण सामग्री से संपादित होने योग्य काव्य का प्राणभूत है।"[4] कुन्तक ने सहृदय काव्यमर्मज्ञ को रसज्ञ कहा है तथा काव्यानन्द को रसास्वाद। यह रसास्वाद ही काव्य का चरम लक्ष्य है। अतः स्पष्ट है कि कुन्तक रस और उसके महत्व से परिचित थे, और शब्दान्तर से उसे काव्य का सर्वाधिकार महत्वपूर्ण तत्व भी स्वीकार करते हैं। यही नहीं कुन्तक ने प्रबन्ध-वक्रता को समस्त वक्रताओं से श्रेष्ठ माना है। उस प्रबन्ध का मूलतत्व भी रस ही है। इस विषय में उनका कहना है कि "निरन्तर रस को प्रवाहित करने वाले संदर्भों पर अवलम्बित ही कवि की वाणी जीवित रहती है न कि कथामात्र पर आश्रित।"[5]

१. वक्रोक्ति जीवित १।५
२. वही १।७
३. वक्रोक्तिजीवित १।२६ रसादि परमार्थज्ञ-मनः संवाद-सुन्दरः।
४. वही १।५६ सर्वसम्पत्-परिस्पन्दसंपाद्यं सरसात्मनाम्।
५. वही ४।११ निरन्तर-रसोद्गार-गर्भ-सन्दर्भनिर्भराः।
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथा-मात्रमाश्रिताः ॥

कुन्तक ने काव्य की कथावस्तु में भी रस को विशेष महत्व दिया है।[1] कुन्तक ने अलंकार सम्प्रदाय के 'रसवत्' अलंकार का खण्डन कर रस को ध्वनिवादियों की तरह 'अलंकार्य' स्वीकार किया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि **रस और वक्रोक्ति में परस्पर सम्बन्ध कैसा है ?** विवेचन करते हुए जयमन्त मिश्र ने लिखा है कि "वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' के अनुसार कुन्तक के मत में काव्य का जीवन वक्रोक्ति ही है। उस काव्य-जीवन वक्रोक्ति की शब्द, अर्थ, गुण, रीति, रस आदि अनेक सम्पत्तियों में सबसे अधिक मूल्यवान् वस्तु है रस। अतः रस काव्य का परमतत्व सार माना गया है। रस को परमतत्व मानकर भी कुन्तक ने वक्रोक्ति को ही काव्य की आत्मा माना, न कि रस को। इसका रहस्य यही प्रतीत होता है कि रस की स्थिति काव्य में वक्रता के बिना सम्भव नहीं है, अतः वक्रोक्ति के अधीन ही रस की स्थिति है। वक्रता दूसरी ओर रस के बिना भी काव्य में विद्यमान रहती है। अतः रस के बिना भी काव्य जीवित रह सकता है किन्तु वक्रोक्ति के बिना नहीं। इसलिए कुन्तक वक्रोक्ति को ही काव्य की आत्मा मानते हैं।"[2] इस पर विस्तार से विचार करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि "कुन्तक के अनुसार काव्य वक्रोक्ति अर्थात् कला है। इस कला की रचना के लिए कवि शब्द-अर्थ की अनेक विभूतियों का उपयोग करता है—अर्थ की विभूतियों में सबसे अधिक मूल्यवान है—रस। अतएव रस वक्रोक्तिरूपिणी **काव्य-कला का परमतत्व है,** काव्य की प्राण चेतना है वक्रता और वक्रता की समृद्धि का प्रमुख आधार है रससम्पदा। इस प्रकार **वक्रोक्ति के साथ रस का सम्बन्ध** वही है जो ध्वनि के साथ है।"

ध्वनि सिद्धान्त में रस की स्थिति का विवेचन करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि—"आनन्दवर्धन के मत से रस परम श्रेष्ठ अवश्य है, किन्तु आत्मा नहीं है। **कुछ ऐसी ही स्थिति वक्रोक्ति और रस के परस्पर सम्बन्ध की भी है** वक्रोक्ति में भी रस परम विभूति है—रस की काव्यगत अभिव्यंजना वक्रता विहीन नहीं हो सकती + + + वक्रता तो रस के बिना भी अनेक रूपों में विद्यमान रहती है चाहे वे रूप उतने उत्कृष्ट न हों जितने कि रसरूप।" इस प्रकार हम देखते हैं कि वक्रोक्ति सिद्धांत काव्य की वस्तुपरक व्याख्या करता हुआ भी काव्य में रस के महत्व को स्वीकार करता है किन्तु काव्य की आत्मा के रूप में वक्रोक्ति को ही महत्व देता है क्योंकि कुन्तक के मत में रस वक्रोक्ति के विना प्रभावशाली नहीं होता है जब कि वक्रोक्ति रस के बिना भी जीवित रहती है।

वक्रोक्ति और अलंकार—कुन्तक काव्य में अलंकार तथा वक्रोक्ति दोनों को ही महत्व प्रदान करते हैं। 'वक्रोक्ति जीवित' के आरम्भ में ही कुन्तक ने लिखा है कि 'सालंकारस्य काव्यता'। इस प्रकार काव्य में अलंकार उन्हें अनिवार्य रूप से ग्राह्य

१. वही ३।७ मुख्यमाक्लिष्ट-रत्नादि परिपोषमनोहरम्।

२. काव्यात्म-मीमांसा, पृ० २५६

है। उन्होंने आगे भी लिखा है कि—**'उभावेतावलंकार्यौ तयो पुनरलंकृतिः'** इससे आशय यह निकलता है कि वक्रोक्ति उन्हें अलंकृत ही इष्ट है। ये दोनों सिद्धान्त परस्पर अधिक घनिष्ठ हैं। इन दोनों सिद्धान्तों में सौन्दर्य मूलतः वस्तुगत माना गया है जो कवि-कौशल पर आश्रित है दोनों में वर्ण-सौन्दर्य से लेकर प्रवन्ध सौदर्न्य तक वैचित्र्य या चमत्कार का ही साम्राज्य माना गया है। अलंकार-सम्प्रदाय में यह चमत्कार अलंकार रूप में है और वक्रोक्तिवाद में वक्रतारूप। परमार्थतः दोनों ही उक्ति वैचित्र्य हैं।' इन दोनों ही सिद्धान्तों में अभिधा का प्राधान्य है।

वक्रोक्ति एवं अलंकार सम्प्रदाय का साम्य देकर विद्वानों का स्पष्ट आरोप है कि वक्रोक्ति सम्प्रदाय अलंकार सम्प्रदाय का रूपान्तर मात्र है किन्तु यह भी निर्विवाद सत्य है कि अपेक्षाकृत "वक्रोक्ति का क्षेत्र अलंकार से कहीं व्यापक है।" वक्रोक्ति के वर्ण-वक्रता आदि कुछ भेद शब्दालंकार या अर्थालंकार रूप ही हैं किंतु प्रकरणवक्रता, प्रबन्ध वक्रता, आदि वक्रता के अन्य अनेक रूप हैं जो अलंकार के रूप नहीं हैं और न वहाँ अलंकार का विषय ही है। अलंकार सम्प्रदाय में 'रस' रसवत् अलंकार के रूप में मान्य हैं किन्तु वक्रोक्ति में 'रसवत्' अलंकार्य के रूप में स्वीकार किया गया है। वक्रोक्ति सम्प्रदाय में 'रस' को परमतत्व माना गया है, जबकि अलंकार में वह सर्वथा उपेक्षित रहा है। "अलंकार सिद्धान्त में अलंकाररूप स्वभावोक्ति निकृष्ट एवं त्याज्य है, परन्तु वक्रोक्ति में अलंकार रूप होकर वह उत्कृष्ट एव काम्य है। वक्रोक्ति काव्य के सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्व में चमत्कार दिखलाती है और वह काव्य के अन्तस्तत्व में प्रविष्ट है, परन्तु अलंकार काव्य के बाह्य चाकचिक्य में अधिक उलझा हुआ है।" इस तरह हम स्पष्ट रूप में कह सकते हैं कि अलंकार से वक्रोक्ति कहीं अधिक व्यापक, कहीं अधिक पूर्ण और उदार है।

वक्रोक्ति एवं रीति—रीति सम्प्रदाय में रीति काव्य की आत्मा है किन्तु वक्रोक्ति सम्प्रदाय में वह वक्रता का एक भेद है। कुन्तक ने रीति के लिए मार्ग शब्द का प्रयोग किया है। उसके सुकुमार, विचित्र तथा मध्यम तीन भेद माने हैं। इन तीनों का आधार कवि-स्वभाव बतलाया है। वामन की रीति का क्षेत्र कुन्तक की वक्रोक्ति से संकुचित है। रीति काव्य का अंगसंस्थान है, वह पद संघटना मात्र होते हुए भी वामन के मत में वह काव्य की आत्मा है। वक्रोक्ति भी काव्य आत्मा है। वक्रोक्ति की वर्ण—वक्रता, प्रकृति-वक्रता, प्रत्यय-वक्रता और वाक्य-वक्रता और में रीति तत्व का पूर्णत अन्तर्भाव हो जाता है। शेष वक्रताओं में रसोन्मीलन का आग्रह रहता है, अतः वहाँ तक रीति की पहुँच नहीं है। इसलिए कहा जा सकता है कि रीति की अपेक्षा वक्रोक्ति कहीं अधिक व्यापक है।

वक्रोक्ति और औचित्य—कुन्तक का उनके ग्रन्थ में वक्रोक्ति के प्रति आग्रह लक्षित होता है। एक स्थान पर वे इन दोनों में अभेद ही स्वीकार कर लेते हैं (व० जी० १।५७ की वृत्ति)। कुन्तक औचित्य के अभाव में सहृदय के हृदय में आह्लाद में व्याघात समझते हैं—तद्विदाह्लादकारित्वहानिः। कुन्तक ने औचित्य को वक्रोक्ति का

जीवन माना है। दोनों सिद्धान्तों में पर्याप्त साम्य होते हुए भी वैषम्य है, वे दो सिद्धांत हैं। कुन्तक के औचित्य को वक्रोक्ति का मूलाधार स्वीकार करते ही स्पष्ट हो जाता है कि ये दो तत्व हैं, एक नहीं। निश्चय ही कुन्तक की दृष्टि में औचित्य एक आवश्यक तत्व है, जिसका अस्तित्व काव्य के सौन्दर्य को बढ़ाता है। "वक्रोक्ति वस्तुनिष्ठ होने के कारण काव्य के अंगों से अधिक संबद्ध है, परन्तु औचित्य विवेकनिष्ठ होने के कारण रस आदि से अधिक संबद्ध है।"

वक्रोक्ति एवं स्वभावोक्ति—अलंकारवादी दण्डी ने वाङ्मय के दो भेद किए हैं—एक स्वभावोक्ति दूसरा वक्रोक्ति। वे स्वभावोक्ति को भी प्राथमिक अलंकार मानते हैं, उनका तर्क यह है कि इसमें उपमादि अलंकार न रहने पर भी रस या भाव की स्थिति रहती है वह आकर्षक भी होता है। वह सहृदयों को आह्लादित भी करता है। प्रकृति चित्रण तथा स्वभाव वर्णन आदि के काव्यों को किस काव्य में रखा जाय, इस समस्या का समाधान भी वाङ्मय के दो भेद मानने पर ही सहज था। इसीलिए दण्डी स्वभावोक्ति को भी अलंकार मानने के पक्ष में थे।

कुन्तक ने स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं माना है; उनके तर्क निम्न हैं—

(१) "स्वभावोक्ति से किसी पदार्थ का कथन या ज्ञान होता है। इसलिए किसी वस्तु का वर्णन निसर्गतः उसके स्वभाव का ही वर्णन है; क्योंकि उससे रहित वस्तु शब्द के लिए अगोचर हो जाती है। अतः वस्तुवर्णन मूलतः स्वभाव वर्णन स्वभावोक्ति ही है।

(२) काव्य में स्वभावतः सुन्दर वस्तु का वर्णन होता है। अतः स्वभाव काव्य का प्रकृत वर्ण्य-विषय है और वर्ण्य-विषय होने से वह अलंकार्य ही है अलंकार नहीं हो सकता।

(३) स्वभावकथन यदि अलंकार है तो ग्रामीणजन के साधारण वाक्य भी अलंकार हो जायँगे।

(४) स्वभाव वर्णन को अलंकार मानने पर उसका अलंकार्य क्या होगा? वह स्वयं अलंकार्य नहीं हो सकता; क्योंकि अलंकार तो शरीर पर धारण किया जाता है, यदि शरीर ही अलंकार है तो शरीर अपने को कैसे धारण कर सकता है।

(५) यदि स्वभावोक्ति अलंकार है तो उपमा आदि सभी अलंकारों में उसकी स्थिति माननी पड़ेगी; क्योंकि स्वभाव-कथन तो सभी वर्णनों में अनिवार्य है। ऐसी स्थिति में शुद्ध अलंकार कोई भी नहीं रह जाएगा। स्वभावोक्ति के संयोग से वे या तो संसृष्टि बन जायेंगे या संकर।"[१]

कुन्तक ने युक्तियों से स्वभावोक्ति के अलंकारत्व का खंडन कर वक्रोक्ति की अलंकारता सिद्ध की है। क्योंकि उनकी वक्रोक्ति ही काव्य की आत्मा है।

किन्तु प्रश्न यहाँ यह है कि काव्यत्व किसमें है? उसका सौन्दर्य क्या है?

१. काव्यात्म मीमांसा; पृ० २४६।

आनन्दवर्धन चित्रकाव्य को स्वभावोक्ति कहते हैं। क्योंकि कवि का प्रत्येक काव्यचित्र चाहे प्रकृतिचित्रण का हो या स्वभाववर्णन का अथवा अन्य, किन्तु वह किसी न किसी रूप में भाव से अवश्य सम्बद्ध होगा। इसीलिए वह रसध्वनि, वस्तु-ध्वनि या अलंकार-ध्वनि ही होगा।

आशय यह है कि वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति में मूलतः कोई अन्तर नहीं है। दोनों मानव मनोभाव की अभिव्यक्ति करते हैं। दोनों में रसानुभूति होती है। बाहर से भिन्न होते हुए भी अन्तस्तत्व के कारण एक ही हैं।

प्रश्न ४२—क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए वक्रोक्ति सिद्धान्त से उसका साम्य-वैषम्य भी बतलाइये।

भौतिकवादी यूरोप में रहकर भी सौन्दर्य के माध्यम से आध्यात्मिक और दार्शनिक विचारों को काव्यालोचन के सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित करने वाले बेनदेनो क्रोचे (१८६६-१९५२) इटली के महत्वपूर्ण आलोचक हैं। इनका प्रमुख आलोचना सिद्धान्त **अभिव्यंजनावाद** है। अभिव्यंजनावादियों का सिद्धान्त है कि "कवि या कलाकार अपने अन्तर की भावना को बाहर प्रकाशित करता है, बाह्य वस्तु को नहीं। यह भावना उसकी अपनी निज की वस्तु है। अपनी इस भावना को प्रकाशित करने में ही उसकी सार्थकता है। अभिव्यंजनावादियों के मत से कलाकार का काम यथार्थ का प्रतिनिधिमूलक चित्रण करना नहीं है। वह या तो अपने अन्तर की भावना के अनुरूप यथार्थ को चित्रित करता है या उस यथार्थ को स्पर्श ही नहीं करता। वह केवल अपने मन की एक अवस्था को अभिव्यंजित करता है और इस अभिव्यक्ति का माध्यम शब्द, रंग आदि से निर्मित ढाँचा होता है। इस प्रकार से कलाकार जिस रूप की सृष्टि करता है, वह उसके मन की अवस्था से मिलती-जुलती है।"

क्रोचे के मतानुसार आत्मा की दो क्रियाएँ—विचारात्मक और व्यवहारात्मक हैं। विचारात्मक क्रिया अर्थात् ज्ञान के भी दो रूप हैं—प्रथम सहजानुभूत ज्ञान 'जो कल्पना द्वारा उपलब्ध वस्तुओं की भिन्न इकाई से असम्पृक्त, वैयक्तिक और बिम्बात्मक ज्ञान है।' दूसरा तर्कमूलक ज्ञान—"जो बुद्धि द्वारा उपलब्ध वस्तुओं के भिन्न सम्बन्धों से सम्पृक्त सार्वत्रिक तथा अवधारणाओं को उत्पन्न करने वाला ज्ञान है।" इसके साथ व्यवहारात्मक ज्ञान के भी दो भेद हैं—पहला आर्थिक जिसका सम्बन्ध सांसारिक कल्याण से है, इसी कारण जिसे व्यवहार का सौन्दर्यशास्त्र भी कहते हैं। दूसरा नैतिकज्ञान है, जो जीवन के सदसद् से सम्बद्ध होने के कारण व्यवहार का तर्कशास्त्र भी कहा जाता है।

क—(१) जहाँ तक कला का प्रश्न है, उसका सम्बन्ध सहजानुभूत ज्ञान से ही है क्योंकि कला एक सहजानुभूति ही है। एक ओर यह पदार्थबोध से भिन्न है क्योंकि पदार्थ बोध के लिए पदार्थ अपेक्षित है, किन्तु सहजानुभूति के लिए नहीं; वह उसके अभाव में भी हो सकती है।

(२) दूसरी ओर वह मानव संवेदनाओं से भी भिन्न है क्योंकि संवेदन अर्थात्

क्रोधादि से चित्त में उठने वाली तरंगें जड़ अमूर्त्त विषय हैं, स्पन्दन मात्र हैं, इनका अनुभव ही हो सकता है अभिव्यक्ति नहीं, इनका रूप, आकार-प्रकार अंकित नहीं किया जा सकता है।

(३) कला देश और काल की सीमाओं में बाँधी नहीं जा सकती है क्योंकि ऐसी सहजानुभूतियाँ हैं, जो देश-काल की सीमा से परे हैं—आकाश का रंग, भावना का रंग, दर्द की आवाज आदि में स्थान और काल का कोई योग नहीं। यदि स्थान और काल आयेंगे भी 'तो सहजानुभूति के अन्य तत्वों के समान अन्तर्भूत होकर।'

(४) एक बात यह भी महत्वपूर्ण हैं कि सहजानुभूति को बौद्धिक ज्ञान नहीं कहा जा सकता है और न ही वह बौद्धिक ज्ञान पर निर्भर ही है क्योंकि "उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि वह दूसरे की आँखें उधार ले, कारण उसकी आँखें स्वयं काफी तेज हैं और जो अवधारणायें कला में आती हैं वे स्वतन्त्र नहीं, वे सहजानुभूति की साधारण तत्व मात्र बनकर आती हैं, जैसे कि किसी चित्र के मुँह पर लगा लालरंग भौतिकशास्त्र का बोधक नहीं, चित्र का अंग बन कर ही आता है।"

ख—सहजानुभूति और अभिव्यंजना एक ही वस्तु है अतः उनमें कोई भेद नहीं है, इसलिए अभिव्यंजना ही कला है। वास्तव में सहजानुभूति का अर्थ ही अभिव्यंजित है। जो अभिव्यंजना में मूर्त नहीं होता, वह "सहजानुभूति न होकर संवेदन मात्र है।" अतः सिद्धान्त रूप में हम कह सकते हैं कि "Intuition is expression and expression is art." निश्चय ही सहजानुभूति में उस अंश तक सहजानुभूति है जिस अंश तक वह उसे अभिव्यक्त करती है, जब एक (सहजा) उत्पन्न होती है तो उसी क्षण उसके साथ दूसरी (अभिव्यक्ति) भी उत्पन्न होती है, क्योंकि वे दो न होकर एक हैं।

सहजानुभूति और अभिव्यक्ति को एक स्वीकार कर क्रोचे ने निम्न सिद्धान्तों की स्थापना की है—

१—प्रत्येक मनुष्य जन्मतः कवि होता है, कोई छोटा और कोई बड़ा। यदि यह सिद्धान्त सत्य है तो छोटे-बड़े का यह अन्तर क्यों? इस अन्तर का कारण क्या है? इसका उत्तर यह है कि—

"उनका अन्तर तीव्रता और मात्रा में नहीं, विस्तार में है। जिसे हम असंदिग्ध रूप से श्रेष्ठ कला कह सकते हैं, वह सहजानुभूतियों का संकलन करती है, जो सामान्य सहजानुभूतियों से अधिक जटिल और व्यापक होती है।" इस प्रकार स्पष्ट है कि कलाकारों की श्रेणी गम्भीरता और व्यापकता के कारण बनती है।

२—जब सहजानुभूति ही अभिव्यंजना है, तब तत्व और रूप में, वस्तु और अभिव्यंजना शैली में कोई भेद संभव नहीं। उनके मत में "आधेय के गुणों से रूप के गुणों तक जाने का कोई मार्ग नहीं है, सौन्दर्य सृजन में भाव तत्व ही अभिव्यक्ति के द्वारा रूप धारण कर लेता है।" हम न तो भाव को व्यंजना से जोड़ते हैं और न पृथक् करते हैं। अतः वे उन्हें नहीं मानते, जो कला (सौन्दर्य) में केवल आधेय को स्वीकार करतेहैं या आधेय और रूप के मिश्रण को।

३—सहजानुभूति के कारण ही कला आध्यात्मिक क्रिया है, केवल प्रकृति का अनुकरण मात्र नहीं। और बाह्य अभिव्यक्ति उसका भौतिक रूप है जिसे कवि चाहे तो करे चाहे न करे; सहजानुभूति के बाद काव्य कर्म समाप्त हो जाता है। वह जीवन का अनुकरण पदार्थसाक्षेप नहीं है। क्योंकि मोम की रंगीन पुतलियाँ जो जीवन की नकल करती हैं जिनके सामने संग्रहालयों में हम अवाक् खड़े रहते हैं, सौंदर्यात्मक सहजानुभूतियाँ नहीं उत्पन्न करतीं। कला तो अरूपात्मक संवेगों को रूपबद्ध करती है, अतः अखंड है, अविभाज्य है और धारणाओं से मुक्त है।

कला अखण्ड है—क्योंकि "प्रत्येक व्यंजनापूर्ण इकाई व्यंजना है क्योंकि यह क्रिया आवयविक समग्रता में प्रभावों का एकीकरण है। कला का वर्गीकरण कला को उसी प्रकार नष्ट कर देगा, जैसे जीव को हृदय, मस्तिष्क, धमनियों और मांसपेशियों में बाँट देना जीवित प्राणी को शव में बदल डालना है।" व्यावहारिक दृष्टि से विभाजन कर दें पर यह उचित नहीं है क्योंकि कला पूर्ण इकाई है, एक परमाणु है।

४—कला का वर्गीकरण सम्भव नहीं :—

क्योंकि यह उस पर आरोपित होगा, अतः कला का किसी भी प्रकार का—सरल, मिश्रित, विषयप्रधान, विषयीप्रधान आदर्श और यथार्थ भेद नहीं होना चाहिए, कला के रूप में संघटनों और अवबोधनों के प्रति वह उदासीन है।

५—कला कृति का अनुवाद भी सम्भव नहीं—

क्योंकि जिस प्रकार और जितनी तीव्र अनुभूति मूल की है, जितनी गहराई और व्यापकता उसमें है, वह अनुवादक में आ ही नहीं सकती। एक सहजानुभूति है, जिसका अनुकरण से शाश्वत विरोध है; किसी भाव का शब्दशः अनुवाद कर पाना असम्भव है और उसकी अर्थच्छायाओं को आँकना तो और भी दुःसाध्य है।

६—कला जब पूर्णता का दूसरा नाम है, तब उसकी कोटियों का निर्धारण तथा तारतम्य का निर्माण संभव नहीं; क्योंकि पूर्ण के पूर्णतर तथा पूर्णतम भेद नहीं हो सकते हैं। हाँ, **'अकला'** के भेद हो सकते हैं क्योंकि वह अनावश्यक है और उसमें मात्रा भेद सम्भव है।

७—अभिव्यंजना का कोई प्रयोजन नहीं।

कला कला के लिए है, किन्तु आनन्द भी उसका सहचारी है। अन्तिम परिणाम नहीं; क्योंकि यह आत्मा की लीला है और **"न लीलायाः किंचित् प्रयोजनं स्वयमेव प्रयोजनत्वात्"**। चित्त को निर्मल बनाना भी उसका कर्त्तव्य कर्म है उद्देश्य नहीं।

अभिव्यंजनावाद तथा वक्रोक्ति-सिद्धान्त—आचार्य शुक्ल हिन्दी के समर्थ रसवादी आलोचक हैं, जहाँ भी उन्हें रस-भाव की अवहेलना या उसके महत्व की उपेक्षा दृष्टिगत हुई, वहीं उनका आलोचक क्रुद्ध हो उठता है। "साहित्य में भाववादी दृष्टि-कोण की वे प्रतिष्ठा चाहते थे, अतः अभिव्यंजनावादी क्रोचे और कुन्तक दोनों ही उनके लिए समान थे, अभिव्यंजनावाद के विषय में उनका मत है कि—"क्रोचे का अभिव्यंजनवाद भारतीय वक्रोक्तिवाद का ही विलायती उत्थान है।" किन्तु हमारे

विचार से शुक्ल जी का मत अंशतः सत्य हो सकता है किन्तु सर्वांश में नहीं । क्योंकि क्रोचे का सिद्धान्त आत्मवादी है जब कि कुन्तक का देहवादी। अतः दोनों को समान कहना भ्रान्तिजनक है। "क्रोचे का सिद्धान्त कला-सृजन की आदर्शवादी दार्शनिक व्याख्या ही प्रस्तुत करता है । यह कला-प्रक्रिया का सम्पूर्ण सिद्धान्त नहीं है । उस सिद्धान्त का मुख्य सम्बन्ध भी सामान्य कला से है, जबकि वक्रोक्ति सिद्धान्त केवल काव्य से सम्बन्ध रखता है। अपने लक्ष्यों, प्रयोग-क्षेत्र तथा साधनों में ये दोनों सिद्धान्त परस्पर भिन्न हैं। साम्य जो प्रतीत होता है, वह इस प्रकार देखा जा सकता है—

साम्य—अभिव्यंजनावाद काव्य का प्राण है—'Art is expression.' तथा 'वक्रोक्ति काव्यजीवितम्' जिस प्रकार कुन्तक की वक्रोक्ति में समस्त आन्तरिक और बाह्य काव्य-विषय और अभिव्यंजना शैली अन्तर्भूत हो जाती है उसी प्रकार क्रोचे की अभिव्यंजना में भी सहजानुभूति और अभिव्यंजना अभिन्न रूप से अभिन्न हैं।

कल्पना का प्राधान्य—सहजानुभूति कल्पना ही है क्योंकि वह वस्तु के भाव में भी हो जाती है और अभाव में भी। कुन्तक में भी 'वक्रोक्ति वैदग्ध्य भंगिभणिति' होने के कारण कवि की कल्पना ही है और वह इसीलिए लोक व्यवहार और दर्शन व्यवहार से भिन्न है। अभिव्यंजना—अखण्ड है—

कुन्तक के यहाँ अन्यूनानतिरिक्त सम्बन्ध और उसकी छाया में अपेक्षित है, जो उनके अनुसार किसी एक शब्द से ही हो सकता है। सम्भवतः इसी कारण दोनों काव्य को अनुकरणीय नहीं मानते हैं।

कुन्तक 'काव्यरीतियों में उत्तम, मध्यम, अधम की कल्पना उचित नहीं मानते' तो दूसरी ओर क्रोचे भी पूर्ण के पूर्णतर, पूर्णतम भेद मानने को प्रस्तुत नहीं हैं।

वैषम्य—क्रोचे दार्शनिक हैं; अतः वह अलंकार शास्त्र का निषेध करता है—क्योंकि आध्यात्मिक जीवन से उसका पृथक्करण है, जबकि कुन्तक का संकल्प है कि 'मैं संकल्प के साथ लोकोत्तर चमत्कारी वैचित्र्य की सिद्धि तथा उसके द्वारा काव्य की व्युत्पत्ति के लिए अलंकार-शास्त्र की रचना कर रहा हूँ।"

क्रोचे सहजानुभूति-अभिव्यक्ति को केवल सहज मानता है; उसके वक्र, ऋजु भेद नहीं करता है। कुन्तक लोकभिन्न, दर्शन भिन्न वक्रता को महत्वहीन तथा सामान्य उक्ति को काव्य नहीं मानता।

क्रोचे के अनुसार मानस निर्माण के बाद कला का काम पूर्ण हो जाता है, बाह्याभिव्यक्ति गौण है। जब कि कुन्तक व्यष्टि अनुभूति की समष्टिगत परिणति अनिवार्य मानते हैं।

क्रोचे कला का कोई प्रयोजन नहीं मानता, जबकि कुन्तक "**तद्विदाह्लादकारित्व**" को काव्य का अनिवार्य गुण मानता है। कला की सिद्धि और कारण दोनों उनके अनुसार आनन्द ही है।

कला का उद्देश्य क्रोचे के अनुसार 'अपने अनुभवों का विस्तार कर मनुष्य अपने आपको उनसे मुक्त करता है—अतः आत्म-वैषम्य कला का उद्देश्य है' जब कि कुन्तक

के अनुसार **'चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्यतद्विदां'** काव्य का उद्देश्य है।

क्रोचे के अनुसार वस्तु-तत्व गौण अरूप संवेदन, अभिव्यंजना के अभाव में अस्तित्वहीन है। कुन्तक के अनुसार कवि व्यापार का महत्व होते हुए भी नगण्य-वस्तु नहीं। प्रबन्ध-वक्रता में वे रस और वस्तु का स्पष्ट अन्तर और महत्व मानते हैं।

क्रोचे एवं कुन्तक में से एक दार्शनिक है, जबकि दूसरा काव्यशास्त्री। काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से कुन्तक महत्वपूर्ण है किन्तु क्रोचे का महत्व भी कम नहीं है।

अध्याय ६

रस

प्रश्न ४३—रस शब्द की व्याख्या करते हुए उसके स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।

रसवादी आचार्य रस को काव्य की आत्मा मानते हैं—**'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** अर्थात् रसात्मक वाक्य ही काव्य है। **'रसौ वै सः'** इस वैदिक श्रुति के आधार पर रस को आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही माना गया है तथा इस श्रुतिवाक्य द्वारा भारतीय मनीषियों ने जीवन के परम उद्देश्य के रूप में अलौकिकानन्द स्वरूप तत्व (ब्रह्म-रस) का विवेचन किया है। 'रस' के विषय में भारतीय समीक्षा-शास्त्र का तो कहना ही क्या है क्योंकि प्राचीन काल से लेकर आज तक वह भारतीय आलोचना का मानदंड बना हुआ है। रस तत्व की सत्ता का उदय तो भारतीय काव्य के अभ्युदय के साथ ही हुआ था। इसके प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत श्रुति उपन्यस्त की जा सकती है—'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' रस की महिमा बड़ी व्यापक है। रस की महत्ता के विवेचन से पूर्व उसकी आवश्यकता पर दो शब्द कह देना अनुपयुक्त न होगा—जीवन की गति यह स्पष्ट कर देती है कि रस जीवन का सार है और समस्त मानव-मात्र का जीवन रस के लिए है। जितने भी क्रिया-कलाप हैं, उनकी प्रेरणा और लक्ष्य, उनका उदय और अस्त रस में ही है। साथ ही, साधनावस्था भी रस की अवस्था है, इसमें संदेह नहीं, यदि हम उसको इस रूप में परिणत कर सकें। यह निर्विवाद सत्य है कि रस जीवन के लिए आवश्यक तत्व है, इसी को प्रसाद जी ने अपने इन शब्दों से व्यक्त किया है—

काम मंगल से मण्डित श्रेय,
सर्ग इच्छा का है परिणाम।

दूसरे अर्थ में लोक में प्रचलित खाद्य पदार्थों में लवण, तिक्त, मधुर, कषायादि

षड्रस तथा सांगीतिक रस, आयुर्वेदीय रस अथवा यत्र-तत्र-अन्यत्र प्राप्त होने वाले रस, जीवन के लिए आवश्यक तत्व हैं। संभवतः भरतमुनि ने रस शब्द की व्यापकता एवं महत्ता का अनुभव करके ही इस कारिका का निर्माण किया होगा—

"नहि....रसादृते कश्चिदपि अर्थः प्रवर्त्तते"

'रस' शब्द अनेकार्थक है, जैसे—सार-आसव, धातु-भस्म, हर्ष, आनन्द। किन्तु इस शब्द के मुख्य अर्थ हैं : (१) पदार्थ-रस, जैसे : षड्रस अर्थात् कषाय, तिक्त, कटु, लवण, अम्ल तथा मधुर। (२) आयुर्वेदीय रस, पारद, शरीर की एक धातु—**'रसाच्छोणितं शोणितान्मांसं, मांसान्मेदो, मेदसः स्नायवः, स्नायुभ्योऽस्थीनि, अस्थिभ्यो मज्जा, मज्जातः शुक्रम्।'** (गर्भोपनिषत् २) (३) कामशास्त्र में रस रति—**'रसो रतिः प्रीतिर्भावो रागो वेगः समाप्तिरिति रतिपर्यायाः। संप्रयोगो रतं रहः शयनं मोहनं सुरत पर्यायाः।** (कामसूत्रम् २।१।३२)। (४) भक्ति-रस अथवा ब्रह्मानन्द और (५) साहित्य रस शृंगार, वीर, करुण, हास्य अथवा काव्यानन्द आदि। (६) द्रव पदार्थ के लिए : जैसे **'रसेन समगंस्महि'** जलसार, **'सोमइन्द्रियो रसः'** सोमरस के लिए' **'दधान कलशेरसं'** लता रस के लिए। (७) स्वाद के पर्याय रूप में—**'स्वादू रसो मधु पेयो वराय'** हे इन्द्र तुम्हारे पीने के लिए यह मधु जैसा स्वादु मधुर सोमरस है।

शब्दकोष में रस के निम्न अर्थ दिये गये हैं—

रसो गन्धे रसे, स्वादे तिक्ताहै विषरागयोः

शृंगाराहौ द्रवे वीर्यें देहधात्वम्बुयारदे॥

इसके अनुसार गन्ध, स्वाद, विष, राग, शृंगार, द्रव, वीर्य, अम्बु एवं पारद के अर्थ का बोधक भी 'रस' शब्द है।

वस्तुतः तथ्य तो यह है कि जीवन के सुव्यवस्थित निर्माण के लिए 'रस' अनिवार्य है, रस से रहित जीवन जीवन ही नहीं रह जाता है चाहे वह आध्यात्मिक जगत् हो अथवा लौकिक जगत्। जीवन की गति भी रस के कारण ही है। जिस प्रकार नाना पदार्थों से तैयार किये हुये व्यंजन से रस की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार अनेक प्रकार के भावों से रस की निष्पत्ति होती है। जिस प्रकार अनेक प्रकार के व्यंजनों से युक्त अन्न का भोग करते हुए स्वस्थ पुरुष आनन्द की प्राप्ति करते हैं, उसी प्रकार विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का आस्वादन करते हुए सहृदयजन रस का आनन्द लेते हैं। प्रथम आस्वाद की प्रक्रिया स्थूल है और दूसरे की सूक्ष्म।

'रस' शब्द 'रस्' धातु और 'अ' (अच् अथवा घञ्) प्रत्यय से निष्पन्न हुआ है। अतएव 'रस' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—**'रस्यते आस्वाद्यते रसः'** अर्थात् वह जो आस्वादित किया जाय, अथवा **'रसते इति रसः'** अर्थात् वह जो बहता है। इस प्रकार 'रस' में दो विशेषताएँ अन्तर्निहित हैं—आस्वाद्यत्व और द्रवत्व।[1]

१. काव्यशास्त्र की रूपरेखा, पृ० ९३

प्रस्तुत पृष्ठभूमि के साथ यदि हम रस के स्वरूप और उसकी परिभाषा पर विचार करें, तो आचार्य भरत के अनुसार हम कह सकते हैं कि विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है—**'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'**। और यह रस की निष्पत्ति नाना भावों के उपगम से होती है :—**"नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः। 'नाना भावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति।"**[1] दशरूपककार धनंजय ने भरत का समर्थन करते हुए लिखा है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव आदि स्थायी भावों के साथ मिलकर स्थायी भाव रस रूप में निष्पन्न होता है—

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः॥ (दशरूपक ३/१)

आचार्य मम्मट कहते हैं कि 'उन विभावादि के द्वारा अथवा उनके सहित व्यंजना द्वारा व्यक्त किया हुआ वह स्थायी भाव रस कहा जाता है—**'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः।'** (का० प्र० ४।२८) साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ भी इस तथ्य को इस प्रकार व्यक्त करते हैं : **'रसतामेति रत्यादिः स्थायी भावःसचेतसाम्'** (सा० द० ४।१) अर्थात् रति आदि स्थायी भाव ही रस स्वरूप को प्राप्त करते हैं।

आचार्य विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में रस के स्वरूप को व्यक्त करते हुए लिखा है कि सत्वोद्रेक रस का हेतु है। यही नहीं, वह तो अखंड, स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, वेद्यान्तर, स्पर्शशून्य, ब्रह्मास्वाद सहोदर और लोकोत्तर चमत्कार से युक्त होता है—

सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्द-चिन्मयः।
वेद्यान्त[illegible]न्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥ (साहित्यदर्पण ३।२-३)

आचार्य विश्वनाथ का आशय यह है कि रस का आस्वादन होता है, अतः वह रस है अर्थात् रस आस्वाद रूप है—**"रस्यते आस्वाद्यते इति रसः"** और इस रस के आस्वादकर्ता सहृदय ही होते हैं। इसी भाव को काव्यप्रकाशकार मम्मट ने इस कारिका द्वारा व्यक्त किया है।

सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।
निर्वासनान्तु [illegible]॥

उनका आशय यह है कि रस का आस्वादन सहृदय को ही संभव है। उनका **"सवासनां सभ्यानां"** कथन सहृदय-हृदय का ही बोधक है। रस सहृदय संवेद्य है। रस की निष्पत्ति सत्त्वगुण की अधिकता से होती है तथा रस का आस्वाद सदा ही अनिवार्यतः आनन्दमय ही होता है। और यह आनन्द अखण्ड, चिन्मय तथा वेद्यान्तर-

१. नाट्यशास्त्र ६।३१-३२।

स्पर्शशून्य है। अखंड से यहाँ आशय यह है कि इसमें विभाव, अनुभाव, स्थायी और संचारी आदि भावों की पृथक्-पृथक् अथवा खण्डशः अनुभूति नहीं होती है अपितु सभी की समन्वित **अखंड** अनुभूति होती है। यही नहीं, इस अनुभूति में परिमाण का भेद भी नहीं होता है। इस समय किसी अन्य विषय की चेतना भी नहीं होती और तीसरे यह अनुभूति **चिन्मय** और बुद्धिपूर्वक होती है क्योंकि रस का आविर्भाव सत्त्व की प्रधानता होने पर ही होता है। इसका आशय यह है कि इस अनुभूति में ऐन्द्रिकता नहीं होती है। यहाँ एक बात का स्पष्टीकरण और भी आवश्यक है वह यह कि रस चर्वण आस्वाद से अभिन्न होने के कारण भाव से स्पष्टतः भिन्न है। शृङ्गार रस का अर्थ रति का अनुभव नहीं है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वीभत्स रस का अर्थ जुगुप्सा या करुण रस का अर्थ शोक का अनुभव नहीं है। अन्यान्य आचार्यों के साथ ही आचार्य विश्वनाथ रसों की विलक्षणता का प्रतिपादन करने के साथ करुणादि रसों की अनुभूति भी सुखकारक मानते हैं—

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्॥

इसीलिए 'रसमीमांसा' में डा० भगवानदास ने लिखा है कि "भाव, क्षोभ, संरम्भ, संवेग, आवेग, उद्वेग, आवेश, अँग्रेजी में 'इमोशन' का अनुभव रस नहीं है, किन्तु उस अनुभव का स्मरण, प्रतिसंवेदन, आस्वादन, रसन, रस है।" मेरे विचार से इसीलिए संस्कृत-साहित्य में रस की व्युत्पत्ति—**'रसते इति रसः'** की जाती है, तदनुसार रस स्वतः स्फुरित होने वाला तत्व है।

'रस' की एक विशेषता यह है कि **रस का आनन्द चमत्कार प्राण है**। यद्यपि विश्वनाथ ने इस तत्व को अत्यधिक महत्व दिया है, किन्तु इतना तो अवश्य ही है कि चमत्कार का काव्यानन्द में थोड़ा-बहुत योग अवश्य रहता है, क्योंकि चित्तवृत्ति की एक विशेषता यह है कि सुन्दर वस्तु को देखकर उसमें आनन्द एवं विस्मय की समन्वित भावना उदय होती है। सम्भवतः रस की इन्हीं विशेषताओं के कारण आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में रस का विवेचन करते हुए लिखा है कि रस न ज्ञाप्य है न कार्य; और ज्ञाप्य और कार्य भी हो सकता है। न साक्षात् अनुभव है न परोक्ष, न निर्विकल्पक ज्ञान है न सविकल्पक। अतएव किसी लौकिक परिभाषा में आबद्ध न हो सकने के कारण वह अनिर्वचनीय है, अलौकिक है एवं ब्रह्मानन्द सहोदर है। निर्वितर्क समाधि का नहीं, क्योंकि उसमें तो अहंकार में भी वासना का सर्वथा नाश हो जाता है परन्तु रस में ऐसा नहीं होता।[1] 'रस से उत्पन्न होने वाला आनन्द

१. स च न कार्यः, विभावादिनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसङ्गात्। नापि ज्ञाप्यः सिद्धस्य तस्यासम्भवात्। अपि तु विभावादिभिर्व्यञ्जितश्चर्वणीयः। कारक-ज्ञापकाभ्यामन्यत् क्व दृष्टमिति चेत्? न क्वचित् दृष्टमित्यलौकिकत्वसिद्धेर्भूषणमेतन्न दूषणम्।

चर्वणानिष्पत्त्या तस्य निष्पत्तिरुपचरितेति कार्योऽप्युच्यताम्। तद्ग्राहकं च न निर्विकल्पकं विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात्। नापि सविकल्पकं चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। —काव्यप्रकाश ४-२७-२८ की व्याख्या

बाह्येन्द्रियगत[1] अनुकूलसंवेदना-जन्य-आनन्द से सर्वथा भिन्न प्रकार का है। वह मानस-प्रत्यक्ष कहा गया है। इसकी अलौकिकता के आधार पर ही विभावादि को रस-हेतु न कहकर उनको विभावादि जैसा विलक्षण नाम दिया गया है।....उसकी कोई विशेष सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती है, वह अनिर्वचनीय है। रस के सम्बन्ध में ब्रह्मानन्द की कल्पना का मूल स्रोत 'तैत्तिरीय उपनिषद्' है। **'रसौ वै सः'** कहकर इस उपनिषद् में ब्रह्म को ही आनन्द या रस रूप बताया गया है। इसके अनुसार आनन्द ही ब्रह्म है। आनन्दमय ब्रह्म ही समस्त भूतमात्र का जनक है। आनन्द ही प्राणस्वरूप है, जिसे धारण करने पर सब जीवित रहते हैं और आनन्द में ही लय भी होते हैं। इसी के आधार पर योगी द्वारा अनुभूत ब्रह्मानन्द से तुलना करके काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर कह दिया गया।"[2]

आज मनोवैज्ञानिक के समक्ष रस तत्व के सम्बन्ध में कुछ मौलिक प्रश्न हैं, जिनका समाधान नितांत आवश्यक है। किन्तु विस्तारभय से मात्र दिग्दर्शन ही यहाँ करा सकेंगे—प्रथम प्रश्न यह है कि **क्या काव्यानुभूति (रस) अनिवार्यतः आनन्दमयी चेतना है ?** दूसरा प्रश्न यह है कि **क्या काव्यानुभूति अनिवार्यतः भावानुभूति से भिन्न** है ? तीसरा प्रश्न यह है कि **क्या आनन्द अभौतिक और विलक्षण है ?** इस प्रकार के प्रश्न प्राच्य एवं पाश्चात्य सभी आचार्यों के समक्ष रहे हैं। इस विषय पर विचार करते हुए आचार्यप्रवर डा० नगेन्द्र ने काव्यानन्द के सम्बन्ध में पाँच सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं—

१—काव्य का आनन्द प्रत्यक्षतः ऐन्द्रिय आनन्द है। इस मत के प्रवर्त्तक प्लेटो हैं और आधुनिक युग में समर्थन ड्यूवाय ने किया है। इसके अनुसार काव्य का कला से प्राप्त आनन्द ठीक वैसा ही है जैसा कि सर्कस देखने से मिलता है।

२—काव्य का आनन्द आत्मिक आनन्द का ही रूप है। आत्मा सहज सौंदर्य रूप है—सहज आनन्द रूप है। काव्य उसी का उच्छलन है, अतः वह स्वभावतः आध्यात्मिक अनुभूति है। स्वदेश-विदेश के आदर्शवादी आचार्य इसी मत को सत्य मानते हैं। हीगेल और रवीन्द्रनाथ का यही मत है। अभिनव, मम्मट और जगन्नाथ का भी यही मत है।

३—काव्यानन्द कल्पना का आनन्द है अर्थात् मूलवस्तु और उसके काव्यांकित रूप की तुलना से प्राप्त आनन्द है। यह अरस्तू से प्रेरित एडीसन का मत है। बीसवीं शती में क्रोचे ने इसी को दार्शनिक रूप में प्रस्तुत कर काव्यानन्द को सहजानुभूति का आनन्द माना है।

४—काव्य का आनन्द सभी प्रकार के लौकिक और आध्यात्मिक अनुभवों से भिन्न एक प्रकार का विलक्षण आनन्द है जो सर्वथा निरपेक्ष है। यों तो यह सिद्धान्त

१. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० [illegible]।
२. रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ६१।

काफी पुराना है, परन्तु उन्नीसवीं शती के अन्त और बीसवीं शती के आरम्भ में ब्रैडले क्लाइव बैल आदि कलावादियों ने इसकी व्यवस्थित रूप में प्रतिष्ठा की है। यद्यपि यह सिद्धान्त भी कुछ-कुछ रहस्यवादी प्रकृति में रंगा हुआ है और रिचर्ड्स ने इस पर कांट तथा हीगेल आदि का अप्रत्यक्ष प्रभाव भी माना है, तथापि 'विलक्षण अनुभूति' और 'आध्यात्मिक अनुभूति' को एक मानना उचित नहीं होगा, क्योंकि यह 'विलक्षण अनुभूति' केवल लौकिक आनन्द से ही नहीं आध्यात्मिक आनन्द से भी विलक्षण है।[1]

इन मतों के औचित्य, अनौचित्य पर यहाँ विचार अपेक्षित नहीं है किन्तु भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य को आत्मिक आनन्द का प्रतिरूप माना गया है, इसीलिए उसे अनिर्वचनीय, अलौकिक, ब्रह्मानन्द सहोदर आदि विशेषण प्रदान किए गए हैं।

प्रश्न ४४. रसाङ्गों का विवेचन कीजिए।

अथवा

भाव, विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव, संचारीभाव और स्थायी भावों का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

भरतमुनि कृत परिभाषा—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' में रस के तीन अंगों (विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव) का उल्लेख किया गया है। किन्तु आगे की पंक्तियों में उन्होंने स्थायीभाव को ही रस कहा है। वे लिखते हैं कि "नाना भावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति''''विभावानुभाव व्यभिचारि परिवृतः स्थायीभावो रस नाम लभते नरेन्द्रवत्। (ना० शा० ६।२६-३२; ७।७-८) अर्थात् अनेक भावों से युक्त स्थायीभाव रसावस्था को प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार आचार्य मम्मट ने भी रस के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है कि उन विभावादि से व्यक्त स्थायीभाव ही रस कहलाता है। अतः विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी (संचारी) भाव और स्थायीभाव रस के अङ्ग हैं और इन तत्वों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

भाव—भरत के अनुसार मानसिक अवस्थाओं के व्यंजक तत्व ही 'भाव' हैं—"**कवेरन्तर्गतं भाव भावयन् भाव उच्यते।**" अमरकोष में मन के विकारों को भाव कहा गया है—'**विकारो मानसोभावः**'। ये भाव चार प्रकार के हैं—विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव और स्थायीभाव। 'भाव' शब्द पर विचार करते हुए हिन्दी साहित्य कोश के प्रथम भाग में लिखा है कि "''''ये भाव इसलिए कहलाते हैं कि अनुभावों के वाचिक, सात्त्विक, आंगिक तथा आहार्य प्रदर्शन द्वारा ये नाटक के अर्थ को '**भावयन्ति**' अर्थात् व्यंजित करते हैं। वस्तुतः भरत के अनुसार मानसिक अवस्थाओं का व्यंजक प्रदर्शन ही 'भाव' है और इसी मौलिक शब्द के आधार पर विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव की स्थापना की गयी है।''''आगे चलकर 'भाव' का एक विशिष्ट अर्थ और

---

१. रससिद्धान्त, पृ० ११६।

विकसित हुआ । धनंजय (१० शती ई०) ने आश्रय की सुख-दुख आदिक भावस्थितियों के ज्ञापन को 'भाव' माना है। (दश० ४।४)। मम्मट (१२ शती ई०) ने 'रसध्वनि' और 'भावध्वनि' का अलग-अलग विवेचन किया है—**"रतिर्देवादिवि व्यभिचारी-तथाऽञ्जितः। भाव प्रोक्तः"** (का० प्र० ४।३५) देवादिविषयक रति आदि स्थायी भावों की वर्णना और व्यभिचारी भावों की स्वतन्त्र अभिव्यंजना में 'भावध्वनि' कही जाती है। इसी बात को विश्वनाथ (१४ श०ई०) ने और स्पष्टता के साथ कहा है—**"संचारिण प्रधानानि देवादि विषया रतिः। उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते।"** (सा० द० ३।२६०-२६१), अर्थात् जब संचारियों का वर्णन किसी स्थायी का सहायक न होकर स्वतन्त्र तथा प्रधान होता है, देवादि-विषयक रति तथा उद्बुद्धमात्र स्थायी भाव का वर्णन 'भाव' मात्र कहलाता है।[1]

इस प्रकार मानव हृदय में वासना में रूप में स्थित रहने वाले मनोविकारों को काव्य में भाव कहते हैं। यह भाव अनन्त होते हैं; किन्तु कुछ ऐसे भाव होते हैं जो स्थायी रूप में सदैव मानव मन में रहते हैं सदा रहने के कारण इन्हें 'स्थायीभाव' कहते हैं। यह सुप्तावस्था में रहते हैं किन्तु विशिष्ट परिस्थितियों में जाग्रत होकर कार्य करने लगते हैं। जैसे वीणा के तारों में सोये हुए स्वर उंगली के स्पर्श से मोहक राग में परिणत हो जाते हैं।

विभाव—वे व्यक्ति या पदार्थ जो भावोत्तेजना के मूल कारण हैं, वे विभाव कहलाते हैं—'विभावयन्ति इति विभावाः'। 'वाचिक, आंगिक तथा सात्विक अभिनय के सहारे चित्तवृत्तियों का विशेष रूप से विभावन अर्थात् ज्ञापन कराने वाले हेतु, कारण अथवा निमित्त को 'विभाव' कहते हैं।'[2] आचार्य विश्वनाथ ने विभाव का लक्षण इस प्रकार लिखा है—'सामाजिक के अन्तर्गत रति-हास आदि को जो आस्वादन के योग्य उत्पन्न करते हैं—**"रत्याद्युद्बोधकाः लोके विभावा काव्यनाट्ययोः।"**[3] हिन्दी के आचार्य देव विभाव का लक्षण इस प्रकार करते हैं—**"जो विशेष्य करि रसनि को उपजावत हैं भाव।"**[4] आचार्य शुक्ल ने विभाव को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"विभाव से अभिप्राय उन वस्तुओं या विषयों के वर्णन से है जिनके प्रति किसी प्रकार का भाव या संवेदना होती है।" जो व्यक्ति या पदार्थ अथवा बाह्य विकार किसी व्यक्ति के मन में भावों को जाग्रत करते हैं, इन भावोद्बोधक अथवा **रसाभिव्यक्ति के कारणों को विभाव कहते हैं**। इनके आश्रय के कारण रस अभिव्यक्त होता है, अतः यह कारण, निमित्त अथवा हेतु कहलाते हैं। "रस को अलौकिक मानने के कारण इन्हें

१. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ५६१।

२. नाट्यशास्त्र ७।४:—विभाव्यन्तेऽनेन वागङ्गसत्त्वाभिनया इति विभावः।
यथा विभावितं विज्ञातमित्यर्थान्तरम्॥

३. साहित्यदर्पण ३।२९।

४. भावविलास, २३२।

भी कारण आदि नाम देकर असाधारण रूप में विभाव कहा जाता है। यह विभाव आश्रय में भावों को जाग्रत करते हैं और उन्हें उद्दीप्त भी करते हैं। इस कारण इसके 'आलम्बन' तथा 'उद्दीपन' नामक दो भेद किए गए हैं।"[1] **आलम्बन** विभाव वे हैं जिसका आलम्बन (सहारा) लेकर रति, हास, क्रोध, शोक, जुगुप्सा, उत्साह, विस्मय आदि भाव जाग्रत होते हैं, जैसे नायक-नायिका। आलम्बन विभाव दो प्रकार के होते हैं—'आश्रयालम्बन तथा विषयालम्बन—यदि नायक राम को देखकर सीता के मन में रस को उत्पत्ति होती है तो राम आलम्बन विभाव हुए और सीता आश्रय विभाव। **उद्दीपन** विभाव वे कहलाते हैं—जिन वस्तुओं या स्थिति को देखकर रीति आदि स्थायीभाव तीव्र या उद्दीप्त होने लगते हैं, जैसे—चन्द्रोदय, कोकिलकूजन, एकान्तस्थल, रमणीक उद्यान आदि। प्रत्येक रस के अपने विशिष्ट उद्दीपन होते हैं—जैसे शृंगार के लिये चन्द्रोदय तथा शान्तरस के लिए सत्संग, तीर्थाटन, धर्मोपदेश आदि। भावोद्दीपन के विभिन्न कारण होते हैं—(१) आलम्बन के गुण, (२) आलम्बन की चेष्टाएँ, (३) आलम्बन के अलंकार, (४) तटस्थ पदार्थ।

अनुभाव—स्थायी एवं संचारी भावों के उदय होने के पश्चात् जो शारीरिक एवं मानसिक विकार दृष्टिगत होते हैं उन्हें अनुभाव कहते हैं—"**अनुभावयन्तीति अनुभावः।**" भरत वाणी तथा अंगसंचालनादि द्वारा व्यक्त अभिनय रूप भावाभिव्यंजन को अनुभाव कहते हैं (ना० शा० ७।५) रसगङ्गाधरकार के अनुसार संचारी भावों के अनन्तर इनकी उत्पत्ति होती है, अतः ये अनुभाव कहलाते हैं—"**अनु पश्चाद् भावः उत्पत्तिः येषाम् अथवा अनु भावयन्ति इति वा व्युत्पत्तेः।**" धनंजय अनुभावों को विकार रूप तथा भावों का सूचक मानते हैं—**अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः** (दशरूपक ४।३)। विश्वनाथ ने आलम्बन, उद्दीपन आदि कारणों से उत्पन्न भावों को बाहर प्रकाशित करने वाले कार्य को अनुभाव कहा है—"**उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्** (सा० द० ३।१३२)।" वाणी तथा अंग-संचालन आदि की जिन क्रियाओं से आलम्बन तथा उद्दीपन आदि के कारण आश्रय के हृदय में जाग्रत भावों का साक्षात्कार होता है, वह व्यापार 'अनुभाव' कहलाता है। इस रूप में ये विकाररूप तथा भावों के सूचक हैं। भावों की सूचना देने के कारण ये भावों के अनु अर्थात् पश्चाद्वर्त्ती एवं कार्यरूप माने जाते हैं। वास्तविक पात्र के लिए कार्यरूप होने पर भी सहृदय के विचार से ये कारण रूप भी हैं; क्योंकि इन्हीं अनुभावों के सहारे ही वह पात्रों के भावों को जान पाता है। साहित्यदर्पणकार ने कार्यरूप मानकर ही आलम्बन तथा उद्दीपन आदि कारणों से हृदय में जाग्रत रतिभावना को बाहर प्रकाशित करने वाले कार्य कहा है।....हेमचन्द्र, भानुदत्त तथा शारदातनय ने अनुभावों का हेतु रूप और कविराज विश्वनाथ, धनंजय, शिंगभूपाल तथा पंडितराज ने इन्हें कार्यरूप माना है। प्रत्येक रस के विचार में यह अनुभाव भी पृथक्-पृथक् होते ।"[2]

१. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ७८०।
२. हिन्दी साहित्य कोश, प्र भा०, पृ० ३३।

भरतमुनि वाचिक, आंगिक और सात्विक तीन प्रकार के अनुभाव मानते हैं (ना० शा० ७।३-८)। भानुदत्त इनकी संख्या चार—कायिक, मानसिक, आहार्य और सात्विक मानते हैं। किसी-किसी विद्वान् ने इनकी संख्या पाँच मानी हैं। वे पाँच प्रकार के अनुभाव निम्न हैं—कायिक, मानसिक, आहार्य, वाचिक तथा सात्विक। **कायिक :** शारीरिक कृत्रिम चेष्टाएँ—कटाक्षपात, भृकुटि-भंग आदि आंगिक क्रियाएँ कायिक अनुभाव के अन्तर्गत आती हैं। **मानसिक :** अन्तकरण: की भावना के अनुरूप मन में हर्ष-विषाद आदि की हलचल को मानसिक अनुभाव कहते हैं (मन सम्भव मोदादि कहँ)। **आहार्य :** मन में उत्पन्न भावना के अनुकूल भिन्न-भिन्न प्रकार की वेश-भूषा धारण करना आहार्य अनुभाव कहलाता है। **वाचिक :** वाणी की उग्रता अथवा मृदुता वाचिक अनुभाव कहलाता है। **सात्विक :** सात्विक भावों से उत्पन्न अनुभाव। सात्विक भाव अथवा सहज अंग विकार आठ माने हैं, जैसे—स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु, अश्रु, वैवर्ण्य, प्रलय तथा जृम्भा—

सहजहिं अंग विकार कहँ, सात्विक भाव वखान।
स्तम्भ स्वेद रोमांच कहि, बहुरि कहत स्वर भंग।
कम्प वरणि वैवर्ण्य पुनि, आँसू प्रलय प्रसंग।
अन्तरगत अनुभाव में, आठहु सात्विक भाव।
जृम्भा नवम बखानहीं कोऊ कवि सतभाव॥

(भानु कवि : रसरत्नाकर)

इन अनुभावों का नाम सात्विक इसलिए है क्योंकि "इनका अभिनय विशेष मनोवेग से ही सम्भव है और चित्त-विक्षेप के साथ कोई व्यक्ति इनका अभिनय नहीं कर सकता (ना० शा० ६।१९) अन्तःकरण के विशेषधर्म 'सत्व' से उत्पन्न ऐसे अंग-विकार को सात्विक अनुभाव कहते हैं, जिससे हृदयगत रस या भाव का पता चलता है। सत्व को मनःप्रभाव कहा जाता है। साहित्यदर्पण (१४ श० ई०) के अनुसार सत्व 'स्वात्म-विश्राम' अर्थात् रस को प्रकाशित करने वाला आन्तरधर्म है। इससे सम्बन्ध रखने के कारण ही इन अनुभावों को सात्विक भाव भी कह दिया है ३।१३३-३४)। वस्तुतः ये रस के प्रकाशक के रूप में अनुभवमात्र ही हैं, केवल 'गोवलीवर्दन्याय' से इनका पृथक् वर्णन किया जाता है।"[1] धनंजय ने भी इसी बात का समर्थन करते हुए लिखा है कि "कुछ और भाव पृथक् ही होते हैं, जो होते तो वास्तव में अनुभाव ही हैं, किन्तु सत्व से उत्पन्न होने के कारण उन्हें सात्विक भाव कहते हैं—**पृथग्भावा भवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्त्विकाः सत्वादेवस मुत्पत्तेस्तच्च तद्भाव भावनम्।**" सत्व का अर्थ है "भावक के चित्त को सुख-दुःख इत्यादि की भावनाओं से भावित करना।" सात्विक भाव, संस्कृत के आचार्यों ने आठ माने हैं—

१. हिन्दी साहित्य कोश, प्र० भा०, पृ० ९०४।

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमांचः स्वरसादोऽथवेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलयः इत्यष्टौ सात्विकाः स्मृता ॥ (साहित्य-दर्पण)

हिन्दी के भानुकवि ने इनकी संख्या नौ मानी है । भानुकवि का उद्धरण ऊपर दिया जा चुका है ।

स्तम्भ—हर्ष, भय, विस्मय, विषाद, लज्जा, रोष आदि से अचानक शरीर के अंगों का रुक जाना 'स्तम्भ' सात्विक कहलाता है। (ना० शा० ६।९६) ।

स्वेद—क्रोध, भय, हर्ष, लज्जा, दुःख, समाचार आदि से उत्पन्न पसीने को 'स्वेद' सात्विक कहते हैं (ना० शा० ६।९५) ।

रोमांच—स्पर्श, श्रम, हर्ष-क्रोध, भय आदि के कारण शरीर के रोमों का खड़ा हो जाना 'रोमांच' सात्विक कहा जाता है। (ना० शा० ६।९८) ।

स्वरभंग—हर्ष, भय, क्रोध आदि के कारण स्वर का गद्गद् हो जाना 'स्वर-भंग' कहलाता है। (ना० शा० ६।९९) ।

वेपथु या कंप—भय, क्रोध, हर्ष, शीत आदि के कारण शरीर का काँपने लगना 'वेपथु' सात्विक कहलाता है (ना० शा० ६।९८) ।

वैवर्ण्य—क्रोध, भय, हर्ष, विषाद, शीत लज्जा आदि के कारण मुँह का रंग उड़ जाना 'वैवर्ण्य' सात्विक कहलाता है (ना० शा० ६।९६) ।

अश्रु—आनन्द, भय, शोक, धूम आदि के कारण नेत्र से निकलने वाले अश्रु को 'अश्रु' सात्विक कहते हैं (ना० शा० ६।९७)

प्रलय—मूर्च्छा, भय, निद्रा, हर्ष, आघात, श्रम आदि के कारण उत्पन्न निश्चेष्टता, संज्ञाहीनता आदि की अवस्था को 'प्रलय' कहते हैं (ना० शा० ६।९९) ।

जृम्भा—नामक सात्विक का उल्लेख भानु कवि ने किया है, इसका उल्लेख ऊपर कर चुके हैं, यद्यपि इसका (नौवाँ सात्विक मानने का) विरोध भी किया जा सकता है। वियोग, मोह तथा भय के कारण जब मुख को खोलकर श्वास-निःश्वास लिया जाता है उसे 'जृम्भा' सात्विक कहते हैं ।

व्यभिचारी अथवा संचारीभाव—भरत ने नाट्यशास्त्र में व्यभिचारी का अर्थ—रस के सम्बन्ध में जो अन्य वस्तुओं की ओर संचरण करें (७।२७)—किया है। इसी आधार पर धनंजय ने व्यभिचारी भावों की परिभाषा की है—"**विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः। स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ।**" (द० रू० ४।७) अर्थात् जो भाव विशेष रूप से स्थायी भाव की पुष्टि के लिए तत्पर या अभिमुख रहते हैं और स्थायी भाव के अन्तर्गत आविर्भूत और तिरोहित होते दृष्टि-गत होते हैं, वे संचारीभाव कहलाते हैं। "जैसे लहरें समुद्र में पैदा होती हैं और उसी में विलीन हो जाती हैं, वैसे ही रत्यादि स्थायी भावों में निर्वेदादि संचारी भाव उत्पन्न तथा नष्ट होते रहते हैं। इस तरह संचारीभाव मुख्य रूप से स्थायीभाव में ही उठते-गिरते हैं। लहरों के उठने और गिरने से समुद्र का समुद्रत्व और भी पुष्ट होता है, ठीक उसी तरह 'संचारीभाव' स्थायीभावों के पोषक होते हैं। स्थायी स्थिर तो संचारी

संचरणशील और अस्थिर।"[1] केशवदास के अनुसार व्यभिचारी भाव का लक्षण निम्न है—

भाव जु सब ही रसन में, उपजत केशव राय।
बिना नियम तिन सों कहैं, व्यभिचारी कविराय॥

आचार्य चिन्तामणि इन्हें संचारी नाम देते हुए कहते हैं कि—

जे विशेष ते थाइ को अभिमुख रहे बनाय।
ते संचारी वर्णिए कहत बड़े कविराय॥

समय-समय पर संचारियों की संख्या में परिवर्तन होता रहा है किन्तु इनकी मान्य संख्या तैंतीस रही है। भरत के अनुसार वे निम्न हैं—निर्वेद, आवेग, दैन्य, श्रम, मद, जड़ता, औग्र्य, मोह, विबोध, स्वप्न, अपस्मार, गर्व, मरण, अलसता, अमर्ष, निद्रा, अवहित्था' औत्सुक्य, उन्माद, शंका, स्मृति, मति, व्याधि, संत्रास, लज्जा, हर्ष, असूया, विषाद, धृति, चपलता, ग्लानि, चिन्ता और वितर्क। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रस-मीमांसा में संचारियों के सम्बन्ध में विचार करते हुए लिखा है कि "जो तैंतीस संचारी कहे गए हैं, वे उपलक्षणमात्र हैं, संचारी और भी हो सकते हैं। जिस प्रकार स्मृति है, उसी प्रकार विस्मृति भी रखी जा सकती है। मुख्यरूप से उन्होंने भी तैंतीस संचारियों का ही विवेचन किया है। विरोध-अवरोध की दृष्टि से रामचन्द्र शुक्ल ने संचारियों के चार भेद किये हैं—सुखात्मक, दुःखात्मक, उभयात्मक और उदासीन।

सुखात्मक—गर्व, औत्सुक्य, हर्ष, आशा, मद, सन्तोष, चपलता, मृदुलता, धैर्य। **दुःखात्मक**—लज्जा, असूया, अमर्ष, अवहित्था, त्रास, विषाद, शंका, चिन्ता, नैराश्य, उग्रता, मोह, अलसता, उन्माद, असन्तोष, ग्लानि, अपस्मार, मरण, व्याधि। **उभयात्मक**—आवेग, स्मृति, विस्मृति, दैन्य, जड़ता, स्वप्न, चित्त की चंचलता। उदासीन....वितर्क, मति, श्रम, निद्रा, विबोध।

स्थायीभाव—काव्य में वर्णित शृंगारादि रसों के मूलभूत कारण स्थायीभाव कहलाते हैं। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में स्थायीभाव आठ बतलाये हैं—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावा प्रकीर्तिताः॥ (ना० शा० ६।१७)

भरत के अनुसार ये स्थायीभाव ही विभाव, अनुभावों के संयोग से काव्य या नाटक में रस की निष्पत्ति करते हैं। क्योंकि इनमें 'सामान्यत्व' का गुण रहता है—

'एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते।'

वस्तुतः स्थायीभाव ही रस के उपादान कारण हैं। भरत के अनुसार 'जिस प्रकार अनेक परिजनों, परिचारकों द्वारा घिरे रहने पर भी राजा, राजा ही कहलाता है, उसी प्रकार विभावों अनुभावों एवं संचारियों से संयुक्त होने पर भी, स्थायीभाव ही रसत्व को प्राप्त होते हैं—**"नाना भावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नु-**

१. हिन्दी साहित्य कोश, प्र० भा०, पृ० ८५०।

वन्ति....विभावानुभावव्यभिचारिपरिवृतः स्थायीभावो रसताम् लभते नरेन्द्रवत्" (६।२६-३२; ७।७-८)। भरत के अनुसार स्थायीभाव ही उचित परिस्थितियों में रस रूप में परिणत होते हैं। जब अतिशयतापूर्वक उनका उद्रेक सामाजिकता के अन्तःकरण में हो जाता है जिसकी चर्वणा में वह निमग्न हो उठता है तब स्थायीभाव रस कहलाने लगते हैं। मम्मटाचार्य ने भी यही बात कही है—

विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रस स्मृतः॥ (का० प्र० ४।२८)।

आचार्य धनंजय ने स्थायीभाव का निरूपण करते हुए लिखा है कि—'जो भाव विरोधी एवं अविरोधी भावों से विच्छन्न नहीं होता, अपितु विपरीत भावों को अपने में शीघ्र मिला लेता है, उसका नाम स्थायी है उसकी स्थिति समुद्र के समान है, जो प्राप्त सभी वस्तुओं को लवण बना देता है—

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः॥ (दशरूपक ४।३४)।

विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में लिखा है कि अविरुद्ध या विरुद्ध भाव जिसे छिपा न सके, वह आस्वाद का मूलभूत भाव स्थायी है—

अविरुद्धा विरुद्धा वा य तिरोधातुमक्षमाः।
आस्वादांकुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः॥ (सा० द० ४।१७४)।

पंडितराज जगन्नाथ लिखते हैं कि—'जिस भाव का स्वरूप सजातीय एवं विजातीय भावों से तिरस्कृत न हो सके और जब तक रस का आस्वादन हो, तब तक जो वर्त्तमान रहे, वह स्थायीभाव कहलाता है"—

सजातीयविजातीयैरतिरस्कृतमूर्तिमान्।
यावद्रसं वर्तमानः स्थायिभाव उदाहृतः।

पण्डितराज के स्थायी नाम का आधार यह है कि "काव्य अथवा नाटक के अनुशीलन अथवा प्रेक्षण की अवधि में सामाजिक का चित्त अनेक अवान्तर प्रसंगों के बीच भी उस मूलगत भाव की प्रतीति से ही चमत्कृत होता रहता है।" स्थायीभाव की कुछ सामान्य विशेषतायें हैं—(१) आस्वाद्यत्व, (२) उत्कटत्व, (३) सर्वजन सुलभत्व, (४) पुरुषार्थोपयोगिता, (५) औचित्य या उचितविषयनिष्ठत्व। उपर्युक्त पाँचों स्थायीभाव की विशेषताएँ एक साथ आवश्यक हैं तभी वह स्थायीभाव है और तभी वे काव्य में चित्रित होकर सहृदयसंवेद्य हो सकते हैं। उदाहरणार्थ लोभ एक अत्यन्त उत्कट भाव है, लेकिन वह आस्वादनीय नहीं है, इसलिए उसे स्थायी भावों में सन्निविष्ट नहीं किया गया है। ऐसे ही संचारी भाव भी सर्वजनसुलभ हैं, क्योंकि वे भी मनुष्य में वासना रूप में स्थित हैं, किन्तु उनमें उत्कटत्व नहीं हैं क्योंकि जैसा कि पण्डितराज ने कहा है, वे काव्यादिक में अन्त तक 'बार-बार' अभिव्यक्त नहीं होते, अतएव वे व्यभिचारी ही कहे गये हैं इन पाँच विशेषताओं में से भी निम्न तीन विशेष महत्वपूर्ण हैं :—

(१) **आस्वाद्यत्व**—स्थायी भाव में रसन की सहृदय सामाजिक को आनन्दित

करने की क्षमता होती है। इस आस्वाद्यत्व को 'रसनीयता' तथा अनुरंजकत्व भी कहा गया है।

(२) **उत्कटत्व**—यह स्थायीभाव की दूसरी विशेषता है। स्थायीभाव को सशक्त, मन पर प्रभाव डालने में समर्थ होना चाहिए। तभी वह सजातीय और विजातीय भावों के समक्ष स्थायी रहकर रसोत्पत्ति का कारण बन सकता है। आशय यह है कि स्थायीभाव समस्त परिस्थितियों में अपने अस्तित्व की सुरक्षा में समर्थ होता है।

(३) **सर्वजन सुलभत्व**—यह सर्वजन सुलभ होता है, क्योंकि मानव मन में इसकी सत्ता रहती है। कोई मनुष्य वासना रहित नहीं होता है, अतः रति आदि भाव प्रत्येक मनुष्य में संस्कार रूप में विद्यमान रहते हैं।

(४) **पुरुषार्थोपयोगिता**—रति आदि स्थायीभाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में पुरुषार्थ की प्रेरणा देते हैं, अतः पुरुषार्थोपयोगी हैं।

(५) **उचित-विषय-निष्ठत्व**—भावना को तीव्र रूप में आस्वाद योग्य बनाने के लिए उचित विषय का ग्रहण आवश्यक है।

उपर्युक्त कसौटी पर कसकर आचार्यों ने सर्वसम्मति से रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय तथा शम या निर्वेद, ये नौ स्थायी भाव स्वीकृत किये हैं। भरत ने पहले निर्वेद को स्थायीभावों में सन्निविष्ट नहीं किया था, क्योंकि वे आठ रसों को ही नाट्योपयोगी मानते हैं, किन्तु इनके निरूपण के पश्चात् उन्होंने निर्वेद को स्थायीभाव तथा शान्त को नौवाँ रस भी स्वीकार किया है। बाद में भक्ति और वात्सल्य भी स्थायियों में गृहीत कर लिए गए हैं, क्योंकि वे भी आस्वाद्यता, उत्कटता आदि गुणों में अन्य भावों से घटकर नहीं हैं। इस प्रकार स्थायी भावों की संख्या ग्यारह तक पहुँच जाती है। इनमें से प्रत्येक एक-एक रस का स्थायी है। ये भाव अपने नियत रस में ही स्थायी की संज्ञा प्राप्त करते हैं, क्योंकि ये आद्योपान्त आस्वादित होते हैं। यदि अपने नियत रस से अन्यत्र इनमें से कोई भाव उत्पन्न होता है, तो वहाँ वह स्थायी न रहकर व्यभिचारी बन जाता है, इसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुए कन्हैयालाल पोद्दार का कथन है कि 'वास्तविक स्थायी भाव के उदाहरण तो रस की परिपक्व अवस्था में ही मिल सकते हैं, अन्यत्र नहीं' (र० मं० पृ० २५२)।[1]

प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में विभिन्न रसों के वर्ण एवं देवताओं की कल्पना की गई है, वह कल्पना इस प्रकार है—

रस	स्थायीभाव	वर्ण	देवता
शृङ्गार	रति	श्याम	विष्णु
हास्य	हास	श्वेत	प्रमथ
रौद्र	क्रोध	रक्त	रुद्र

१. हिन्दी साहित्य कोश, प्रथम भाग, पृ० ६४८ से उद्धृत

रस	स्थायीभाव	वर्ण	देवता
करुण	शोक	कपोत	यम-वरुण
वीभत्स	जुगुप्सा	नील	महाकाल
भयानक	भय	कृष्ण	कालदेव भूतपिशाच
वीर	उत्साह	स्वर्ण, गौर	इन्द्र (महेन्द्र)
अद्भुत	विस्मय	पीत	गन्धर्व, ब्रह्मा
शान्त	निर्वेद	अरुण	पूषा
वात्सल्य	रति	ईषदरुणाभ	वासुदेव

अभिनव गुप्त ने शान्तरस का अधिष्ठाता बुद्धदेव को, विश्वनाथ ने नारायण को तथा हर्षोपाध्याय ने परमेश्वर को माना है। विश्वनाथ ने वात्सल्य रस का देवता जगदम्बा को माना है। उपर्युक्त सारणी नाट्यशास्त्र के (वर्ण=६।४२-४३) (देवता ६।४४-४५) अनुसार है।

प्रश्न ४५—रसनिष्पत्ति विषयक विभिन्न आचार्यों के मतों की समीक्षा करते हुए उनका मूल्यांकन दीजिए।

प्रश्न ४६—रसनिष्पत्ति के प्रसंग में किस आचार्य का मत ग्राह्य है ? कारण सहित उत्तर दीजिए।

आचार्य भरत के रससूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' (विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रसनिष्पत्ति होती है) पर संस्कृत साहित्य के लगभग ग्यारह आचार्यों ने विचार कर रसनिष्पत्ति की समस्या का समाधान प्रस्तुत किया है। भरत के सूत्र में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव आदि के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है। आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में रस का स्वरूप व्यक्त करते हुए लिखा है कि "लोक में स्थायी रति आदि चित्तवृत्तियों के उदय, विकास और तिरोभाव होने के अनेक कारण, कार्य और सहायक कारण होते हैं। साहित्य में इन्हीं को क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहा गया है।[1] इन्हीं विभावादियों के संयोग से व्यक्त स्थायीभाव ही रस कहलाता है।

विभाव—वे व्यक्ति या पदार्थ जो भावोत्तेजना के मूलकारण हैं विभाव कहलाते हैं। विभाव दो प्रकार के होते हैं—आलम्बन विभाव एवं उद्दीपन विभाव।

आलम्बन—विभाव वे हैं जिनका आलम्बन लेकर रति, हास, क्रोध, शोक, भय, जुगुप्सा, उत्साह, विस्मय आदि भाव जाग्रत होते हैं; जैसे—नायक-नायिका को देखकर।

१. कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः।
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः ॥४।२७-२८

उद्दीपन—विभाव वे कहलाते हैं जिन वस्तुओं या स्थिति को देखकर रति आदि स्थायीभाव तीव्र या उद्दीप्त होने लगते हैं; जैसे—चन्द्रोदय, कोकिल-कूजन, एकान्त स्थल, रम्योद्यान आदि। प्रत्येक रस के अपने विशिष्ट उद्दीपन होते हैं। भावोद्दीपन के निम्नलिखित कारण होते हैं—(१) आलम्बन के गुण, (२) आलम्बन की चेष्टायें, (३) आलम्बन के अलंकार, (४) तटस्थ पदार्थ।

अनुभाव—स्थायीभावों के उदय होने के पश्चात् जो शारीरिक विकार दिखाई देते हैं वे अनुभाव कहलाते हैं। अनुभाव चार प्रकार के होते हैं—(१) कायिक, (२) मानसिक, (३) आहार्य और (४) सात्विक।

व्यभिचारीभाव—व्यभिचारी (संचारी) भाव स्थायीभावों के विपरीत क्षणिक होते हैं। स्थायीभावों के सहकारी के रूप में वर्तमान रहते हैं। अनेक रसों में व्यभिचरण करने के कारण संचारी भावों को व्यभिचारी भाव कहा जाता है। इस प्रकार विभावानुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से प्रपाणक रस के समान जो आनन्द अथवा रस-चर्वणा होती है, उसे हम 'रस' कह सकते हैं। रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया को सार रूप में हम इस प्रकार समझ सकते हैं—"जिस प्रकार पृथ्वी में गन्ध समायी रहती है, उसी प्रकार हमारे हृदय में वासनात्मक संस्कार सुप्त रूप में पड़े रहते हैं। जल-सिंचन द्वारा जिस प्रकार पृथ्वी की गन्ध प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार विभावादि का संयोग प्राप्त होते ही हमारे वासनात्मक संस्कार उद्बुद्ध होकर चमत्कृत आनन्द उत्पन्न कर देते हैं। वास्तव में वासना रूप बीज आलम्बन रूप हृदय क्षेत्र में पड़कर स्थायीभाव रूप में अंकुरित होता है और उद्दीपन रूप जलवायु एवं गर्मी से बढ़ता है। पीछे यही अंकुर अनुभाव रूप वृक्ष दिखाई देता है और फिर उस पर संचारीभाव रूप अनेक पुष्प खिलते हैं जिनसे मकरन्द रूप रस पैदा होता है।"

रसनिष्पत्तिविषयक विभिन्न मत—

प्रथम मत अथवा भट्टलोल्लट का मत—आरोप या उत्पत्तिवाद के उद्भावक मीमांसक भट्टलोल्लट 'संयोग' शब्द का अर्थ **सम्बन्ध** तथा 'निष्पत्ति' शब्द का अर्थ उत्पत्ति करते हैं। इनके मत के अनुसार विभावादि कारण हैं और रस कार्य। भट्टलोल्लट ने रस की स्थिति ऐतिहासिक पात्र नायक राम आदि में मानी है। विभिन्न वेषभूषा द्वारा नट उनका अभिनय करते हैं। इसलिए उसका आरोप नट में किया जाता है। इस प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस उत्पन्न होता है। यह संयोग (सम्बन्ध) तीन प्रकार का होता है—(१) उत्पाद्य-उत्पादक संबंध से विभावों द्वारा दर्शक में रस उत्पन्न होता है। (२) गम्य-गमक सम्बन्ध से अनुभावों द्वारा पात्र दर्शक के समक्ष रस को अभिव्यक्त करते हैं। (३) पोष्य-पोष्यक सम्बन्ध से व्यभिचारिभाव रस को पुष्ट करते हैं।

समीक्षा—यह मत जिज्ञासुओं की समस्त जिज्ञासाओं का समाधान न कर सकने के कारण मान्य नहीं हुआ। इसके विरोध में सर्वप्रथम दोष यह कहा गया कि नट नायक के भावों का आरोप अपने ऊपर कैसे कर सकता है वह तो केवल सूचना

सकता है। दूसरा दोष यह है कि लोल्लट के अनुसार केवल अनुकार्य राम आदि में ही रस की उत्पत्ति होती है, नट में उसका आरोपमात्र होता है। जब दर्शकों को वास्तविक भाव का अनुभव न होगा तो आनन्दानुभूति कैसे सम्भव है। तीसरा दोष इस मत में दर्शक तथा अभिनय का सम्बन्ध स्पष्ट नहीं हुआ है। चौथा दोष यह है कि इस मत में कार्य-कारण का सम्बन्ध भी स्पष्ट नहीं है। क्या कारण के अभाव में कार्य की स्थिति सम्भव है?

हम देखते हैं कि विभाव और अनुभाव के साथ ही रस की उत्पत्ति होती है और उनके अदृश्य होते ही रस भी अदृश्य नहीं होता है। अतः विभावादि कारण तथा कार्य का सम्बन्ध स्पष्ट नहीं है। यही नहीं, कार्य-कारण में सर्वत्र समयानन्तर मिलता है जब कि नाटक के दर्शन मात्र से रसानुभूति होने लगती है। इस प्रकार इस मत में अनेक शंकायें हैं, उनका समाधान अपेक्षित है।

द्वितीय मत : आचार्य शंकुक का मत—अनुमितिवाद के उद्भावक आचार्य शंकुक ने भरत की **'निष्पत्ति'** को 'अनुमिति' तथा **'संयोग'** को अनुमाप्य-अनुमापक मानकर विभावादि को अनुमापक तथा रस को अनुमाप्य माना है। रस स्थिति को मूलनायक में मानते हुए—नटों में आरोप न मानकर सम्यङ् मिथ्या संशय सादृश्य प्रतीति से विलक्षण चित्रतुरगादि न्याय से यह नट राम है ऐसा दर्शक अनुमान कर लेता है। नट के कुशल अभिनय को देखकर प्रेक्षक भ्रमवश (जिस प्रकार चित्र के घोड़े को देखकर वास्तविक घोड़ा समझ लिया जाता है उसी प्रकार) नट में नायक का अनुमान कर लेता है और आनन्दानुभाव करता है।

समीक्षा—श्रीशंकुक का अनुमितिवाद भी जिज्ञासुओं की समस्त जिज्ञासाओं का समाधान न कर सका; क्योंकि। अनुमान से वास्तविक आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। अनुमान बुद्धि की क्रिया है, हृदय की नहीं, अनुमान से ज्ञान होता है अनुभूति नहीं; आनन्द अनुभूतिजन्य है। दूसरी बात यह है कि अनुमान से प्रत्यक्ष आस्वाद्य आनन्द कैसे उपलब्ध हो सकता है। यदि मान भी लें, तो नट के दुःख के साथ ही दर्शक को दुःखी मानना पड़ेगा, किन्तु रसानुभूति सदैव आनन्दमय होती है। तीसरी बात अनुमाप्यानुमापक सम्बन्ध का आधार व्याप्ति है। वह व्याप्ति यहाँ पूर्णतः सिद्ध नहीं है, क्योंकि कभी-कभी विभावादि की उपस्थिति में भी रसानुभूति नहीं होती है। नैतिकता की दृष्टि से भी इस मत में दोष है।

तृतीय मत : भट्टनायक का मत—सांख्यमतानुयायी भुक्तिवाद के उद्भावक भट्टनायक ने **'संयोग'** का अर्थ भोज्यभोजक सम्बन्ध तथा **'निष्पत्ति'** का अर्थ 'भुक्ति' लिया है। भट्टनायक ने रस की स्थिति प्रेक्षक के हृदय में स्वीकार की है। भट्टनायक ने आरोपवाद तथा अनुमितिवाद का खण्डन करते हुए लिखा है कि "न तो तटस्थ अर्थात् उदासीन (नट तथा नायक) के सम्बन्ध से और न ही आत्मगत रूप से (सामाजिक में) रस की प्रतीति होती है, न ही उत्पत्ति होती है, न ही अभिव्यक्ति होती है; अपितु काव्य तथा नाटक में अभिधा से भिन्न (द्वितीयेन) एक भावकत्व नामक

व्यापार होता है, जिसका स्वरूप विभावादि का साधारणीकरण करना है (विभावादि साधारणीकरणमेव आत्मा स्वरूपं यस्य तेन); उनके द्वारा साधारणीकृत (भाव्यमानः) स्थायीभाव (रत्यादि) उस भोग (आस्वाद या भोजकत्व व्यापार) के द्वारा भोगा जाता है; सत्व के उद्रेक (रज और तम को दबाकर ऊपर उठने) से होने वाली प्रकाशात्मिका तथा आनन्दात्मिका (वेद्यान्तर-सम्पर्क शून्य) अनुभूति मात्र (विश्रान्ति) ही जिस (भोग) का स्वरूप है (सत्व गुणस्य उद्रेकेण यः प्रकाशः स एव आनन्दात्मिका संवित् तस्य विश्रान्तिः ततः सतत्वेन=तत्स्वरूपेण)।"[1] उसकी अनुभूति होती है। भट्टनायक के इस मत में स्थायी भाव से लेकर रस की उत्पत्ति तक काव्य की तीन शक्तियाँ—अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व हैं। इसमें से **अभिधा** के द्वारा हमें काव्यगत सामान्य अर्थ का ज्ञान होता है। **भावकत्व** द्वारा प्रेक्षक व पाठक का हृदय वैयक्तिक सम्बन्धों को छोड़कर साधारण मनुष्य की भावभूमि पर आ जाता है। वैयक्तिक विशेषताओं और सम्बन्धों से परे पहुँच कर विक्षेप रहित मन नाटक में प्रदर्शित भाव का आस्वाद लेता है। वह दुष्यन्त को पुरुष-सामान्य और शकुन्तला को नारी सामान्य समझता है। इस प्रकार स्थायीभाव सहृदय मात्र के द्वारा उपभोग्य हो जाता है। इस स्थिति का नाम रस कहते हैं। रजस्-तमस् विहीन सात्विक मन ही काव्य रस का भोक्ता बनता है यही भोजकत्व व्यापार है।

समीक्षा—इस मत पर एक आक्षेप किया जाता है कि इन नवीन काव्य-शक्तियों को मानने का शास्त्रीय आधार क्या है। बिना आधार के कल्पना द्वारा पल्लवित इन दो शक्तियों पर कैसे विश्वास किया जा सकता है। जब ठोस तर्कों द्वारा समस्या का समाधान हो सकता है, तब काल्पनिक आधारों की परिकल्पना क्यों? दूसरा आक्षेप यह भी है कि आचार्य भट्टनायक द्वारा निर्दिष्ट स्थायीभाव का भोग दुष्यन्त-शकुन्तलागत स्थायीभाव का है या अनुकर्त्ता का अथवा सामाजिक का। इन दोषों के होने पर भी एक महत्वपूर्ण तथ्य का उद्घाटन हुआ है—इनमें प्रेक्षक-दर्शक की समस्या का समाधान हुआ है। भट्टनायक ने रस की स्थिति दर्शक के हृदय में मानी है, यह सर्वथा उचित मत है।

चतुर्थ मतः अभिनव गुप्त का मत—वेदान्त मतानुयायी अभिव्यक्तिवाद के प्रतिष्ठाता अभिनवगुप्त के अनुसार 'संयोग' का अर्थ 'व्यङ्ग्य-व्यंजक सम्बन्ध' तथा 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अभिव्यक्ति' है। अभिनवगुप्त भावकत्व तथा भोजकत्व नामक शक्तियों का कार्य व्यंजना या ध्वनि से लेते हैं। क्योंकि रति आदि स्थायीभाव पाठकों के अन्तःकरण में वासना या संस्कार रूप में रहते हैं जो कि विभावादि के संयोग से

१. काव्यप्रकाश ४।२७-२८ व्याख्या :
न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते, ...
काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादि साधारणीकरणात्मना भावकत्व व्यापारेण भाव्यमानः स्थायी सत्वोद्रेक प्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्ति सतत्वेन भोगेन भुज्यते इति भट्टनायकः।

अभिव्यक्ति होते हैं ।[1] भावकत्व (भावन सामर्थ्य) भाव का अपना गुण है । भरत के भाव के लक्षण से यह स्पष्ट है—'काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः' को काव्यार्थ को भावना का विषय बनाते हैं, वे भाव हैं। इन्हीं भाव का रसानुभव विभाजन व्यापार द्वारा होता है । रस में भोग या आस्वाद तत्त्व पहले से ही विद्यमान रहता है । इसीलिए वह रस है—'आस्वाद्यत्वाद्रसः' भावों में भावानुभूति की क्षमता स्वाभाविक है, अतः भावकत्व की कल्पना अनावश्यक है तथा रसानुभूति का आधार व्यंजना-शक्ति है । अतः भोजकत्व व्यापार की कल्पना भी निरर्थक है । काव्यादि के पढ़ने-सुनने से भावों की उत्पत्ति अनुमिति एवं भुक्ति नहीं होती है अपितु वे (भाव) व्यक्त होते हैं । इस प्रकार अभिनव के मतानुसार काव्य हमारी भावाभिव्यक्ति का साधन मात्र है । अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के ऊपर जो स्थायीभाव सम्बन्धी आक्षेप किया था, उसका समाधान भी इस मत में प्रस्तुत किया है । **अभिनव ने सामाजिक के हृदय-स्थित स्थायीभाव को रसानुभूति का निमित्त कारण माना है, जो कि बीज रूप में (संस्कार रूप में) मानव मन में पड़े रहते हैं । ये स्थायी भाव ही साधारणीकृत होकर प्रेक्षक को ब्रह्मानन्दसहोदर आनन्द रस में निमग्न कर देते हैं ।**

उपर्युक्त चार आचार्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य आचार्यों ने भी रस सूत्र का विवेचन किया है । ध्वन्यालोककार **आनन्दवर्धन** ने व्यंजना व्यापार को स्वीकार कर रस को व्यंग्य माना है तथा विभावादि को व्यंजक माना है । आचार्य **मम्मट** भी इसी अभि-व्यक्तिवाद के समर्थक हैं । **धनंजय** का मत इनसे कुछ भिन्न है—उनका कहना है कि स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव, सात्त्विक एवं व्यभिचारीभावों से आस्वाद्य होकर रस रूप को ग्रहण करता है ।[2] यह मत एक प्रकार से अभिनव गुप्त के मत का ही स्पष्टी-करण है किन्तु धनंजय आनन्द नट में ही मानते हैं, जो कि उचित नहीं है क्योंकि यदि धनंजय के मत को मान लें तो नट को भी आनन्दानुभव होने लगेगा, इस अवस्था में वह भावावेग में रंगमंच पर अव्यवस्था उत्पन्न कर देगा । आचार्य विश्वनाथ रस सिद्धान्त में यद्यपि अभिव्यक्तिवाद के समर्थक हैं किन्तु वे 'अभिव्यक्ति' का अर्थ 'परि-णति' लेते हैं; उदाहरण के लिए जैसे दूध दही में परिणत हो जाता है इसी प्रकार

१. काव्यप्रकाश ४।२७-२८ व्याख्या—

लोके प्रमदादिभिः स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटववतां काव्ये नाट्ये च तैरेव कारणत्वादि-परिहारेण विभावनादिव्यापारवत्वादलौकिकविभावादिशब्द व्यवहार्यैर्ममैवेते शत्रो-रेवैते तटस्थस्यैवेते, न ममैवेते न शत्रोरेवैते न तटस्थस्यैवेते इति सम्बन्धविशेषस्वी-कारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः सामाजिकानां वासना त्मतया स्थितः स्थायी रत्यादिको नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् विगलितपरिमितप्रमातृ-भाववशोन्मिषित""शृङ्गारादिको रसः ।

२. धनंजय दशरूपक—विभावानुभावैश्च सात्विकै र्व्यभिचारिभिः ।

आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायीभावो रसः स्मृतः ।।

विभावादि ही रस के रूप में परिणत हो जाते हैं। आचार्य विश्वनाथ के समान ही पण्डितराज जगन्नाथ भी अभिव्यक्तिवाद के पोषक हैं किन्तु इनकी दृष्टि में अज्ञान का निराकरण ही रस की चर्वणा है। 'रसो वै सः' रस का अनुभव आत्मानन्द रूप, श्रुति-ग्रन्थों में आवरण अर्थात् चैतन्य के आवरण का हटना ही रसास्वाद है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त समस्त विवेचन के निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि जितना अधिक वैज्ञानिक एवं ग्राह्य सिद्धान्त अभिनवगुप्त का है उतना अन्य आचार्यों का नहीं। अभिव्यक्तिवाद के अतिरिक्त अन्य सभी वाद अपने में अपूर्ण हैं क्योंकि भट्ट-लोल्लट ने मुख्य रूप से तटस्थ दुष्यन्त में गौण रूप से नट में रस की उत्पत्ति मानी है। सामाजिक का स्थान उपेक्षित है। द्वितीय मत मुख्यरूप से नायक में गौणरूप से नट में रस की अनुमिति को मानता है और उसी अनुमिति के द्वारा सामाजिक की रसानुभूति का प्रतिपादन किया गया है। परन्तु अनुमिति तो केवल परोक्ष ज्ञानस्वरूप है, साक्षात्कारात्मक रसानुभूति की समस्या का समाधान उसके द्वारा सम्भव नहीं। अतः यह मत भी समीचीन नहीं है। भट्टनायक ने समस्या का समाधान अनुकार्य और अनुकर्त्ता को तटस्थ एवं उदासीन मानकर किया है तथा वे वास्तविक रसानुभूति सामाजिक में स्वीकार करते हैं किंतु दो नवीन शक्तियों की कल्पना के कारण इनका मत भी अस्वीकार्य हुआ। अभिनवगुप्त ने अभिव्यक्तिवाद के द्वारा समस्या का समाधान किया है और सामाजिक के हृदय स्थिति वासनात्मक रति आदि स्थायीभावों से रस-निष्पत्ति स्वीकार की है—"**सामाजिकानां वासनात्मकतया स्थितो रत्यादि भावो रसः।**"

यह रस सहृदय सामाजिक को ही आस्वाद्य है जैसा कि धर्मदत्त ने लिखा है कि—'वासना से युक्त पुरुषों को ही रसास्वाद होता है। वासनारहित पुरुष तो नाट्य-शाला में लक्कड़, दीवार और पत्थर के समान ही पड़े रहते हैं'—

सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।
निर्वासनास्तु रंगान्तः काष्ठकुड्याश्मसन्निभाः॥

निश्चय ही रस का आस्वाद सहृदय सामाजिक को ही होता है।

अधिकांश आधुनिक काव्यशास्त्री रसनिष्पत्ति के प्रसङ्ग में अभिनवगुप्त की मान्यताओं से सहमत हैं।

प्रश्न ४७—साधारणीकरण का विस्तार से विवेचन कीजिए।

प्रश्न ४८—साधारणीकरण का तात्पर्य समझाइए और उसकी प्राचीन और नवीन व्याख्याओं में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

भारतीय काव्यसमीक्षा के क्षेत्र में आलोचना का प्रमुख 'मानदण्ड 'रस' है, इसे काव्य की आत्मा का पद दिया गया है। रसानुभूति सामाजिक को होती है, काव्य में व्यक्त-भाव सभी सहृदयों को समान रूप से कैसे आनन्दित करते हैं? रामादि पात्रों तथा उनके भावों का पाठकों-दर्शकों से तादात्म्य कैसे हो जाता है? दर्शक या पाठक एक साथ भावविभोर कैसे हो जाते हैं? रंगमंच पर अभिनीत होने वाले नाटक में रति-

भाव सामाजिक के नहीं होते हैं, और शत्रु के भी नहीं होते, मित्र के भी नहीं, तटस्थ के भी नहीं, किन्तु भावानुभूति होती अवश्य है, अतः निषेध भी नहीं किया जा सकता है, किन्तु एकनिष्ठ स्वीकृति भी नहीं की जा सकती है। इसी रस विषयक समस्या के समाधान के लिए रससूत्र के प्राचीन-व्याख्याकारों-भट्टनायक और अभिनवगुप्त ने 'साधारणीकरण' नामक व्यापार का निर्देश किया है। भरत के नाट्यशास्त्र में इस प्रश्न का उत्तर सांकेतिक रूप में दिया गया है। उनका कथन है कि रति आदि भाव सामान्य गुण से युक्त होते हैं इसलिए वे रसों को उत्पन्न करते हैं—**"एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते"** इनका आशय यही है कि कवि या नाटककार रति आदि भावों को इस रूप में व्यक्त करता है कि वे सभी की अनुभूति के सामान्य विषय बन जाते हैं। इसी प्रकार भरत के—**"स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः''''आस्वादयन्ति मनसा।"** लिखकर स्थायीभावों के महत्व को व्यक्त किया है।

रसनिष्पत्ति के प्रसङ्ग में **भट्टलोल्लट** ने सर्परज्जुवत् भ्रान्ति के कारण नटगत रामादिरूपानुसन्धान की कुशलता को स्वीकार कर नट में रस की उत्पत्ति मानी है। **श्री शंकुक** उनकी अनुमिति में चित्रतुरगादिन्यायवत् भ्रान्ति को आवश्यक मानते हैं। किन्तु ये दोनों भ्रान्तियाँ रसनिष्पत्ति की मूलभावना को स्पष्ट नहीं कर सकीं, परिणामतः भट्टनायक ने तीन व्यापारों के माध्यम से रसनिष्पत्ति का विवेचन प्रस्तुत कर इस समस्या के समाधान का प्रयास किया है। भट्टनायक ने अभिधावृत्ति के अतिरिक्त 'भावकत्व' और 'भोजकत्व' नामक दो अन्य व्यापारों की कल्पना की है।[1] **भट्टनायक** अभिधा व्यापार से अर्थतत्व का भावकत्व से रस का और भोजकत्व से सहृदय का सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। **पाठक या दर्शक अभिधा व्यापार से काव्य या नाटक के साधारण अर्थ का बोध करता है। काव्यार्थ बोध के पश्चात् भावकत्व व्यापार द्वारा काव्यगत पात्रों के अनुभावादि का साधारणीकरण होता है।** इसी **'भावकत्व'** की व्याख्या करते हुए काव्यप्रकाश के टीकाकार गोविन्द ठक्कुर ने 'काव्यप्रदीप' नामक टीका में लिखा है कि—भावकत्व साधारणीकरण है। इस व्यापार के द्वारा स्थायीभाव तथा विभावादि का साधारणीकरण होता है।[2] साधारणीकरण से उनका आशय यह है—राम सीतादि इस व्यापार से मनुष्य और नारी सामान्य के रूप में उपस्थित होते हैं। यही नहीं, इनमे स्थायीभाव और अनुभाव सम्बन्ध विशेष रूप से मुक्त हो जाते है—

"भावकत्वं साधारणीकरणं तेन व्यापारेण विभावादयः स्थायी च साधारणी-

१. न तटस्थ्येन नोत्मगतत्वेन रसः प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते, अपितु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्वेन **भोगेन भुज्यते इति भट्टनायकः।"** काव्यप्रकाश ४।२७-२८।

२. "विभावादि साधारणीकरणमेव आत्मा स्वरूपं यस्य तेन।"

क्रियन्ते। साधारणीकरणंम्चैतदेव यत्सीतादिविशेषाणां कामिनीत्वादि सामान्येनोपस्थितिः स्थाय्यनुभावादीनां च सम्बन्धिविशेषानवच्छिन्नत्वेन।" भट्टनायक के मत का आशय यह है विभावादि का साधारणीकरण होता है। फलतः शकुन्तलादि आलम्बन, उद्यानादि उद्दीपन, आलिङ्गनादि अनुभाव तथा शंका, हर्ष आदि संचारी भाव अपने विशिष्ट स्वरूप का परित्याग कर सामान्य या साधारणीकृत रूप में प्रकट होते हैं। विभावादि का यह साधारणीकरण 'भावकत्व' व्यापार से होता है।

अभिनवगुप्त का मत इनसे कुछ भिन्न है,- अन्तर केवल इतना ही है कि वह भट्टनायक के द्वारा स्वीकृत भावकत्व एवं भोजकत्व नामक व्यापारों की कल्पना को अनावश्यक मानते हैं। उनका कहना है कि इन दोनों ही काव्य व्यापारों का कार्य सर्वमान्य व्यंजनावृत्ति से ही चल जाता है। ऐसी अवस्था में दो नये काव्य-व्यापारों की कल्पना करना तर्कसंगत नहीं है। वैसे अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के विचारों की पृष्ठभूमि में ही अपने विचार व्यक्त किये हैं जैसा भट्टनायक के मत को व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है—'निविड-निज-मोहसंकटतानिवारणकारिणा विभावादि साधारणीकरणात्मना अभिधातो द्वितीयांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसः।" भरत सूत्र में स्थायीभाव का स्पष्ट उल्लेख न होने के कारण अभिनव ने साधारणीकरण से केवल 'विभावानुभावसंचारी भाव' का साधारणीकरण न समझा जाय इसलिए स्थायीभाव का भी साधारणीकरण होता है यह स्पष्ट करते हुए लिखा है—"**सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः स्थायी रत्यादिको नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि**....।[१] अभिनवगुप्त स्थायीभाव एवं विभावादि में व्यङ्ग्य-व्यंजक सम्बन्ध मानते हैं। विभावादि के संयोग से व्यंजना नाम की एक अलौकिक क्रिया उत्पन्न होती है। इस क्रिया की एक उपक्रिया होती है जिसे वे विभावन व्यापार कहते हैं। **इस विभावन व्यापार के द्वारा काव्यार्थ का साधारणीकरण होता है और इस स्थिति में विभावादि** ममत्व-परत्व की भावना से ऊपर उठ जाते हैं। आचार्य मम्मट ने साधारणीकरण की अवस्था का वर्णन करते हुए लिखा है कि साधारणीकृत विभावादि के सम्बन्ध में मेरे हैं या शत्रु के है अथवा उदासीन के हैं, ऐसी सम्बन्ध-स्वीकृति रहती हैं और न मेरे नहीं हैं शत्रु के नहीं हैं वा उदासीन के नहीं, ऐसो सम्बन्ध की अस्वीकृति रहती है—"**ममैवेते, शत्रोरेवैते, तटस्थस्यैवैतेः न ममेवैते, न शत्रोरेवैते, न तटस्थस्यैवेते, इति सम्बन्ध विशेष स्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः।**"[२]

डा० गुलाबराय अभिनवगुप्त के साधारणीकरण का अर्थ—"सम्बन्धों का साधारणीकरण मानते हैं।" जिस प्रकार तर्कशास्त्र में धूप और अग्नि को साथ-साथ देखकर उस साहचर्य को देशकाल के सम्बन्ध से मुक्त करके सार्वकालिक बना लिया जाता है (यथा : जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है), उसी प्रकार साधारणी-

१. काव्यप्रकाश ४।२७-२८ कारिका की व्याख्या।
२. काव्यप्रकाश ४।२७-२८ कारिका की व्याख्या।

करण में भय आदि के सम्बन्ध व्यक्ति-सम्बन्ध से मुक्त कर दिये जाते हैं तथा सार्व-देशिक एवं सार्वकालिक बना लिए जाते हैं। इस विषय में अभिनवगुप्त के ये शब्द हैं : "तदेव न परिमितमेव साधारण्यमपितु विततं प्राप्तिग्रह इव धूमाग्न्योर्भय—कम्प-योरेव वा" अभिनवगुप्त के मत का सार यह है कि—

(१) "साधारणीकरण स्थायीभाव का होता है। इसका आशय है देशकाल की सीमा या बन्धन से मुक्ति। इस स्थिति में व्यक्ति संस्कार भी तिरोहित हो जाता है। अतः सुख दुःख की भौतिक या ऐन्द्रिय चेतना भी नष्ट हो जाती है। (२) अभिनव ने विभावादियों का भी साधारणीकरण माना है (३) सामाजिक भावमुक्त होकर एकाग्रचित्त से रस का अनुभव करते हैं।" अभिनवगुप्त साधारणीकरण के दो स्तर मानते हैं—प्रथम स्तर पर विभावादि व्यक्तिविशिष्ट सम्बन्ध छोड़ते हैं तथा द्वितीय स्तर पर सामाजिक का अपना व्यक्तित्व बन्धन नष्ट होता है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने विभावादि के साधारणीकरण के साथ-साथ पाठक का आश्रय के साथ तादात्म्य भी आवश्यक माना है—

व्यापारोऽस्ति विभावादे र्नाम्नासाधारणीकृतिः।
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते॥

(सा० द० ३।९-१०)

जो सीता आदि आलम्बन विभाव, उद्दीपन विभाव काव्यादि में निबद्ध होते हैं, वे काव्यानुशीलन तथा नाटक दर्शन के समय श्रोता और द्रष्टाओं के साथ अपने को सम्बद्ध रूप से ही प्रकाशित करते हैं, यही साधारणीकरण है। इसी के प्रभाव से प्रमाता अनुकार्य और अनुकर्त्ता अपने को अभिन्न समझने लगता है। विश्वनाथ ने ममत्व-परत्व के परिहार के साथ सीमित शक्तिमान् का असीम के साथ अनुभूति-साम्य माना है। रसानुभूति में विभावादियों के सम्बन्ध में—वे मेरे हैं अथवा मेरे नहीं हैं, दूसरे के हैं अथवा दूसरे के नहीं हैं, इस प्रकार का विशेषीकरण नहीं होता है—

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते॥

(सा०द० ३।१२-१३)

विश्वनाथ ने विभावन को तो भट्टनायक के सामान ही माना है किन्तु अनुभावन और संचार नामक दो व्यापार विशेष माने हैं। रसादि को आस्वाद योग्य बनाना विभावन है, यही भट्टनायक का भावकत्व है, तथा विभावित रत्यादि को रस रूप में लाना अनुभावन है और इनका सम्यक् रूप से चारण किया जाना संचारण कहलाता है। निष्कर्ष रूप में—सहृदय का आश्रय के साथ तादात्म्य विश्वनाथ को अभीष्ट है तथा उनके मत में आलम्बन, आश्रय और पाठक आदि सभी का साधारणीकरण होता है।

पण्डितराज जगन्नाथ के मत में न तो साधारणीकरण कोई वस्तु है न किसी का किसी के साथ साधारणीकरण होता है? अपितु "सहृदय सामाजिक के मन में रंग-

मंचीय सम्पर्क से दोष उत्पन्न हो जाता है जिससे रामादि के साथ तादात्म्य कर सीता आदि के साथ वह रसमग्न हो जाता है।" पण्डितराज के अनुसार "काव्यानुभूति भ्रम-जनित है अतः साधारणीकरण पारमार्थिक रूप में हो ही नहीं सकता, क्योंकि वस्तु सदा विशेष में रहती है। नट अपनी संकुचितता को भूल नहीं सकता, अतः तात्विक रूप में साधारणीकरण सम्भव नहीं है। यह भ्रम है और काव्य भी भ्रम ही है।" इस मत में भी प्रकारान्तर से विशेषकर आश्रय का साधारणीकरण है चाहे दोष या भ्रम से ही क्यों न हो, क्योंकि विना तादात्म्य के रस की अवस्था नहीं बन पाती। पण्डितराज साधारणीकरण के विषय में विचार करते हुए लिखते हैं "यद्यपि विभावादीनां साधारण्यं प्राचीनैरुक्तम् तदपि काव्येन शकुन्तलादिशब्दैः शकुन्तलात्वादिप्रकारकबोधजनकैः प्रति-पाद्यमानेषु शकुन्तलादिषु दोषविशेषकल्पनं बिना दुरुपपादम्।" अर्थात् यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने विभावादि के साधारणीकरण का कथन किया है, फिर भी यह बात दोष-विशेष की कल्पना के विना बन नहीं सकती क्योंकि काव्यों में शकुन्तला आदि शब्दों के द्वारा ही शकुन्तला आदि का प्रतिपादन रहता है और जो शब्द शकुन्तलात्वेन शकुन्तला आदि के बोधक हैं, फिर कान्तात्वेन उनका बोध कैसे हो सकता है? कहने की आवश्यकता नहीं कि यह अस्वीकृति केवल शाब्दिक या सैद्धान्तिक है, व्यवहार में साधारणीकरण का निषेध यहाँ भी नहीं है।"[1]

साधारणीकरण और हिन्दी के आचार्य—आचार्य केशव प्रसाद मिश्र ने साधारणीकरण का सम्बन्ध योग की 'मधुमती भूमिका' से जोड़ा है। मिश्र की धारणा का प्रभाव आलोचक श्यामसुन्दर दास पर पड़ा है। श्यामसुन्दर दास ने लिखा है कि "जब तक सांसारिक वस्तुओं का हमें अपर प्रत्यक्ष होता रहता है तब तक शोचनीय वस्तु के प्रति हमारे मन में दुःखात्मक शोक अथवा अभिनन्दनीय वस्तु के प्रति सुखात्मक हर्ष उत्पन्न होता है, परन्तु जिस समय हमको वस्तुओं का परप्रत्यक्ष होता है उस समय शोचनीय तथा अभिनन्दनीय सभी प्रकार की वस्तुयें हमारे केवल सुखात्मक भावों का आलम्बन बनकर उपस्थित होती हैं। उस समय दुःखात्मक क्रोध, शोक आदि भाव अपनी लौकिक दुःखात्मकता छोड़कर अलौकिक सुखात्मकता धारण कर लेते हैं।"

डाक्टर साहब के मत में परप्रत्यक्ष का दूसरा नाम ही योग की मधुमती भूमिका है। पर-प्रत्यक्ष उसे कहते हैं जहाँ वितर्क की भावना ही नहीं रहती—शब्द, अर्थ तथा ज्ञान की प्रतीति भिन्न-भिन्न नहीं होती। मधुमती भूमिका योग की जिस दशा का नाम है, साहित्य में रस की उसी दशा का नाम साधारणीकरण है। "कवि के समान सहृदय भी जब उस मधुमती भूमिका का स्पर्श करता है तब उसकी वृत्तियाँ भी उसी प्रकार एकतान-एकलय हो जाती हैं। कवि और पाठक की चित्तवृत्तियों का एकतान, एक लय हो जाना ही साधारणीकरण है।"

श्यामसुन्दर दास की मधुमती भूमिका पर अनेक आक्षेप किये जा सकते हैं

1. रस-सिद्धान्त, पृ० २००।

क्योंकि (१) योग और साहित्य को समान स्तर पर देखना अनुचित है। मधुमती भूमिका योग की दूसरी श्रेणी है, अन्तिम श्रेणी नहीं। योगी उससे भी आगे जाकर ईश्वर का दर्शन करता है अतः मधुमती भूमिका योग की अन्तिम स्थिति नहीं है। (२) इस स्थिति तक पहुँचने के लिए पूर्वजन्म के संस्कारों के अतिरिक्त साधना की भी आवश्यकता होती है। (३) साधारणीकरण की अवस्था मधुमती भूमिका के सदृश तो हो सकती है किन्तु मधुमती भूमिका नहीं। दोनों के क्षेत्र भी भिन्न-भिन्न हैं।

साधारणीकरण—काव्य की भावना द्वारा पाठक या श्रोता का भाव की सामान्य भूमि पर पहुँच जाना है। किसी काव्य के पढ़ते समय अथवा नाटक देखते समय पाठक और दर्शक इतने तन्मय हो जाते हैं कि वे स्वयं की भावना से दूर हो काव्यभावना के अनुकूल व्यवहार करते हैं। इसी दशा का नाम साधारणीकरण है। साधारणीकरण में श्रोता या पाठकगण एक साथ एक भावना का ही अनुभव करते हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल साधारणीकरण को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—"जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता, कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।"[१] साधारणीकरण का स्वरूप स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं—"साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्तिविशेष या वस्तुविशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है।"[२] तात्पर्य यह कि आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति, समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सबके भावों का आलम्बन हो जाता है।[3]

शुक्ल जी का अभिप्राय यह है कि जो भाव वर्णित हो वह विशिष्ट व्यक्ति के माध्यम से आने पर भी लोक-सामान्य होना चाहिए; जिससे सामाजिक उस भाव को सरलता से ग्रहण कर सके तथा आनन्द ले सके। शुक्लजी साधारणीकरण में आलम्बनत्व धर्म को प्रधानता देते हैं। वे आश्रय से तादात्म्य तथा आलम्बन का साधारणीकरण मानते हैं। शुक्ल जी ने विभाव (आलम्बन) का साधारणीकरण माना है जब कि भट्टनायक और अभिनवगुप्त ने 'विभावादि' का साधारणीकरण माना है। शुक्ल जी की आश्रय-तादात्म्य सम्बन्धी विचारधारा पर विश्वनाथ का प्रभाव है। अभिनव गुप्त से प्रभावित होकर शुक्ल जी ने लिखा है कि—"व्यक्ति तो विशेष ही रहता है; पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है, जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है।"[४] श्यामसुन्दर दास तथा शुक्ल जी के साधारणीकरण में अन्तर यह है कि डा० दास का साधारणीकरण कवि या

१-२-३. चिन्तामणि, भाग १ (१९४८), पृ० २२७, २३०।
४. चिन्तामणि भाग १ (१९४८), पृ० २२७, २३०।

भावुक की चित्तवृत्ति से सम्बद्ध है, जबकि शुक्ल जी का विभाव (आलम्बन) से; जो कि सबका आश्रय बन सके।

डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित ने शुक्ल जी की विचारधारा का समर्थन किया है जब कि रामदहिन मिश्र ने आलम्बन के साधारणीकरण तथा रस कोटियों के विभाजन पर आपत्ति की है। डा० रघुवंश भी शुक्ल जी के आश्रयतादात्म्य से असहमत हैं।

बाबू गुलाबराय के मत में पाठक के व्यक्तित्व के क्षुद्रबन्धनों को तोड़ने के कारण, कवि का लोक प्रतिनिधि होने के कारण, आलम्बन सर्वजन सुलभ सम्बन्धों में आने के कारण साधारणीकृत हो जाता है। वे नाटकीय प्रपंच, नाटककार और प्रेक्षक आदि सभी का साधारणीकरण आवश्यक मानते हैं।

आधुनिक युग के प्रसिद्ध आलोचक डा० नगेन्द्र ने साधारणीकरण का प्राच्य एवं पाश्चात्य आलोचना शास्त्र का अध्ययन कर गम्भीर विवेचन किया है—डा० नगेन्द्र ने शुक्ल जी के 'काव्यगत आश्रय से तादात्म्य' तथा आलम्बन या 'आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण' इन मतों का खंडन किया है तथा वे कहते हैं कि विभावादि की अपेक्षा कवि की अनुभूतियों का साधारणीकरण होता है। डा० नगेन्द्र का कथन यह है : "साधारणीकरण का अर्थ है : कवि की अनुभूति का साधारणीकरण। कवि अपनी अनुभूति के साथ अपना रस भी सहृदय के पास भेजता है। अतः रस की स्थिति सहृदय के हृदय में मानना उतना ही अनिवार्य है जितना सहृदय के हृदय में मानना।" "सहृदय को जो रसास्वादन होता है, उसकी मूलस्थिति उसी के हृदय में है, अर्थात् मूलतः वह उसी की अस्मिता का आस्वादन है।" पुनः वे लिखते हैं कि "आरम्भ में रचना के समय कवि और फिर अभिनय के समय नट (यद्यपि उसकी सत्ता अत्यन्त गौण है) अपने हृदय-स्थित रस का आस्वादन तो करते ही हैं, साथ ही उनका यह रसास्वादन सहृदय के हृदय में वासनारूप में स्थित स्थायीभावों को जाग्रत करके रसदशा में पहुँचाने में अनिवार्य योग भी देता है। इस प्रकार कविता के विषय में लोक-प्रचलित उक्ति कि 'वह हृदय से हृदय में पहुँचती है' मनोवैज्ञानिक रूप में सत्य है।" आगे भी उन्होंने लिखा है कि—"काव्य प्रसंग और कुछ नहीं कवि की 'भावना' का बिम्ब-मात्र है—यह काव्य-प्रसंग या बिम्बशरीर है और कवि-भावना उसको प्रकाशित करने वाली चैतन्य आत्मा है, और चूँकि साधारणीकरण जड़ यान्त्रिक क्रिया न होकर चैतन्य क्रिया है, अतः काव्य प्रसंग या रस के समस्त अवयवों का साधारणीकरण मानने की अपेक्षा कवि भावना का साधारणीकरण मानना मनोविज्ञान के अधिक अनुकूल है।"[1]

शुक्ल जी के आश्रय के तादात्म्य की अपेक्षा कवि की अनुभूति के साथ साधारणीकरण का सिद्धान्त अधिक समीचीन और पूर्ण है। क्योंकि कभी-कभी जैसे हास्य का आलम्बनगत चित्रण अथवा प्रकृति-चित्रण आदि स्थलों में आश्रय की स्थिति का अभाव रहता है। इन स्थलों पर शुक्ल जी ने भी कवि को आश्रय माना है; अतः

१. रस सिद्धान्त, पृ० २०९-२१०।

कवि की 'अनुभूतियों का साधारणीकरण' यह सिद्धान्त अधिक तर्कसंगत और पूर्ण है।

किन्तु साहित्य में जब स्थायीभाव के आश्रय की स्थिति समस्त अवस्थाओं में अनिवार्य नहीं मानी जाती, वहाँ आलम्बन अथवा विभावपक्ष की सत्ता अनिवार्य होती है। काव्य के विभाव भावना रहित जड़वस्तु मात्र नहीं हैं। किसी वस्तु या विषय को आलम्बन अथवा विभाव कहने से कवि द्वारा अनुभूति भाव का ही आलम्बन या विभाव होता है। अतः 'आलम्बन या आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण' या 'रस के समस्त अवयवों का साधारणीकरण' अथवा 'कवि भावना का साधारणीकरण' भिन्न बातें नहीं हैं। कवि-भावना क्या कोई हवाई वस्तु है? वह रस सामग्री से पृथक् कहाँ होती है? जब रस के अवयव विभावादि भी अन्तश्चेतना से ही उद्बुद्ध होते हैं और वे ही रसानुभूति या काव्यानुभूति या कवि अनुभूति अथवा रस-अभिव्यक्ति का माध्यम होते हैं, तो उनका साधारणीकरण और कवि-अनुभूति का साधारणीकरण दो भिन्न बातें कैसे कही जा सकती हैं? अतः शुक्ल जी के आलम्बन या आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण की बात में भी तथ्य है और समस्त रस-अवयवों के साधारणीकरण का सिद्धान्त भी उचित है, तथा कवि-अनुभूतियों के साधारणीकरण की बात भी यथार्थ है।"[४]

साधारणीकरण के विषय में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि "कवि की **अनुभूतियाँ सभी सहृदयों की अनुभूतियाँ कैसे बन जाती हैं? कैसे सब लोगों के हृदय में एक ही तार झंकृत हो उठता है?** इस प्रश्न का उत्तर देते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि 'अब यदि आप पूछें कि एक व्यक्ति का भाव दूसरों के हृदयों में समान भाव कैसे उत्पन्न कर देता है तो इसका उत्तर यही है कि मूलतः सम्पूर्ण मानवता एक चेतना से चैतन्य है। मानव-मानव के हृदय में (भारतीय दर्शन चराचर को भी अपनी परिधि में समेट लेता है) चेतना का ऐसा एक तार अनुस्यूत है जो एक स्थान पर भी स्पर्श पाकर समग्रतः झंकृत हो जाता है। आपको चाहे इस कथन में रहस्यवाद की गंध आए, परन्तु मनोविज्ञान, शरीर-शास्त्र और अध्यात्म अभी इससे आगे नहीं बढ़ पाए हैं।"[५]

निष्कर्ष यह है कि नाट्य या काव्य के समस्त कार्य-व्यापार का ही साधारणीकरण होता है, जो वर्तमान में कवि की सृष्टि है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सहानुभूति के कारण भाषा के वैज्ञानिक कल्पना प्रयोग के कारण इस साधारणीकरण को जन्म मिलता है।

प्रश्न ४९—रस की मैत्री और विरोध को स्पष्ट कीजिए।

रस परस्पर मित्र एवं शत्रु हैं, इसका प्रतिपादन हमारे प्राचीन आचार्यों ने किया है। भरत ने तो मूलतः चार रस मानकर उन्हीं से अन्य चार रसों की उत्पत्ति मानी है। भरत के अनुसार शृङ्गार, रौद्र, वीर तथा वीभत्स रसों से क्रमशः हास्य

१. डा० कृष्णदेव झारी :
भारतीय काव्य शास्त्र के सिद्धान्त, पृ० २२८।

२. डा० नगेन्द्र : रस सिद्धान्त; पृ० २१३।

करुण, अद्भुत एवं भयानक रसों की उत्पत्ति होती है। इसके कारण का उल्लेख करते हुए नाट्यशास्त्रकार ने लिखा है कि 'शृङ्गार की अनुकृति ही हास्य में परिवर्तित हो जाती है, रौद्र का कर्म ही करुण, और वीर का कर्म ही अद्भुत परिणामी होती है। वीभत्स दिखायी देने वाली वस्तु से ही भयानक का उत्पादन होता है।' भरत के मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए श्री आनन्द प्रकाश दीक्षित ने लिखा है कि 'शृङ्गार-रस की सुखदता ही हास्य में वर्त्तमान है। विकृत वेष-भूषा प्रणय को मृदुल व्यापार वाला बना देती है। साथ ही इस प्रकार की वेष-भूषा वाले विदूषक को देखकर मनःप्रमोद बढ़ जाता है, आनन्द की एक रेखा खिंच जाती है। प्रसन्नता आमोद-प्रमोद और भोगविलास की ओर प्रवृत्त करती है। इसी प्रकार अद्भुत रस वीर-रस का अनुगामी बनकर अधिक भाव उत्पन्न करता है, वीर का उपकार करता है। भयानक का सम्बन्ध वीभत्स से है और करुण का मेल रौद्र से है। राक्षसीवृत्ति से हम भय ही खाते हैं और उसके द्वारा उत्पन्न विस्मय भय से दबा रहता है, किन्तु वीर व्यक्ति के उत्साह और साहसपूर्ण अद्भुत कृत्य को देखकर हमें एक प्रकार की प्रफुल्लता का अनुभव होता है। ऐसी अवस्था में उत्साह का पोषण होता है। रौद्र तथा करुण का सम्बन्ध इसलिए है कि रौद्र कर्म का परिणाम है अनिष्ट। अनिष्ट शोक उत्पन्न करके करुण को सबल बनाता है। साथ ही जितना ही करुण दृश्य उपस्थित होता है, वह उतना ही अनिष्टकारक कर्म की रुद्रता को प्रकट करता है। अतः करुण रौद्र का उपकारक है।'[1] इस प्रकार रसों में पारस्परिक सम्बन्ध है।

इस सम्बन्ध के आधार पर ही रस-मैत्री और रस-विरोध पर विचार किया गया है।

रस-मैत्री एवं विरोध—प्राचीन विद्वानों[2] ने इस सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया है और उनके आधार पर इस सारिणी द्वारा मैत्री एवं विरोध का स्पष्टीकरण किया जा रहा है—

रस	मित्र-रस	शत्रु-रस
शृङ्गार	हास्य	वीभत्स
हास्य	शृंगार	करुण
रौद्र	करुण	अद्भुत

१. भारतीय काव्यशास्त्र, पृ० २५८।

२. ध्वन्यालोक ३।१८-१९ : विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः।
विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम्। १८
अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम्
परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम्।
रसस्य स्याद् विरोधाय वृत्यनौचित्यमेव च ॥ १९

३. साहित्यदर्पण ३।२५४—२५७।

रस	मित्र-रस	शत्रु-रस
करुण	रौद्र	हास्य
वीर	अद्भुत	भयानक
भयानक		वीर
अद्भुत	वीर	रौद्र
बीभत्स	भयानक	शृङ्गार

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्द्धन ने रस-विरोध के पाँच कारण[3] बतलाये हैं, वे निम्न हैं—(१) विरोधी रस के सम्बन्धी विभावादि का ग्रहण कर लेना, (२) रस से सम्बद्ध होने पर भी अन्य वस्तु का अधिक विस्तार से वर्णन करना, (३) असमय में रस को समाप्त कर देना अथवा अनवसर में उसका प्रकाशन करना, (४) रस पूर्ण परिपाक हो जाने पर भी पुनः पुनः उसका उद्दीपन करना और (५) व्यवहार का अनौचित्य। इन रस दोषों का विस्तार से वर्णन मम्मट ने काव्य प्रकाश (७।६०-६२) में किया है। वहाँ मम्मट ने तेरह रस दोष बतलाये हैं। आनन्दवर्द्धन ने रस विरोध के तीन कारण बतलाये हैं—(१) आलम्बन का ऐक्य, जैसे—वीर और शृङ्गार का, हास्य, रौद्र और वीभत्स के साथ सम्भोग शृङ्गार का और वीर, करुण तथा रौद्रादि के साथ वियोग शृंगार का विरोध आलम्बन की एकता के कारण होता है। (२) आश्रय की एकता के कारण वीर और भयानक के वर्णन से विरोध होता है। (३) नैरन्तर्य तथा विभाव की एकता के कारण शान्त और शृङ्गार रस में विरोध होता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि विरोधी रसों का एक साथ वर्णन होना ही नहीं चाहिए, यह वर्णन उस समय हो सकता है जब एक रस पूर्णतः परिपुष्ट हो जाय।

आचार्य मम्मट ने इस रस-विरोध के परिहार के कारणों का भी विवेचन किया है—(१) मम्मट के अनुसार जहाँ पर आश्रय या आलम्बन दो रसों का एक ही हो, उस स्थल पर एक का आश्रय परिवर्तित कर देना चाहिए और यदि नैरन्तर्य के कारण दो रसों में विरोध हो उस दशा में दो रसों के मध्य में एक अन्य रस की योजना कर देनी चाहिए।[1] उदाहरण के लिए वीर और भयानक रसों का यदि आश्रय एक हो, उस स्थल पर प्रतिपक्ष की ओर से भयानक रस की योजना कर देनी चाहिए। नैरन्तर्य रस-विरोध के परिहार का नागानन्द नाटक में उदाहरण देखा जा सकता है। शान्त रस-प्रधान नायक जीमूतवाहन तथा रतिभावपूर्ण मलयवती प्रसंग से पूर्व ही 'अहो गीतं, अहो वादित्रम्' आदि विस्मयजनक अद्भुत रस की योजना कर रस-विरोध का परिहार कर दिया गया है।

रस-विरोध के परिहार का एक अन्य उपाय भी आचार्य मम्मट ने बतलाया

१. काव्यप्रकाश ७।६४।

आश्रयैक्ये विरुद्धो यः स कार्यो भिन्नसंश्रयः।
रसान्तरेणान्तरितो नैरन्तर्येण यो रसः॥

है—यदि परस्पर विरुद्ध रसों में एक रस स्मरण से निबद्ध किया जाता है अथवा जो विरोध रसों में एक साम्य भाव से निर्दिष्ट किया जाय तो वहाँ रस-दोष नहीं माना जाता है। इसके अतिरिक्त यदि दो विरुद्ध रस अन्य प्रधान रस के अंग रूप में उपकारक रूप में निबद्ध हों तो भी रस दोष की सम्भावना नहीं रहती है।[1] इस प्रकार विरुद्ध रसों का तीन अवस्थाओं में अविरोध हो जाया करता है—(१) यदि प्रधान रस के साथ कोई विरोधी रस स्मृति रूप में निबद्ध हो, (२) साम्यभाव से कथित हो अथवा (३) विरोधी रस किसी अन्य प्रधान रस का उपकारक हो।

इस विरोध तथा उसके परिहार के उपायों के निर्देश का एकमात्र उद्देश्य यह है कि काव्य में औचित्य का ध्यान रखा जाय तथा रसनिष्पत्ति निर्दिष्ट रूप में निष्पन्न हो।

प्रश्न ५०—प्राचीन आचार्यों के अनुसार रस की अलौकिकता को स्पष्ट कीजिए।

अथवा

क्या रस अलौकिक है ? स्पष्ट उत्तर दीजिए।

किसी भी भावप्रधान तथा नेत्रेन्द्रिय बाह्य तत्व का विवेचन तथा लक्षण निर्धारित करना सम्भव नहीं है। अतः भावात्मक पदार्थों की व्याख्या ही सम्भव है और यह व्याख्या 'नेति नेति' की प्रक्रिया द्वारा ही हो सकती है और अन्ततः जिज्ञासा के समाधान के लिए आप्तवाक्य पर विश्वास करना पड़ता है। रस भी एक ऐसा ही भारतीय काव्यशास्त्र का तत्व है, जिसका स्वरूप सदा ही विवादास्पद रहा है।

भारतीय काव्यशास्त्रियों ने रस को वेद्यान्तरस्पर्शशून्य ब्रह्मास्वादसहोदर अखण्ड, चिन्मय, स्वयंप्रकाश तथा अलौकिक कहा है।[2]

आचार्य अभिनवगुप्त ने लौकिक पदार्थों अथवा विषयों की सीमा में आबद्ध न होने वाले इस तत्व को अलौकिक कहा था। अभिनवगुप्त 'नाट्यशास्त्र' के आधार पर 'अभिनव भारती' में लिखते हैं कि—"रस-चर्वणा प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम तथा उपमान रूप लौकिक प्रमाण से उत्पन्न रत्यादि के ज्ञान तथा योगिप्रत्यक्ष से होने वाले तटस्थ पर संवेदनात्मक ज्ञान एवं समस्त विषयों के प्रति वैराग्ययुक्त परम योगी में रहने वाले स्वयं केवल स्वात्मानन्द के अनुभव से भिन्न प्रकार की होती है—"सा च प्रत्यक्षानुमानागमोपमानादिलौकिकप्रमाणजनितरत्याद्यवबोधतः तथा योगिप्रत्यक्षजनिततटस्थपर संवितिज्ञानात् सकल वैषयिकोपरागशून्य शुद्धपरयोगिगतस्वानन्दैकघनानुभवाच्च विशिष्यते।"—आचार्य मम्मट ने अभिनव के अनुसार रस की अलौकिकता का निरूपण

१. काव्यप्रकाश ७।६५।

स्मर्यमाण विरुद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षितः।
अङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परम्।

२. साहित्यदर्पण ३।२-३।

विस्तार से किया है तथा अनेक तर्कों द्वारा रस को अलौकिक सिद्ध भी किया है। उनका कथन है कि संसार में दो प्रकार के अनित्य पदार्थ होते हैं जिन्हें कार्यरूप और ज्ञाप्यरूप कहा जा सकता है। कार्यपदार्थ के अन्तर्गत घट, पट आदि का समावेश होता है—जो कि किसी कारण से उत्पन्न होते हैं। अतः किसी कारण से उत्पन्न होने वाला तत्व 'कार्य' कहा जा सकता है। दूसरे प्रकार के पदार्थ 'ज्ञाप्य' कहलाते हैं। ये ज्ञाप्य पदार्थ ज्ञान के विषय होते हैं जैसे प्रकाश में घट का ज्ञान अर्थात् पूर्वसिद्ध पदार्थ का किसी साधन के द्वारा ज्ञान होता है, वह पूर्वसिद्ध पदार्थ ज्ञाप्य कहलाता है तथा जो पदार्थ पूर्वसिद्ध नहीं नया कारणव्यापारजन्य है वह 'कार्य' पदार्थ कहलाता है। संसार के समस्त अनित्य पदार्थ इन्हीं दो वर्गों में आ जाते हैं किन्तु 'रस' इन वर्गों में समाहित नहीं होता है; अतः वह न तो 'कार्य' माना जा सकता है और न ज्ञाप्य ही—**स च न कार्यः विभावादिविनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसङ्गाद् नापि ज्ञाप्यः सिद्धस्य तस्यासम्भवात्, अपितुविभावादिभिर्व्यञ्जितश्चर्वणीयः।**[१] अर्थात् रस कार्य नहीं है क्योंकि विभावादि के नष्ट हो जाने पर रस की स्थिति बनी रहेगी (ऐसा होता नहीं है) रस ज्ञाप्य भी नहीं है क्योंकि रस के अनुभव से पूर्व उसकी सत्ता न होने के कारण, अपितु केवल आस्वादन काल में ही विद्यमान रहता है।

रस 'कार्य' नहीं है क्योंकि कार्य पदार्थ कारणजन्य होने के कारण अपने कारण के न रहने पर भी विद्यमान रहता है किन्तु रस इस स्थिति में नहीं रहता है अर्थात् विभावादि के न रहने पर रस की स्थिति नहीं रहती है। रस 'ज्ञाप्य' भी नहीं है क्योंकि 'ज्ञाप्य' पदार्थ अपने ज्ञान से पूर्व भी विद्यमान रहता है और ज्ञान के पश्चात् भी उसकी सत्ता रहती है किन्तु रस न तो रसनिष्पत्ति से पूर्व की वस्तु है और न बाद की ही। वह तो अवसर विशेष पर ही अनुभूतिगम्य है। इस प्रकार 'कार्य' एवं 'ज्ञाप्य' हेतुओं से यह सिद्ध होता है कि रस इन दोनों ही पदार्थों के अन्तर्गत नहीं आता है अतः रस अलौकिक है।

रस को अलौकिक सिद्ध करने की मम्मट की दूसरी युक्ति यह है कि रस न तो कार्य है और न ज्ञाप्य ही। किन्तु विभावादि से व्यक्त होने पर—विभावादि रस के कारण हैं और रस उनका कार्य। इस प्रकार कार्य-करण संबंध बन जाने पर रस लौकिक सिद्ध हो जाता है। इस आशंका का समाधान करते हुए मम्मट लिखते हैं—

कारकज्ञापकाभ्यामन्यत् क्व दृष्टमितिचेद् न क्वचिद् दृष्टमित्यलौकिकत्वसिद्धेर्भूषणमेतन्न दूषणम्। चर्वणानिष्पत्या तस्य निष्पत्तिरूपचरितेति कार्योऽप्युच्यताम्।[२] अर्थात् रस एक अलौकिक वस्तु है जिसका न तो विभावादि को कारक हेतु माना जा सकता है और न ही ज्ञापक हेतु। और जब विभावादि को कारक एवं ज्ञापक हेतु नहीं माना जा सकता है तब फिर हेतुओं के अभाव होने के कारण रस की लौकिकता का

१. काव्यशास्त्र, ४।२७-२८ वृत्ति।
२ काव्य प्रकाश ४।२७-२८ वृत्ति।

प्रश्न ही नहीं उठता है। अतः यह हेतु रस की अलौकिकता के निरूपण में दोष न होकर गुण ही है। चर्वणा अर्थात् आस्वाद के कारण रस उपचार से 'कार्य' कहा जाता है।

रस की अलौकिकता के निरूपण के लिए अन्य हेतु यह भी है कि रस की अनुभूति सांसारिक अनुभूतियों से विलक्षण तथा स्वसंवेदनशील है। यह संवेदनशीलता भी सांसारिक अनुभूतियों से विलक्षण है। हम लौकिक प्रत्यक्षज्ञान को तीन भागों में बाँट सकते हैं किन्तु रसनुभूति तीनों ही (१) लौकिक प्रत्यक्ष ज्ञान के हेतुओं से भिन्न, (२) प्रत्यक्षादिप्रमाण की अपेक्षा किये बिना ज्ञान प्राप्त करने वाले मितयोगियों के ज्ञान तथा (३) अन्य ज्ञेय के सम्पर्क से रहित आत्ममात्र विषयक 'युक्त' संज्ञक योगियों की अनुभूति से विलक्षण, स्वसंवेदनशील है अतः वह ज्ञेय या ज्ञाप्य भी कहा जा सकता है—**"लौकिक प्रत्यक्षादिप्रमाणताटस्थ्यावबोधशालिमितयोगिज्ञान-वेद्यान्तरसंस्पर्शरहित-स्वात्ममात्रपर्यवसितपरिमितेतरयोगिसंवेदनविलक्षणलोकोत्तरस्वसंवेदनगोचर इति प्रत्ययोऽप्यभिधीयताम्।**[1]" अर्थात् साधारण मनुष्यगम्य लौकिक ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सहायता से होता है शेष ज्ञान योगियों का समाधिविषयक ज्ञान है किन्तु रस की अनुभूति न तो प्रत्यक्षानुमानोपमान शब्दगम्य है और न सविकल्पक समाधिनिष्ठ योगी का ही ज्ञान है और न ही निर्विकल्प समाधिनिष्ठ आत्मानुभूति मात्र ही है। इस प्रकार यह विलक्षण, अलौकिक तथा स्वसंवेदन का विषय है, इसलिए इसे उपचार से ज्ञेय या ज्ञाप्य (प्रत्येय) भी कहा जा सकता है।

मम्मट एक अन्य युक्ति देकर इस प्रसंग का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि जब रस का ग्रहण न सविकल्पक ज्ञान से हो सकता है और न निर्विकल्पक ज्ञान से ही; तब तो निश्चय ही वह अलौकिक है—

"तद्ग्राहकं च न निर्विकल्पकं विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात्। नापि सविकल्पकं चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदन सिद्धत्वात्।"[2]

वैदिक दर्शन में सविकल्पक एवं निर्विकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष माना गया है। सांसारिक घटपटादि का ज्ञान सविकल्पक है। वह शब्द-व्यवहार के द्वारा सभी को ज्ञात होता रहता है किन्तु रस केवल अनुभूति का विषय है। वह शब्द के उच्चारण से उत्पन्न नहीं होता है; अतः नामजात्यादियोजनाहीन 'रस' होता है। इसलिए रस सविकल्पक ज्ञान का विषय नहीं है।

नाम जाति आदि के विशिष्टविशेषण आदि से रहित ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान होता है। यह ज्ञान बालक अथवा गूँगे मनुष्य के ज्ञान के समान ही होता है—**बाल-मूकादिविज्ञानसदृशं ज्ञानं निर्विकल्पकम्'।** बालक को वस्तुविशेष का ज्ञान नाम-जाति आदि के बिना ही यह कोई चीज है। इस रूप में होता रहता है, इसी प्रकार से 'गूँगे'

१. काव्य प्रकाश ४।२७-२८ वृत्ति।
२. वही, ४।२७-२८ वृत्ति।

का भी ज्ञान होता है। गूंगा अनुभव तो करता है किन्तु वह उसका नाम आदि लेकर अभिव्यक्त नहीं कर सकता है। 'रस' इन दोनों ही ज्ञान (सविकल्पक एवं निर्विकल्पक) से भिन्न है क्योंकि सविकल्पक ज्ञान नाम, जाति आदि से युक्त होता है किन्तु 'रस' इस प्रकार का नहीं है; क्योंकि यदि 'रस' इस शब्द के द्वारा हम रसानुभूतिक रना चाहें, तो वह सम्भव नहीं है। रस तो आनन्दमय स्वसंवेदनशील है। दूसरी ओर 'रस' निर्विकल्पक-ज्ञान-गम्य इसलिए नहीं है क्योंकि रस की प्रतीति में विभावादि की प्रधानता रहती है। इनके अभाव में उसका ज्ञान सम्भव नहीं है। इस प्रकार सविकल्पक एवं निर्विकल्पक ज्ञान से भिन्न रस अलौकिक है—**उभयाभावस्वरूपस्यचोभयात्मकत्वमपि पूर्ववल्लोकोत्तरतामेव गमयति न तु विरोधमिति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः।** अर्थात् उभयाभावस्वरूप-निर्विकल्पक ज्ञान दोनों से भिन्न होने वाले रससंवेदन में उभयात्मकता भी पहले की (कारक-ज्ञापक) तरह उसकी अलौकिकता को प्रकट करती है, विरोध को नहीं। अभिनवगुप्त का आशय यही है।

आचार्य मम्मट के पश्चात् विश्वनाथ ने अपने साहित्य-दर्पण में भी रस को अलौकिक बतलाते हुए लिखा है कि "सत्वोद्रेक की स्थिति में अनुभव होता है अतः रस अलौकिक है। वह अखण्ड-स्वप्रकाशानन्द और चिन्मय है अतः ब्रह्मास्वादसहोदर है। वह अन्य सभी तरह के लौकिक ज्ञान से मुक्त होता है, वह लोकोत्तर चमत्कार प्राण है। अलौकिक विभावादि के कारण भी वह अलौकिक है। सहृदयों को दुःख से असंभिन्न आनन्द प्रदान करने के कारण अलौकिक है—

सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्य ब्रह्मास्वादसहोदरः।
लोकोत्तरचमत्कारप्राण कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥[1]

रस की विशद व्याख्या होने पर भी काव्यशास्त्रियों की इसके सम्बन्ध में जिज्ञासा शान्त नहीं हुई; अतः प्राचीन आचार्यों ने रस को अनिर्वचनीय कहकर एक प्रकार से अपनी पराजय स्वीकार कर ली है किन्तु आधुनिक युग के काव्यशास्त्रियो ने पुनः इसका सर्वेक्षण कर नयी-नयी मान्यताओं को स्थापित किया है।

प्रश्न ५१—रस एवं रससिद्धान्त का महत्व स्पष्ट कीजिए।

काव्य में रस के महत्व के सम्बन्ध में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह तो काव्य का प्राण है। आलंकारियों ने रस की सत्ता का विरोध करते हुए भी रसवदादि अलंकारों के रूप में इसे स्वीकार किया है। इसका भी एक कारण यह है कि काव्य में रस की वह प्रारम्भिक अवस्था थी इसलिए आलंकारिक भामह ने स्पष्ट लिखा है कि 'जिस प्रकार महाकाव्य के लिए सर्गबद्धता, शब्द एवं अर्थसौष्ठव, पंचसंधियों का गठन तथा अलंकारों का सुन्दर प्रयोग आवश्यक है उसी

१. साहित्य दर्पण ३।२१-३०।

प्रकार सकल रसों का समावेश भी अनिवार्य है—**युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्**[1] इस प्रकार अप्रत्यक्षतः रस की महत्ता को भामह ने स्वीकार किया। आचार्य दण्डी भी रस सम्प्रदाय के आचार्य नहीं हैं किन्तु वे 'प्रत्येक अलंकार अर्थ में रसनिंचन की क्षमता रखता है, **'कामं सर्वोप्यलंकारो रसं अर्थे निषिञ्चति'** काव्य का सर्वस्व अलंकार स्वीकार करते हुए भी रस को अस्वीकार नहीं करते। आचार्य रुद्रट भी इसी परम्परा के पोषक हैं किन्तु इन्होंने "तस्मात् कर्त्तव्यं यत्नेन **महीयसा रसैर्युक्तम"** लिखकर काव्य में यत्नपूर्वक रस की प्रतिष्ठा करने का आदेश दिया है। आचार्य वामन गुणवादी हैं किन्तु समस्त गुणों के मूल में दीप्ति तत्व के रूप में रस को स्वीकार करते हैं—**"दीप्तिरसत्वेन कांति"** भोजराज के यहाँ भी अलंकार एवं वक्रोक्ति का ही बोल-बाला था फिर भी उन्होंने रसोक्ति को काव्य में सर्वाधिक महत्व दिया है—

वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयः।
सर्वासु ग्राहिणी तासु रसोक्तिं प्रतिजानीते॥"

यह तो रही, अन्य सम्प्रदाय के आचार्यों की बात। इन आचार्यों से पूर्व अग्नि-पुराणकार ने भी बहुत ही स्पष्ट शब्दों में रस को काव्य का प्राण स्वीकार किया था। उनका कहना है—**"वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्रजीवितम्।"** आगे चलकर अधिकांश आचार्यों ने रस के महत्व को स्वीकार किया है। ध्वनितत्व जो परवर्ती काल में व्यापक सिद्धान्त के रूप में स्वीकृत हुआ, वह भी रस की प्रधानता स्वीकार करता है। रसध्वनि के रूप में तो रस को ध्वनि-काव्य माना ही गया, ध्वनिवादी आचार्यों ने भी रस को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है—

काव्यास्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥[2]

यही नहीं, अभिधावादी भट्टनायक आदि भी रस को महत्व देते हैं और व्यंजना-वादी आचार्य आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त भी। रस और ध्वनितत्व के प्रतिष्ठाता आचार्य मम्मट, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ का तो कहना ही क्या। इनकी दृष्टि में रस काव्य का सर्वस्व है। इनके काव्य लक्षणों तक में इसकी ध्वनि गूँजती है। वाग्भट्ट और जयदेव **'रसोपेतम्'** तथा **'रसानेक'** युक्त काव्य को महत्वपूर्ण मानते हैं। आशय यह है कि रस की महत्ता संस्कृत काव्यशास्त्र तथा साहित्य में अपरिमित रूप से स्वीकृत है।

हिन्दी के आचार्य—हिन्दी के आचार्यों में रस को काव्य का प्रधान तत्त्व माना है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल रस की स्थिति को हृदय की मुक्तावस्था के रूप में मानते हैं और काव्य उसी के लिए शब्द विधान है। रससिद्धान्त को केवल पूर्णतः निष्पन्न रस के रूप में स्वीकार न करके भावमात्र के प्रतिपादन तक इनका विस्तार मानने से कुछ

---

१. काव्यालंकार १।२१।
२. ध्वन्यालोक १।५।

विद्वान् ऐसा ही अनुभव करते हैं कि 'काव्य का यह अनिवार्य तत्व है और उसकी आत्मा के रूप में समस्त प्रकार के काव्यों में व्याप्त है।'

डा० नगेन्द्र ने रससिद्धान्त विषयक विभिन्न आक्षेपों का निराकरण करते हुए लिखा है कि "उपर्युक्त प्रश्नों के समाधान के पश्चात् रस-सिद्धान्त की महत्व-प्रतिष्ठा अनायास ही हो जाती है। शास्त्र-रूढ़ियों से मुक्त रस-सिद्धान्त अपने व्यापक एवं विकासशील रूप में काव्य का सार्वभौम सिद्धान्त है जिसके आधार पर प्रत्येक देश और प्रत्येक काल के सर्जनात्मक साहित्य की प्रत्येक विधा का, उचित मूल्यांकन किया जा सकता है। इसकी प्रकल्पना इतनी सर्वांगीण है कि मानव-चेतना की मूलवृत्ति—राग—की धुरी बनाकर यह अन्य सभी प्रमुख तत्वों को उचित रूप में स्वीकार कर चलता है। अतः जीवन के समस्त रूपों तथा विविध मूल्यों के साथ रस-सिद्धान्त का पूर्ण सामंजस्य है जिनमें विभिन्न वादों के अन्तर्विरोध समाहित हो जाते हैं....जीवन की भूमिका में जब तक मानवता के महत्तर सत्य का आविर्भाव नहीं होता—और साहित्य की भूमिका में जब तक मानव संवेदना से अधिक रणमीय सत्य की उद्भावना नहीं होती, तब तक रस-सिद्धान्त से अधिक प्रामाणिक सिद्धान्त की प्रकल्पना भी नहीं की जा सकती।"[१]

निःसन्देह रससिद्धान्त भारतीय आलोचना का महत्वपूर्ण मानदण्ड है। भारतीय समीक्षा क्षेत्र में इसे जितना महत्व मिला है उतना अन्य किसी काव्य-शास्त्रीय तत्व को नहीं। सहस्रों वर्षों की दीर्घ जीवन यात्रा करने के पश्चात् भी वह आज अक्षुण्ण है। विश्व के समीक्षा-इतिहास में इस तत्व का अपना महत्व है। इसके समान वैज्ञानिक एवं मौलिक अन्य आलोचना का मानदण्ड नहीं। अन्य देशों के समीक्षाशास्त्र में इस तत्व को विभिन्न रूपों में स्वीकार किया गया है। इन सिद्धान्तों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण अरस्तू का **विरेचन सिद्धान्त** है। यह 'विरेचन' शब्द चिकित्साशास्त्रीय है। अरस्तू के व्याख्याकार प्रो० बूचर ने इसके कलापरक अर्थ का अत्यन्त आग्रह से प्रकाशन किया है तथा 'विरेचन' शब्द से कलाजन्य आस्वाद का अर्थ भी लिखा गया। परन्तु क्या यह आस्वाद विवेचन के अन्तर्गत आता है। इस सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि "हमारा मत है कलास्वाद का साधक तो अवश्य है समंचित मन, कला के आनन्द को अधिक तत्परता से ग्रहण करता है। परन्तु विरेचन में कलास्वाद का सहज अन्तर्भाव नहीं है। अतएव विरेचन सिद्धान्त को भावात्मक रूप देना न्याय नहीं है। यह व्याख्याकार की अपनी धारणा का आरोप है। अरस्तू का अभिप्राय मनोविकारों के उद्रेक और उसके सम्बन्ध से उत्पन्न मन की शन्ति तक ही सीमित है। विरेचन शब्द से मन की यह विशदता अभिप्रेत है।" जिसके आधार पर वर्तमान आलोचक रिचर्ड्स ने अन्तर्वृत्तियों के समंजन का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है।"[२] रस एवं विरेचन सिद्धान्त का

१. रससिद्धान्त, पृ० ३६३।
२. भारतीय नाट्य-सिद्धांत, पृ० १८७।

अध्ययन करते हुए हम कह सकते हैं कि "रस का परिपाक सत्व के उद्रेक की अवस्था में ही होता है अर्थात् ऐसी अवस्था में होता है जब रजोगुण और तमोगुण तिरोहित हो जाते हैं और सहृदय की चेतना सतोगुण से परिव्याप्त हो जाती है। यह अवस्था सुख की अवस्था है, इसमें तमोगुण से उत्पन्न (मोहविकारी) शोक की कटु अनुभूति सम्भव नहीं है। यह शब्दावली भारतीय काव्यशास्त्र की अपनी पारिभाषिक शब्दावली है, वर्तमान यूरोप का मनोविज्ञान अथवा प्राचीन-नवीन आलोचना-शास्त्र इससे परिचित नही है। परन्तु शब्द-भेद को हटा देने से उपर्युक्त मत अधिक अपरिचित नहीं रह जाता है। अभिनय का सत्वाद्रेक वास्तव में अरस्तू के **'विरेचन'**, रिचर्ड्स के **अन्तर्वृत्तियों के सामंजस्य'** और शुक्लजी द्वारा प्रतिपादित **'हृदय की मुक्तावस्था'** से बहुत भिन्न नहीं है। भेद केवल विचार पद्धति का है; अरस्तू ने चिकित्सा-शास्त्र की पद्धति और शब्दावली ग्रहण की है, रिचर्ड्स ने मनोविज्ञान की, शुक्ल जी ने आलोचना शास्त्र की और अभिनव आदि ने दर्शन (अधिमानस-शास्त्र) की। तमोगुण और रजोगुण के तिरोभाव के उपरांत सत्व का भाव शेष रहना अरस्तू के शब्दों में "कटु भावों का रेचन और तज्जन्य मनःशान्ति ही तो है। अन्तर केवल **'उद्रेक'** शब्द पर आश्रित है।"[1] आशय यह है कि अरस्तू का विरेचन सिद्धान्त भारत के रस-सिद्धान्त से बहुत भिन्न नहीं है। प्रकारान्तर से रससिद्धान्त में विरेचन सिद्धान्त अन्तर्भूत है।

रससिद्धान्त का मनोविज्ञान, दर्शनशास्त्र, समाज-आदि की दृष्टि से महत्व है। **मनोविज्ञान के** Sentiment तथा Emotion रससिद्धान्त के स्थायीभाव और संचारीभाव हैं। मनोवैज्ञानिकों ने 'सेन्टीमेंट' और 'इमोशन' का जैसा विवेचन किया है लगभग वैसा ही विवेचन हमारे आचार्यों ने स्थायीभाव और संचारीभाव का किया है। आशय यह है कि रस-सिद्धान्त के स्थायीभाव और संचारी भाव का विवेचन मनोविज्ञान के अनुकूल है।

दर्शनशास्त्र की दृष्टि से विचार करने पर भी रससिद्धान्त का महत्व स्पष्ट है—"शुद्धाद्वैत के अनुसार मानवात्मा परमात्मा के तीन गुणों—सत्, चित् और आनन्द से युक्त होता है, किन्तु जीवन का आनन्दगुण तिरोहित रहता है। काव्य और कलाओं के द्वारा इसी आनन्द को जाग्रत किया जाता है। रस सिद्धान्त भी काव्य का यही लक्ष्य स्वीकार करता है। **अद्वैतवादी** के अनुसार मानव आत्मा माया के आवरण के कारण जगत् के नाना रूपों में भेद का अनुभव करती है, जबकि मूलतः सभी रूप एक ही परम सत्ता से सम्बन्धित हैं। रसानुभूति के द्वारा हम माया के इस आवरण को भूलकर विभिन्न रूपों के साथ तादात्म्य स्थापित करते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ भी शब्दान्तर से इसी बात को स्वीकार करते हैं। आचार्य शुक्ल के शब्दों में **"आत्मा की मुक्तावस्था का नाम ही ज्ञानदशा है तथा हृदय की मुक्तावस्था का नाम रसदशा है।"**

साहित्य की दृष्टि से यदि हम विचार करें, काव्य का प्रमुख तत्व भाव है,

१. सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ, भारतीय नाट्यशास्त्र, पृ० १६४।

भाव के कारण ही काव्य का अस्तित्व है। रससिद्धांत इसी भावतत्व की व्याख्या करता है। समाज की दृष्टि से यदि विचार करें तो हम कह सकते हैं कि काव्यानन्द कलाकार के लिए न होकर सामाजिक के लिए हैं।

आशय यही है कि रससिद्धांत एक ऐसा काव्यसमीक्षा का मानदण्ड है, जो व्यापक है, गतिशील है तथा युग-युग तक वह समीक्षा का आधार बन सकता है।

प्रश्न ५२—'करुण रस का आस्वाद' विषय पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

करुण रस का आस्वाद सुखात्मक है या दुःखात्मक, यह प्रश्न विवादास्पद है। दुःख से आनन्द की उपलब्धि कैसे होती है? क्योंकि प्रत्यक्षतः करुण से दुःख की अनुभूति होती है। भारतीय काव्यशास्त्र में 'रस' को आनन्दात्मक माना है, अतः भारतीय काव्यशास्त्र में करुण रस की निष्पत्ति से आनन्द की उपलब्धि सिद्धान्ततः स्वीकार की गई है। यही नहीं, इस रस के महत्व की भूरिशः उद्घोषायें हुई हैं। वाल्मीकि के काव्य की उत्पत्ति का आधार करुणा है, यही करुणा और इसका स्थायीभाव शोक ही—**"शोकः श्लोकत्वमागतः"** का काव्य रूप धारण करता है। इसकी व्यापकता का इतना विस्तार हुआ कि शृंगारादि रसों को इसकी परिधि में समेटने का प्रयास हुआ है। इसका सर्वाधिक श्रेय 'उत्तररामचरित' नाटक के लेखक भवभूति को प्राप्त है। भवभूति ने काव्य में करुण रस के महत्व की मुक्तकंठ से उद्घोषणा की है। उनके नाटक का पर्यवसान भी सुखान्त है—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान्।
आवर्त्त बुद्बुद् तरंगमयान्विकारानम्भो
यथा सलिलमेव हि तत्समग्रम्॥[1]

यह भी निस्सन्देह सच है कि—"मानव-हृदय को सुख की अपेक्षा दुःख अधिक तलस्पर्शी एवं द्रवणशील अनुभूति प्रदान करता है तथा वह अधिक गम्भीर एवं स्थायी आत्मिक एकता उत्पन्न करने की क्षमता रखता है, कदाचित् इसी आधार पर उक्त स्थापना की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है।"

करुण रस के आस्वाद का प्रश्न पुरातन है। इधर पाश्चात्य नाटकों में ट्रेजडी की समस्या तथा ग्रीक काव्यशास्त्रियों की मान्यतायें भी इस विवाद के मूल में देखी जा सकती हैं। करुण की दशा अन्य रसों के आस्वाद के विषय में भी काव्यशास्त्रियों में मतभेद है।

आनन्दवर्धन ने करुण रस में माधुर्य एवं आर्द्रता की स्थिति मानकर शृंगार और विप्रलम्भ से उत्तरोत्तर उत्कर्ष युक्त मानते हुए लिखा है कि—

१. उ० रा० ३।४७।

शृंगारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत् ।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः ।"[1]

आनन्दवर्धन का यह कथन सिद्ध करता है कि वे करुण रस को शृंगार से भी अधिक आनन्ददायक मानते हैं। भुक्तिवाद के प्रतिपादक भट्टनायक रसदशा में सत्वोद्रेक होने से भावक के लिए भाव के क्षेत्र में 'स्व' और 'पर' का भेद समाप्त हो जाता है, परिणामतः भाव के सात्विक आस्वादन से आनन्द की उपलब्धि होती है।

अभिनवगुप्त ने रसदशा की अलौकिक अनुभूति और उसके वैलक्षण्य का विवेचन करने के बाद हृदय की मुक्तदशा से आनन्द की प्राप्ति स्वीकार की है यह आनन्दावस्था अनिवार्यतः प्रत्येक रस में रहती है अन्यथा रसनिष्पत्ति सम्भव नहीं है। इसके साथ ही वे रस का स्वभाव सुखदुःखात्मक भी स्वीकार करते हैं।

आचार्य विश्वनाथ की दृष्टि से सचेतस् व्यक्ति ही करुण रस की ओर आकृष्ट होते हैं, अन्य नहीं। विश्वनाथ करुण रस को सुखात्मक मानते हैं। उनके निम्न तर्क हैं—'सहृदय व्यक्ति करुण रस के प्रसङ्ग को देखता है, पढ़ता है और उसका आनन्द लेता है। यदि उसमें आनन्द की प्राप्ति न होती, तो उसे कोई पढ़ता ही नहीं—

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम् ।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ।"[2]

यही नहीं, विश्वनाथ के अनुसार काव्य में दुःखद कारणों से भी आनन्द की प्राप्ति होती है, यदि उनको दुःख की प्राप्ति होती तो कोई भी उसकी ओर उन्मुख न होता—**किंच तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः ॥३।५**

विश्वनाथ यह भी तर्क देते हैं कि यदि करुण रस को दुःख का हेतु माना ही जायगा, तो, करुणरस-प्रधान रामायण आदि ग्रन्थ भी दुःख के हेतु मानने पड़ेंगे—"तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता ।" सबसे बड़ी बात यह है कि काव्य में वर्णित विभावादि लौकिक जगत् के **कारणों से भिन्न और विलक्षण होते हैं।**[3]

विश्वनाथ का एक अन्य तर्क यह है कि "करुण रस के आस्वादन से जो अश्रुपातादि होते हैं, उनका कारण करुणरस का दुःखात्मक स्वरूप न होकर हृदय की द्रवणशीलता है। यह द्रवणशीलता आनन्द में भी प्राप्त होती है, अतः उसे दुःखात्मक नहीं माना जा सकता है—"

'अश्रुपातादयस्तद्वद् द्रुतत्वाच्चेतसो मताः

१. ध्वन्यालोक २।८ ।
२. सा० द० ३।११ ।
३. सा० द० ३।६-७-८; हेतुत्वं शोकहर्षादिर्गतेभ्यो लोकसंश्रयात् ।
शोकहर्षादयो लोके जायन्तां नाम लौकिकाः ॥
अलौकिकविभावत्वं प्राप्तेभ्यः काव्यसंश्रयात् ।
सुखं संजायते तेभ्यः सर्वेभ्योऽपीति का क्षतिः ॥

अब प्रश्न यह है कि आनन्दात्मक अनुभूति सभी को क्यों नहीं होती है। इसका उत्तर यह है कि 'वासनासंस्कार विशेष के बिना रस का आस्वादन नहीं होता है—
"न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम्।"

अपने इस सिद्धान्त के समर्थन में विश्वनाथ धर्मदत्त का उद्धरण भी उद्धृत करते हैं। जिसका आशय यह है कि—"वासना से युक्त पुरुषों को ही रसास्वाद होता है। वासना रहित पुरुष तो नाट्यशाला में लक्कड़, दीवार और पत्थरों के समान ही पड़े रहते हैं।"[1] आशय यह है कि विश्वनाथ रविराज करुण रस का आस्वाद आनन्दात्मक मानते हैं।

धनंजय ने करुण रस को दुःखात्मक मानकर उसकी आनन्दात्मकता पर विचार किया है। रसिकजन उसमें उत्तरोत्तर आनन्द की अनुभूति करते हैं। यह तथ्य करुण-रस के आनन्दात्मक स्वरूप को ही व्यक्त करता है। यदि ऐसा न होता तो अर्थात् वह दुःखात्मक होता तो, उसकी ओर कोई आकृष्ट न होता, किन्तु रसिक पाठक आकृष्ट होते हैं, अतः वह सुखात्मक ही है।

भोज ने लिखा है कि "जिस प्रकार नखक्षतादि कष्टदायक होते हुए भी रति-प्रसंग में सुखात्मक होते हैं क्योंकि वे नारी में रोमांच को उत्पन्न कर आनन्द को उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार करुणरस में भी दुःखद वस्तुएँ सुख को उत्पन्न करती हैं।[2]

रामचन्द्र गुणचन्द्र ने अपने नाट्यदर्पण में करुण, रौद्र, वीभत्स और भयानक को दुःखात्मक माना है—**"करुणरौद्रवीभत्सभयानकाश्चत्वारो दुःखात्मनः।"** किन्तु उनका यह कथन सिद्धान्त वाक्य नहीं है, क्योंकि वे रस को सुख-दुःखात्मक मानते हैं— **"सुखदुःखात्मनोरसः"** फिर भी करुणरस के दुःखवादी पक्ष को सिद्ध करने के लिए निम्न तर्क देते हैं—

"प्रथमतः करुण, भयानक आदि रसों के द्वारा सहृदयों में दुःखद दशा उत्पन्न होती है। सीता के हरण से अथवा रोहिताश्व की मृत्यु पर शैव्याविलाप से किसी सहृदय को सुख नहीं पहुँचता। द्वितीयतः काव्य में लौकिक व्यवहार का यथार्थ चित्रण होता है। अर्थात् सुखों का वर्णन सुख रूप में और दुःखों को दुःख रूप में होता है यदि दुःखात्मक चित्रण से प्रेक्षक को आनन्द प्राप्त होता है तो क्या वह चित्रण वास्तविक समझा जाना चाहिए। दुःखात्मक चित्रण से तो दुःख ही उत्पन्न होता है। तृतीयतः रस को सुखात्मक मानने वाले ऐसा समझते हैं कि जिस प्रकार किसी दुःखी व्यक्ति को अन्य दुःखी व्यक्ति से मिलकर सांत्वना मिलती है, उसी प्रकार नाटक के करुण, वीभत्स

१. सा० द० ३।७ की वृत्ति। सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।
निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्याश्म संनिभाः॥

२. शृंगार प्रकाश, पृष्ठ ४६६—
दुःखदातापि सुखं जनयति यो यस्य वल्लभो भवति।
दयित नखदूयमानयो वर्धतेस्तनयो रोमांचः॥

आदि रसों से सुख की प्राप्ति होती है, दुःख की नहीं। इस तर्क का खण्डन करते हुए रामचन्द्र गुणचन्द्र कहते हैं कि करुण दृश्य को देखकर प्रेक्षक की सहानुभूति दुःखपूर्ण ही होती है। चतुर्थतः यद्यपि करुण, रौद्र, वीभत्स, और भयानक रस से दुःख ही होता है, तथापि सहृदय को जिस आनन्द की प्राप्ति होती है, वह केवल कवि या नष्ट के चमत्कार से।"[1]

"इस प्रकार नाटकादि में लोकवृत्त का अनुकरण करने वाला कवि अपनी कुशलता से सुख-दुःखात्मक अनुभूति कराता है, किन्तु सुखात्मक अनुभूति दुःखात्मक अनुभूति से प्रबल होती है, इसीलिए सामाजिक दुःख में भी सुख का अनुभव करता है यह स्थिति ठीक प्रपाणक रस (पना) के समान तीक्ष्ण आस्वाद होने पर भी सुखात्मक होती है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्रियों ने इस विषय की विस्तार से विवेचना कर, यह सिद्ध कर दिया है कि रस की विशेषता आस्वाद्यत्व है और वह आस्वाद सुख-दुःखात्मक दोनों ही होता है किन्तु रसिक हृदय दुःख में सुख का अनुभव करते हैं। यह अनुभूति कभी कविकृत होती है और कभी रसिक के हृदय की सात्त्विकता या औदात्य।

निष्कर्ष यह है कि करुण रस का स्थायीभाव 'शोक' दुःखदायी और कटु होता है किन्तु विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से वह सुखद और स्वादिष्ट लगता है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार विभिन्न मसालों के सहयोग से कसैला करेला खाने में स्वादिष्ट लगता है। अतः हम कह सकते हैं कि काव्य में करुण रस का आस्वाद आनन्दप्रद होता है। यह आनन्द ही काव्य का लक्ष्य है।

प्रश्न ५३—'शान्तोऽपि नवमो रसः' विषयक विभिन्न आचार्यों की मान्यताओं को स्पष्ट करते हुए अपना मत स्पष्ट कीजिए।

काव्यशास्त्र में विवादरहित और मान्यता प्राप्त रसों में शान्त रस अन्तिम है। मम्मट ने लिखा भी है कि "शान्तोऽपि नवमो रसः" (का० प्र० ४।३५)। छठी-सातवीं शताब्दी तक केवल आठ रसों की ही चर्चा होती रही है। उन रसों में भरत निर्दिष्ट आठ रस ही मान्य रहे हैं—

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौनाट्ये रसाः स्मृता ॥६।१५

यद्यपि भरत ने शान्त को रस रूप में मान्यता प्रदान नहीं की है, उसके विभावादि का भी विवेचन नहीं किया है किन्तु भरत ने अपने ग्रन्थ में शान्त रस की सम्भावना से इन्कार भी नहीं किया है, अपितु आठ रसों का विवेचन करने के बाद उन्होंने शान्त की सम्भावना स्वयं इस रूप में प्रस्तुत कर दी है—

१. डा० रामदत्त भरद्वाज : काव्यशास्त्र की रूपरेखा, पृ० ११८।

स्वं स्वं निमित्तमादाय शान्ताद् भावः प्रवर्तते ।
पुनर्निमित्तापायेव शान्त एवोपलीयते ॥ ना० शा० षष्ठ अध्याय

अर्थात् शान्त रस में ही रति आदि आठ स्थायी भावों की उत्पत्ति होती है और उनका विलय भी शान्त में ही होता है । उन्होंने लिखा है कि—"अतः शान्तो नाम·····। मोक्षाध्यात्मसमुत्थ·····शान्तरसो सम्भवति·····। अर्थात् 'मोक्ष और अध्यात्म की भावना से जिस रस की उत्पत्ति होती है उसको शान्त रस नाम दिया जा सकता है ।' उपर्युक्त नाट्यशास्त्रीय उद्धरणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि नाट्यशास्त्र में ही शान्त नामक नवम रस की सम्भावना व्यक्त की गई है और 'नवरस' शब्द का उल्लेख भी किया गया है ।"

अन्य अनेक काव्यशास्त्रियों के विरोध करने पर भी शान्त रस को मान्यता मिली है, उसका कारण भरत की उपर्युक्त पंक्तियों में समाहित है । इन पंक्तियों से शान्त रस का महत्त्व सर्वोपरि सिद्ध होता है । कुछ विचारकों ने इन्हीं पंक्तियों के आधार पर 'शान्त को भावशून्य' स्थिति का द्योतक सिद्ध किया है । उनका कहना है कि 'भावशून्यता' शान्त को रस मानने में बाधक नहीं हो सकती, क्योंकि किसी रस के अभिनय में अभिनेता भाव-लिप्त नहीं माना गया है ।

अभिनव ने विरोधियों के मतों का खडन कर अपने स्वतन्त्र मत की स्थापना के द्वारा शान्त का रसत्व सिद्ध कर दिया है । खण्डित मतों में निम्न हैं—"एक शम को स्थायी, तपस्या तथा योगियों के सम्पर्क को विभाव, काम, क्रोध आदि के अभाव को अनुभाव और धृति, मति आदि को संचारी मानता हुआ शान्त रस की कल्पना संपूर्ण रसाङ्गों के साथ करता है । परन्तु दूसरा मत शम और शान्त को पर्यायवाची बताकर अन्य अनेक तर्कों द्वारा शान्त रस की पृथक् सत्ता का निषेध करता है । कुछ के अनुसार निर्वेद शान्त रस का स्थायीभाव है, पर कुछ अन्य विचारक पानक-रस की तरह रति, उत्साह आदि आठों स्थायियों को सम्मिलित रूप से शान्त का स्थायी भाव मानने के पक्ष में हैं ।" अभिनव गुप्त ने इन समस्त मतों का खण्डन कर शान्त रस का स्थायीभाव **'तत्वज्ञान'** को सिद्ध किया है । अभिनव के अनुसार "जिस प्रकार 'काम' रति आदि से अभिहित होकर कवि और नट द्वारा रस स्वरूप में आस्वाद्य होकर प्रकट होता है, उसी प्रकार 'मोक्ष' नामक पुरुषार्थ अपने योग्य की विशेष चित्तवृत्ति के योग से रस अवस्था को प्राप्त कर सकता है । शान्त रस यही है । निर्वेद को आचार्य ने शोक से प्रवाह को फैलाने वाली विशेष चित्तवृत्ति माना, जिसकी उत्पत्ति दो प्रकार से होती है । एक तो दारिद्रय आदि के, दूसरे, तत्वज्ञान से । तत्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद अन्य सब स्थायियों को दबा देने वाला है और उनकी अपेक्षा अधिक स्थायित्व वाला भी है । पर यदि इस निर्वेद को शान्त रस का स्थायी भाव माना जायेगा तो तत्वज्ञान को विभाव मानना पड़ेगा, क्योंकि इसी से यह उत्पन्न होता है । परन्तु इसे उचित नहीं माना गया । वास्तव में तत्वज्ञान से निर्वेद उत्पन्न नहीं होता, तत्वज्ञान ही निर्वेद या वैराग्य से उपजता है । शम और निर्वेद को समान स्वीकार करके शम और शान्त में हास और

हास्य की तरह सिद्ध और साध्य, साधारण और असाधारण को भेद उन्होंने बताया। इस प्रकार बहुत तर्क-वितर्क के बाद तत्वज्ञान को ही अन्तिम मान्यता प्रदान की।

किन्तु आगे के आचार्यों ने अभिनव द्वारा प्रतिपादित तत्वज्ञान को शान्त का स्थायीभाव स्वीकार नहीं किया है क्योंकि यदि 'तत्वज्ञान' को स्थायीभाव स्वीकार कर लिया जायेगा तो ज्ञान को 'भाव' का स्थान देना पड़ेगा। यह सभी को स्वीकार नहीं होगा। दूसरी बात यह है कि शम और शान्त में उतना ही भेद है जितना कि हास और हास्य में। जब हास्य का स्थायीभाव हास हो सकता है तो शम क्यों नहीं। इसके अतिरिक्त सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि **भरत ने स्वयं शम को शान्त का स्थायीभाव स्वीकार किया है।**

स्थायीभाव विषयक विवाद आगे भी चलता रहा है। अग्निपुराण में 'रति' के अभाव में शान्त रस की उत्पत्ति स्वीकार की गयी है। रुद्रट ने 'सम्यक् ज्ञान' को, आनन्दवर्धन ने 'तृष्णाक्षय सुख' को तथा किसी ने 'चित्तवृत्ति शम' को किसी ने 'निर्विशेष चित्तवृत्ति' को एवं किसी ने धृति और उत्साह को भी शान्त का स्थायीभाव माना है।

शान्त रस के समानान्तर ब्राह्म रस, कार्पण्य रस, प्रशान्त रस आदि रसों की कल्पना भी की गई है।

शान्त रस के विरोधियों के तर्क निम्न हैं। **सर्वप्रथम** तर्क यह दिया जाता है कि शान्त रस भरतसम्मत नहीं है। किन्तु यह कोई महत्वपूर्ण तर्क नहीं है। दूसरे भरत ने इस रस की संभावनाओं की पृष्ठभूमि भी प्रस्तुत की है, उसका उल्लेख अभी ऊपर किया जा चुका है। **दूसरा** तर्क यह है कि शान्त रस उत्तेजक नहीं है, अतः सार्वजनीन नहीं है। उसका अभिनय भी नहीं हो सकता है। अतः उसे नाटक में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इसका उत्तर यह है कि नाटक काव्य की एक विधा है। यदि एक विधा के अतिरिक्त अन्यत्र उसका प्रयोग होता है तो इसमें इसकी अस्वीकृति की क्या बात है। साथ ही **'संगीत-रत्नाकर'** के लेखक ने करुण और रौद्र की भाँति इसके अभिनय को स्वीकार किया है। अतः इसे नाटक का रस भी स्वीकार किया जा सकता है। **तृतीय** तर्क यह है कि 'शान्त रस का अन्तर्भाव वीर अथवा वीभत्स में हो सकता है।' किन्तु यह भी भ्रमात्मक है क्योंकि शान्त रस समस्त रसों का हेतु बन सकता है। वीभत्स की अन्ततः शान्त रस में परिणति होती है, भक्ति रस शान्त रस के अधिक निकट है, अतः हम कह सकते हैं और यही कहना भी चाहिए, विभिन्न रसों का शान्त में समावेश हो सकता है। एक तर्क यह भी है कि शान्त रस में रागद्वेष की समाप्ति होती है लेकिन संसार राग द्वेषमय है। वास्तविकता यह है कि शान्त रस में समस्त रसों का समावेश रहता है जैसा कि डा० भारद्वाज ने लिखा है कि "वास्तव में शान्त रस में रसों का समावेश इस प्रकार रहता है, जिस प्रकार श्वेत रंग में अन्य सभी रंगों का। यह रस सभी रंगों की साम्यावस्था है। काव्य में तो किसी न किसी प्रकार उद्वेग अथवा संवेग की अभिव्यक्ति होती है। अतएव यह

विचार का विषय है कि क्या वस्तुतः काव्य में शान्त रस की अभिव्यक्ति हो सकती है, क्योंकि वह तो रस-सान्यावस्था के कारण अनिर्वचनीय है, अतएव केवल आस्वाद्य है, अभिव्यंग्य नहीं।"

आज शान्त रस को नवम रस के रूप में मान्यता प्राप्त है। अभिनव ने जब शान्त रस का पूर्ण प्रतिपादन कर दिया तो उनके बाद आने वाली परम्परा ने प्रायः शान्त के रसत्व को स्वीकार कर लिया। विशेष रूप से धनंजय, मम्मट और विश्वनाथ ने उसका प्रतिपादन भी किया है। धनंजय के अनुसार—शान्त रस अनिर्वचनीय और शम का प्रकर्ष है तथा उसका स्वरूप मोद है—

"शम प्रकर्षो निर्वाच्यो मुदितादेस्तदात्मता" ॥[1]

धनिक ने इस पंक्ति की व्याख्या में लिखा है कि मुदिता, करुणा, मैत्री तथा उपेक्षा शान्त रस के काव्य और नाटक का वर्ण्य-विषय बन सकती हैं क्योंकि उसकी प्रतीति में विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप नामक चित्तवृत्तियों का योग रहता है। आशय यह है कि विकास आदि आंतरिक वृत्तियाँ प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान रहती हैं किन्तु उनकी परिणति जिसमें होती है वहीं शान्त कहलाता है। धनिक के अनुसार "मुनिराजों ने उस रस को शान्त कहा है जिसमें सुख, दुःख, चिन्ता, द्वेष, राग, इच्छादि कुछ नहीं रहते और जिसमें सब भावों का शम प्रधान रहता है।" आचार्य मम्मट ने शान्तरस का स्थायीभाव निर्वेद माना है, उनका कथन है कि—**निर्वेदस्थायी-भावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः** अर्थात् निर्वेद स्थायी भाव वाला शान्त नवम रस है। भरत ने स्थायी भावों की गणना करने के बाद व्यभिचारी भावों के वर्णन करते समय निर्वेद को प्रथम व्यभिचारी भाव कहा है। निर्वेद को शम भी कहते हैं। विश्वनाथ ने शान्तरस का वर्णन करते हुए लिखा है कि—"शान्तरस का स्थायीभाव शम, आश्रय उत्तम पात्र, वर्ण कुन्दपुष्प तथा चन्द्रमा आदि के समान सुन्दर शुक्ल और देवता भगवान् लक्ष्मीनारायण हैं। अनित्यत्व दुःखमयत्व आदि रूप से सम्पूर्ण संसार की असारता का ज्ञान अथवा परमात्मस्वरूप, इस रस में आलम्बन होता है और ऋषि आदिकों के पवित्र आश्रम हरिद्वार आदि पवित्र तीर्थ रमणीय एकान्तवन तथा महात्माओं का संग आदि उद्दीपन विभाव होते हैं। रोमांच आदि इसके अनुभाव होते हैं। निर्वेद, हर्ष, स्मरण, मति, प्राणियों पर दया आदि इसके संचारी भाव होते हैं।[2] पंडितराज जगन्नाथ ने महाभारतादि में शान्तरस का प्राधान्य स्वीकार कर उसे 'अखिललोकानुभवसिद्ध' भी कहा है। उनके अनुसार शान्त का स्थायी शम है—

शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नटे च तदसंभवात्।
अष्टावेव रसा नाट्ये शान्तस्तत्र न युज्यते॥

संस्कृत के कई काव्यशास्त्री आचार्यों ने शान्त को नाट्यरस नहीं माना है, इन

१. दशरूपक ४।४५।
२. साहित्यदर्पण ३।२४५-२४६।

आचार्यों में धनंजय, शारदातनय और जगन्नाथ प्रमुख हैं। किन्तु इस मत को विशेष महत्व नहीं मिला है। 'संगीत र' के लेखक ने कहा है कि नट रस से निर्लिप्त रहता है, अतः रौद्र करुण आदि की तरह शान्त का भी अभिनय सम्भव है—

"कञ्चिन्न रसं स्वदते नटः"—ध्वन्यालोककार भी नागानन्द का उदाहरण देकर यह सिद्ध करते हैं कि नाटक में शृङ्गार और शान्त दोनों रसों की स्थिति है। साथ ही भरत ने स्वयं लिखा है कि—

त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यंभावानुकीर्त्तनम् ।
क्वचिद्धर्मः क्वचित्क्रीड़ा क्वचिदर्थः क्वचिच्छमः ॥[१]

अर्थात् नाट्य जो तीनों लोकों के भावों का वर्णन करने वाला है। इसमें कहीं धर्म है कहीं खेल है कहीं धनोपलब्धि है कहीं शम है।" इस प्रकार नाटक में क्या नहीं है अतः शृंगार एवं शान्त दोनों ही रसों की स्थिति नाटक में रह सकती है।

हिन्दी साहित्य में भी शान्त रस के स्थायीभाव के विवाद का प्रभाव पड़ा है अतः रीतिकालीन काव्यशास्त्री निर्वेद और शम को शान्त का स्थायी भाव मानते हैं। उदाहरण के लिए—कुलपतिमिश्र[२], नन्दराम[३], पद्माकर[४] और भानुकवि[५] को लिया जा सकता है। ये निर्वेद को शान्त का स्थायीभाव मानते हैं तथा चिन्तामणि, भिखारीदास तथा केशवदास शान्त का स्थायीभाव शम मानते हैं। दूसरी ओर बेनीप्रवीन विराग को (थाई जासु विराग)। केशवदास शम के कारण शान्त रस को ही शम रस कहते हैं—

सबते होय उदास मन बसै एक ही ठौर ।
ताही कों समरस कहत केसव कवि सिरमौर ॥[६]

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शान्त नामक नौवाँ रस है। उसे संस्कृत एवं हिन्दी के काव्यशास्त्र में मान्यता मिली है। निस्सन्देह उसे मान्यता मिलनी ही चाहिये थी, क्योंकि संस्कृत-साहित्य में ज्ञान और भक्ति को लेकर एक विशाल साहित्य का सृजन हुआ है। वैराग्य भारतीय विचारधारा की महत्वपूर्ण प्रवृत्ति रही है। इधर हिन्दी के भक्तिकाल में इसे विशेष महत्व मिला है। सूर के विनय के पद, तुलसी की विनयपत्रिका, सन्तसाहित्य में भी शम तथा निर्वेद की व्यापक भावना मिलती है। अतः 'शान्त' नवम रस है और इस रूप में मान्यता

१. नाट्यशास्त्र १।१०७।
२. र० र०, पृ० २८ तत्व ज्ञान तें कवित्त में, जहँ प्रगटै निर्वेद ।
कहै शान्त रस जासु को, सो है नौमो भेद ॥
३. शृ० द०, पृ० १४८ जाको थाई भाव सुकवि निरवेद बखानत ।
४. जगद्विलास, ७२० सुरत शान्त निर्वेद है जाको थाई भाव ॥
५. रसरत्नाकर, पृ० ५६ सुरस शांत निर्वेद है, जाको थायी भाव ।
६. रसिकप्रिया १४।३७।

मिलना सर्वथा स्वाभाविक है।

प्रश्न ५९—वात्सल्य या वत्सल को रस कहना कहाँ तक उचित है? स्पष्ट उत्तर दीजिए।

वात्सल्य को रस के रूप में मान्यता बहुत बाद में मिली है। भरत के समय में आठ रसों को ही मान्यता मिली थी। भरत ने उनका उल्लेख नाट्यशास्त्र में किया है—**चेत्यष्टौ नाट्ये रसाःस्मृता।**[1]

आठ रसों के अतिरिक्त शान्त, वात्सल्य और प्रेयान् आदि रसों का उल्लेख भी आचार्यों ने किया है। अभिनवगुप्त शान्त रस को नवम रस के रूप में मान्यता प्रदान करते हैं। किन्तु वात्सल्य रस को कब मान्यता मिली? किसने सर्वप्रथम इसका उल्लेख किया? यह अनुसंधान का विषय है। वात्सल्य रस का दसवें रस के रूप में उल्लेख सर्वप्रथम श्रीकृष्ण और भोज ने किया है। श्रीकृष्ण ने लिखा है कि—"**अन्ये तु करुणस्थायी वात्सल्यं दशमोपि च।**' अन्य आचार्य 'वात्सल्य रस को दसवाँ रस मानते हैं और उसका स्थायीभाव करुण।' इसी प्रकार भोज शृङ्गार प्रकाश (१।६) में वात्सल्य रस का उल्लेख करते है। रुद्रट ने भी दसवें रस का उल्लेख किया है, किन्तु उनका दसम रस 'प्रेयान' है। 'प्रेयान्' शब्द वात्सल्य का पर्यायवाची है। कर्णपूर गोस्वामी ने भोज का उल्लेख करते हुए ग्यारह रस माने हैं—उनके अनुसार शान्त, वात्सल्य और प्रेय नये रस हैं—

"**भोजस्तु वत्सल प्रेयम्याम् एकादशरसानाचष्टे।**"

"इसके बाद आचार्यों ने बारह, तेरह और शृङ्गार प्रकाश में बीस तथा वी० राघवन के उल्लेखानुसार रसों की संख्या तेईस तक मानी गई है।"[2]

वात्सल्य रस को स्वीकार और अस्वीकार करने वाले दो मत हैं—कुछ विद्वान् वात्सल्य को रस ही नहीं मानते हैं और यदि मानते भी हैं तो उसका किसी अन्य रस में समाहार कर, गौण रस के रूप में स्वीकार करते हैं।

संस्कृत साहित्य में आठ रस मानने की परम्परा अज्ञातकाल से चली आ रही है। भरत ने भी इस प्राचीन परम्परा की ओर संकेत किया है—"**एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना।**"

भरत के अतिरिक्त कालिदास, वररुचि, दण्डी, शारदातनय, आनन्दवर्धन, मम्मट, भानुदत्त, जगन्नाथ आदि आठ रसों को ही स्वीकार करते हैं। उन आठ रसों में वात्सल्य का नाम नहीं है। रुद्रट आदि कुछ विद्वान् वात्सल्य रस को 'प्रेयान्' रस के रूप में स्वीकार करते हैं। 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' में 'प्रेयस्' शब्द भी इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। भामह 'प्रेयस्' का विकास प्रेम से मानते हैं। हेमचन्द्र वात्सल्य को स्नेह और भक्ति के सहित रति में अन्तर्भूत मानते हैं। तदनुसार "बराबर वालों की

१. ना० शा० ६।१५।

२. आधुनिक हिन्दी काव्य में वात्सल्य रस, पृ० ५।

पारस्परिक रति का नाम स्नेह है। अनुत्तम की उत्तम में रति प्रसक्ति कहलाती है, इसे ही भक्ति कहते हैं। उत्तम की अनुत्तम के प्रति जो रति है, वात्सल्य है।" किन्तु हेमचन्द्र इन्हें रस न मान कर 'भाव' मात्र मानते हैं।

अभिनवगुप्त ने नौ रसों की चर्चा कर अन्य रसों की सम्भावना का संक्षेप में उल्लेख कर उनका खण्डन करते हुए लिखा है कि **"वात्सल्य मातापित्रादौ स्नेहोभये विश्रान्तः"** अर्थात् माता-पिता के प्रति बालक के स्नेह का अन्तर्भाव भय में हो जाता है। तथा 'वृद्धस्य पुत्रादावपि द्रष्टव्यम्'। इसी प्रकार वृद्ध का पुत्रादि के प्रति स्नेह समझना चाहिए। आशय यही है कि अभिनव के मतानुसार वात्सल्य भाव है, रस नहीं। सम्भवतः अभिनव की सम्मति को सिरमाथे मानकर मम्मट ने लिखा है कि 'रतिर्देवादिविषयाव्यभिचारी तथाऽञ्जितः। भाव प्रोक्तः।'[१] अर्थात् देवादि के विषय में व्यक्त व्यभिचारी को भाव कहा जाता है। किन्तु "मम्मट के रसनिरूपण से पूर्व 'तद्विशेषानाह' की व्याख्या करते हुए 'बालबोधिनी' के टीकाकार ने जो टिप्पणी दी है, उससे पूर्वोक्त 'प्रेयस्' विषयक अनुमानाश्रित धारणा प्रत्यक्ष हो जाती है—"किसी की सम्मति है कि एक शृङ्गार रस ही रस है, किसी ने प्रेयस्, दान्त, उद्धत के साथ वर्णित नवरस को द्वादश रस माना है। जिस रस का स्थायीभाव स्नेह हो, उसको प्रेयस् कहते हैं और इसी का नाम वात्सल्य है।"[२]

हरिऔध ने एक अज्ञात संस्कृत विद्वान् को 'रसकलश' में उद्धृत कर यह सिद्ध किया है कि संस्कृत के विद्वान् वात्सल्य को रति के अन्तर्गत समाविष्ट मानते हैं।[३] हरिऔध वात्सल्य रस को कई रसों से अधिक व्यापक और स्पष्ट मानते हैं, "वात्सल्य रस उन कई रसों से अधिक व्यापक और स्पष्ट है, जिनकी गणना नवरस में होती है।"[४]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन संस्कृत के आचार्यों ने वात्सल्य को रस रूप में स्वीकार नहीं किया है; यदि रुद्रट आदि कुछ आचार्यों ने वात्सल्य को माना भी है तो उसे स्वतन्त्र रूप में रस स्वीकार नहीं किया है किन्तु भोजराज पहले ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने वात्सल्य रस को रस रूप में स्वीकृति प्रदान की है। किन्तु उसकी न तो व्याख्या की है और न प्रतिपादन ही। क्योंकि वे तो केवल एक रस मुख्य मानते हैं और वह है शृङ्गार। उनका कहना है कि शृङ्गार, वीर, करुण, अद्भुत, रौद्र, हास्य, वीभत्स, वत्सल, भयानक और शान्त नाम के दश रसों को विद्वान् परम्परा से मानते हैं। परन्तु हम तो रसनीयता के कारण शृङ्गार को ही रस मानते हैं।[५] इसी प्रकार श्रीकृष्ण

१. (का० प्र० ४।३५)।
२. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ७६६।
३. रसकलश, पृ० १६०।
४. रसकलश, भूमिका, पृ० २१४।
५. शृङ्गार प्रकाश १।६।

'मन्दारमरन्द चम्पू' में लिखते हैं कि "कुछ विद्वान् वात्सल्य को भी दसवाँ रस बतलाते हैं, जिसका स्थायी करुण है"—

"अन्ये तु करुणास्थायी वात्सल्यं दशमोपि च।"[1]

वात्सल्य रस को स्वीकार करने वाले आचार्यों में हरिपालदेव का नाम उल्लेखनीय है, वे वात्सल्य को ग्यारहवाँ रस मानते हैं। उनके अनुसार रस निम्न हैं—शृङ्गार, हास्य, करुण, वीभत्स, वीर, भयानक, रौद्र, अद्भुत, शान्त, ब्रह्म, वात्सल्य, संभोग और विप्रलम्भ नामक तेरह रस हैं। विद्याभूषण 'साहित्य कौमुदी' में नव रसों को स्वीकार करने के साथ वात्सल्य रस को भी स्वीकार करते हैं। 'रसरत्नदीपिका' में अल्लराज वात्सल्य रस की चर्चा करते हुए कहते हैं कि कुछ लोग वत्सल को रस कहते हैं, परन्तु वह रति ही है—"**वत्सलं तु रसं प्राहुरन्ये सा रतिरेव हि**"। वात्सल्य रस का स्पष्टीकरण करते हुए अल्लराज ने लिखा है कि "माता-पिता को सन्तान के आलिंगन में जो आनन्द उत्पन्न होता है, विद्वान् उसे रति कहते हैं और वही वात्सल्य है। कर्णपूर गोस्वामी के मतानुसार वात्सल्य रस का स्थायीभाव 'ममकार' है।

वात्सल्य रस को स्वीकार करने वाले आचार्यों में विश्वनाथ सबसे प्रधान हैं। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में वात्सल्य के स्वरूप का प्रतिपादन किया है, उसके विभिन्न अंगों स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव, संचारीभाव, वर्ण, देवता आदि का वर्णन किया है। उनके अनुसार **"प्रकट चमत्कारक होने के कारण कोई-कोई वत्सलरस भी मानते हैं। इसमें 'वात्सल्य स्नेह' स्थायी होता है। पुत्रादि इसका आलम्बन और उसकी चेष्टा तथा विद्या, शूरता, दया आदि उद्दीपन होते हैं। अनिष्ट की आशंका, हर्ष, गर्व आदि संचारी होते हैं। इसका वर्ण कमलगर्भ के समान और ब्राह्मी आदिक मातायें इसकी अधिष्ठात्री देवियां हैं।**[2]

इस प्रकार वात्सल्य या वत्सलरस की पूर्ण स्वीकृति और उसका विस्तृत व्याख्यान विश्वनाथ ने किया है, पूर्ववर्ती आचार्यों ने जब कभी वात्सल्य रस का संकेत या उल्लेख किया है, उसने दूसरे आचार्य का सहारा लेकर ही किया है, अपनी मान्यता का स्पष्ट विवेचन नहीं। अतः हम कह सकते हैं कि **"वात्सल्य के रसत्व की विधिवत्**

१. मन्दारमरन्द चम्पू, पृ० १००।

२. सा० द० ३।२५१-५४।

स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलतास्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम्॥
उद्दीपनानि तच्चेष्टा विद्याशौर्यदयादयः।
आलिंगनांगसंस्पर्शशिरश्चुम्बनमीक्षणम्॥
पुलकानन्दबाष्पाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः।
संचारिणोऽनिष्टशङ्काहर्षगर्वादयो मताः।
पद्मगर्भच्छविवर्णो दैवतं लोकमातरः॥

स्वीकृति का श्रेय आचार्य विश्वनाथ को ही है।" और विश्वनाथ ने भी वात्सल्य रस को मुनीन्द्र सम्मत बतलाया है और यह भी लिखा है कि मुनीन्द्र के मत के अनुसार वात्सल्य दसवाँ रस है—

'अथ मुनीन्द्र सम्मतो वत्सलः'

"वत्सलश्च रस इति तेन स दशमो मतः।"[1]

हिन्दी साहित्य में केशवदास, चिन्तामणि और भिखारीदास आदि प्रमुख रीतिकालीन आचार्यों ने वात्सल्य रस की उपेक्षा ही की है। इधर आधुनिक काल में भारतेन्दु ने वात्सल्य रस को स्वीकार किया है। भारतेन्दु ने वात्सल्य के साथ दास्य, सख्य और माधुर्य को भी रस स्वीकार किया है। इसका आधार भक्तिशास्त्र है किन्तु "भक्तिशास्त्र के अनुसार भी वात्सल्य भाव ही सिद्ध होता है, क्योंकि रस तो भक्ति स्वयं ही है जो उक्त चारों भावों के द्वारा भावित होता है।"

हरिऔध ने सूरसागर के आधार पर वत्सल रस की सिद्धि की है। "उन्होंने वात्सल्य रस को वीभत्स, हास्य आदि अनेक रसों से तर्क सहित श्रेष्ठ सिद्ध किया है। कृष्ण-लीला के अन्तर्गत सूर का वात्सल्य-वर्णन रसत्व प्राप्ति के लिए अपेक्षित सभी अंगोपांगों को अपने में समाविष्ट किये हैं। दूसरे, भक्ति की दृष्टि से वात्सल्य सूर का अपना भाव नहीं है। अतएव 'सूरसागर' में नन्द यशोदा तथा अन्य वयस्क गोपियों का बालकृष्ण के प्रति प्रेम, आकर्षण, खीझ, व्यंग्य, उपालम्भ आदि सब कुछ वात्सल्य रस की ही सामग्री है। कृष्ण का सौन्दर्य-वर्णन तथा बाल-क्रीड़ाओं का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण भी इसी के अन्तर्गत आता है। तुलसी की 'गीतावली', 'कृष्ण गीतावली' तथा 'कवितावली' में 'रामचरितमानस' में श्रेष्ठतर वात्सल्य रस की कविता मिलती है। 'हरिऔध' के 'प्रियप्रवास' और मैथिलीशरण गुप्त के साकेत तथा यशोधरा में नयी भूमिकाओं में वात्सल्य का उद्रेक प्राप्त होता है।"[2]

डा० भगीरथ मिश्र भी वात्सल्य रस को स्वीकार करते हैं "इस प्रकार स्पष्ट चमत्कार के कारण वात्सल्य की रसत्व रूप में प्रतिष्ठा होनी चाहिए।" डा० सुधीन्द्र भी इसी मत से सहमत हैं। "वस्तुतः 'वत्सल' रस केवल चमत्कार ही नहीं है वरन् वह उत्कट और आस्वाद योग्य भाव का परिपाक है, अतः इसकी मान्यता आवश्यक है।"

हमारे विचार से 'सूरसागर' की रचना के अनन्तर वात्सल्य रस को अस्वीकार करना सम्भव नहीं है क्योंकि सूर ने अपने सागर में वात्सल्य की नाना मनोभूमियों का स्पष्ट वर्णन किया है, उसमें अन्य रसों की भाँति रस के प्रत्येक अंग—आलिंगन, उद्दीपन, अनुभाव, संचारीभाव आदि का पूर्ण निर्वाह दृष्टिगत होता है। इसके अतिरिक्त उसके आस्वाद में किसी प्रकार संदेह नहीं रहता है **'आस्वाद्यत्वाद् रसः'** इस परिभाषा

१. साहित्य दर्पण ३।२५५-५६।
२. हिन्दी साहित्य कोश, प्रथम भाग पृ० ७७०।

के अनुसार स्वीकार करने का कोई तर्क भी नहीं रहता है।

वात्सल्य रस के संयोग और वियोग वात्सल्य नामक दो भेद हैं। डा० आनन्द प्रकाश ने अपने शोध प्रबन्ध—'काव्य में रस' नामक रचना में वियोग वात्सल्य के—गच्छत्प्रवास, प्रवासस्थित, प्रवासागत और करुण नामक उपभेदों का उल्लेख किया है।

वात्सल्य रस—बाल-सुलभ चपलता, बच्चों का सौन्दर्य, उनकी बोली और चेष्टाओं को देखकर जो उनकी ओर मन का आकर्षण होता है उस आकर्षणजन्य स्नेह से वात्सल्य रस की उत्पत्ति होती है।

स्थायीभाव—अपत्य स्नेह।

आलम्बन विभाव—बालक।

उद्दीपन विभाव—सन्तान की चेष्टाएँ एवं बोली।

अनुभाव—हँसना, पुलकित होना, देखना, चूमना, खेलना, रोना आदि।

संचारी भाव—हर्ष, मोह, चिन्ता, शंका, विवाद आदि।

उदाहरण— **सोभित कर नवनीत लिये।**

घुटुरुन चलत रेनु तनु मंडित मुख दधि लेप किये।
चारु कपोल लोल लोचन, गोरोचन तिलक दिये।
लट लटकनि मनमत्त मधुप गन मादक मदहि पिये।
कठुला कंठ वज्र केहरि-नख राजत रुचिर हिये।
धन्य 'सूर' एकौ पल यह सुख सतकल्प जिये। (सूरदास)

इस उदाहरण में वात्सल्य रस की पूर्ण सत्ता है। उसके समस्त अवयव इसमें हैं क्योंकि यहाँ कृष्ण आलम्बन, यशोदा आश्रय, कृष्ण का घुटनों के बल चलना, उनका धूल धूसरित होना, दधिलिप्त मुख घुँघराली लटें आदि उद्दीपन विभाव हैं। माता का सुखानुभव कर मुस्कराना, प्यार करना, चुम्बन लेना आदि अनुभाव हैं। उत्सुकता, गर्व, चापल्य, मोह और हर्ष आदि संचारी भाव हैं।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि वात्सल्य भी एक रस है, हिन्दी साहित्य में वात्सल्य को लेकर एक विशाल साहित्य का सृजन हो चुका है। अतः उस साहित्य तथा वात्सल्य भाव के उत्कटत्व के कारण, उसके आस्वाद के कारण इसे रस स्वीकार करना ही अधिक तर्कसंगत है।

प्रश्न ५५—शृङ्गार को रसराज कहना कहाँ तक उचित है? इस विषय में आपका क्या मत है? स्पष्ट कीजिए।

भारतीय काव्यशास्त्र में शृंगार रस को विशेष सम्मान मिला है, अतः इसे **'रसराज शृङ्गार'** भी कहा गया है। भरत के अनुसार "संसार में जो कुछ भी पवित्र, विशुद्ध, उज्ज्वल और दर्शनीय है, उसकी शृंगार रस से उपमा दी जाती है।"[1] रुद्रट

१. ना० शा० ६।४५ वृत्तिः यत्किंचिल्लोके शुचि मेध्यं दर्शनीयं वा तच्छृंगारेणोपमीयते।

ने भी श्रृंगार रस के महत्व का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि श्रृंगार रस जैसी रमणीयता अन्य रस से उत्पन्न नहीं हो सकती है।" इस रस में आबाल-वृद्ध सभी मानव ओत-प्रोत हैं। इसके बिना काव्य हीनकोटि का होता है अतः इसके निरूपण में कवि को विशेष प्रयत्न करना चाहिए।[1] आनन्दवर्धन भी श्रृंगार रस को सर्वाधिक मधुर और आनन्दकारक रस मानते हैं।[2] आनन्दवर्धन श्रृंगार रस को विशेष सुकुमार रस भी मानते हैं।[3] यही नहीं कुछ काव्यशास्त्रियों ने श्रृंगार को अन्य रसों का आधार माना है। भोजराज ने तो श्रृंगार, वीर आदि दस रसों के स्थान पर रस की संज्ञा केवल श्रृंगार को ही दी है।[4] श्रृंगार को वे अहंकार और अभिमान का पर्याय मानते हैं।[5] अहंकार मिथ्याभिमान न होकर आत्मानुराग है। जब कोई सुन्दरी स्निग्ध दृष्टि से देखती है तो मन में आत्मविश्वास तथा आत्मानुराग उत्पन्न होकर वह भावविभोर हो उठता है, यही अहंकार की स्थिति है। ऐसे मनुष्य अपने को धन्य मानते हैं (शृ० प्र० पृ० ४६४)। इसी अहंकार का नाम शृङ्गार है क्योंकि यही भाव सहृदय को सुख की चोटी पर आसीन कर देता है [येन श्रृंगारीयते (गम्यते) स श्रृंगारः],। यही नहीं, भोज इसी अहंकार या अभिमान को श्रृंगार रस की संज्ञा देते हैं—'स श्रृंगारः सोभिमान स रसः' और रस भी एक श्रृंगार ही है—"रस शृङ्गार एव एकः।" अग्निपुराणकार के अनुसार, श्रृंगारी कवि अथवा सहृदय जगत् को रसमय बना देता है।[6] इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत के काव्यशास्त्री विशेषतः भोज और अग्निपुराणकार यद्यपि श्रृंगार को 'रसराज घोषित नहीं करते हैं परन्तु उसे सर्वश्रेष्ठ तथा रसों का आधार स्वीकार करते हैं। परवर्ती हेमचन्द्र, विद्याधर, रामचन्द्र, गुणचन्द्र आदि इसे सर्वप्रथम स्थान पर भी बैठा देते हैं। उनका हेतु यह है कि "इसका सम्बन्ध न केवल मानव जाति तक सीमित है। अपितु यह सकल-जाति सामान्य अत्यन्त परिचित एवं सकल मनोहारी है—तत्र कामस्य सकल जाति सुलभतयाऽत्यन्त परिचितत्वेन सर्वान्प्रति हृद्यतेति पूर्वं श्रृंगारः।" विश्वनाथ ने भी श्रृंगार को व्यापक तथा महत्वपूर्ण रस स्वीकार किया है। उनके अनुसार, "केवल श्रृंगार रस ही एक ऐसा रस है—

१. का० अ० १४।३८।

२. ध्वन्यालोक २।७ श्रृंगार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति॥

३. वही ३।३८।

४. श्रृंगार प्रकाश खण्ड १ श्रृंगारवीर करुणाद्भुतरौद्रहास्य वीभत्स (पृ० २)
वत्सलभयानकशान्तनाम्नः आम्नासिषुर्दश रसन्सुधियों
वयं तु श्रृंगारमेव रसनाद्रसमामनामः।

५. सरस्वती कन्ठाभरण ५।१।

६. अ० पु० ३३९।८ श्रृंगारी चेत् कवि, काव्ये जातं रसमयं जगत्।
। चेत् कविर्वीतरागो नीरसं व्यक्तमेव तत्।

जिसमें उग्रता, मरण, आलस्य, और जुगुप्सा को छोड़कर अन्य निर्वेदादि इसके संचारी भाव होते हैं।"[1] अर्थात् इन सबका इस रस में योगदान रहता है। इस प्रकार मानव मन की अधिकतम भावनाओं का इसमें समावेश रहता है। शारदातनय तो प्रत्येक संचारी-भाव का सम्बन्ध शृङ्गार रस से मानते हैं—**समग्रवर्णनाधारः शृङ्गारो वृद्धिमश्नुते।**[2] केवल इतना ही नहीं, स्थायी, संचारी ही क्यों अनुभव और सात्विक भावों की अधिकतम स्थिति इस शृंगार के दोनों भेदों में पाई जाती है। शृंगार के भेदोपभेद, इसके अन्य सहायक तत्व—नायक-नायिका, उनके भाव-हाव हेलादि तत्व भी शृंगार रस की व्यापकता की उद्घोषणा करते हैं। केवल एक यही रस है जिसमें दोनों आलम्बनों—आलंबन और आश्रय की चेष्टाएँ परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। भरत ने भी लिखा है कि यह सम्पूर्ण भावों से युक्त होता है—"एवमेष सर्वभाव संयुक्तः शृङ्गारो भवति।" (ना० शा० ६।४५) अतः शास्त्रीय आधार पर शृङ्गार का रसराजत्व स्वीकार किया जा सकता है।

शृङ्गार का रसराजत्व—शृंगार को रसराज सिद्ध करने के लिए अन्य अनेक हेतु दिये जाते हैं। सर्वप्रथम यह कि काम-प्रेम की भावना मानव से लेकर पशु-पक्षी तक में स्वाभाविक रूप से मिलती है। यह काम सार्वदेशिक तथा सार्वभौमिक है। मानव मात्र को यह भावना प्रभावित करती है। अतः उस भावना से सम्बद्ध शृंगार रसराज का अधिकारी है। द्वितीय, अन्य रसों का आस्वाद प्रत्येक व्यक्ति को नहीं मिलता हैं। रुद्रट का कथन है कि—

अनुसरति रसानां रस्यतामस्यनान्यः।
सकलमिदमनेन व्याप्तमाबालवृद्धम्॥

इस रस के समान रसत्व अन्य रसों में नहीं। इस के आस्वाद्यत्व ने अबाल-वृद्ध को प्रभावित किया है।

तीसरी बात यह भी है कि शृंगार के अनेक भेद-उपभेद होते हैं। चौथी बात यह है कि इसमें कोमल भावनाओं का महत्व रहता है। पाँचवी बात यह है कि इससे सन्त महात्मा तक भी अपना बचाव नहीं कर पाते हैं। कबीर अपने को 'राम की बहुरिया' कहते हैं तथा तुलसी की रामायण शृगार रसपूर्ण है। शृंगार का मनमोहक रूप धनुष यज्ञ और ग्रामवधू आदि प्रसंगों में देखा जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शृंगार में व्यापकता है अनेक स्थायी, संचारी, सात्त्विकों को यह आत्मसात् कर सकता है। इसके अतिरिक्त उत्कट आस्वाद्यता भी इस रस में मिलती है। अन्य रसों की तुलना में शृंगार रस अधिक चर्वणीय है। इसका स्थायी भाव रति अधिक आस्वाद्य योग्य है। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें अन्य रसों को समाहित करने की क्षमता है। इसकी छत्रछाया में अन्य रस पल्लवित होते

१. सा० द० ३।१८६। त्यक्त्वौग्र्यमरणालस्य जुगुप्सा व्यभिचारिणः।
२. भाव प्रकाश, पृ० ६१।

हैं और हो सकते हैं। यद्यपि वीभत्स, करुण, रौद्र, भयानक तथा शान्त रस, शृंगार-विरोधी रूप में परिगणित होते हैं किन्तु आचार्यों ने उस विरोध के परिहार की भी व्यवस्था की है। जैसा कि देव ने उनकी व्यापकता के विषय में लिखा है कि—

निर्मल स्याम सिंगार हरि, देव अकास अनन्त।
उड़ि उड़ि खग ज्यों और रस, बिबस न पावत अन्त।
भाव सहित सिंगार में नव रस झलक अजस्त्र।
ज्यों कंकन मनि कनक को ताही में नवरत्न।
भूलि कहत नव रस सुकवि सकल मूल सिंगार।
जो सम्पति दम्पतिनु को जाको जग विस्तार।

(भ० वि० १।१०)

यही नहीं, शृंगार के विभावों में अपनी विशिष्ट विशेषता है। शृंगार के आलम्बन नायक-नायिका हैं, इनके साथ प्रत्येक पाठक या दर्शक या श्रोता का तादात्म्य स्थापित हो सकता है। अन्य रसों के आलम्बन इस विशेषता से रहित हैं। शृंगार के उद्दीपन अन्य रसों की तुलना में अधिक रमणीय, अधिक आकर्षक, मोहक और व्यापक हैं। शृंगार के उद्दीपन सर्वत्र और सब कालों में सुलभ हैं। निश्चय ही मानव हृदय की वृत्तियों का अधिकतम मात्रा में इसमें चित्रण होता है और मानव हृदय की वृत्तियाँ इसमें उसी मात्रा में रमण भी करती हैं। भोजराज का कथन ठीक ही है कि—

शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत।
स एव चेदशृंगारी नीरसं सर्वं मेव तत्॥[1]

अन्ततः हम कह सकते हैं कि शृंगार रसराज है और सोमनाथ का शृंगार को रसपति "**नवरस को पति सरस अति रस शृङ्गार पहिचान**"[2] घोषित करना, केशव को शृंगार को रसनायक—"**सबको केसवदास कहि नायक है सिंगार**"[3] तथा देव का सब रसों को मूल "**भूलि कहत नवरस सुकवि सकल मूल सिंगार**"[4] घोषित करना उचित है। काव्य रसों के आस्वाद-भेद के कारण तो इसे रसराज कहना सर्वथा उचित है :

प्रश्न ५६—क्या भक्ति को रस माना जा सकता है? तर्कपूर्ण विवेचन कीजिए।

भक्ति को रस मानने के विषय में काव्यशास्त्रियों में पर्याप्त मतभेद रहा है और वह मतभेद आज भी विद्यमान है। अतः "कुछ विशेषज्ञ भक्ति को बलपूर्वक रस घोषित करते हैं। कुछ परम्परानुमोदित रसों की तुलना में उसे श्रेष्ठ बताते हैं, कुछ

१. स० क०, पृ० ३।
२. र० पी० नि० ८।१।
३. र० प्रि० १।१७।
४. भवानीविलास १।१०।

शान्तरस और भक्तिरस में अभेद स्थापित करने की चेष्टा करते हैं तथा कुछ उसे अन्य रसों में भिन्न सर्वथा अलौकिक एक ऐसा रस मानते हैं, जिसके अन्तर्गत शेष सभी प्रधान रसों का समावेश हो जाता है। उनकी दृष्टि में भक्ति ही वास्तविक रस है शेष उसके अंग या रसाभास मात्र हैं।" भरत से लेकर मम्मट तक प्रमुख काव्यशास्त्री 'भक्ति' को स्वतंत्र रस रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने यद्यपि 'वात्सल्य' नामक नये रस को स्वीकार किया है किन्तु 'भक्ति' को रस स्वीकार नहीं किया है। पंडितराज जगन्नाथ ने एक स्थल पर 'भक्ति' का स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व स्वीकार करने पर भी परम्परानुसार नौ रसों को ही स्वीकार किया है।

'भक्ति' को रस स्वीकार करने का विशेष आग्रह भक्तिशास्त्र में किया गया है। भागवत पुराण, शाण्डिल्यभक्तिसूत्र, नारदभक्ति सूत्र, भक्ति रसायन, हरिभक्ति-रसामृत-सिन्धु आदि ग्रन्थों में इसके लिए विशेष आग्रह परिलक्षित होता है।

नाट्यशास्त्र के व्याख्याता अभिनवगुप्त ने शान्त को नौवाँ रस प्रतिपादित किया है—"एव ते नवैव रसाः पुमर्थोपयोगित्वेन रंजनाधिक्येन वा इयतामेवोपदेश्यत्वात्।" इन नौ रसों के अतिरिक्त अन्य रस उन्हें स्वीकार्य नहीं हैं। उनके विचार से यदि कोई अन्य रस है तो वे उसका समाहार इन्हीं रसों में हो जाता है और भक्ति का भी समाहार इसी रूप में कर लेते हैं—"एवं भक्तावपि वाच्यमिति" इसके साथ ही वे भक्ति को रस मानने का विरोध करते हैं—उनका कहना है कि "अतएव ईश्वरोपासना-विषयक भक्ति और श्रद्धा, स्मृति, मति, धृति, उत्साह आदि में ही समाविष्ट होने के कारण अंगरूप ही हैं, अतः उनका पृथक् रसरूप से परिगणन नहीं होता है।" इस विषय में आचार्य मम्मट मध्यममार्गी हैं, वे न तो अभिनवगुप्त का समर्थन करते हैं और न विरोध ही, अपितु व्यभिचारी भावों से पुष्ट देवादिविषयक रति को 'भाव' के रूप में स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि "रविर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः।" भावः प्रोक्तः। (का० प्र० ४/३५) पण्डितराज जगन्नाथ ने भी इस विषय पर विचार किया है, उनके मत का सार इस प्रकार है—"भगवान् जिसके आलम्बन हैं, रोमांच, अश्रुपातादि जिसके अनुभाव हैं, भागवतादि पुराण श्रवण के समय भगवद् भक्त जिसका प्रकट अनुभव करते हैं और भगवान् के प्रति अनुरागस्वरूपा भक्ति ही जिसका स्थायीभाव है, उस भक्तिरस का शान्त रस में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता, क्योंकि अनुराग और विराग परस्पर विरोधी हैं किन्तु भक्ति देवादि रति-विषय से सम्बन्ध रखती है, अतएव वह भाव के अन्तर्गत है और उसमें रसत्व नहीं माना जा सकता।" इस प्रकार पंडितराज के इस वक्तव्य से स्पष्ट है कि वे भक्ति को शान्तरस के अन्तर्गत मानने को तैयार न होते हुए भी वे उसे 'भाव' ही मानते हैं, रस नहीं।

भामह के 'प्रेयस' रस के विवेचन के आधार पर 'भक्ति रस' के विकास को स्वीकार किया गया है क्योंकि "प्रेयस अलंकार में जिन भावों का समावेश होता था, उनमें पुत्र-विषयक रति की तरह देवादिविषयक रति की भी गणना की जा सकती है।"

किन्तु सर्वाधिक स्पष्ट रूप से भक्ति रस का व्याख्यान श्रीमद्भागवत पुराण में

मिलता है। 'श्रीमद्भागवत' के प्रारम्भ में ही भगवद् विषयक अलौकिक रस तथा उसके रसिकों का वर्णन है।[1] 'शाण्डिल्यभक्ति सूत्र' में '**परानुरक्तिरीश्वरे भक्तिः**' के रूप में भक्ति की परिभाषा की गई है तथा उसे रागस्वरूप होने के कारण रस का प्रतिपादक माना गया है—**द्वेषप्रतिपक्ष भावाद्रसशब्दाच्चरागः**। नारद भक्तिसूत्र में भक्ति को 'परम प्रेम रूपा', कहा गया है। इस भक्ति का राग-विराग से अविरोध है। इसकी "उपलब्धि अमृतत्व, तृप्ति और सिद्धि कारक होती है तथा उससे शोक, द्वेष, रति और उत्साह आदि का शमन होता है।"[2]

मधुसूदन सरस्वती ने 'भक्ति रसायन' में भक्ति के रसत्व का प्रतिपादन कर उसे '**दसवाँ**' रस मानकर उसकी सर्वश्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है।[3] मधुसूदन सरस्वती के अनुसार भक्ति रस सुखमय है, अन्य रसों में पूर्ण सुख का स्पर्श नहीं होता है। अतः अन्य रस भक्ति रस के समक्ष हीन प्रतीत होते हैं, वैसे ही जैसे सूर्य के समक्ष जुगनू का प्रकाश मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति एवं शान्त रस में अनुराग एवं वैराग्य का भेद माना है। "शान्त रस मूलतः ज्ञान प्रधान होता है। इसका लक्ष्य है मोक्ष की कामना या अपुनर्भव। किन्तु भक्ति में भाव की प्रधानता है। शान्त रस में आत्म ज्ञान का होना अनिवार्य है जबकि भक्ति के लिए वह आवश्यक नहीं। भक्ति में श्रद्धा एवं विश्वास की प्रमुखता होती है। भक्ति का मार्ग सर्वजन सुलभ एवं सहजाराध्य है जबकि शान्त की भाव-प्रतीति-संयमित एवं नियंत्रित होती है। शान्त रस निर्गुणोपासना पर आधारित है किन्तु भक्ति रस का आधार है सगुणोपासना। भक्ति रस पुरुषार्थोपयोगी एवं अधिक मनोरंजक है। 'व्यापकता और उत्कटता की दृष्टि से भिन्न होने के कारण स्वतंत्र रूप से व्यक्त होता है। भक्ति और शान्त रस दोनों भिन्न रस हैं और अपने आप में पूर्ण हैं।" तथ्य यह है कि भक्ति रस को शान्त रस में अन्तर्भाव करना कदापि उचित नहीं है। आचार्य मम्मट ने जो देवादि विषयक रति को भाव बतला कर भक्ति के रसत्व का खंडन किया है, उसके विषय में मधुसूदन सरस्वती ने लिखा है कि "वहाँ देव शब्द से इन्द्र आदि देव लेना चाहिए। उनमें जीवत्व होने के कारण परमानन्द प्रकाशित नहीं होता है। अतः वहाँ रसाभिव्यक्ति न होकर भावाभिव्यक्ति ही होती है। यह विषय परमानन्द रूप परमात्मा में लागू नहीं होता है।"[4]

१. श्रीमद् भागवतम् "निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः।

२. नारद भक्ति सूत्र ४-५।

३. भक्तिरसायन २।७५-७६।
समाधिसुखस्येव भक्तिसुखस्यापि स्वतन्त्र पुरुपार्थत्वात्.....।
भक्तियोगः पुरुषार्थः परमानन्दरूपत्वादिति निर्विवादम्॥

४. भक्ति रसायन २।७३-७४।
रति र्देवादिविषया व्यभिचारी तथांजितः।
भावः प्रोक्तो रसो नेति यदुक्तं रसकोविदैः।
देवान्तरेषु जीवत्वात् परानन्दाप्रकाशनात्।
तद्योज्यम्, परमानन्दरूपे न परमात्मनि।

इसी प्रकार 'भगवद्भक्ति चन्द्रिका' में पराभक्ति को रस कहा गया है—"**पराभक्तिः प्रोक्ता रस इति।**" आचार्य रूपगोस्वामी ने 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' में भक्ति का शास्त्रीय विवेचन किया है, उन्होंने भक्ति के पाँच रूप—शान्ति, प्रीति, प्रेय, वत्सल और मधुर माने हैं तथा शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य नामक पाँच भाव भक्ति के मूल हैं। श्रेष्ठता के कारण भक्ति रस को परा और अपरा कोटि में भी विभक्त किया जाता है। रूपगोस्वामी भक्ति रस को उज्ज्वल रस कहते हैं—

"शान्तप्रतीतिप्रेयोवत्सलोज्ज्वलनामसु।"

'उज्ज्वलनीलमणि' नामक कृति में रूपगोस्वामी ने भक्ति का स्वरूप इस प्रकार निरूपित किया है।—

वक्ष्यमाणावभावाद्यः स्वाद्यतां मधुरा रतिः।
नीता भक्तिरसः प्रोक्तो मधुराख्यो मनीषिभिः॥

वैष्णवाचार्य भक्ति को केवल-रस ही नहीं मानते हैं अपितु इसे वे सर्वश्रेष्ठ तथा प्रधान रस कहते हैं। अन्य रसों का समाहार भी इसी रस में करते हैं। रूपगोस्वामी भक्ति रस को रसराज शृङ्गार से श्रेष्ठ सिद्ध करते हुए लिखते हैं कि—**अत्रैव परमोत्कर्षः शृङ्गारस्य प्रतिष्ठितः। तथा च मुनिः। बहुवार्यते यतः खलु यत्र प्रच्छन्ना कामुकत्वं च। या च मिथो दुर्लभता सा परमा मन्मथस्य कृतिः। लघुत्वमत्र प्रत्प्रोक्तं तत्तु प्राकृतनायके। न कृष्ण रस निर्यास्विदार्थमवतारिणी।**" इस प्रकार शृङ्गार के आलम्बन लौकिक हैं जबकि भक्ति के आलम्बन अलौकिक राम-कृष्ण आदि हैं, अतः भक्ति रस सर्वश्रेष्ठ है। श्री पी० वी० काणे ने रूपगोस्वामी के मत के विषय में लिखा है कि—"रूपगोस्वामी Says that what is called illicit and secret love and is ordinarily condemned is the highest pinnacle of sringara and that the condemnation applies only to ordinary mortals and not to a completely perfect Avatara (Krisna) who took to an incarnation to give a taste of mystic love to his devotees."

हिन्दी साहित्य में महाकवि देव ने भक्ति रस पर विचार किया है, किन्तु आधुनिक युग के कवि हरिऔध उसके प्रबल संस्थापक हैं। उन्होंने लिखा है कि "परमात्मा का नाम रस है।" श्रुति कहती है—"रसो वै सः" रस शब्द का अर्थ है—'यः रसयति आनन्दयति स रसः'। वैष्णवों को माधुर्य उपासना परमप्रिय है अतएव भगवदनुरागरूपा भक्ति को रस मानते हैं। ····मेरा विचार है कि वत्सल में उतना चमत्कार नहीं जितना भक्ति में····।" हरिश्चन्द्र शृंगार से भी भक्ति को अधिक चमत्कारपूर्ण मानते हैं। आधुनिक आलोचकों में कन्हैयालाल पोद्दार ने भक्ति रस का प्रबल प्रतिपादन किया है—"दुःख और आश्चर्य है कि जिन साक्ष्याभास शृंगारादि रसों में चिदानन्द के अंशांश के स्फुरण मात्र से रसानुभूति होती है, उनको 'रस' संज्ञा दी जाती है और जो साक्षात् चिदानन्दात्मक भक्ति रस है उसे रस न मानकर भाव माना

गया है। यही क्यों; क्रोध, भय, जुगुप्सा आदि स्थायीभावों को (जो प्रत्यक्षतः सुख विरोधी हैं), रौद्र, करुण, भयानक और वीभत्स रस की संज्ञा दी गयी है।" निस्संदेह भारतीय साहित्य और उसके जीवनदर्शन की पृष्ठभूमि में भक्ति को रस स्वीकार न करना सर्वथा अनुचित है, अवतारवादी सगुण साहित्य में इसका पूर्ण प्रतिपादन है। भारत की प्रत्येक प्रान्तीय भाषा में भक्ति का साहित्य मिलता है। हिन्दी में सूर, तुलसी और मीरा आदि की रचनाएँ भक्ति रस का श्रेष्ठतम स्वरूप प्रस्तुत करती हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भक्ति रस के विषय में दो स्पष्ट मान्यतायें हैं एक यह कि भक्ति रस है और दूसरी यह है कि भक्ति रस नहीं है। भक्ति को रस के रूप में मान्यता भक्त कवियों द्वारा मिली है। साहित्यशास्त्री इसे प्रश्नांकित रूप में ही मान्यता देते हैं। भक्ति को रस स्वीकार करने के विषय में अनेक प्रश्न और आक्षेप भी हैं।

कुछ आक्षेप निम्न हैं—

१. भक्ति रस को स्वीकार करने पर परम्परा का विरोध होगा, क्योंकि भरतादि ने इसे स्वीकार नहीं किया है। रस-भाव आदि के विषय में व्यवस्था भरतमुनि के अनुसार की जाती है, अतः एक नया प्रश्न उत्पन्न होगा।

२. भक्ति का अन्तर्भाव; अन्य रसों में हो सकता है, फिर नवीन रस रूप में कल्पना निरर्थक है, अतः उसे भाव मात्र स्वीकार करना चाहिए।

३. निर्जीव मूर्ति के प्रति इसमें आग्रह होता है, अतः इसमें तीव्रता या वेग नहीं होता है।

४. भक्ति एक मूल भाव नहीं है और न ही उसकी भावना ही अधिक व्यापक है।

इन आक्षेपों के सहज उत्तर दिये जा सकते हैं, और आचार्यों ने इनका समाधान भी किया है। क्रमशः जैसे—

(१) परम्परा के विरोध के भय से भक्ति को रस स्वीकार न करना बुद्धिमानी नहीं है, क्योंकि 'न पुराणमित्येवसाधुसर्वं' के अनुसार भक्ति को रस स्वीकार किया जा सकता है। संसार परिवर्तनशील है, अतः परिवर्तन के साथ अन्य रसों को स्वीकार किया जा सकता है।

(२) भक्ति का खींचतान कर ही अन्य रसों में समाहार किया जा सकता है, अन्यथा रसत्व के समस्त गुण इसमें विद्यमान हैं।

(३) निर्जीव मूर्ति के प्रति जो आग्रह की बात है, वह भी असंगत है क्योंकि भक्ति भावना हृदय की वस्तु है, न कि केवल मूर्ति की। अन्य रसों की तरह भक्ति भी हृदय की वस्तु है।

(४) भावना की व्यापकता का कोई पुष्ट आधार नहीं है, क्योंकि यह तो 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' वाली बात है, जो जिसको अच्छा लगता है, वही उसको प्रिय है। अन्य रस भी सभी को प्रिय नहीं होते हैं।

इन आक्षेपों का सर्वाधिक संगत उत्तर भूदेव शुक्ल ने 'रसविलास' में दिया है, वह इस प्रकार है—"भक्ति रस के समान आस्वाद्य, मोक्षोपकारक, बहुजनसुलभ, वाङ्मय परिपुष्ट व संस्कृत साहित्यशास्त्र तथा मानसशास्त्र की कसौटी पर पूर्णतया खरा उतरने वाला रस न मानने का कोई कारण नहीं है। विपुल धार्मिक तथा साहित्यिक सामग्री भक्ति के सम्बन्ध में होते हुए भी जो इसको अस्वीकार किया जा रहा है, उसका एकमात्र कारण परम्पराभिमान ही हो सकता है, अन्य नहीं। निश्चय ही परम्पराभिमान साहित्य के नवीन पंथों को अवरुद्ध करके उसकी गति को रोक सकता है, अतएव उपेक्षणीय है।"

निष्कर्ष—हमारे विचार से भी भक्ति एक रस माना जा सकता है, उसके अन्य अङ्ग इस प्रकार हैं—

रस—भक्ति।

स्थायीभाव—इष्टदेव के प्रति अनुराग अथवा प्रेम।

आलम्बन—भगवान के अवतार, राम-कृष्ण आदि।

उद्दीपन—अवतार के कार्य और उसके गुण, भक्तों की संगति।

संचारीभाव—हर्ष, निर्वेद, मति, उत्सुकता।

अनुभाव—नेत्रविकास, रोमांच, गद्गद् वचन।

उदाहरण के लिए—सूर, तुलसी, मीरा के विनयविषयक पद अथवा राम-कृष्ण के लीलाविषयक पद। जैसे—

तू दयालु दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुँजहारी।
नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसो ?
मो समान आरत नहिं, आरतिहर तोसो॥
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू ठाकुर, हौं चेरो।
तात, मात, गुरु, सखा तू सब विधि हितु मेरो।
तोहि मोहि नाते अनेक मानिये जो भावै।
ज्यों ज्यों तुलसी कृपालु ! चरन सरन पावै॥

तुलसी : विनयपत्रिका

इस पद में ईश्वर के प्रति 'अनुराग' स्थायी भाव व्यक्त है। राम या ईश्वर आलम्बन, उनकी दया, करुणा आदि उद्दीपन विभाव हैं। कवि के विनय भरे कथन अनुभाव, दीनता, गर्व और हर्ष संचारी भाव हैं। अपने सम्पूर्ण अंगों सहित इस पद में भक्ति रस की व्यंजना हो रही है। अतः भक्ति की रस रूप में प्रतिष्ठा सर्वथा उचित है।

प्रश्न ५७—रस-दोषों का विस्तार से विवेचन कीजिए।

रस काव्य की आत्मा है। उस आत्मतत्व की निष्पत्ति, सर्वथा निर्दोष होनी चाहिए। रस-दोषों को समझने से पहले रस के स्वरूप को समझना परम आवश्यक

है। "रस का आस्वाद वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य होता है, अर्थात् यह किसी अन्य वस्तु के सम्बन्ध से रहित होता है। रस का प्राण एकमात्र आस्वाद ही है और उसकी अवधि विभावादिकों पर निर्भर है। रस वाच्य नहीं है वरन् विभावादि द्वारा प्रतीत होने वाला व्यंग्यार्थ है व्यंग्यार्थ वाच्य नहीं होता, किन्तु ध्वनि द्वारा ध्वनित होता है। साहित्य में ध्वनि की प्रधानता स्थापित हो जाने पर रस (ध्वनि) भी काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। फलस्वरूप रसौचित्य को काव्य की मुख्य कसौटी माना गया और उसके गुण-दोष का विवेचन तदनुसार किया जाने लगा। इस प्रकार रस-दोषों का आविर्भाव हुआ। रसौचित्य के आधार पर रस-दोष दो प्रकार के माने गये हैं—१. नित्य और २. अनित्य। वे दोष; जो सभी अवस्थाओं में काव्य की आत्मा का अपकार करते हैं नित्य दोष हैं। अनित्य दोष का सम्बन्ध रूप और आकार से है। इस प्रकार रस-दोष तथा शब्द-दोष और अर्थ-दोष अनित्य हैं।"[1]

ध्वन्यालोककार ने रस-दोषों का विवेचन करते समय 'दोष' के स्थान पर 'औचित्य' शब्द का प्रयोग किया है। तदुपरान्त क्षेमेन्द्र ने उनके मार्ग का अनुसरण करते हुए "औचित्यविचारचर्चा" नामक ग्रन्थ का सृजन किया। ये दोनों विद्वान् 'दोष' के स्थान पर 'औचित्य' शब्द के प्रयोग के पक्षपाती हैं।

ध्वन्यालोककार ने कवि की दृष्टि से रस-भंग के पाँच कारण बताए हैं—

१. विरोधी रस के सम्बन्धी विभावादि का ग्रहण कर लेना।

२. (रस से) सम्बद्ध होने पर भी अन्य वस्तु का अधिक विस्तार से वर्णन करना

३. असमय में रस को समाप्त कर देना अथवा अनवसर में उसका प्रकाशन करना

४. रस का पूर्ण परिपोष हो जाने पर भी बार-बार उसका उद्दीपन करना।

५. व्यवहार का अनौचित्य।[2]

आचार्य मम्मट ने काव्य-प्रकाश में ध्वनिवादियों की मान्यताओं से थोड़ा भिन्न होकर रस-दोषों की विस्तार से चर्चा की है। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में मम्मट का अनुकरण किया है। तोषनिधि का रस-दोष सम्बन्धी विवेचन 'सुधानिधि' में देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक ग्रन्थों में इस विषय पर यथेष्ठ मात्रा में प्रकाश डाला गया है। कुलपति मिश्र रचित 'रसरहस्य', देव की 'काव्य-रसायन', भिखारी दास कृत 'काव्य-निर्णय', जनराज की 'कविता-रस-विनोद' उजियारे कवि द्वारा सृजित 'रस चन्द्रिका' एवं 'हरिऔध' कृत 'रस कलश' रस-दोषों का विवेचन करने वाले ग्रन्थों में उल्लेखनीय हैं।

रस के आस्वाद की प्रक्रिया में विघ्न डालने वाले तत्व ही 'रस-दोष' के नाम

१. हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, पृ० ६७१।
२. ध्वन्यालोक, हिन्दी टीका (ज्ञानमण्डल १९६२), पृ० २१२-२१३

से अभिहित किए गए हैं। रस संबंधी दोषों में कुछ दोष ऐसे भी हैं जो किसी पद्य-विशेष में न होकर काव्य अथवा नाटक की प्रबन्ध रचना में दृष्टिगत होते हैं। इस विषय का मम्मट ने विस्तार से विवेचन किया है और अनेक ऐसे महाकाव्यों और नाटकों के नाम बताये हैं जिनमें ये दोष विद्यमान हैं। मम्मट के परवर्त्ती प्रायः सभी आचार्य उनकी इस विचारधारा से सहमत हैं और सभी को उनकी मान्यता स्वीकार है। आचार्य मम्मट ने रस दोषों की संख्या दस बताई है[1] जो कि इस प्रकार हैं—१. स्वशब्दवाच्यता, २. विभावों और अनुभावों की कष्ट कल्पना, ३. परिपंथि साङ्ग-परिग्रह, ४. रस की पुनः पुनः दीप्ति, ५. अकाण्ड प्रथन, ६. अकाण्डछेदन, ७. अंगभूत रस की अतिवृद्धि, ८. अनुसन्धान (अंगी की विस्मृति), ९. प्रकृति विपर्यय एवं १०. अनंग वर्णन।

१. **स्वशब्दवाच्यता**—मम्मट, विश्वनाथ और भिखारी दास प्रभृति आचार्यों के मतानुसार 'रस' का वाचक शब्द के द्वारा कथन नहीं होना चाहिए अपितु उसकी व्यंजना द्वारा प्रतीति होनी चाहिए। किन्तु जब किसी रस-विशेष के विभावादि की उपयुक्त योजना के स्थान पर कवि स्वयं उस रस का अथवा उसके अंगों का कथन कर देता है तब 'स्वशब्दवाच्य' दोष होता है। इसमें रस की अभिव्यंजना अनुभावों द्वारा न करके वाचक शब्द द्वारा उसका कथन कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए निम्न पंक्तियाँ देखिए—

अंचल ऐंचि जु सिर धरत, चंचलनैनी चारु।
कुच कोरनि हियकोरि कै, भर्यौ सुरस शृंगार।। (का० नि० २५)

यहाँ पर शृंगार-रस के प्रसंग में 'शृंगार' का नामोल्लेख कर दिया गया है, अतएव 'शब्दवाच्यता' दोष है।

२. **विभावों और अनुभावों की कष्ट-कल्पना**—जहाँ विभाव और अनुभाव का निश्चय करने में कठिनाई का अनुभव हो, वहाँ यह दोष होता है। विभावों और अनुभावों की स्पष्ट योजना पर ही रस-परिपाक निर्भर है, अतएव इनकी प्रतीति में बाधा पड़ने से रस में बाधा पड़ती है और रस-दोष हो जाता है। जैसे—

उठति गिरति फिरि फिरि उठति, उठि-उठि गिरि-गिरि जाति।
कहा करौं कासे कहौं, क्यों जीवै यह राति।।

यहाँ पर स्पष्ट नहीं है कि किस कारण से स्त्री की यह अवस्था हुई है, साधारण व्याधि और विरह की व्याधि का अन्तर स्पष्ट नहीं। विभाव की कष्ट-कल्पना द्रष्टव्य है।

३. **परिपन्थि सांगपरिग्रह**—मम्मट के 'प्रतिकूल विभावादिग्रह' को विश्वनाथ ने 'परिपन्थिसांगपरिग्रह' नाम प्रदान किया है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस रस का विवेचन हो रहा हो, उसके विरोधी रस की सामग्री प्रस्तुत की जाये।

१. काव्यप्रकाश ७।६०-६२।

भिखारीदास ने इसे 'अन्य-रस-दोष' नाम से अभिहित किया है। इसका उदाहरण निम्न है—

इस पार प्रिये मधु है तुम हो।
उस पार न जाने क्या होगा!

यहाँ पर पहली पंक्ति में 'प्रिये' और 'मधु' का उल्लेख शृंगार रस को व्यंजित कर रहा है, पर दूसरी पंक्ति में 'उस पार' का चिन्तन निर्वेद का सूचक है। इस प्रकार शृंगार के प्रसंग में 'उस पार' का वर्णन प्रस्तुत रस के परिपाक में बाधक सिद्ध हो रहा है।

४. **रस की पुनः पुनः दीप्ति**—यह दोष प्रबन्ध-काव्यों में ही दृष्टिगत होता है। प्रबन्ध-काव्यों में किसी भी रस का परिपाक उसी सीमा तक होना चाहिए जहाँ तक उसकी आवश्यकता हो। रस की पुनः पुनः आवश्यक उद्दीप्ति गुण न रहकर दोष बन जाती है। रस के पूर्ण परिपाक के उपरान्त भी उसका वर्णन पाठक अथवा श्रोता के हृदय में अरुचि उत्पन्न करता है। ध्वनिकार ने इस दोष का दृष्टान्त 'परिम्लान-कुसुम' से दिया है, जिससे इसके स्वरूप पर अत्यन्त सुन्दर ढंग से प्रकाश पड़ता है। संस्कृत में 'कुमारसंभव' के चतुर्थ सर्ग में वर्णित रति-विलाप इसका उदाहरण है। हिन्दी में गुप्त जी के 'साकेत' का नवम सर्ग और हरिऔध के 'प्रियप्रवास' के कतिपय स्थल इसके उदाहरण हैं, जिनमें बार-बार विप्रलंभ की दीप्ति द्वारा वैचित्र्य और चमत्कार का हनन होता है।

५. **अकाण्ड-प्रथन**—'अकाण्ड-प्रथन' दोष वहाँ होता है जहाँ प्रस्तुत रस की अवहेलना करके अप्रस्तुत रस का विस्तार होता है। प्रसंग से असंबद्ध रस का विस्तार दोषों में परिगणित किया गया है। उदाहरण स्वरूप 'वेणीसंहार' नाटक के द्वितीय अङ्क को देखा जा सकता है। अनेक वीरों के विनाश का प्रसङ्ग प्रारम्भ होने पर बीच में ही रानी भानुमती और दुर्योधन का प्रेम-प्रलाप होने लगता है। यहाँ पर शृंगार रस का वर्णन असामयिक है।

६. **अकाण्डच्छेदन**—ध्वन्यालोककार ने इस रस-दोष को 'अनवसर में रस-विच्छित्ति' नाम से सम्बोधित किया है। किसी रस के विवेचन में अचानक ही रस-भंग कर देने से यह दोष होता है; जैसे—संस्कृत में 'महावीरचरित' के द्वितीय अङ्क में, राम तथा परशुराम के संवाद में जिस समय वीर रस के चरमोत्कर्ष की स्थिति है, राम निम्न कथन कहते हैं—

राम आगमन सुनि कह्यो, राम बन्धु सों बात।
कंकन मोहि छोराइबे, उतै जाहु तुम तात॥

यहाँ पर राम का "मैं कंकण खोलने जा रहा हूँ" कथन अचानक ही प्रसंग बदल देता है और रस-परिपाक छिन्न-भिन्न हो जाता है।

७. **अंगभूत रस की अतिवृद्धि**—प्रत्येक काव्य अथवा नाटक में किसी एक रस की प्रधानता रहती है और शेष रस गौण रहते हैं। प्रधान रस अंगी कहलाता है और

शेष रस अंग कहे जाते हैं। जब कवि प्रधान अथवा अंगी रस की उपेक्षा कर अंग (सहायक या गौण) रसों के परिपाक में तन्मय हो जाता है और उनका अनावश्यक विस्तार करने लगता है तब अंगभूत रस की 'अतिवृद्धि' नामक रस-दोष होता है। वस्तुतः अंग को अंगी के अधीन ही रहना चाहिए और उसका महत्व इतना न बढ़ना चाहिए कि वह निरंकुश हो जावे और दोषों के मध्य परिगणित कर दिया जाये। इसका उदाहरण देखिये—

दासी सों मण्डन समै; दर्पन मांग्यो बाम।
बैठि गई सो सामुहे, करि आनन अभिराम।।

यहाँ पर नायिका अंगी है और दासी अंग। अस्तु, दासी का अति शोभा वर्णन दोष कहा जायेगा। इसी प्रकार भर्तृमेण्ठ के 'हयग्रीव-वध' में हयग्रीव की क्रीड़ाओं और विहारों का इतने विस्तार से वर्णन हुआ है कि नायक विष्णु के क्रियाकलाप उसके समक्ष-निष्प्रभ पड़ जाते हैं।

८. **अनुसन्धान (अंगी की विस्मृति)**—अवान्तर विषयों के फेर में पड़कर मुख्य रस, पात्र अथवा कथा प्रसंग को भूल जाना **'रस-दोष'** कहलाता है। वस्तुतः यह दोष इससे पूर्ववर्ती दोष का ही परिणाम है। जब अंग की अतिवृद्धि होगी तो स्वाभाविक रूप से अंगी की विस्मृति होगी। उदाहरण के लिए श्री-हर्ष की 'रत्नावली' नाटिका के चतुर्थ अंक को देखा जा सकता है। इसमें नायक वत्सराज विषयवर्मा का वृत्तान्त सुनने में इतना तल्लीन हो जाता है कि नायिका सागरिका को एकदम भूल जाता है जिससे नाटिका का प्रतिपाद्य शृंगार रस विच्छिन्न हो जाता है। 'साकेत' के उत्तरार्द्ध में राम की महिमा का पाठक पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वह नायिका उर्मिला को भूल ही जाता है।

९. **प्रकृति-विपर्यय**—नाटक अथवा काव्य आदि में वर्णित नायक का अपना पृथक्-पृथक् स्वभाव एवं चरित्र होता है जिसका निर्वाह आदि से अन्त तक करना कवि के लिए वांछनीय होता है। ये नायक प्रकृति भेद की दृष्टि से दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य नामक तीन श्रेणियों में विभक्त किये गए हैं और चरित्र भेद की दृष्टि से धीरोदात्त, धीरललित, धीरोद्धत और धीरप्रशान्त नामक चार भागों में बाँटे गए हैं। दिव्य का अभिप्राय देवता, अदिव्य का मनुष्य और दिव्यादिव्य का मानव रूप में अवतीर्ण देवरूपों से है। इस प्रकृतिगत औचित्य का निर्वाह कवि के लिए वांछनीय है, अन्यथा रस-विघ्न उपस्थित हो जाता है। 'कुमारसम्भव' में शिव पार्वती का संभोग वर्णन इस दोष का उदाहरण है। क्योंकि शिव-पार्वती दिव्य प्रकृति के हैं और उनका संभोग-वर्णन माता-पिता के संभोग-वर्णन के सदृश ही अनुचित है। 'मेघनादवध' में राम-लक्ष्मण की भीरुता तथा 'पद्मावत' में नागमती और पद्मावती की सपत्नीकलह आदि भी प्रकृति-विपर्यय दोष के उदाहरण हैं।

१०. **अनंग वर्णन**—ऐसे प्रसंगों का वर्णन, जिनका मुख्य रस के साथ कोई सम्बन्ध न हो, **'अनंग-वर्णन'** दोष कहलाता है। इसका उदाहरण 'कर्पूर-मंजरी'

में मिलता है जहाँ राजा चण्डपाल स्वयं अपने द्वारा तथा नायिका विभ्रमलेखा द्वारा प्रस्तुत किए गए वसन्त-वर्णन की उपेक्षा कर चारण-वर्णित वसन्त-वैभव की सराहना करता है।

भारतीय काव्य-शास्त्र में रस-दोषों का विवेचन कवि की दृष्टि से तो किया ही गया है, सहृदय की दृष्टि से भी किया गया है। सहृदय की दृष्टि से अर्थात् रस के भोक्ता की दृष्टि से रस-विघ्न का विवेचन 'अभिनव-भारती' में दृष्टिगत होता है।

'रस' काव्य का मूलतत्व होता है, उसकी निष्पत्ति पूर्ण और निर्विघ्न होनी चाहिए, ऐसा होने पर ही काव्य का निर्विघ्न आस्वाद प्राप्त हो सकता है, और तभी सफल कहा जा सकता है।

अध्याय ७

ध्वनि

प्रश्न ५८—ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ को स्पष्ट करते हुए उसकी परिभाषा दीजिये तथा यह भी बतलाइये कि ध्वनि-सिद्धान्त को प्रेरणा कहाँ से मिली ?

व्युत्पत्ति, अर्थ और परिभाषा—संस्कृत काव्यशास्त्र में ध्वनि-सिद्धान्त एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित है। ध्वनि शब्द की निष्पत्ति—'ध्वन्' धातु 'इ' प्रत्यय के संयोग से हुई है। इस ध्वनि शब्द का सामान्य अर्थ—कानों को सुनाई पड़ने वाला नाद है। किन्तु पारिभाषिक रूप में अभिनवगुप्त ने इस शब्द के कई अर्थ माने हैं। तदनुसार ध्वनि के निम्न व्युत्पत्ति-जन्य अर्थ हैं—

(१) ध्वनति यः सः व्यंजकः शब्दः ध्वनिः—जो ध्वनित करे या कराये वह व्यंजक शब्द ध्वनि है।

(२) ध्वनति ध्वनयति वा यः सः व्यंजकोऽर्थः ध्वनिः—जो ध्वनित करे या कराये वह व्यंजक अर्थ ध्वनि है।

(२) ध्वन्यते इति ध्वनिः—जो ध्वनित किया जाये वह ध्वनि है। इसमें रस, अलङ्कार और वस्तु-व्यङ्ग्य अर्थ के ये तीनों रूप आ जाते हैं।

(४) ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः—जिसके द्वारा ध्वनित किया जाये वह ध्वनि है। इससे शब्द अर्थ के व्यापार-व्यंजना आदि शक्तियों का बोध होता है।

(५) ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः—जिसमें वस्तु, अलंकार, रसादि ध्वनित हों उस काव्य को ध्वनि कहते हैं।

इस प्रकार ध्वनि का प्रयोग भिन्न-भिन्न किन्तु परस्पर सम्बद्ध पाँच अर्थों में

होता है—१. व्यंजक शब्द, २. व्यंजक अर्थ, ३. व्यंग्य अर्थ, ४. व्यंजना (व्यंजना व्यापार) और ५. व्यंग्य प्रधान काव्य। अभिनवगुप्त ने ध्वनि के इन अर्थों की ओर अपनी टिप्पणी में इस प्रकार संकेत किया है—"सर्वत्र शब्द और अर्थ दोनों का ही ध्वनन व्यापार होता है।""यह 'काव्य विशेष' का अर्थ है; अर्थ या शब्द या व्यापार। वाच्य अर्थ भी ध्वनन करता है और शब्द भी, इसी प्रकार व्यंग्य (अर्थ) भी ध्वनित होता है अथवा शब्द अर्थ का व्यापार भी ध्वनन है। इस प्रकार कारिका के द्वारा प्रधानतया समुदाय शब्द, अर्थ-वाच्य [व्यंजक] अर्थ और व्यंग्य अर्थ तथा शब्द और अर्थ का व्यापार ही ध्वनि है।"[१]

ध्वनि का लक्षण एवं उनकी व्याख्या आनन्दवर्धन ने विशेष रूप से की है। उनके अनुसार जहाँ अर्थ स्वयं को तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके उस अर्थ को प्रकाशित करते हैं उस काव्य-विशेष को विद्वान ध्वनि कहते हैं—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥

इसकी व्याख्या करते हुए ध्वनिकार ने आगे भी लिखा है कि—"यत्रार्थौ वाच्यविशेषः शब्दो वा तमर्थव्यङ्क्तः स काव्यविशेषो ध्वनिरिति।" अर्थात् जहाँ विशिष्ट वाच्यरूप अर्थ तथा विशिष्ट वाचक रूप शब्द 'उस अर्थ को' प्रकाशित करते हैं वह काव्यविशेष ध्वनि है।

संक्षेप में ध्वनि का अर्थ है व्यंग्य, परन्तु पारिभाषिक रूप में यह व्यंग्य वाच्य-विशेषो वाच्यातिशायी होना चाहिए—वाच्यातिशायिनि व्यंग्ये ध्वनिः (साहित्यदर्पण)। इस प्राधान्य का एकमात्र आधार है चारुत्व अर्थात् रमणीयता का उत्कर्ष—'चारुत्वोत्कर्ष-निबन्धना हि वाच्यव्यंग्योः प्राधान्यविवक्षा।' (ध्वन्यालोक) इस प्रकार ध्वनि का स्पष्ट और संक्षिप्त अर्थ है—"वाच्य से अधिक रमणीय व्यंग्य" इसी बात को मम्मट ने इन शब्दों में कहा है—"इदमुत्तममतिशायिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।"

लेकिन एक बात है कि **प्रत्येक शब्द का कोई व्यंग्य अर्थ निकाला जा सकता है तो क्या प्रत्येक व्यंग्यार्थ माना जा सकता है ?** इसका उत्तर ध्वनिकार ने दिया है कि प्रत्येक व्यंग्य अर्थ ध्वन्यार्थ नहीं है अपितु चमत्कारी व्यंग्य ही काव्य के रूप में प्रशंसा प्राप्त कर सकता है। महाकवियों की वाणी में यह चमत्कारी व्यंग्य अर्थ एक विलक्षण अर्थ ही हुआ करता है—रमणी के लावण्य के समान यह केवल सहृदयों द्वारा अनुभूत होता है—

१. सर्वत्र शब्दार्थयोरुभयोरपि ध्वनन व्यापारः।""स (काव्य-विशेषः) इति। अर्थो वा शब्दो वा, व्यापारो वा। अर्थोऽपिवाच्यो वा ध्वनतीति शब्दोऽप्येवं व्यंग्यो वा ध्वन्यत इति। व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति। कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एव वाच्यरूपमुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम्।
हिन्दी ध्वन्यालोक भूमिका: आचार्य विश्वेश्वर, पृ० २ तथा ३।

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभातिलावण्यमिवाङ्गनासु ॥

ध्वनि सिद्धान्त की प्रेरणा ध्वनिकार को वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त से मिली है। इसके लिए वे वैयाकरणों के ऋण को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि—प्रथम विद्वान वैयाकरण ही हैं क्योंकि व्याकरण समस्त विद्याओं का मूल है। वे सुनाई देने वाले वर्ण को 'ध्वनि' कहते हैं। उसी प्रकार उनके मतानुयायी अन्य विद्वानों ने भी वाच्य, वाचक, व्यंग्यार्थ, व्यंजना व्यापार और काव्य-पद व्यवहार्य को ध्वनि कहा है—

"प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम् । ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति । तथैवान्यैस् तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थ-दर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यंजकत्वसाम्याद् ध्वनि-रित्युक्तः ।" (ध्वन्यालोक १।१३)

वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त के सादृश्य के आधार पर ध्वनि सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हुई है। उनके अनुसार "जिस प्रकार किसी शब्द की पृथक्-पृथक् ध्वनियाँ (वर्ण) अर्थ का बोध कराने में असमर्थ रहती हैं और उनके स्फोट द्वारा ही अर्थ की अभिव्यक्ति होती है उसी प्रकार काव्य में केवल वाच्यार्थ काव्यगत मूल सौन्दर्य को नहीं जाना जा सकता है। काव्य का वास्तविक अर्थ वस्तुतः व्यंग्यार्थ ही प्रकट कर सकता है। इस अकथित अर्थ का बोध कराना अभिधा और लक्षणा नामक शब्द-शक्तियों के वश के बाहर है। इसका ज्ञान मात्र व्यंजना करा सकती है। यह जिस प्रच्छन्न अर्थ का उद्घाटन करती है, उसी में काव्य का सौन्दर्य निहित रहता है। जिस प्रकार किसी घन्टे के वजाये जाने पर पहले कर्कश ध्वनि सुनाई पड़ती है और पुनः वह उत्तरोत्तर सूक्ष्मतर होती जाती है, उसी प्रकार काव्य में पहले वाच्यार्थ का भान होता है और पुनः सहृदय हृदय को आह्लादकारी गूढ़ व्यंजना का वोध होता है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि यह ध्वनि सिद्धान्त व्याकरण के स्फोट सिद्धान्त तथा शब्द-शक्तियों के भव्यभवन पर खड़ा हुआ है।

प्रश्न ५९—ध्वनि का काव्य के अन्य तत्वों से साम्य तथा वैषम्य स्पष्ट कीजिए।

ध्वनि और रस—आनन्दवर्धन ने असंलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य-ध्वनि के अन्तर्गत रस और भाव आदि पर विचार किया है। आनन्द के मत में काव्य का सर्वाधिक व्यापक तथा महत्वपूर्ण तत्व ध्वनि है। ध्वनि काव्य की आत्मा भी है किन्तु रस काव्य की आत्मा नहीं। भरत के अनुसार विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इससे स्पष्ट है कि काव्य में केवल विभाव, अनुभावादि का कथन होता है, उनके संयोग से परिपक्व रस का नहीं अर्थात् रस वाच्य नहीं होता, क्योंकि इससे रसादि की प्रतीति नहीं होती और वह रस-दोष भी हो जाता है। "वास्तव में रस केवल प्रतीत होता है। रस सहृदय की हृदयस्थित वासना की आनन्दमय परिणति है, जो अर्थबोध से भिन्न है। अतएव उक्ति द्वारा रस का प्रत्यक्ष वाचन नहीं होता,

अप्रत्यक्ष अनुभूति होती है—पारिभाषिक शब्दों में व्यंजन या ध्वनन होता है। इसी को ध्वनिकार रसध्वनि मानते हैं।" यही सर्वोत्तम काव्य है। ध्वनि-सिद्धान्त में काव्य के तीन भेद हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। उत्तम काव्य के तीन भेद—रस|ध्वनि, वस्तु ध्वनि और अलंकारध्वनि हैं। इनमें रसध्वनि सर्वश्रेष्ठ है। रस ध्वनि के अभाव में रह नहीं सकता। इसलिए ध्वनि का महत्त्व रस से अधिक है।

"मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कविता वह साधन है जिसके द्वारा कवि अपनी रागात्मक अनुभूति को सहृदय के प्रति संवेद्य बनाता है। यहाँ मात्र अर्थ का बोध नहीं कराया जाता है। अपितु अनुभूति कराई जाती है। आशय यह है कि रस सहृदय की दृष्टि से संवेद्य है, वाच्य नहीं। संवेदन भाषा-चित्र द्वारा कवि कल्पनाजन्य है। शब्द की इस अतिरिक्त कल्पना जगानेवाली शक्ति को ही ध्वनिकार ने 'व्यंजना' और 'रस' के इस संवेद्य रूप को ही 'रस ध्वनि' कहा है और यही तत्व काव्य की आत्मा है।"

ध्वनि में अन्य काव्य के तत्वों का समाहार—ध्वनिवादियों ने ध्वनि में काव्य के अन्य सभी तत्वों का समाहार कर लिया है। उनके अनुसार रस की भाँति गुण, रीति, अलंकार, वक्रता आदि भी व्यंग्य ही रहते हैं। वाचक शब्द द्वारा न तो माधुर्य आदि गुणों का कथन होता है और न वैदर्भी आदि रीतियों का, न उपमा आदि अलंकारों का और न वक्रता का ही। यह सब ध्वनि-रूप में उपस्थित रहते हैं।

एक अन्य कारण यह भी है कि गुण, रीति, अलंकार आदि तत्व प्रत्यक्षतः वाच्यार्थ द्वारा मन को आनन्दित नहीं करते इनका महत्त्व भी प्रत्यक्ष की अपेक्षा ध्वन्यार्थ के ही कारण है क्योंकि जहाँ ध्वन्यार्थ नहीं होगा, वहाँ ये आत्मविहीन तत्व आभूषण आदि के समान ही निरर्थक होंगे। इसलिए ध्वनिकार ने इन्हें ध्वन्यार्थ रूप अंगी के अंग मात्र हैं ऐसा कहा है। आशय यह है कि ध्वनि सम्प्रदाय रस और ध्वनि को विशेष महत्त्व देता है अन्य काव्यतत्वों को इतना महत्त्व नहीं देता है।

प्रश्न ६०—ध्वनि के भेदों का सोदाहरण विवेचन कीजिए।

संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने ध्वनि सिद्धान्त के अन्तर्गत ध्वनि के भेदों की चर्चा की है।

१. लक्षणामूला ध्वनि (अविवक्षितवाच्यध्वनि)
२. अभिधामूला ध्वनि (विवक्षित वाच्यध्वनि).

लक्षणामूला ध्वनि या अविवक्षित वाच्य ध्वनि—जहाँ व्यंग्यार्थ की प्राप्ति में वाच्यार्थ की विवक्षा या प्रयोजन का अभाव रहता है वहाँ पर अविवक्षित वाच्य ध्वनि होती है। ऐसे स्थलों पर व्यंग्यार्थ लक्ष्यार्थ पर आश्रित रहता है इसलिए इसे लक्षणामूला ध्वनि भी कहते हैं। लक्षणामूला या अविवक्षित वाच्य ध्वनि के दो अन्य भेद भी हैं—१. अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि और २. अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि।

१ अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि—जब वाच्यार्थ अपना पूर्ण तिरोभाव न कर अपना अर्थ रखते हुए भी अन्य अर्थ में संक्रमण करता है वहाँ अर्थान्तर संक्रमित-

वाच्य-ध्वनि होती है। मम्मट ने इसका लक्षण लिखा है; जब शब्द का मुख्य अर्थ प्रकरण के अनुकूल न होकर अपने विशेष अर्थान्तर व्यंग्य में परिणत हो जाता है वहाँ अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि होती है जैसे—

कौन भाँति रहिहै विरद अब देखिबी मुरारि।
बीधे मोसों आइ के गीधे गीधहि तारि॥ (बिहारी)

इस दोहे का शाब्दिक अर्थ है कि आप गीध का उद्धार करके लपक गए हैं। इसका लक्ष्यार्थ है कि "निम्न कोटि के व्यक्तियों को तारकर आपको गर्व हो गया है।" इसका व्यंग्यार्थ है कि "आपका यश गीध जैसे तुच्छ, पापी के उद्धार करने से नहीं है अपितु मुझ जैसे महान् पापी का उद्धार करने पर ही आपकी कीर्ति स्थिर रह सकेगी।" इनमें 'गीध' शब्द में अर्थान्तर संक्रमित किया गया है। अतः इस दोहे में अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य-ध्वनि है। इस ध्वनि के दो भेद होते हैं—एक पदगत और दूसरा वाक्यगत। पद में केवल एक शब्द का अर्थान्तर में संक्रमण होता है जबकि वाक्यगत में सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ ही बदल जाता है। पदगत-अर्थान्तर-संक्रमित वाच्य-ध्वनि का उदाहरण—

रोयें क्या अबलायें सदैव ही अबलायें बेचारी। (गुप्तजी)

इस उद्धरण में प्रथम अबलाएँ स्त्रियों के अर्थ में हैं जबकि दूसरे 'अबलाएँ' शब्द का मुख्यार्थ बाधित होकर लाक्षणिक अर्थ 'निर्बलता' को व्यक्त करता है। इसका ध्वनिगत आशय यह है कि स्त्रियाँ निर्बल हैं, किन्तु व्यंग्य यह है कि स्त्रियों को समर्थ बनना चाहिए।

वाक्यगत अर्थान्तर संक्रमित वाच्य-ध्वनि का उदाहरण—

सेना छिन्न, प्रयत्न भिन्न कर पा मुराद मनचाही।
कैसे पूजूँ गुमराही को मैं हूं एक सिपाही।
(भारतीय आत्मा)

इसमें 'मैं हूँ एक सिपाही' वाक्य वीर, देश प्रेमी के अर्थ को व्यक्त कर रहा है।

अत्यन्त तिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि—जिस ध्वनि में वाच्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार या परित्याग हो जाता है वह अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि है। इस ध्वनि में मुख्यार्थ का तिरस्कार होता है, उसको छोड़कर दूसरा अर्थ लगाना पड़ता है।

उदाहरण— **तंत्रीनाद कवित्त रस, सरस राग रति रंग।**
अनबूड़े बूड़े तिरे जे बूढ़े सब अंग॥ (बिहारी)

डूबना या तैरना नदी, तालाब आदि में ही सम्भव है किन्तु तंत्रीनाद आदि में नहीं। अतः डूबने और तैरने का यही अर्थ वाच्यार्थ से तिरस्कृत होकर 'सराबोर होना' व्यंग्यार्थ है। इस ध्वनि के भी पदगत तथा वाक्यगत दो भेद होते हैं।

पदगत-अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि का उदाहरण—

नीलोत्पल के बीच सजाये मोती से आँसू के बूँद।
हृदय सुधानिधि से निकले हो तब न तुम्हें पहचान सके॥ (प्रसाद)

इस पद में "नील कमल में मोती के समान आँसू सजे हुए हैं।" इसमें 'नीलोत्पल' अपने मुख्यार्थ का पूर्णतः त्यागकर नेत्र का अर्थ व्यक्त कर रहा है। अतः वाच्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार है। यहाँ अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य से नेत्रों की विशालता एवं सुन्दरता ध्वनित हो रही है। इसलिए इस उदाहरण में **'पद-गत-अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि'** है—

वाक्यगत-अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य-ध्वनि—

सुबरन फूलन की धरा जोरत हैं नर तीन।
सूर और विद्या निपुन सेवा में जु प्रवीन॥

इस उदाहरण में 'सोने के फूलों का पृथ्वी पर एकत्र करना' मुख्यार्थ है। किन्तु न तो सोने के फूल की पृथ्वी होती है और न पृथ्वी एकत्र की जा सकती है। यहाँ मुख्यार्थ का बाध हो रहा है। इसका लाक्षणिक अर्थ यह है कि मनुष्य पौरुष, विद्या एवं सेवा के द्वारा मूल्यवान सम्पत्ति अर्जित कर सकता है किन्तु व्यंग्यार्थ है "वीर, विद्वान् एवं प्रवीण सेवकों का प्रशस्ति-गान।"

अभिधामूला विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनि—

"जिस ध्वनि में वाच्यार्थ की विवक्षा हो अर्थात् वाच्यार्थ अभीष्ट हो, तथा वह व्यंग्यनिष्ठ हो, वहाँ विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनि होती है।" जिस ध्वनि के मूल में अभिधा होती है—वह अभिधामूला ध्वनि कहलाती है।[1] अभिधामूला ध्वनि के दो भेद होते हैं—संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि और असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि।

संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि—वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ की प्रतीति में जहाँ पौर्वापर्यक्रम रहता है, वहाँ संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि होती है। इसमें वाच्यार्थ की प्रतीति होने पर व्यंग्यार्थ का ज्ञान होता है। इसे अनुरणन-ध्वनि भी कहते हैं। इस ध्वनि के विषय में आचार्य मम्मट ने लिखा है कि "अनुरणन (अनुस्वान) के समान लक्ष्य है क्रम जिसका ऐसे व्यंग्यार्थ की स्थिति जिसमें होती है, वह संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि है। यह ध्वनि शब्द, अर्थ, तथा उभय (शब्द एवं अर्थ) की व्यंजना द्वारा उत्पन्न होने के कारण तीन प्रकार की कही गई है।[2] ध्वन्यालोककार केवल दो—शब्दशक्ति उद्भव तथा अर्थशक्ति उद्भव ध्वनियाँ मानते हैं, वे उभयशक्ति मूलक भेद स्वीकार नहीं करते हैं, (ध्वन्यालोक २।२०) किन्तु साहित्यदर्पणकार इस विषय में मम्मट के अनुयायी हैं और वे तीनों भेद स्वीकार करते हैं, (सा० द० ४।६)। इस प्रकार संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि के तीन

१. सा० द० ४।२—की वृत्ति—विवक्षितान्यपरवाच्यस्त्वभिधामूलः अतएवात्र वाच्यं विवक्षितम्। अन्यपरं व्यंग्यनिष्ठम्। अत्र हि वाच्योऽर्थः स्वरूपं प्रकाशयन्नेव व्यंग्यार्थस्य प्रकाशकः यथा प्रदीपो घटस्य।

२. का० प्र० ४।३१-३३, अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रम व्यंग्यस्थितिस्तु यः।
शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितो ध्वनिः॥

भेद होते हैं—

(१) शब्दशक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि।

(२) अर्थशक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि।

(३) शब्दार्थोभयशक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि।

शब्दशक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि—जहाँ वाच्यार्थ के बाद व्यंग्यार्थ को बोध कराने का सामर्थ्य किसी शब्द विशेष में ही हो (पर्यायवाची शब्दों में नहीं), वहाँ 'शब्दशक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि' होती है। जैसे—

देख वसुधा का यौवनभार
गूँज उठता है जब मधुमास।
विधुर उर के से मृदु उद्गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास।। (पन्त)

इस पद में 'वसुधा का यौवनभार देखकर मधुमास का गुंजित हो उठना' एक बात है, इस मुख्यार्थ के अतिरिक्त एक व्यंग्यार्थ यह है कि 'नायिका का यौवन देखकर नायक पुलकित हो उठता है।' इस पद में मधुमास के स्थान पर वसन्त आदि शब्द रख दें तो नायक-नायिका का भाव व्यंजित नहीं हो सकता है, अतः इस पद में 'शब्दशक्ति उद्भवअनुरणनध्वनि' है।

इसी प्रकार नीचे के उदाहरण में 'जीवन' शब्द श्लिष्ट (जल और जीवन) है, उसमें भी शब्दशक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि है—

जो पहाड़ को तोड़-तोड़कर राह बनाता।
जीवन निर्मल वही, सदा जो आगे बढ़ता।।

आशय यह है कि 'पहाड़ से निकलने वाला जीवन (पानी) निर्मल होता है।' यह वाच्यार्थ है। किन्तु व्यंग्यार्थ यहाँ यह है कि 'वही मनुष्य पवित्र और गतिशील होता है जो पहाड़ जैसी आपत्तियों को झेलकर आगे बढ़ता है।'

शब्दशक्ति ध्वनि के चार भेद हैं—(१) पदगत वस्तु ध्वनि, (२) पदगत अलंकार ध्वनि, (३) वाक्यगत वस्तु ध्वनि, (४) वाक्यगत अलंकार ध्वनि।

अर्थशक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि—जहाँ अर्थ की शक्ति से ध्वनि की प्रतीति होती है, वहाँ अर्थशक्ति उद्भव ध्वनि होती है। इस ध्वनि में शब्द परिवर्तन होने पर भी पर्यायवाची शब्द के प्रयोग से भी ध्वनि बनी रहती है। इसके तीन भेद होते हैं—

(१) स्वतः संभवी,

(२) कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध,

(३) कवि निबद्ध पात्र प्रौढ़ोक्ति सिद्ध।

इन तीनों ध्वनियों के चार-चार भेद होते हैं—

(१) वस्तु से वस्तु ध्वनि,

(२) वस्तु से अलंकार ध्वनि,

(३) अलंकार से वस्तु ध्वनि,

(४) अलंकार से अलंकार ध्वनि,

इसके बाद प्रत्येक ध्वनि के तीन-तीन अन्य पदगत, वाक्यगत और प्रबन्धगत भेद भी होते हैं।

किन्तु ध्वन्यालोककार ने इन ध्वनियों में से केवल निम्न भेद स्वीकार किये हैं—

(१) **कविनिबद्ध प्रौढ़ोक्ति सिद्ध**—अर्थ, एवं स्वतः सम्भवी अर्थ तथा प्रत्येक के वस्तुव्यंग्य एवं अलंकार व्यंग्य दो-दो भेद माने हैं। (ध्वन्यालोक २।२२, २५)। किन्तु मम्मट ने अर्थशक्ति के तीन भेद स्वीकार कर कवि प्रौढ़ोक्ति से कविनिबद्धपात्रप्रौढ़ोक्ति को अलग कर दिया है। (का० प्र० ४।३६-४१) हेमचन्द्र तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने मम्मट का विरोध किया है।

अर्थशक्ति उद्भव स्वतः सम्भवी ध्वनि का उदाहरण—

हे महाराज !
ईश्वर की गाज
यहाँ गिरी है विपत बड़ी
पड़ा है अकाल
लोग पेट भरते हैं खा-खाकर पेड़ों की छाल। (निराला : अनामिका)

इस उदाहरण में पेड़ों की छाल खाकर पेट भरने से भयंकर अकाल की व्यंजना हो रही है। यदि पेड़, छाल और पेट के पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करें, तो भी व्यंग्यार्थ बना ही रहेगा।

इसी प्रकार—

दमकत दरपन दरप दरि, दीपसिखा दुति देह।
वह दृढ़ इक दिसि, दिपत, यह मृदु दसदिसि निसनेह।।

इस उदाहरण की प्रथम पंक्ति के 'दीपसिखा दुति देह' में उपमा अलंकार तीसरे चौथे पद में व्यतिरेक अलंकार प्रथम चरण में प्रतीप अलंकार है। इन अलंकारों में सौन्दर्य व्यंग्य है। अतः इस पद में स्वतः **संभवी-पदगत-अलंकार वस्तुध्वनि है।**

कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध—

सिय वियोग दुःख केहि विधि, कहाँ बखानि।
फूल बान से मनसिज वेधत आनि।।

'फूलवान कवियों के संसार में विरह-या प्रेम की अधिकता के सूचक हैं। अतः यहाँ कवि-प्रौढ़ोक्ति द्वारा पदगत-वस्तु से वस्तु-ध्वनि है।

शब्दार्थशक्ति संभव-ध्वनि—जहाँ शब्द और अर्थ दोनों की संयुक्त शक्ति द्वारा व्यंग्य की प्रतीति होती है वहाँ 'शब्दार्थ-उभय-शक्ति-उद्भव अनुरणन-ध्वनि' होती है। मम्मट ने इसका केवल एक भेद माना है—'शब्दार्थोभयभूरेक''।

उदाहरण—बड़े बंस की जान जिय अधरै रहत लगाई।
शब्द सुरन सुन स्याम अब बासुरि हाथ बिकाई।।

इस उदाहरण में 'बड़े बंस' शब्द तथा 'अधर लगाई' के अर्थ द्वारा यह ध्वनित होता है कि उच्चकुल की नायिका को नायक ने वशीभूत कर लिया है।

संस्कृत साहित्य में ध्वनि के भेदोपभेदों की विस्तार से चर्चा हुई है। हिन्दी में उसका अनुकरण किया गया है, किन्तु विस्तार के भय से प्रत्येक का सोदाहरण विवेचन यहाँ सम्भव नहीं है। अतः हिन्दी साहित्य कोश[1] के अनुसार उनका विवरण इस प्रकार है—"""ध्वनि के सबसे महत्वपूर्ण भेद ४ हैं—(१) अर्थान्तर संक्रमित, (२) अत्यन्त-तिरस्कृत, (३) असंलक्ष्य तथा (४) संलक्ष्य। कुछ और विस्तार में जाने पर इसके प्रमुख १८ भेद ठहरते हैं—अविवक्षितवाच्यध्वनि २ भेद+विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि १६ भेद=१८ भेद। असंलक्ष्यक्रमध्वनि १ भेद+संलक्ष्यक्रमध्वनि १५ भेद=१६ भेद।

शब्दशक्त्युद्भव २ भेद+अर्थशक्त्युद्भव १२ भेद+उभयशक्त्युद्भव १ भेद=१५ भेद। पदवाक्य आदि की दृष्टि से किए गए भेदों को ध्यान में रखते हुए ध्वनि के कुल मिलाकर ५१ शुद्ध भेदोपभेद किये गए हैं।"

प्रश्न ६१—असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि के स्वरूप का विवेचन करते हुए उसके विभिन्न भेदों का सोदाहरण विवेचन कीजिए।

काव्य में वाच्यार्थ ग्रहण करते समय जब क्रम लक्षित नहीं होता है, किन्तु यह निश्चित रहता है कि यह वाच्यार्थ है और उसके अनन्तर व्यंग्यार्थ, वह **असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्यध्वनि** काव्य कहलाता है। इसमें वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का क्रम होते हुए भी निश्चित नहीं होता है। नैयायिकों का 'शतपत्रभेदनन्याय' प्रसिद्ध है—यदि हम सौ कमल की पंखुड़ियों में एक साथ सुई वेधें तो यह स्पष्ट रूप से नहीं जान सकेंगे कि कब किस पंखुड़ी में सूचिबेध हुआ है। इसी प्रकार इस ध्वनि में होता है। "रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि और भावशबलता ये सब आस्वादित होने के कारण रस कहाते हैं। भावादिक में भी आस्वादन रूप रसन धर्म का सम्बन्ध होने के कारण 'रस' पद का लक्षणा से प्रयोग होता है।"[2] अभिधामूलाध्वनि में वाच्यार्थ अपना बोध कराकर व्यंग्यार्थ की पुष्टि करने लगता है। जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रतीति का क्रम असंलक्ष्य (अलक्षित) रहता है अर्थात् वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ प्रतीति के पूर्वापर का क्रम नहीं जाना जाता, वहाँ असंलक्ष्य ध्वनि होती है। इस ध्वनि में पहले वाच्यार्थ के रूप में विभाव, अनुभाव आदि ज्ञात होते हैं फिर व्यंग्यार्थ के रूप में रस, भाव आदि की व्यंजनाएँ होती हैं। विभावानुभाव से रसादि की प्रतीति का बोध क्रमपूर्वक तो अवश्य होता है—"यदि यह बोध क्रमपूर्वक न होता तो इस ध्वनि का नाम असंलक्ष्य अथवा अलक्ष्य न होकर अक्रम होता, किन्तु यह प्रतीति शतपत्रभेदन-न्याय के सदृश इतनी

१. हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, पृ० ३९२।

२. सा० न ३।२५९-६०, रसाभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ।
सन्धिशबलता चेतिसर्वेऽपि रसनाद्रसाः॥

शीघ्रता से होती है कि इस क्रम को जान सकना सम्भव नहीं होता।"[१] रस के मुख्य होने पर भी भावशान्ति आदि कभी-कभी प्रधानता प्राप्त हो जाते हैं।[२]

रस—रस को असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के अन्तर्गत क्यों रखा गया है, इसका उत्तर यह है कि विभावादि द्वारा जो रस की अनुभूति होती है, उसमें किसी प्रकार का पूर्वापर सम्बन्ध का अनुभव नहीं होता है। यद्यपि पूर्वापर सम्बन्ध तो होता है किन्तु उसकी प्रतीत नहीं होती है। क्योंकि रस भी ध्वनित होता है, अतः इसे ध्वनि में स्थान दिया गया है। एक प्रश्न यहाँ यह भी होता है कि **रसध्वनि और भावध्वनि में क्या अन्तर है**—"जहाँ रस का कोई अङ्ग स्थायी भाव या व्यभिचारी भाव विशेष चमत्कारक प्रतीत हुआ करता है, वहाँ भावध्वनि कहलाती है, परन्तु जहाँ प्रधानतया रस ध्वनि होता है, वहाँ रसध्वनि ही है, भाव ध्वनि में रसध्वनि के समान उत्कृष्ट आनन्द की प्रतीति नहीं होती है, इस विषय में सहृदयों का अनुभव प्रमाण है।" साहित्यदर्पणकार के मतानुसार 'भाव' आदि का भी आस्वादन किया जाता है, अतः वे भी औपचारिक रूप से रस ही हैं—"**रसनाद्रसा रसध र्मयोगित्वाद् भावादिष्वपि रसत्वमुपचारादित्यभिप्रायः।**" जहाँ वर्णन में रस व्यंग्य होता है, वहाँ पर रस-ध्वनि होती है।

उदाहरण—लखि ससंक सूनो सदन, मन्दहास गतिमन्द।
चन्द्रमुखी कौ अंक भरि लूट्यो सुख ब्रजचन्द॥

इस उदाहरण में राधा आलम्बन, ब्रजचन्द्र आश्रय, चन्द्रमा तथा सूना घर आदि उद्दीपन हैं, आलिंगन अनुभाव तथा हर्ष आदि संचारी भाव हैं। इस प्रकार संयोग शृंगार रस की अभिव्यक्ति हो रही है। अतः इसमें रस ध्वनि है।

भावध्वनि—"देवतादि विषयक रति आदि स्थायी भावों की वर्णना और व्यभिचारी भावों की स्वतन्त्र अभिव्यंजना में भावध्वनि कही जाती है।" आचार्य मम्मट के अनुसार भावध्वनि का लक्षण इस प्रकार है—"जब संचारियों का वर्णन जिसी स्थायी का सहायक न होकर स्वतन्त्र तथा प्रधान होता है, देवादि विषयक रति तथा उद्बुद्ध मात्र स्थायीभाव का वर्णन 'भाव' कहलाता है।[3] उपर्युक्त लक्षण के अनुसार भाव के तीन भेद होते हैं—

(१) प्रधान रूप से प्रकट होने वाला संचारी।
(२) देवादि विषयक रति।
(३) केवल उद्बुद्ध स्थायी भाव।

(१) **उदाहरण**—प्रधान रूप से शंका संचारी को प्रकट करने वाले उदाहरण के रूप में सूर का यह पद लिया जा सकता है—

१. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ८७।
२. का० प्र० मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन।
३. का० प्र० ४।३५ रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः भावःप्रोक्तः।

मधुकर ! देखि श्याम तन तेरो ।
हरिमुख को सुन मीठी बातें डरपत है मन मेरो ।

इस पद में मन का 'डरना' शंका संचारी है ।

इसी प्रकार बिहारी के इस दोहे में 'शंका' संचारी प्रधान रूप से व्यंजित है—

सटपटाति सी ससिमुखी, मुख घूँघट पट ढाँकि ।
पावक झर-सी झमकि कै, गयी झरोखा झाँकि ।। (६४६)

इस दोहे में लज्जा एवं स्मरण संचारी का वर्णन ही प्रमुख है । अतः भाव-ध्वनि है ।

(२) देवादि विषयक रति का उदाहरण—देवादि विषयक रति के रूप में सूर और तुलसी के विनय के पदों को लिया जा सकता है—

अबकी राखि लेहु भगवान ।
हम अनाथ बैठे द्रुम डरिया पारधि साधे बान ।। (सू० सा०)

यहाँ **आलम्बन** भगवान् हैं, **उद्दीपन** व्याध का बाण-संधान एवं ऊपर बाज का उड़ना । **संचारी** स्मरण, चिन्ता, विषादि आदि हैं । इस उदाहरण में भगवान् के प्रति **व्यक्त** अनुराग एकपक्षीय है, अतः रस न होकर भाव है। भक्त संकटग्रस्त होकर पुकारता है, भगवान् प्रत्यक्ष रूप में कुछ नहीं करते है ।

तुलसी का गुरु विषयक रति का एक उदाहरण—

बन्दौ गुरु पद पदुम परागा ।
सुरुचि सुबास सरस अनुरागा ।। (रा० च० मा०)

(३) केवल उद्‌बुद्ध स्थायी का उदाहरण—

(१) **जो राउर अनुशासन पाउँ, कंदुक इव ब्रह्माण्ड उठाऊँ ।**
काँचे घट ज्यों डारौं फोरी, सकौ मेरु मूलक इव तोरी ।।
(परशुराम संवाद : मानस)

(२) **कर कुठार में अकरुन कोही । आगे अपराधी गुरुद्रोही ।**
उतर देत छाड़ौं बिनु मारे । केवल कौसिक सील तुम्हारे ।
(परशुराम संवाद मानस)

इन दोनों ही उद्धरणों में आलम्बन, उद्दीपन और अनुभावादि के रहने पर भी स्थायीभाव क्रोध की पुष्टि नहीं होती है ।

इस ध्वनि में "भाव और रस की व्यंजना अत्यन्त चमत्कारी और रमणीय होने के कारण सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है ।"

रसाभास—"रसनिष्पत्ति के लिए अपेक्षित पूर्ण औचित्य के आंशिक अभाव में जब सहृदय को रस के स्थान पर रस के आभास की प्रतीति हो अथवा रस-परिपाक न होकर रस केवल आभासित होकर ही रह जाए, उस अवस्था में प्राचीन आचार्यों के द्वारा 'रसाभास' की स्थिति मानी गयी है ।" मम्मट ने लिखा है कि—**'तदाभाषा अनौचित्य प्रवर्तितताः ।'** उदाहरण के लिए केशवदास का यह दोहा लिया जा सकता है—

केशव केसनि अस करी जस अरिहूं न करांहि ।
चन्दवदन मृगलोचनी बाबा कहि कहि जांहि ।।

इसमें वयोवृद्ध महाकवि केशव की चन्द्रवदनी बालाओं के प्रति अनुरागवृत्ति की व्यंजना अनौचित्यपूर्ण होने के कारण रसाभास उत्पन्न हो रहा है।

रसाभास के सम्बन्ध में एक बात विशेष ध्यान देने की यह है कि एक ही वर्णन किसी सहृदय के लिए रस और दूसरे के लिए रसाभास हो सकता है। "अतः रसाभास के लिए कोई निश्चित नियम बना देना कठिन है।" इसलिए रसाभास की हिन्दी में जो परिभाषाएँ दी गई हैं, वे प्रायः अस्पष्ट हैं।

रसाभास का वर्णन—रस के सामाजिक महत्व का प्रतिपादक है। सामाजिक नियमों की अवहेलना करने वाला साहित्य समाज के लिए घातक है। समाज के नैतिक पक्ष की उपेक्षा करने पर सामाजिकों के हृदय में काव्य के प्रति आकर्षण का भाव नहीं रह सकता एवं सहृदय को आकृष्ट करने की क्षमता भी उसमें नहीं रहेगी। "अभिप्राय यह है कि सदाचार-लोकाचार तथा स्वभावगत धर्मों के विपरीत आचरण का वर्णन करने से काव्य में रसानौचित्य उपस्थित हो जाता है, जिससे उस स्थल पर रस न रह कर रसाभास होता है।[1] इस प्रकार निष्कर्ष यही है कि रस की अनुचित रूप से प्रतीति होने पर रसाभास होता है।

भावाभास—भावव्यंजना के किसी पक्ष में जब अनौचित्य दोष आ जाता है —"तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः" तब वहाँ भावाभास नामक असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य-ध्वनि होती है। प्रधान कारण अनौचित्य ही है। यह रसाभास का समानान्तर है। विश्वनाथ ने भावाभास का निम्न लक्षण लिखा है—वेश्या आदि में यदि लज्जा आदि दृष्टिगत हों, तो भावाभास होता है—"भावाभासो लज्जादिके तु वेश्यादिविषये स्यात्" (सा० द० ३।२६६)। हिन्दी के आचार्यों में पद्‌माकर ने तो विश्वनाथ के अनुकरण पर ही इसका लक्षण लिखा है। वैसे हिन्दी के काव्याचार्य अनुचित स्थल पर भाव-प्रकाशन की स्थिति में भावाभास मानते हैं—"भाव जु अनुचित ठौर है, सोई भावा-भास।" (भिखारी दास : का० नि०, पृ० ४२)। कन्हैयालाल पोद्दार अनौचित्य की अपेक्षा व्याभिचारी आदि की प्रधानता होने पर भावाभास मानते हैं। वस्तुतः भाव का अनौचित्यपूर्ण वर्णन भावाभास है।

दरपन में निज छाँह संग लखि पीतम की छाँह ।
खरी ललाई रोस की ल्याई अँखियन माँहि ।।

यह उदाहरण भावाभास का है, नायिका दर्पण में मुख देख रही है, हँसता हुआ नायक पीछे खड़ा हो जाता है, और उसकी मुस्कराहट दर्पण में प्रतिबिम्बित हो जाती है। यहाँ दोनों का हास्यपूर्ण अनुराग वर्णन स्वाभाविक होता, किन्तु अकारण उत्पन्न नायिका का क्रोध तथा शंका भाव के कारण भाव का आभास मात्र प्रतीत होता है।

१. रससिद्धान्त : स्वरूप विश्लेषण, पृ० २३३।

इस उदाहरण में क्रोध का सार्थक होना व्यंजित नहीं है ।

अन्य उदाहरण—**प्रीति करै तु बावरे, अनचाहत के संग ।**
दीपक के मन कुछ नहीं, जब जल मरै पतंग ।। (अमीरदास)

इस दोहे में एकाङ्गी भाव का वर्णन है । अतः भावाभास है ।

भावशान्ति—"जहाँ पहले से वर्तमान किसी भाव की शान्ति चमत्कारपूर्ण सहसा हो जाय, वहाँ भावशान्ति की अवस्था मानी जाती है । दूसरे भाव के उदय की अपेक्षा पूर्वस्थित भाव की शान्ति ही अधिक महत्व एवं चमत्कारिक होनी चाहिये, अन्यथा 'भावोदय' की प्रधानता के कारण भावशान्ति की स्थिति गौण हो जायगी ।"

उदाहरण— **अतीव उत्कंठित ग्वाल बाल हो,**
सवेग आते रथ के समीप थे ।
परन्तु होते अति ही मलीन थे,
न देखते थे जब वे मुकुन्द को । (प्रियप्रवास)

इस पद में उद्धव को आता देख हर्ष का भाव, कृष्ण के अभाव में विषाद रूप में शान्त हो जाता है; अतः भावशान्ति नामक असंलक्ष्यक्रम-ध्वनि होती है ।

अन्य उदाहरण— **रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ ।**
जाने दे उनको स्वर्ग धीर ।।
फिरा हमें गांडीव गदा ।
लौटा दे अर्जुन-भीम वीर ।।
(दिनकर : हिमालय-रेणुका)

इस उदाहरण की अन्तिम दो पंक्तियों में उत्साह भाव के उद्बुद्ध होने से प्रथम दो पंक्तियों का वैराग्य भाव शान्त हुआ है ।

भावोदय—जहाँ एक भाव के शान्त होते ही किसी दूसरे भाव का चमत्कारपूर्ण उदय व्यक्त किया जाए, वहाँ भावोदय की अवस्था होती है । किसी शान्त होते हुए भाव के उदय का नाम भावोदय है । हिन्दी के आचार्य बेनी प्रवीन ने भावोदय का लक्षण यह लिखा है—

काहू भाव विभाव ते, भाव उदै जो होइ ।
ताही सों सब कहत हैं, भाव उदै कबि लोइ ।।

उदाहरण— **विहग समान यदि अम्ब पंख पाता मैं ।**
एक ही उड़ान में तो ऊँचे चढ़ जाता मैं ।
किन्तु बिना पंखों के विचार सब रीते हैं ।
हाय पक्षियों से भी मनुष्य गये बीते हैं ।
(मैथिलीशरण गुप्त : यशोधरा)

इस उदाहरण की अन्तिम पंक्ति में विषाद, भाव का उदय चमत्कारिक रूप में व्यक्त है, अतः भावोदय नामक असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि है ।

भावशान्ति के दिये गये दोनों उदाहरणों की अन्तिम पंक्तियों में '**भावोदय**'

नामक ध्वनि है। प्रथम उदाहरण में कृष्ण को न पाकर ग्वालों में विषाद का उदय द्वितीय उदाहरण की अन्तिम दो पंक्तियों में उत्साह भाव का उदय हो रहा है।

भावसन्धि—जहाँ पर समान चमत्कारी दो भावों का एक साथ उदय दिखाया जाय, वहाँ भावसन्धि नामक ध्वनि होती है। "इस सन्धिस्थल का चमत्कारिक होना अपेक्षित माना जाता है। आवश्यक नहीं है कि जिन भावों की सन्धि हो, वे अविरोधी अथवा एक प्रकृति के ही हों, भिन्न प्रकृति के विरोधी भावों के बीच भी भावसन्धि हो सकती है। ऐसे स्थल कभी-कभी अधिक चमत्कारिक भी होते हैं।

उदाहरण—तब तू मारिबोई करति

रिसनि आगे कहै जो आवत अब लैं भाँडे भरति।

सूरदास के इस पद में प्रेम भाव के अन्तर्गत झुँझलाहट की सन्धि महत्वपूर्ण है।

अन्य उदाहरण—(१) **प्रिय बिछुरन को दुसह दुख हरष जात प्यौसार।**

दुरयोधन लौं देखियत तजत प्राण इहि बार॥

(विहारी—१५)

इस दोहे में सुख-दुख, हर्ष और विरह के भावों की सुन्दर सन्धि है, अतः भाव-सन्धि नामक ध्वनि है।

(२) **छुटै न लाज न लालचौ, प्यौ लखि नैहर गेह।**

सटपटात लोचन खरे, धरे संकोच सनेह॥ (विहारी)

इस दोहे में भी संकोच और स्नेह के भावों की मिलन-सन्धि विद्यमान है। दोनों में समान रूप से चमत्कार विद्यमान है। अतः इसमें भावसन्धि नामक असंलक्ष्य-क्रम व्यंग्य ध्वनि है।

भावशबलता—जहाँ एक ही क्रम से दो से अधिक चमत्कारकारक समान भावों का उदय वर्णित हो, वहाँ भावशबलता ध्वनि होती है। इसका स्पष्ट विवेचन 'हिन्दी साहित्य कोश' में इस प्रकार है—

"जहाँ एक के पश्चात् एक इस प्रकार शृंखलाबद्ध क्रम से अनेक भाव प्रकट हो जाये अथवा अनेक भावों का एक साथ मिश्रण दिखाई दे, वहाँ भावशबलता मानी जाती है। आगे आने वाला भाव अपने से पिछले भाव को मर्दित करता हुआ प्रतीत हो, इसी में भावशबलता का चमत्कार निहित रहता है और हिन्दी के अनेक आचार्यों ने इस विशेषता पर बल दिया है। बेनी प्रवीन के अनुसार भावशबलता का लक्षण इस प्रकार है—

एक एक को मरदिकै, उपजत भाव अनेक।

भावसबलता कहत हैं, जिनके बुद्धि विवेक॥

(न० र० त०, पृ० ५५)

भिखारीदास का लक्षण इससे कुछ भिन्न है—

बहुत भाव मिलिकै जहाँ प्रकट करै इक रंग।
सबल भाव तासौं कहैं, जिनकी बुद्धि उतंग ॥(का० नि० ५/५०)

उदाहरण— **नन्द ब्रज लीजै ठोंक बजाय।**
देहु बिदा मिलि जाहि मधुपुरी गोकुलराय ॥

सूर के इस पद में उत्सुकता, अधीरता, विरक्ति आदि कई भावों का सम्मिश्रण है।

अन्य उदाहरण—

(१) **दृग ललके राते भये, रूखे झलके भाय।**
नेह भरे लखि लोचनन, सकुचे परसत पाय ॥

इस दोहे में नेत्रों के ललकने में उत्सुकता, रीतेभये में उदासीनता, रूखे झलकने में दीनता, तृतीय तथा चतुर्थ चरण में लज्जा आदि भावों का शबलत्व है।

(२) **ये श्वापद से हिंसक अधीर।**
कोमल शावक वह बालवीर।
सुनता था वह वाणी शीतल।
कितना दुलार कितना निर्मल।
कैसा कठोर है तब हृत्तल।
वह इड़ा कर गई फिर भी छल ॥ (प्रासाद : कामायनी)

इस पद में घृणा, गर्व, शंका, वात्सल्य, आश्चर्य आदि अनेक भावों का वर्णन है, अतः भावशवलता नामक असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि है।

प्रश्न ६२—गुणीभूतव्यंग्य ध्वनि का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उसके विभिन्न भेदों का सोदाहरण विवेचन कीजिये।

जहाँ व्यंग्य के सम्बन्ध होने पर वाच्य का चारुत्व अधिक प्रकर्षयुक्त हो जाता है, वहाँ गुणीभूत व्यंग्य नामक काव्य का दूसरा भेद होता है।[1] इस गुणीभूतव्यंग्य काव्य में व्यंग्यार्थ की प्रधानता और अप्रधानता ही ध्वनि एवं गुणीभूतकाव्य' के अन्तर का कारण है—"ललनाओं के लावण्य के समान जिस व्यंग्य अर्थ का प्रतिपादन किया गया है, उसका प्राधान्य होने पर ध्वनि काव्य होता है। उस (व्यंग्य) के गुणीभूत हो जाने पर वाच्यार्थ के चारुत्व की वृद्धि हो जाने पर गुणीभूतव्यंग्य नाम का काव्य भेद माना जाता है।[2] आचार्य आनन्दवर्धन ने एक अन्य स्थान पर लिखा है कि

१. ध्वन्यालोक ३।३५ :
प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते।
यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत् ॥

२. वही-वृत्ति : व्यङ्ग्योऽर्थो ललनालावण्यप्रख्यो यः प्रतिपादितस्तस्य प्राधान्ये ध्वनिरित्युक्तम्। तस्य तु गुणीभावेन वाच्यचारुत्वप्रकर्षे गुणीभूतव्यङ्ग्यो नाम काव्यप्रभेदः प्रकल्प्यते।

व्यंग्य अर्थ का प्राधान्य होने पर ध्वनि नाम का काव्यभेद होता है और गौण होने पर गुणीभूत व्यंग्य होता है—"**व्यंग्यार्थस्य प्राधान्ये ध्वनि संज्ञितः** काव्यप्रकारः **गुणभावे तु गुणीभूतव्यङ्ग्यता**" (ध्वन्यालोक ३।४२)। इसी आशय को विश्वनाथ ने व्यक्त करते हुए लिखा है कि—जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अनुत्तम होता है, वहाँ गुणीभूतव्यंग्य काव्य होता है।[1] मम्मट ने ध्वनि काव्य को उत्तम तथा गुणीभूत काव्य को मध्यम काव्य कहा है।[2] किन्तु मम्मट का अपना मत है क्योंकि ध्वनिकार ने इन दोनों को पृथक् काव्य का प्रकार माना है। वे ध्वनि को ही सहृदय हृदयों के लिए आह्लादकारी मानते हैं। साथ ही वे गुणीभूतव्यंग्य काव्य को ध्वनि का निष्यन्द मानते हैं।[3] पंडितराज जगन्नाथ गुणीभूतव्यंग्य काव्य को उत्तम काव्य मानते हैं, क्योंकि इसमें व्यंग्यार्थ का अस्तित्व रहता है। "चमत्कार चाहे व्यंग्यार्थ में हो चाहे वाच्यार्थ में, उसका अस्तित्व होने से काव्य उत्तम कोटि का होता है।" फिर भी यह स्पष्ट है कि ध्वनि की अपेक्षा गुणीभूत व्यंग्य काव्य निम्न कोटि के रस का आस्वाद प्रस्तुत करता है, क्योंकि इस काव्य के अन्तर्गत वे अलंकृत सूक्तियाँ भी समाविष्ट हो जाती हैं जिनमें कोई न कोई अलङ्कार रहा करता है अथवा अलङ्कारवादी जिसे अलङ्कार कह सकते हैं। "जिन रचनाओं में व्यंग्य का संस्पर्शमात्र भी रहे तथा जिनमें रूपकादि अलङ्कार हों वे सभी काव्य गुणीभूत व्यंग्य के अन्तर्गत आ जाते हैं।" आशय यह है कि "गुणीभूतव्यंग्य वस्तुतः वह काव्य है जिसमें वाच्यार्थ व्यंग्य विशिष्ट हुआ करता है। वह ध्वनि का ही एक निष्यन्द है, चाहे व्यंग्यार्थ प्रधान होकर रहे या अप्रधान होकर रहे।

गुणीभूतव्यंग्य काव्य आठ प्रकार का होता है—अगूढ़, अपरागव्यंग्य, वाच्य-सिद्धयङ्गव्यंग्य, अस्फुट, सन्दिग्धप्राधान्य, तुल्यप्राधान्य, काक्वाक्षिप्त तथा असुन्दर।[4]

अगूढ़ व्यंग्य—जहाँ सामान्य जनों को भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति सहज हो जाती है, वहाँ अगूढ़ व्यंग्य नामक गुणीभूत व्यंग्य काव्य होता है (अगूढ़म् असहृदयैरपि झटिति संवेद्यम्—काव्य प्रकाश बालबोधिनी टीका)

उदाहरण—

अंगद तुही बालिकर बालक। उपजेउ वंश अनल कुल घालक।
गर्भ न गयेउ वृथा तुम जाये। निजमुख तापस दूत कहाये।
अब कहु कुशल बालि कहँ अहई। बिहँसि वचन अंगद तब कहई
(तुलसी : रामचरितमानस)

१. सा० द० ४।१३ "अपरं तु गुणीभूतव्यङ्ग्यं वाच्यादनुत्तमे व्यङ्ग्ये"।
२. का० प्र० १।३ "अतादृशी गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्"।
३. ध्वन्यालोक तदयं ध्वनिनिष्यन्दरूपो द्वितीयोऽपि....।
४. का० प्र० ५।

अगूढ़मपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम्।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम्॥

इन पंक्तियों में रावण अंगद का परिचय पाकर कह रहा है कि हे अंगद तुम्हारा बालि के यहाँ जन्म लेना वृथा हुआ। इससे गर्भ ही नष्ट हो जाता तो अच्छा था, तब तुम्हें तपस्वियों का दूत नहीं बनना पड़ता। खैर, बताओ बालि कहाँ है? इन पंक्तियों में यह व्यंग्य निकलता है कि तू बालि का नालायक पुत्र है। तू अपने पिता के घातक राम का दूत बनकर यहाँ आया है। अतः तुझे लज्जा आनी चाहिए। यह व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के समान स्पष्ट या अगूढ़ है।

अपरांग व्यंग्य—"जहाँ एक व्यंग्यार्थ किसी अन्य व्यंग्यार्थ का अंग होता है, वहाँ अपरांग गुणीभूत व्यंग्य ध्वनि होती है। इसमें रस, भाव, भावाभास आदि एक दूसरे के अंग बन जाते हैं।" जैसे—

चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ।
चाह नहीं प्रेमी-माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ।
चाह नहीं सम्राटों के शव पर हे हरि मैं डाला जाऊँ।
चाह नहीं देवों के सिर पर चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ।
मुझे तोड़ लेना बनमाली उस पथ पर देना तुम फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक।

(भारतीय आत्मा : माखनलाल चतुर्वेदी)

इस उदाहरण में विभिन्न कामनाओं की अभिव्यक्ति में शान्त रस की अभिव्यक्ति हुई है किन्तु अन्ततः वीर रस में परिणति हुई है। "इसलिए इस कविता में शान्त रस एवं रति भाव की अपरांगता है। प्रधान है वीर विषयक रति भाव एवं शान्त-रस गौण है। इसी प्रकार—

डिगत पानि डिगुलात गिरि, लखि सब ब्रज बेहाल।
कंप किसोरी दरस कै, खरे लजाने लाल॥ (बिहारी ६०१)

इस दोहे में कम्प एवं रति का लज्जा भाव इन दोनों भावों की अपरांगता है। रति भाव की लज्जा कृष्ण के सात्विक भाव कंप का अंग है।

वाच्यसिद्धयङ्गव्यंग्य—जब व्यंग्य वाच्यार्थ की सिद्धि करने वाला होता है, तब उसे वाच्य सिद्धयङ्ग व्यंग्य कहते हैं। जैसे—

खेलन सिखये अलि भले चतुर अहेरी मार।
काननचारी नैन मृग नागर नरनु सिकार॥ (बिहारी ४५)

इस दोहे में कामदेव ने बड़ी-बड़ी आँखों से चतुर व्यक्तियों का शिकार करना सिखा दिया है। इस दोहे में नेत्रों के ऊपर मृगों के गुण को आरोपित कर दिया है। इस दोहे में जब तक कानों तक पहुँचने वाला अर्थ नहीं किया जायगा, तब तक रूपक बनता ही नहीं है। कानों तक पहुँचा हुआ व्यंग्यार्थ है, उसी से रूपक सिद्ध होता है। "जब तक व्यंग्य अर्थ की सिद्धि नहीं होती, तब तक वाच्यार्थ उत्पन्न नहीं होता है।"

अस्फुट व्यंग्य—"जहाँ व्यंग्य गूढ़ हो, अच्छी तरह प्रकट न हो, वहाँ अस्फुट व्यंग्य होता है। यह सहृदय हृदय भी कठिनता से समझ पाते हैं।" जैसे—

खिले नव पुष्प जग प्रथम सुगन्ध के ।
प्रथम वसन्त में गुच्छ गुच्छ ॥

सामान्यत: इन पंक्तियों में प्रकृति-वर्णन प्रतीत होता है किन्तु इन पंक्तियों का गूढ़ाशय यह है कि "युवावस्था के आगमन से अनेक प्रकार की नवीन आशाएँ प्रकट हुईं ।" अत: यहाँ व्यंग्य अस्फुट है, अत: अस्फुट गुणीभूत व्यंग्य है ।

संदिग्ध-प्राधान्य-व्यंग्य—"जहाँ पर वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ में से किसमें चमत्कार अधिक है, यह सन्देह निरन्तर बना रहे वहाँ संदिग्धप्राधान्य व्यंग्य होता है—

मानहु विधि तन-अच्छ छवि स्वच्छ राखिबे काज ।
दृग पग पोंछन को कियो, भूषन पायंदाज ॥ (विहारी ४१३)

यहाँ वाच्यार्थ है—आभूषण मानो नेत्ररूपी पैरों को पोंछने के लिए पायंदाज है और व्यंग्यार्थ यह है कि आभूषण की शोभा शरीर की शोभा के समक्ष नगण्य है । इस दोहे में वाच्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ दोनों ही चमत्कारपूर्ण हैं । कौन प्रधान है, यह निर्णय करना कठिन है, अत: इस पद में संदिग्ध प्राधान्य गुणीभूत व्यंग्य ध्वनि है ।

तुल्यप्राधान्य—जहाँ वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ दोनो समान चमत्कारपूर्ण हों, वहाँ तुल्यप्राधान्य व्यंग्य होता है । जैसे—

दिन दिन दूनी देखिये, भीर सांझ अरु भोर ।
प्यारो तेरो बदन लखि, दौरत भौंर चकोर ॥ (काव्यालोक)

इस पद में नायक किसी सुन्दरी के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहता है कि तुम्हारे मुख सौन्दर्य को देखकर भ्रमर और चकोर दिनरात भीड़ लगाये रहते हैं । यह इस दोहे का वाच्यार्थ है । जब कि व्यंग्यार्थ है कि तुम्हारा मुख चन्द्रमा एवं कमल के समान सुन्दर है । इस उद्धृत पद में व्यंग्यार्थ एवं वाच्यार्थ समान सौन्दर्य वाले हैं ।

काक्वाक्षिप्त व्यंग्य—"जहाँ पर काकु (कंठ की ध्वनि विशेष) के द्वारा व्यंग्य प्रकट किया जाता है, वहाँ काक्वाक्षिप्त व्यंग्य होता है । इसमें ध्वनि के विकार से व्यंग्य प्रकट होता है (काकुर्ध्वनेर्विकारस्तया आक्षिप्तं झटितिप्रत्यायितमित्यर्थ:) ।

उदाहरण— **हैं दससीस मनुज नायक ।**
जाके हनुमान से पायक ॥ (रामायण)

इन पंक्तियों में अंगद रावण से कह रहा है कि जिसके दूत हनुमान जैसे व्यक्ति हैं, वे श्रीराम भी मनुज हैं! काकु से स्पष्ट ध्वनि यह है कि राम मनुष्य नहीं हैं वे दिव्य हैं । अत: काक्वाक्षिप्त व्यंग्य है ।

असुन्दर व्यंग्य—जब वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ कम सुन्दर हो या असुन्दर हो, वहाँ असुन्दर व्यंग्य होता है । इसमें वाच्यार्थ अधिक सुन्दर होता है । जैसे—

विहंग सोर सुनि सुनि समुझि, पछवारे की बाग ।
जाति परी पियरी खरी, प्रिया भरी अनुराग ॥

उद्यान में पक्षियों के कोलाहल को सुनकर गृह कार्य में तल्लीन वधू के अंग शिथिल हो रहे हैं ।

इस पद में यह व्यंग्य निहित है कि निश्चित समय पर आने वाला उसका प्रियतम (उपनायक, यार) उद्यान में आ गया है। इस व्यंग्य से अंग शिथिल हो रहे हैं यह अधिक चमत्कारकारक है। उद्यान में नायक के आने पर भी नायिका विवशतावश नहीं जा सकी, फलतः उसके अंग शिथिल हो रहे हैं।

इस पद में प्रिया प्रियतम से मिलने के लिए उत्सुक है, यह व्यंग्य है किन्तु यह व्यंग्य वाच्यार्थ से भी अधिक स्पष्ट है, अतः असुन्दर व्यंग्य है।

अध्याय ८

औचित्य

प्रश्न ६३—क्षेमेन्द्र के औचित्य तत्व का विवेचन कीजिए तथा यह भी स्पष्ट कीजिए कि क्या औचित्य तत्व काव्य की आत्मा का पद ले सकता है ?

औचित्य सम्प्रदाय में काव्य की आत्मा का पद 'औचित्य' को प्राप्त है। जिस प्रकार मानव जीवन में औचित्य का महत्व है उसी प्रकार काव्य के जीवन में भी औचित्य महत्वपूर्ण तत्व है। औचित्य की सीमा अति विस्तृत है। क्योंकि **प्रत्येक तत्व का जो जिसके अनुरूप है, उसी स्थान पर प्रयोग उचित कहलाता है और उचित का भाव ही औचित्य कहा जाता है—**

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावः तदौचित्यं प्रचक्षते ॥

(औचित्य विचार चर्चा ७)

जहाँ पर औचित्य के अनुसार काव्य में कवि कार्य नहीं करता है, वहाँ काव्य उपहासास्पद हो जाता है। काव्य में रस, अलंकार, गुण, रीति आदि के द्वारा काव्यास्वाद और चमत्कार वहीं मिलता है, जहाँ इनका प्रयोग औचित्यपूर्ण होता है। रस आदि का अनुचित प्रयोग काव्यास्वाद और काव्य सौन्दर्य का घातक होता है। मुनिचन्द्र ने औचित्य के महत्व का आकलन करते हुए लिखा है कि "यदि काव्य में एक ओर औचित्य है तो गुण-समुदाय वहाँ विद्यमान है। यदि औचित्य नहीं है तो दूसरी ओर गुण-समुदाय भी सर्वथा व्यर्थ है।"

औचित्य सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र ने भी लिखा है कि "काव्य में अलंकार और गुण आदि सभी व्यर्थ हैं यदि उसमें काव्य के जीवित औचित्य का निर्वाह नहीं हुआ है।" (औ० वि० च० ४)। उन्होंने और भी स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि अलंकार अलंकार है, अर्थात् बाह्य शोभादायक तत्व हैं, और गुण भी गुण ही हैं (सत्य, शील आदि की तरह), किन्तु रससिद्ध काव्य का स्थिर जीवन अथवा आत्मा तो

औचित्य ही है—

अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ॥

(औ० वि० च० ५)

"लौकिक अलंकार में अलंकारत्व इसीलिए है कि वह अंगों की शोभा बढ़ाता है। यदि वह अंगों की शोभा नहीं बढ़ा पाता तो, स्वयं कितना भी सुन्दर क्यों न हो अलंकार नहीं कहा जा सकता। सुवर्ण-निर्मित हार तभी मनोहर है जब वह ललना के वक्षस्थल पर रहकर अंग की शोभा बढ़ाता है। यदि वही नितम्ब पर लटकाया जाय तो वह केवल हारत्व को ही नहीं खोता अपितु उस ललना के अल्हड़पन को दिखलाकर उसको हास्यास्पद बना डालता है। इसी तरह काव्य में रस, अलंकार, गुण, रीति आदि का जब औचित्यपूर्ण विन्यास होता है तभी वे शोभादायक होते हैं, अन्यथा नहीं। अतएव औचित्यवाद के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र ने कहा है कि यदि कोई रूपवती ललना अपने गले में मेखला, नितम्ब पर हार, हाथों में नूपुर और चरणों में केयूर पहने तो कौन उस पर नहीं हँसेगा? वैसे ही यदि कोई व्यक्ति शरणागत पर वीरता और शत्रु पर करुणा दिखावे तो कौन उसकी मूर्खता की खिल्ली नहीं उड़ायेगा? अतः औचित्य के बिना न तो अलंकार वैचित्र्य पैदा करते हैं और न गुण ही सौन्दर्य बढ़ाते हैं"—

उचित स्थान विन्यासादलंकृतिरलंकृति।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः ॥ (औ० वि० च० ६)
कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा।
पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूर-पाशेन वा।
शौर्येण प्रणते, रिपौ करुणया, नायान्ति के हास्यताम्।
औचित्येन बिना रुचिं प्रतनुते, नालंकृतिर्नोगुणा।

(औ० वि० च० ७-८)

अतः औचित्य काव्य का एक अनिवार्य तत्व है। यह काव्य के प्रत्येक अंग में रहना चाहिए क्योंकि जहाँ पर उसका अभाव होता है, वहीं पर रसभंग का कारण बनता है। आनन्दवर्धन ने भी लिखा है कि "अनौचित्य के अतिरिक्त रसभंग का और दूसरा कोई कारण नहीं है, तथा औचित्य से बढ़कर रस का परम रहस्य नहीं है।"

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥

(ध्वन्यालोक ३।१४ की कारिका की वृत्ति से उद्धृत)

इस विवेचन के आधार पर हमारा विचार यह है कि क्षेमेन्द्र की इस औचित्य विषयक विचारधारा की मूल-प्रेरणा आनन्दवर्धन की विचारधारा ही है क्योंकि क्षेमेन्द्र के विचार आनन्दवर्धन से प्रभावित हैं। वैसे तो आनन्दवर्धन से पहले भी रुद्रट, भट्ट-लोल्लट, दण्डी, भामह और भरतमुनि तक ने काव्य और नाटक में औचित्य के महत्व

को स्वीकार किया था। यही नहीं, क्षेमेन्द्र अभिनवगुप्त के शिष्य थे, अभिनवगुप्त आनन्दवर्धन के। इस शिष्य-परम्परा से भी सिद्ध है कि क्षेमेन्द्र की विचारधारा मौलिक नहीं है वे केवल इस सिद्धान्त के प्रतिष्ठाता ही हैं। उन्होंने काव्य के प्रत्येक पात्र, शब्द पद, रीति, वृत्ति, गुण, वर्ण, लिंग, वचन, कारक, वाक्य, रस, भाव, अलंकार, प्रबन्ध, विषय आदि में औचित्य के अस्तित्व को महत्वपूर्ण स्वीकार किया है।

आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त और क्षेमेन्द्र 'रस' के महत्व को स्वीकार करते हैं। क्षेमेन्द्र की रस-सिद्धान्त में पूर्ण आस्था थी। "अभिनवगुप्त ने औचित्य से संवलित रस-ध्वनि को काव्य की आत्मा बताया था।" क्षेमेन्द्र ने ध्वनि को महत्व न देकर केवल रस को मान्यता प्रदान की है, रस को काव्य का आत्मतत्व भी स्वीकार किया है और बाद में औचित्य को रस का जीवित या रस सिद्ध काव्य का जीवित सिद्ध किया है—

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारु चर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना॥ (औ० वि० च० ३)

आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य के भेदों की व्यापक चर्चा करते हुए लिखा है कि काव्य के समस्त शरीर में जीवनभूत औचित्य की स्थिति प्रधान रूप से जहाँ-जहाँ होती है, वह इस प्रकार हैं—

पद, वाक्य, प्रबन्ध, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, देश, काल, कुल, व्रत, तत्व, सत्त्व, अभिप्राय, सारसंग्रह, प्रतिभा, अवस्था विचार, नाम आशीर्वचन, औचित्य के इन सत्ताईस भेदों का उल्लेख क्षेमेन्द्र ने किया है।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने इन भेदों का विस्तार से लक्षण—उदाहरण-पूर्वक विवेचन किया है। किन्तु वे इन भेदों के अतिरिक्त औचित्य के अनन्त भेद भी स्वीकार करते हैं, और विस्तार के भय से उनका उल्लेख नहीं करते हैं "अन्येषुकाव्याङ्गेषु अनयैव दिशा स्वयं औचित्यं उत्प्रेक्षणीयम्। तदुदाहरणानि, आनन्त्यात् न प्रदर्शितानि इति अलं अतिप्रसङ्गेन।

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में भी औचित्य तत्त्व पर विचार किया गया है। "पाश्चात्य साहित्य समीक्षण में औचित्य बाह्य सौन्दर्य का साधन है, भारत में वह कला का प्राण अन्तरंग तत्त्व है, दोनों की तुलना हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचाती है। अरस्तू ने Poetics तथा Rhetoric में इसकी बड़ी मार्मिकता से समीक्षा की है। उनकी दृष्टि में गद्य को अलंकृत करने तथा ऊर्जस्वी बनाने का मुख्य साधन 'रूपक' का प्रयोग है। औचित्य से सज्जित रूपक गद्य का भूषण है परन्तु अनौचित्य से सम्पन्न रूपक गद्य का दूषण है।....अरस्तू की सम्मति में औचित्य रचना का एक महनीय तत्व है जिसका अवलम्बन रचना को महनीय, प्रभावशाली तथा उत्तेजक बनाने में सर्वथा समर्थ होता है।" लोजांइनस ने अपने On the Sublime नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ में औचित्य तत्व पर विचार किया है, काव्य के लिए औचित्य को वे एक अनिवार्य तत्व मानते हैं, काव्य कला की चरम कसौटी भी वे औचित्य को ही मानते हैं। उनका मत

है कि "शब्दौचित्य का विधान काव्य में सौन्दर्य शक्ति, प्रभाव, महत्व तथा भव्यता का उत्पादक होता है।"

होरेस भी औचित्य के महत्व को स्वीकार करता है। उसका आग्रह है कि कवियों को औचित्य का संरक्षण करना चाहिए।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि औचित्य काव्य का एक महत्वपूर्ण अनिवार्य तत्व है, यह काव्य का अन्तरंग तत्व है, इसका काव्य के आत्मतत्व रस के साथ साक्षात् सम्बन्ध है, इसके अभाव में निर्दोष काव्य की कल्पना भी सम्भव नहीं है। औचित्य तत्व काव्य को प्राणदायिनी शक्ति प्रदान करता है। अतः इसका महत्व स्वयं सिद्ध है।

प्रश्न ६४—काव्य के विभिन्न तत्वों के साथ औचित्य-तत्व के साम्य-वैषम्य का निरूपण कीजिए।

औचित्य एवं रस—औचित्य और रस का सम्बन्ध प्राण और आत्मा का है। रस सिद्ध होने पर ही औचित्य महत्वपूर्ण तथा आनन्द-विधायक होता है। क्षेमेन्द्र ने लिखा है कि "जैसे मधुमास अशोक को अंकुरित करता है, उसी प्रकार रस के साथ औचित्य का मणिकांचन योग होने से रुचिर-रस-सहृदय के हृदय में आह्लाद को अंकुरित करता है। जिस प्रकार मधुर, तिल आदि लौकिक रस उचित मात्रा से मिलाये जाने पर अपूर्व आस्वाद पैदा करते हैं, वैसे शृङ्गार आदि रस औचित्य पूर्ण ढंग से परस्पर काव्य में संयोजित होने पर अपूर्व आह्लाद उत्पन्न करते हैं। रसों के परस्पर संयोजन में औचित्य के निर्वाह होने पर ही चमत्कार आता है" अन्यथा रस-सांकर्य वैरस्य को उत्पन्न करता है।

क्षेमेन्द्र से पहले आचार्य आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त ने औचित्य और रस के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा की थी। आनन्दवर्धन ने **"काव्यस्यात्मा स एवार्थः"** कारिका के द्वारा प्रतीयमान रस को काव्य की आत्मा मानते हुए औचित्य को रस योजना में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उनका मत है कि "औचित्य के अतिरिक्त रस-भंग का और कोई कारण नहीं है और प्रसिद्ध औचित्य का प्रयोग ही रस का परम रहस्य है।" आनन्द के अनुसार निर्भ्रान्त मत यह है कि रस और औचित्य का अटूट सम्बन्ध है।

आनन्दवर्धन ने विभावौचित्य के प्रसंग में विचार करते हुए शृंगार रस चित्रण में भी प्रकृत्यौचित्य को महत्वपूर्ण माना है। वे परम्परागत इतिवृत्त के प्रकृत रस के प्रतिकूल वर्णन के त्यागने का आग्रह भी करते हैं। उनका स्पष्ट मत यह है कि "कवि-कल्पित कथानक का संविधान अभीष्ट रस के समुचित ही होना चाहिए। काव्य में औचित्य का अनुसरण करने से ही अनवसर में विस्तार और विच्छेद, अंग का अतिविस्मरण, अंगी का अननुसंधान आदि रसदोष होते हैं। काव्य के प्रत्येक अंग में औचित्य विधान का ऐसा ध्यान रखना चाहिए जिससे रस-प्रवाह में किसी प्रकार की बाधा न हो।"

(ध्वन्यालोक ३।१०-१४)

रस औचित्य के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में अभिनवगुप्त ने भी विस्तार से चर्चा की है। उनके अनुसार औचित्य तत्व काव्य की आत्मा रस-ध्वनि का प्रमुख सहायक होता है। अतः औचित्य संवलित रस-ध्वनि काव्य है—"उचित शब्देन रस-विषयमौचित्यं भवतीति दर्शयन् रसध्वनेर्जीवितत्वं सुजयति। तदभावेहि किमपेक्षया इदमौचित्यं नाम सर्वत्रोद्घोष्यते इति भावः। (ध्वन्यालोकलोचन २।६ की वृत्ति)

निष्कर्ष यह है कि औचित्य और रसध्वनि का पारस्परिक सम्बन्ध ही काव्य का आत्मतत्व है। रसध्वनि के अभाव में औचित्य का महत्व बहुत ही अल्प हो जाता है और औचित्य के बिना रस भी सहृदय को पीड़ादायक होता है। अतः इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध काव्य सौन्दर्य का विधायक होता है।

औचित्य और अलंकार—अलंकार और औचित्य का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। "जैसे अलंकार्य के रहने पर ही अलंकार का महत्व है, क्योंकि मृतशरीर पर आभूषण व्यर्थ ही नहीं होता, अपितु वैरस्य उत्पन्न करता है, वैसे ही अलंकार्य के अस्तित्व में भी औचित्यपूर्ण ही अलंकार का विधान शोभादायक होता है, अन्यथा नहीं, क्योंकि संन्यासी के शरीर पर अलंकार उसको हास्यास्पद ही बनाता है।" इससे स्पष्ट है कि औचित्य अलङ्कारत्व का विधायक है। अतः रसादि के अनुकूल अलङ्कार का स्वाभाविक वर्णन होना चाहिए, अलङ्कार विधान के लिए कवि को प्रयत्न नहीं करना चाहिए। अलङ्कार का संयोग जहाँ अनायास ही हो जाता है वहीं अलङ्कार ध्वनि काव्य का अलङ्कार होता है।

इसीलिए आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में लिखा है कि "काव्य के आत्मभूत ध्वन्यमान श्रृङ्गार रस में विशेष रूप से विप्रलम्भ-शृंगार में यमक, शब्दश्लेष, खड्गबन्ध, मुरजबन्ध आदि का प्रयोग करना सर्वथा अनुचित है। क्योंकि ध्वन्यात्मक शृंगार में उचित रूप से प्रयुक्त होने पर ही रूपकादि अलङ्कारवर्ग वास्तविक अलङ्कारता को प्राप्त करता है" और अपने नाम को चरितार्थ करते हैं।

आनन्दवर्धन ने औचित्य और अलंकार के सम्बन्ध को निम्न पांच सूत्रों के द्वारा स्पष्ट किया है उनकी कारिकायें निम्न हैं—

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता।
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादिरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम्॥ (ध्व० २।१८-१९)

अर्थात्-

(१) अलंकार का विधान रस आदि तत्वों के अंगरूप में होना चाहिए।

(२) अलंकार कभी अंगी रूप में नहीं होना चाहिए।

(३) अलंकार का उचित स्थान पर मुख्य वस्तु के अनुकूल ग्रहण और त्याग होना चाहिए।

(४) आदि से अन्त तक अलंकार के विधान का अत्यन्त आग्रह नहीं होना

चाहिए।

(५) यदि अलंकार का विधान यत्नपूर्वक भी किया गया है तो भी वह अंग रूप में ही होना चाहिये।

आशय स्पष्ट यह है कि अलंकार की चकाचौंध में रस आदि आत्मतत्व की उपेक्षा नहीं होनी चाहिये। अलंकार और रस का सन्निवेश औचित्य की सीमा में होना चाहिए। जैसे संसार में लौकिक अलंकार उचित रूप में प्रयुक्त होने पर अलंकारधारी के सौन्दर्य को बढ़ाता है, वैसे ही काव्य में रसादि अलंकार्य को अलंकृत करने के लिए अलंकार का औचित्यपूर्ण प्रयोग होना चाहिए। इसीलिए आचार्य क्षेमेन्द्र ने लिखा है कि औचित्य के बिना अलंकार सौन्दर्य का वर्द्धक नहीं होता, उचित स्थान पर प्रयुक्त होने पर ही वह अलंकार है, शोभादायक है—

औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणाः।

(औ० वि० च० ६ की वृत्ति)

यही औचित्य और अलंकार के पारस्परिक सम्बन्ध का रहस्य है।

औचित्य और रीति—'औचित्य-विचार-चर्चा' में क्षेमेन्द्र ने काव्य के प्रत्येक अङ्ग में औचित्य के सन्निवेश का आग्रह किया है—'काव्यस्याङ्गेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम्'। ध्वन्यालोककार ने भी संघटना या रीति के साथ प्रतिपादित औचित्य के सम्बन्ध को महत्वपूर्ण माना है। आनन्दवर्धन के अनुसार "पद-रचना जब सम्यक् अर्थात् औचित्यपूर्ण होने से रसानुकूल होती है तो 'संघटना' कहलाती है।' संघटना में अपूर्व सौन्दर्य लाने के लिए ही उन्होंने वक्त्रौचित्य, वाच्यौचित्य और विषयौचित्य को उनका नियामक माना है। वक्ता का अर्थ है कवि या कविनिबद्ध काव्य, नाट्य आदि का पात्र। वाच्य का अर्थ है प्रतिपाद्य विषय तथा विषय का तात्पर्य है काव्य का प्रभेद अर्थात् मुक्तक, युग्मक, सन्दानितक, विशेषक, कलापक, कुलक, पर्यायबन्ध, खण्ड-काव्य, महाकाव्य, दृश्यकाव्य, परिकथा, सकलकथा, खण्डकथा, कथा, आख्यायिका आदि। आशय यह है कि 'संघटना के साथ औचित्य के निर्वाह की उद्भावक चर्चा आनन्दवर्धन ने की थी, उन्होंने औचित्यतत्व के द्वारा रीति या संघटना या नियन्त्रण भी किया था।

काव्य की विविध विधाओं में औचित्य की अवहेलना किसी भी प्रकार क्षम्य नहीं हो सकती; क्योंकि वीररस में कोमलकान्त पदावली का प्रयोग, शान्तरस के प्रवन्ध में श्रुतिकटु दीर्घसमास पदावली का प्रयोग क्या उचित है? सुकुमार वर्ण्यविषय के लिए कोमलकान्त पदावली और ओज और शौर्य पूर्ण परुषविषयक के लिए कठोर रचना ही स्वाभाविक और श्रेयस्कर होती है।

आशय यह है कि काव्य के रचना-विधान में औचित्य का महत्वपूर्ण स्थान है। आनन्दवर्धन ने "रस आदि के अनुकूल शब्द और अर्थ के औचित्यपूर्ण प्रयोग से निर्मित उपनागरिकता आदि शब्दवृत्ति और कैशिकी आदि अर्थवृत्तियों में भी औचित्य की स्थिति आवश्यक मानी है।

इस औचित्य का निर्वाह न होने पर काव्य के दोषपूर्ण होने की सम्भावना है। अतः रीति और औचित्य का शरीर और प्राण का सम्बन्ध है।

औचित्य और ध्वनि—क्षेमेन्द्र रचित 'औचित्य-विचार-चर्चा' का उपजीव्य-ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' है। किन्तु क्षेमेन्द्र ने ध्वनि को काव्य की आत्मा न मानकर औचित्य को काव्य की आत्मा माना है। उनके तर्कों का आधार भी ध्वन्यालोक की प्रतिपादन-शैली है।

क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य की आत्मा का पद-प्रदान किया है, किन्तु आनन्दवर्धन ने औचित्य से संवलित रसादि-ध्वनि को काव्य की आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित किया है। औचित्य और ध्वनि-तत्वों की पारस्परिक तुलना से यह निष्कर्ष सिद्ध है कि "रसादि-ध्वनि अपने आप में सिद्धि होने के कारण काव्य में आत्म स्थानीय है परन्तु औचित्य अपने आपमें सिद्ध न होकर साधन रूप है।....इसीलिए रसादि ध्वनि को लेकर ही औचित्य का भी महत्व है अन्यथा औचित्य का अपने आप में कोई भी महत्व नहीं है। रसादि-ध्वनि के साथ ही औचित्य अपना सम्बन्ध जोड़ता है। आत्मा के बिना जीवन जैसे असंभव है उसी प्रकार रसादि-ध्वनि के बिना औचित्य असंभव है।"

निष्कर्ष रूप में हम यही कह सकते हैं कि रस-ध्वनि और औचित्य परस्पर पूरक हैं, रस-ध्वनि यदि अंगी है, सिद्धि है, तो औचित्य अंग और साधन रूप।

औचित्य और वक्रोक्ति—औचित्य और वक्रोक्ति का भी अन्य काव्यतत्वों के समान परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। कुन्तक ने आनन्दवर्धन के समान ही औचित्य और विभिन्न वक्रताओं का सम्बन्ध जोड़ा है, जो कि इस बात का प्रमाण है कि इन दोनों काव्य-तत्वों में परस्पर सम्बन्ध है। कुन्तक ने औचित्य की आवश्यकता का वक्रता के विभिन्न रूपों में प्रतिपादन किया है। कभी-कभी तो वे वक्रत्व और औचित्य में एकता का प्रतिपादन भी करते हैं। उन्होंने लिखा है कि पदों का औचित्य उनका नाना प्रकार के भेदों से युक्त वक्रभाव है—"पदस्य तावदौचित्यं बहुविध-भेद-भिन्नोवक्र-भावः।" कुन्तक ने अपने काव्यलक्षण में औचित्य का स्पष्ट उल्लेख न करके भी उसकी ओर संकेत किया है, वे शब्द और अर्थ का औचित्यपूर्ण सहभाव ही काव्य स्वीकार करते हैं। यही नहीं, कुन्तक ने अपने सुकुमार आदि तीनों मार्गों में औचित्य की स्थिति आवश्यक मानी है। औचित्य की परिभाषा में कुन्तक ने लिखा है कि "जिस स्पष्ट वर्णन के द्वारा स्वभाव के महत्व का पोषण होता है वही उचिताख्यान का जीवित स्वभावानुरूप वर्णन का प्राण औचित्य है।

कुन्तक के मत में जो उचिताख्यान है, वही क्षेमेन्द्र का उचित का भाव औचित्य है। अतः इन दोनों में साम्य है।

कुन्तक ने अपनी वक्रताओं की पर्याप्त व्याख्या की है, उस व्याख्या के आधार पर हम निष्कर्ष रूप में यह कह सकते हैं कि कुन्तक की पद, वाक्य, प्रबन्ध आदि की वक्रताओं तथा क्षेमेन्द्र के औचित्य में पर्याप्त साम्य और नैकट्य है। किन्तु ऐक्य नहीं। क्योंकि कुन्तक ने औचित्य को विभिन्न वक्रताओं का आधार माना है, वक्रोक्ति की

वक्रता की सिद्धि में औचित्य साधन है अतः उन्हें एक नहीं माना जा सकता है।

निष्कर्ष रूप में हम यही कह सकते हैं कि **रस रूप आत्मतत्व की सिद्धि में वक्रोक्ति और औचित्य समान रूप से साधन हैं। इन दोनों के द्वारा आनन्द रूप परम लाभ की उपलब्धि होती है, अतः दोनों ही समान रूप से महत्वपूर्ण हैं।**

अध्याय ६

छन्द

प्रश्न ६५—छन्दो के बिकास का निरुपण करते हुए काव्य में छन्दों की महत्ता व उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।

छन्द क्या है ?—लय, वर्ण अथवा मात्राओं के व्यवस्थित और सुनियोजित अनुपात का नाम छन्द है, जिसके द्वारा काव्य में स्थायित्व, प्रभाव और हृदय-हारिता आती है। काव्य को ललित कलाओं में सर्वश्रेष्ठ माना गया है और काव्य की सरसता उसके भावपूरित होने के साथ-साथ छन्दोबद्ध रहने पर भी अवलंबित रहती है। इसीलिए कविता और छन्द का अटूट सम्बन्ध है। कविता ने छन्द की भूमि पर संचरण करते हुए ही अपना नयनोन्मीलन किया था। वैदिक साहित्य से ही छन्दों का प्रयोग होने लगा था। 'छद्' धातु में 'असन्' प्रत्यय लगने से 'छंद' शब्द बना है। आरम्भ में इसका प्रयोग 'आच्छादन' के अर्थ में हुआ। 'छान्दोग्योपनिषद्' में लिखा है—

"दैवा व मृत्योर्विभ्यस्त्रयीं विद्यां प्राविशस्ते छन्दोभिरच्छादयन्यदोभिराच्छादयस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्", अर्थात् मृत्यु से भयभीत होकर देवताओं ने अपने को छन्दों से आच्छादित कर लिया।

आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक काव्य में छन्दों की अनिवार्यता स्वीकार की जाती रही है। चाहे तुकान्त काव्य हो चाहे अतुकान्त हो और चाहे मुक्त छन्द में लिखा गया हो, पर छन्द उसमें अनिवार्य रूप से रहता ही है। छन्द की मूल आत्मा है—लय एवं प्रवाह। आधुनिक काल की छन्द विहीन कही जाने वाली कविताएँ भी लय एवं प्रवाह से रहित नहीं रहती हैं; इसीलिए उन्हें भी छन्दोबद्ध मानना ही उचित है। इन कविताओं में मात्रा और वर्ण के नियमों का पालन न होने पर भी प्रवाहमयता अवश्य ही विद्यमान रहती है। इस प्रकार छन्द काव्य के साथ अपना अविच्छिन्न सम्बन्ध रखते हैं।

छन्दों का विकास—वेद संसार का आदि साहित्य हैं। वेदों के छः अंग माने

गये हैं—शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और कल्प। इस प्रकार छन्द वेदांग के अन्तर्गत आते हैं। सामवेद में संगीतात्मकता का निर्वाह है। संगीतात्मकता छन्द की एक महत्वपूर्ण विशेपता है। इस दृष्टि से भी छन्दों का प्राचीन अस्तित्व प्रकट है। 'मुण्डकोपनिषद' में छन्द का विवेचन है। यास्क मुनि के 'निरुक्त' में भी छन्दों पर विचार किया गया है। वैदिक छन्दों में गायत्री, अनुष्टुप्, वृहती, पंक्ति जगती आदि प्रमुख हैं। इनमें मात्रा विचार नहीं था। अक्षर-गणना तथा ध्वनि-साम्य के आधार छन्द रचना होती थी। वैदिक साहित्य में अनेक वार छन्दों के नियमों में अपवाद मिल जाते हैं। वस्तुतः छन्द की गति उसके आरोह और अवरोह पर निर्भर करती है।

छन्द शास्त्र के प्राचीनतम आचार्यों में पिंगल मुनि का नाम सम्मान से लिया जाता है। इस ऋषि ने ही गण-शैली का प्रवर्तन किया था। सम्पूर्ण संस्कृत छन्दःशास्त्र इन्हीं गणों की सीमा में आवद्ध हो गया है। फलस्वरूप उसमें जटिलता और नियमवद्धता अधिक हो गयी है। पिंगल मुनि के नाम पर ही इसे 'पिंगल शास्त्र' भी कहा जाता है। इस ऋषि का समय लगभग ईसा पूर्व २०० है। इनकी रचना का नाम—**'छन्दः सूत्रम्'** है। अग्निपुराण में प्राप्त 'आग्नेय छन्दः सार' पिंगल मुनि की रचना पर आधारित है। 'पिंगलोक्तं यथाक्रमम्' लिखकर रचनाकार ने अपनी स्वीकृति घोषित की है। भरत के नाट्यशास्त्र में भी छन्दों का संक्षिप्त निरुपण मिलता है। छन्दःशास्त्र के दूसरे आचार्य का नाम **'कालिदास'** है। इनका समय ई० पू० ५७ है। इनकी पुस्तक का नाम **'श्रुतबोध'** है। छन्दःशास्त्र के तीसरे आचार्य **क्षेमेन्द्र** हैं। इनका समय १०५० ई० है। इनकी कृति का नाम **'सुवृत्त-तिलक'** हैं। छन्दःशास्त्र के इतिहास में चौथी पुस्तक है—**'वृत्तरत्नाकर'**। यह एक लोकप्रिय रचना है, इसका रचनाकाल बारहवीं शती है। इसके रचयिता **केदारभट्ट** हैं। **छन्दोऽनुशासन** चौदहवीं शताब्दी की **जयदेव** की रचना है। छन्दोनुशासन नाम की एक रचना **हेमचन्द्र** की भी है। इनका समय १०८८-११७२ ईसवीय है। **गङ्गादास** रचित **'छन्दोमंजरी'** एक लघुकाय, सरल, रोचक तथा लोकप्रियता रचना है। इसका रचनाकाल १५वीं शताब्दी है। **दामोदर** मिश्र की **'वाणीभूषण'** सोलहवीं शताब्दी की रचना है। **दुःखभंजन** कृत **'वाग्भल्लभ'** भी छन्दः-शास्त्र की एक प्रसिद्ध रचना है। इसका समय १९वीं शताब्दी बतलाया जाता है। इन रचनाओं के अतिरिक्त **'प्राकृत पैंगलम्'** नाम की एक अन्य रचना भी छन्दःशास्त्र की है। इसके लेखक का नाम अज्ञात है।

उपर्युक्त संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश के छन्दशास्त्र की रचनाओं को देखने पर विदित होता है कि छन्द लेखन की चार प्रमुख शैलियाँ पल्लवित हो रही थीं—

(१) सूत्र शैली—पिंगलाचार्य तथा आचार्य हेमचन्द्र द्वारा व्यवहृत।

(२) श्लोक शैली—इस शैली का प्रयोग अग्निपुराण एवं नाट्यशास्त्र में मिलता है।

(३) एकनिष्ठ शैली—इस शैली में लक्षण ही उदाहरण का भी कार्य करता है। गंगादास और केदारभट्ट की रचनाओं में यह शैली प्रयुक्त हुई है।

(४) मिश्रित शैली—लक्षण में ही उदाहरण मिलता है तथा अलग से उदाहरण भी दिया गया है। जैसे प्राकृत पैंगलम्।

हिन्दी छन्दःशास्त्र का विकास उपर्युक्त परम्परा की पृष्ठभूमि में ही हुआ है। इन शैलियों का प्रभाव भी विभिन्न रचनाओं पर दृष्टिगत होता है। "विकासक्रम की दृष्टि से देखा जाय तो वे निश्चय ही पिंगलशास्त्र की अखंड परम्परा का अविभाज्य एवं महत्वपूर्ण अंग सिद्ध होती हैं। उनमें कहीं-कहीं पूर्ववर्ती अनेक प्राचीन ग्रन्थों का उल्लेख भी मिलता है। हिन्दी छन्दशास्त्र के ग्रन्थों में मतिराम के नाम से विख्यात 'छन्दसार-पिंगल', चिन्तामणि का 'छन्दविचार' (१७वीं श० ई० पूर्वा०), सुखदेव का 'वृत्तविचार' (१६७१ ई०), माखन का 'छन्दविलास' या 'श्रीनाग पिंगल' (१७०३ ई० के लगभग), नारायणदास कृत 'छन्दसार' (१७७२ ई०), भिखारीदास कृत 'छन्दोर्णव' (१७४२ ई०) दशरथकृत 'वृत्तविचार' (१७९९ ई०), रामसहाय कृत 'वृत्ततरंगिणी' (१८१६ ई०), कलानिधि कृत 'वृत्तचन्द्रिका', पद्माकर की 'छन्दसारमंजरी', नन्दकिशोर कृत 'पिंगल-प्रकाश' (१८०१ ई०) गदाधर भट्ट 'छन्दोमंजरी' (१८८३ ई०) तथा जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' का छन्द प्रभाकर (१९२२ ई०) प्रमुख हैं। नारायण प्रसाद कृत 'पिंगलसार', रामनरेश त्रिपाठी कृत 'पद्य-रचना', अवध उपाध्याय कृत 'नवीन पिंगल', महामहोपाध्याय परमेश्वरानन्द कृत 'छन्द-शिक्षा', परमानन्द शास्त्री कृत 'पिंगल पीयूष' तथा रघुनन्दन शास्त्री रचित 'हिन्दी छन्द प्रकाश' अन्य आधुनिक रचनाएँ हैं। छन्द विषयक इन ग्रन्थों के अतिरिक्त अनेक रीतिग्रन्थों में भी इस विषय का समावेश मिलता है। जैसे 'सोमनाथ' के 'रसपीयूषनिधि' (१७३७ ई०) की तीसरी, चौथी, 'पांचवीं तरंगों में तथा देव के 'शब्दरसायन के दशम और एकादश प्रकाश में।

छन्द शास्त्र के इन हिन्दी रचनाकारों ने पिंगलाचार्य, भामह, अगस्त्य आदि पूर्व रचयिताओं का सम्मानपूर्वक स्मरण ही नहीं किया गया है, उनका आभार भी स्वीकार किया है। डा० जगदीशगुप्त ने लिखा है कि "इस प्रकार छन्दशास्त्र के प्रणयन की लगभग अखण्ड परम्परा वर्तमान समय तक चली आती है। हिन्दी शास्त्रकारों ने गद्य का भी प्रयोग किया है। जैसे सुखदेव, गदाधरभट्ट और भानु ने। छन्दों के नये वर्गीकरण का प्रयास भी दशरथ और रामसहाय आदि के द्वारा हुआ है तथा तुक आदि नये विषय भी समाविष्ट कर लिये गये हैं। हिन्दी की तरह सम्भवतः किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा में छन्दशास्त्र का विकास नहीं हुआ है।"

आधुनिक काल में छन्दों के अस्तित्व को लेकर भी गम्भीर विचार-मन्थन हुआ है। उनके अस्तित्व को भी चुनौती दी जा चुकी है। छन्दों की आवश्यकता और अनिवार्यता का पुनरावलोकन किया गया है। मुक्त छन्द और छन्द मुक्त रचना की बात चली है। इन विचारकों में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, सुमित्रानन्दन पन्त, लक्ष्मीनारायण सुधांशु तथा डा० पुत्तूलाल शुक्ल के नाम उल्लेखनीय हैं। डा० शुक्ल का शोध प्रबन्ध ही 'आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द योजना' विषय पर है। तथा डा० शिवनन्दन प्रसाद कृत 'मात्रिक छन्दों का

विकास' ग्रन्थ भी महत्वपूर्ण है ।

आधुनिक विचारकों के छन्द विषयक कुछ विचार यहाँ प्रस्तुत हैं । सर्वप्रथम आचार्य द्विवेदी ने छन्दों की नवीनता की आवश्यकता अनुभव करते हुए मात्रिक छन्दों के साथ संस्कृत वर्णिक वृत्तों को अपनाने की प्रेरणा दी । फलस्वरूप हरिऔध, मैथिलीशरण आदि ने इस प्रकार के प्रयोग भी किये । द्विवेदी जी के तुकान्त और अतुकान्त रचना विषयक विचार प्रस्तुत हैं—

"जो सिद्ध कवि हैं वे चाहे जिस छन्द का प्रयोग करें उनका पद्य अच्छा ही होता है, परन्तु सामान्य कवियों को विषय के अनुकूल छन्द योजना करनी चाहिए । + + दोहा, चौपाई, सोरठा, घनाक्षरी, छप्पय और सवैया आदि का प्रयोग हिन्दी में बहुत हो चुका । कवियों को चाहिये कि यदि वे लिख सकते हैं तो इसके अतिरिक्त और छन्द भी लिखा करें । हम यह नहीं कहते कि ये छन्द नितान्त परित्यक्त ही कर दिये जायें । हमारा अभिप्राय यह है कि इनके साथ-साथ संस्कृत काव्यों में प्रयोग किये गए वृत्तों में से दो-चार उत्तमोत्तम वृत्तों का भी प्रचार किया जाए । + + + यदि कविता सरस और मनोहारिणी है, तो चाहे वह एक ही अथवा बुरे से बुरे छन्दों में क्यों न हो उससे आनन्द अवश्य ही मिलता है ।+ +

पादांत में अनुप्रासहीन छन्द भी हिन्दी में लिखे जाने चाहिये । इस प्रकार के छन्द जब संस्कृत, अँग्रेजी और बंगला में विद्यमान हैं । तब कोई कारण नहीं कि हमारी भाषा में वे न लिखे जायें ।

किसी भी प्रचलित परिपाटी का क्रम-भंग होता देख प्राचीनता के पक्षपाती बिगड़ खड़े होते हैं और नई चाल के विषय में नाना प्रकार की कुचेष्टाएं और दोषोद्भावनाएँ करने लगते हैं, यह स्वाभाविक वात है । परन्तु यदि इस प्रकार की टीकाओं से लोग डरते, तो संसार से नवीनता का लोप ही हो जाता । हमारा यह मतलब नहीं कि पादान्त अनुप्रास वाले छन्द लिखे ही न जाया करें । हमारा कथन इतना ही है कि इस प्रकार के छन्दों के साथ अनुप्रासहीन छन्द भी लिखे जायें, बस ।" (रसज्ञ-रंजन)

उपर्युक्त उद्धरण में आचार्य द्विवेदी ने कविता में छन्द की अपेक्षा भाव को महत्व दिया है, संस्कृत, अंग्रेजी और बंगला के प्रयुक्त अतुकान्त छन्दों को अपनाने का सुझाव दिया है । तीसरी बात नवीनता के विरोधियों की ओर ध्यान न देने की बात कही है ।

इसी पृष्ठभूमि में निराला जी ने परम्परागत छन्दों को कविता सृजन में बाधक मानकर संस्कृत, अंग्रेजी और बंगला के छन्दों का प्रयोग किया ।

छन्द कविकर्म में बाधक हैं, वे कठिनाईयाँ प्रस्तुत करते हैं, और कविकर्म को कठिन भी बनाते हैं । आलोचकों के इस कथन को ध्यान में रखते हुए श्री हरिऔध ने लिखा है—

"कवि कर्म बहुत ही दुरुह है । जब कवि किसी कविता का एक चरण निर्माण करने में तन्मय होता है, तो उस समय उसको बहुत ही दुर्गम और संकीर्ण में होकर

चलना पड़ता है। प्रथम तो छन्द की गिनी हुई मात्रा अथवा गिने हुए वर्ण उसका हाथ-पांव बांध देते हैं, उसकी क्या मजाल कि वह उसमें से एक मात्रा घटा या बढ़ा देवे, अथवा एक गुरु को लघु के स्थान पर या एक गुरु के स्थान पर एक लघु को रख देवे। यदि वह ऐसा करे तो वह छन्द रचना का अधिकारी नहीं। जो इस विषय में सतर्क होकर वह आगे बढ़ा, तो हृदय के भावों और विचारों को उतनी ही मात्रा या उतने ही वर्णों में प्रकट करने का झगड़ा सामने आया, इस समय जो उलझन पड़ती है, उसको कवि हृदय ही जानता है। यदि विचार मात्रा अथवा वर्णों में स्पष्टतया न प्रकट हुआ, तो उसको यह दोष लगा कि उसका वाच्यार्थ साफ नहीं, यदि कोमल वर्णों में वह स्फुरित न हुआ, तो कविता श्रुतिकटु हो गई।" (प्रियप्रवास)

निस्सन्देह कविकर्म कठिन है। छन्द स्वच्छन्द भावाभिव्यक्ति में बाधा डालते हैं फिर भी हरिऔध जी ने वर्णिक एवं मात्रिक छन्दों को अपनाया है। संस्कृत के वर्ण-वृत्तों को हिन्दी में अपनाकर हरिऔध जी ने साहित्य जगत् में एक क्रान्ति उपस्थित की है। प्रियप्रवास की भूमिका में उन्होंने लिखा है कि "इस ग्रन्थ को मैंने संस्कृत वृत्तों में ही लिखा है।.....जहाँ तक मैं अभिज्ञ हूं अब तक हिन्दी भाषा में केवल संस्कृत छन्दों में कोई ग्रन्थ नहीं लिखा गया है।"

संस्कृत के छन्द अपनाने के लिए बाल कृष्ण भट्ट एवं धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने हरिऔध जी की आलोचना भी की थी, किन्तु किसी भी भाषा की समृद्धि और विकास के लिए आवश्यक है कि वह अपनी मूलभूत प्रवृत्तियों की रक्षा करते हुए अन्य भाषाओं की विशेषताओं को ग्रहण करने में संकोच न करे। इसीलिए द्विवेदी जी ने संस्कृत छन्दों को अपनाने का आग्रह किया था। उन्होंने स्वयं वर्णिक छन्दों में कविताएँ लिखी थीं तथा अन्य अनेक कवियों को प्रोत्साहित किया था। द्विवेदी जी के प्रोत्साहन से प्रेरित होकर श्री लक्ष्मीधर वाजपेयी ने 'मेघदूत' का संस्कृत मन्दाक्रान्ता छन्द में ही हिन्दी अनुवाद किया था। उसकी भूमिका में श्री वाजपेयी ने लिखा था—"जब तक खड़ी बोली की कविता में संस्कृत के ललित वृत्तों की योजना न होगी तब तक भारत के अन्य प्रान्तों के विद्वान् उससे सच्चा आनन्द कैसे उठा सकते हैं? यदि राष्ट्रभाषा हिन्दी के काव्य-ग्रन्थों का स्वाद्य अन्य प्रान्त वालों को भी चखाना है तो उन्हें संस्कृत के मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी, मालिनी, पृथ्वी, वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडित आदि ललित वृत्तों से अलंकृत करना चाहिए।" इसी विचारधारा का समर्थन पं० मन्नन द्विवेदी ने किया था—"जो वेनुकान्त की कविता लिखे, उसको चाहिये कि संस्कृत के छन्दों को काम में लाये।"

आशय यह है कि किसी एक छन्द का महत्व नहीं है। नये-नये छन्दों का प्रयोग होना चाहिये। प्रतिभाशाली कवि को कोई भी छन्द दीजिये, वह उसमें सफल रचना करेगा। श्री निराला ने शास्त्रबद्ध छन्दों का विरोध किया था किन्तु स्वतः निर्मित छन्द 'मुक्त छन्द' का प्रयोग किया था। उनका कथन है कि—"मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बंधन से छुटकारा

पाना है, और कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग हो जाना। + + + मुक्त काव्य (मुक्त छन्द काव्य) कभी साहित्य के लिए अनर्थकारी नहीं होता, किन्तु उससे साहित्य में एक प्रकार की स्वाधीन चेतना फैलती है, जो साहित्य के कल्याण की ही मूल होती है।" निराला जी ने इस मुक्त छन्द का हिन्दी में सफल प्रयोग किया है। वे लिखते हैं कि—"छन्द भी, जिस तरह कानून के अन्दर सीमा के सुख में आत्म-विस्मृत हो सुन्दर नृत्य करते, उच्चारण की श्रृंखला रखते हुए श्रवण-माधुर्य के साथ ही साथ श्रोताओं को सीमा के आनन्द में भुला रखते हैं, उसी तरह मुक्त छन्द भी अपनी विषम गति में एक ही साम्य का अपार सौन्दर्य देता है।"...(परिमल)।

छन्द कविता का बन्धन है, इनके कारण कविता नियमबद्ध हो जाती है, फलत: कवि कर्म कठिन हो जाता है फिर भी छन्द कविता में संगीतात्मकता, नाद सौन्दर्य और लय का आधान करते हैं। कविता को सौन्दर्य और गौरव प्रदान करते हैं। अत: छन्द-विधान कविता के लिए आवश्यक है। पंत जी ने ठीक ही लिखा है कि— "कविता तथा छन्द के बीच बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है; कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृत्कम्पन; कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखते हैं—जिनके बिना वह अपनी ही बन्धनहीनता में अपना प्रवाह खो बैठती है—उसी प्रकार छन्द भी अपने नियंत्रण से राग को स्पन्द-कम्पन तथा वेग प्रदान कर, निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल, सजल कलरव भर उन्हें सजीव बना देते हैं। छन्दबद्ध शब्द, चुम्बक के पार्श्ववर्त्ती लोह-चूर्ण की तरह अपने चारों ओर एक आकर्षण-क्षेत्र (मैगनेटिक फील्ड) तैयार कर लेते हैं, उनमें एक प्रकार का सामंजस्य, एक रूप, एक विन्यास आ जाता; उनमें राग की विद्युत्धारा बहने लगती, उनके स्पर्श में एक प्रभाव तथा शक्ति पैदा हो जाती है।" (पल्लव)

पन्त जी ने आगे भी लिखा है कि "छन्दों को अपनी अंगुलियों पर नचाने के पूर्व, कवि को छन्दों के संकेतों पर नाचना पड़ता है; सरकस के नवीन अदम्य अश्वों की तरह उन्हें साधना, उनके साथ घूमना, दौड़ना, चक्कर खाना पड़ता है; तब कहीं वे स्वेच्छानुसार, इंगित-मात्र-पर वर्तुलाकार, अंडाकार, आयताकार बनाये जा सकते हैं। जिस प्रकार सा, रे, ग, म आदि स्वर एक होने पर भी पृथक्-पृथक् वाद्य-यंत्रों में उनकी पृथक् पृथक् रीति से साधना करनी पड़ती है, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न छन्दों के तारों, परदों तथा तन्तुओं से भावनाओं का राग जागृत करने के पूर्व भिन्न-भिन्न प्रकार से निहित प्रत्येक की स्वर-योजना से परिचय प्राप्त कर लेना पड़ता है, तभी छन्दों की तंत्रियों-से कल्पना की सूक्ष्मता, सुकुमारता, उसके बोल—तान, आलाप, भावना की मुरकियाँ तथा पीड़े स्वच्छन्दता तथा सफलतापूर्वक झंकृत की जा सकती हैं।"

पन्त जी कविता में छन्द को अनिवार्य मानते हैं उसके अभाव में कविता गद्य हो सकती है, गद्यगीत हो सकती है किन्तु कविता नहीं। छन्द कविता में संगीतात्मकता प्रदान करते हैं। यद्यपि छन्द की साधना कठिन है किन्तु यदि कोई साधक इन्हें सिद्ध

कर लेता है तो कवि के संकेत पर छन्द नृत्य करते हुए चले आते हैं। छन्द कविता को प्रभावशाली, मधुर, मनोहर और आनन्ददायी बना देते हैं। संगीतात्मकता से मुक्त कविता अलौकिक आनन्द प्रदान करती है।

छन्दों के महत्व पर श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु ने लिखा है कि "हमारे यहाँ के छन्द 'घुणाक्षर-न्याय' के अनुसार, अटकल पर ही नहीं बनाए गए। उनके भीतर कुछ तथ्य हैं, और वह तथ्य जीवन के रक्षणात्मक और मनोरंजनात्मक तत्त्वों के साथ सम्बन्ध रखते हैं। प्रचलित छन्दों का विधान नाद-सौन्दर्य की विशेषता पर अवलम्बित है। लय-सौन्दर्य के अनुरूप ही ये बन्धन बनाए गए हैं और इनसे काव्य को दीर्घ आयु प्राप्त होती है।.....भाषा-प्रयोग के ये प्रतिबन्ध वस्तुतः बन्धन नहीं, प्रत्युत् धनुष की चढ़ी हुई प्रत्यंचा की तरह उसकी शक्ति को बढ़ाने वाले हैं। नदी की स्वाभाविक धारा से जो काम न चल पाता, वह उसकी गति के क्षेत्रों को कम कर, बांधकर, अधिक तेज बना कर किया जाता है और इस प्रकार शक्ति पैदा करने का वह एक अद्भुत साधन बन जाती है।.....पद्य की रचना के लिए छन्द एक आवश्यक प्रतिबन्ध है, अनिवार्य भी हम कह सकते हैं, यदि दो-एक वर्तमान क्रान्तिकारी कवि को इसमें विशेष आपत्ति न हो।" श्री सुधांश ने आगे भी लिखा है कि—"जितने प्रकार की अभिव्यक्तियाँ लय के सामंजस्य के साथ हो सकती थीं, उनका विधान छन्द-शास्त्र में कर दिया गया है। पर, इसका तात्पर्य यह नहीं कि भावों को प्रकाशित करने के लिए जो विधान छन्द-शास्त्र में कर दिया गया है, उससे अधिक के लिए अब गुंजाइश नहीं। छन्दों की संख्या बढ़ाई जा सकती है, किन्तु इस धारणा से नहीं कि पुराने छन्द आधुनिक जीवन के उल्लास-विषाद को व्यक्त करने में अनुपयुक्त हो गये हैं।"

निष्कर्ष यह है कि काव्य में छन्दों का महत्व अपरिमित है, और नये-नये छन्दों का आविर्भाव और विकास कर कविता का नये-नये रूपों में शृंगार किया जा सकता है। कभी-कभी कविता का भाव स्पष्ट न होने पर भी छन्द के आग्रह लय, संगीत, गर्व और उत्साह आदि के भाव हृदय को उच्छ्वसित कर देते हैं। वीर, शृंगार और करुणा के भाव से भरी कविता में प्रायः ऐसा होता है। अतः छन्दों का महत्व अपरिमित है, उनका प्रभाव अद्भुत होता है वे भावों का उद्रेक तो करते ही हैं उनमें तीव्रता भी प्रदान करते हैं। अतः छन्द काव्य के आवश्यक तत्व हैं।

प्रश्न ६६—छन्द की परिभाषा लिखकर यति, गति, लघु-गुरु वर्ण विचार कीजिए।

वृत्त के भेदों का उल्लेख कर वर्णिक छन्दों के गणों का विश्लेषण कीजिए।

परिभाषा—"छन्द वह वैखरी ध्वनि है, जो प्रत्यक्षीकृत निरन्तर तरङ्ग-भंगिमा से आह्लाद के साथ भाव और अर्थ की अभिव्यंजना कर सके।"

सामान्य रूप में हम कह सकते हैं कि छन्द एक चौखटा या बंध है, जिसमें मात्राओं अथवा अक्षरों के क्रम, गति और यति के नियम समाहित रहते हैं। इस छन्द से कविता में प्रवाह, लय, गेयता और संगीतात्मकता के साथ प्रभावान्विति का आधान

होता है। वस्तुत: छन्द के दो मूल तत्व हैं—(१) स्वर ध्वनि और (२) यति।

स्वर ध्वनि—छन्द शास्त्र का मूल आधार स्वर ध्वनियाँ हैं। इनकी गणना पर ही छन्दों का स्वरूप निर्मित होता है। यह गणना दो प्रकार से होती है—स्वर वर्णों और उनके क्रम की गणना तथा मात्राओं की गणना।

यति—छन्द के दूसरे महत्वपूर्ण तत्त्व को 'यति' कहते हैं। 'यति' का दूसरा नाम विराम है। जिस जिस स्थान पर जिह्वा स्वेच्छा से रुकती है, उसको यति कहते हैं। विच्छेद, विराम, विरति इसके दूसरे नाम हैं।[1] छन्द में गति, प्रवाह, लय का माधुर्य उत्पन्न करने के लिए यति-नियम का पालन करना होता है। इसी के कारण पद्य के चरणों का भी नियमन होता है।

'गति' का अर्थ है प्रवाह। श्लोक या पद का धारा प्रवाह पढ़ना या पढ़ा जाना। 'यति' छन्द में सर्वत्र नहीं होती। यदि वह पादान्त में होती है तो शोभाधायक होती है। पद के मध्य में शोभा को नष्ट करती है। परन्तु पद मध्यगत 'यति' स्वर संधि से युक्त होने पर रमणीयता को प्राप्त होती है। कहा भी है कि—

क्वचिच्छन्दस्यान्ते यतिरभिहिता पूर्वकृतिभिः
पदान्ते सा शोभां व्रजति पदमध्ये त्यजति च।
पुनस्तत्रैवासौ स्वर विहित सन्धिः श्रयति तां
यथा कृष्णः पुष्णात्वतुल महिमां मां करुणया॥

लघु गुरु वर्ण विचार—छन्द मात्रिक हों या वर्णिक, दोनों प्रकार के छन्दों में मात्राओं, अक्षरों की गणना आवश्यक होती है। इसके लिए लघु-गुरु का ज्ञान आवश्यक है। लघुस्वर या लघु वर्ण की एक मात्रा होती है और उसका चिह्न (।) होता है। गुरु वर्ण की दो मात्राएँ होती हैं, उसका चिह्न है—(ऽ)। सामान्यत: ह्रस्वस्वर वाले अक्षर की एक मात्रा होती है और उसे 'लघु' कहते हैं। दीर्घ स्वर वाले अक्षर की दो मात्राएँ होती हैं और उसे 'गुरु' कहते हैं।[2]

(१) ह्रस्व स्वर निम्न हैं—अ, इ, उ, ऋ तथा लृ। इनके उच्चारण में जो समय लगता है, उसका नाम मात्रा है। इसकी एक मात्रा मानी जाती है।

(२) दीर्घ निम्न हैं—आ, ई, ऊ, ॠ, ए, ऐ, ओ, औ। इनके उच्चारण में लघुस्वर की अपेक्षा दुगना समय लगता है अत: इन्हें दीर्घस्वर कहा जाता है। इसीलिए **ये दो मात्रा** वाले स्वर हैं।

(३) लघु स्वर के अनन्तर यदि अनुस्वार, विसर्ग अथवा कोई संयुक्त व्यंजन

१. छन्दोमंजरी १/१२
यतिर्जिह्वेष्ट विश्रामस्थानं कविभिरुच्यते।
सा विच्छेदविरामाद्याः पदै र्वाच्या निजेच्छया॥

२. छन्दोमंजरी : यद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा।
वृत्तमक्षर संङ्ख्यातं जातिर्मात्राकृता भवेत्॥

हो, तो वह लघु स्वर गुरु माना जाता है।

(४) चरण का अन्तिम लघु स्वर छन्द की आवश्यकता के अनुरूप विकल्प से लघु तथा गुरु होता है। अनुस्वार युक्त ह्रस्व वर्ण, दीर्घ, विसर्गयुक्त एवं संयुक्त अक्षर से पूर्व का वर्ण दीर्घ (गुरु) होता है। जैसे—'तुष्ट' शब्द में 'तु' यद्यपि ह्रस्व है किन्तु इसकी दो मात्रायें मानी जायेंगी, क्योंकि इसके बाद का वर्ण 'ष्ट' संयुक्त है। मात्रिक छन्दों की दृष्टि से तुष्ट (२+१) में तीन मात्रायें होंगी। गुरु लघु की दृष्टि से (ऽ।) दो वर्ण मान्य है। चरण के अन्त में लघु वर्ण कभी-कभी गुरु मान लिया जाता है।[1]

(५) छन्द शास्त्र में 'ल' का अर्थ लघु है। 'लौ' का अर्थ दो लघु होता है। 'ग' का अर्थ एक गुरु 'गौ' का अर्थ दो गुरु है। लघु का चिह्न (।) होता है तथा गुरु का चिह्न (ऽ) होता है।[2]

(६) संयुक्त व्यंजन में वही दो मात्रायें मानी जाती हैं, जहाँ ह्रस्व अक्षर का पश्चात्वर्त्ती संयुक्त के साथ मिलकर उच्चारण करना होता है। साथ में उच्चारण के कारण ह्रस्व पर बलाघात होता है। बलाघात के कारण उच्चारण में एक के स्थान पर दो मात्राओं के बराबर समय लगता है। जहाँ ह्रस्व का संयुक्त व्यंजन के साथ उच्चारण नहीं होता है, वहाँ ह्रस्व स्वर लघु मात्रा के रूप में रहता है, जैसे 'नव प्रगाढ़ प्रेम' 'व' तथा ढ़ ह्रस्व ही है। यद्यपि इनके बाद संयुक्ताक्षर 'प्र' तथा 'प्रे' है।

(७) पहले कह चुके हैं कि विसर्ग तथा अनुस्वार युक्त ह्रस्व स्वर गुरु माने जाते हैं। जैसे—'प्रातः काल' में 'तः' ह्रस्व होते हुए भी विसर्ग के आग्रह पर गुरु है। इसी प्रकार 'असंख्य' में 'सं' ह्रस्व है फिर भी अनुस्वार के कारण वह गुरु माना जाता है। इनकी मात्रायें दो मानी जाती हैं। किन्तु अनुनासिक युक्त ह्रस्व लघु ही रहता है, जैसे 'तहिँ' में 'हिँ' लघु ही है।

(८) छन्द के चरण के अन्त में तुक साम्य अथवा उच्चारण की आवश्यकता के कारण ह्रस्व और लघु के इस नियम में व्यतिक्रम भी हो जाता है।

छन्द के भेद—छन्द को 'वृत्त' भी कहते हैं। छन्द दो प्रकार के हैं—(१) वर्णिक छन्द (२) मात्रिक छन्द। जिनमें वर्णों की संख्या या क्रम के अनुसार लय और गति होती है, उन्हें 'वर्णिक' छन्द कहते हैं। जिन छन्दों में मात्राओं की संख्याओं के आधार पर चरणों का निर्धारण, लय और गति का आकलन होता है, वे मात्रिक छन्द होते हैं। इन दोनों प्रकार के छन्दों के तीन-तीन भेद होते हैं—समवृत्त, अर्द्ध समवृत्त और विषम वृत्त। जिस छन्द के चारों चरण या पाद समान वर्ण-मात्रा वाले हों उसे—**समवृत्त** या सम कहते हैं, जैसे—अनुष्टुप्। **अर्धसमवृत्त** वह है जिसका प्रथम और तृतीय

१. छन्दोमंजरी १/११ सानुस्वारश्च दीर्घश्च विसर्गी च गुरु र्भवेत्।
वर्णः संयोगपूर्वश्च तथा पादान्तगोऽपि वा॥

२. वह १/६ गुरुरेको गकारस्तु लकारो लघुरेककः।
क्रमेण चैषां रेखाभिः संस्थान दर्श्यते यथा॥

चरण, द्वितीय और चतुर्थ चरण समान हो, उस छन्द को अर्धसमवृत्त कहते हैं, जैसे—पुष्पिताग्रा आदि। जिस छन्द के चारों चरण भिन्न-भिन्न वर्ण-मात्रा वाले हों, उनको विषम वृत्त कहते हैं, जैसे—उद्गता तथा गाथा।

तुकान्तता—तुक या अन्त्यानुप्रास छन्द का आवश्यक तत्त्व नहीं है फिर भी कविता में इसका महत्त्व है। इसके कारण छन्द की गेयता तथा लय का गुण परिवर्द्धित हो जाता है और संगीतात्मकता का गुण आ जाता है। इसके पाँच रूप मिलते हैं—

(१) जहाँ सब चरणों में तुकान्तता हो, जैसे—कवित्त छन्द में।

(२) जहाँ द्वितीय और चतुर्थ चरणों के अन्त तुक साम्य हो, जैसे—दोहा।

(३) जहाँ प्रथम और तृतीय चरणों के अन्त में तुक साम्य हो, जैसे—सोरठा।

(४) जहाँ द्वितीय तथा चतुर्थ चरणों तथा प्रथम और तृतीय चरणों में तुक साम्य हो।

(५) जहाँ प्रथम द्वितीय और तृतीय और चतुर्थ चरणों में तुक साम्य हो।

वर्णिक छन्द और गण विचार—वर्णिक छन्दों के नियमन के लिए गणों की रचना की गई है। गण आठ हैं। एक गण में तीन वर्ण या अक्षर होते हैं। लघु वर्ण का चिह्न (।) सीधी खड़ी रेखा है। गुरु वर्ण का चिह्न (ऽ) अंग्रेजी के एस वर्ण के समान है। गणों के नाम और लक्षण इस प्रकार हैं। स्मरण करने की सुविधा के लिए यह श्लोक प्रस्तुत है—

मस्त्रिगुरुस्त्रिलघुश्च नकारो, भादि गुरुः पुनरादिलघुर्यः।
जो गुरुमध्यगतो रलमध्यः, सोऽन्तगुरुः कथितोऽन्तलघुस्तः॥

अर्थात् (१) मगण में तीनों वर्ण गुरु होते हैं, जैसे—मायावी चिह्न हैं (ऽ ऽ ऽ)।
। । ।

(२) नगण में तीनों वर्ण लघु होते हैं, जैसे—नवम।

(३) भगण में प्रथम गुरु शेष दोनों वर्ण लघु—भूषण चिह्न (ऽ । ।)।

(४) यगण में प्रथम लघु शेष दो गुरु, जैसे—पताका चिह्न (। ऽ ऽ)।

(५) जगण में मध्यम वर्ण गुरु शेष दोनों लघु, जैसे—जयेश (। ऽ ।)।

(६) रगण में मध्यम वर्ण लघु शेष दो गुरु, जैसे—राधिका (ऽ । ऽ)।

(७) सगण में अन्तिम वर्ण गुरु, शेष दो लघु होते हैं, जैसे—सरिता (। । ऽ)।

(८) तगण में अन्तिम वर्ण लघु तथा दो गुरु होते हैं, जैसे—राजेश (ऽ ऽ ।)।

उपर्युक्त आठों गणों का ज्ञान इस श्लोक से भी सम्भव है—

आदि मध्यावसानेषु य-र-ता यान्ति लाघवम्।
भ-ज-सा गौरवं यान्ति म-नौ तु गुरु लाघवम्॥

अर्थात् यगण, रगण और तगण में क्रमशः प्रथम, द्वितीय और अन्तिम वर्ण लघु होते हैं। भगण, जगण और सगण में क्रमशः प्रथम, द्वितीय और अन्तिम वर्ण गुरु होते हैं। किन्तु मगण में तीनों गुरु तथा नगण में तीनों लघु होते हैं।

शास्त्रों में इन गणों के नाम, उनका स्वरूप, देवता, फल, मित्रामित्र तथा शुभाशुभ का विचार भी किया गया है। वह इस प्रकार है—

गण नाम → मगण,	यगण	रगण	सगण	तगण	जगण	भगण	नगण
स्वरूप → ऽ ऽ ऽ	। ऽ ऽ	ऽ । ऽ	। । ऽ	ऽ ऽ ।	। ऽ ।	ऽ । ।	। । ।
देवता → पृथ्वी	जल	अग्नि	वायु	गगन	सूर्य	चन्द्र	स्वर्ग
फल → श्री	वृद्धि	विनाश	भ्रमण	धननाश	राग	यश	आयु
मित्रामित्र → मित्र	दास	शत्रु	शत्रु	उदासीन	उदासीन	दास	मित्र
शुभाशुभ → शुभ	शुभ	अशुभ	अशुभ	अशुभ	अशुभ	शुभ	शुभ

गणों को सरलता पूर्वक स्मरण एवं पहचान के लिए इस सूत्र को याद रखना चाहिए—

। ऽ ऽ ऽ । ऽ । । । ऽ
य मा ता रा ज भा न स ल गा
य से यगण-यगण में प्रथम लघु दो गुरु वर्ण य मा ता । ऽ ऽ
मा से मगण-मगण में तीनों गुरु वर्ण मा ता रा ऽ ऽ ऽ
ता से तगण-तगण में दो गुरु एक लघु वर्ण ता रा ज ऽ ऽ ।
रा से रगण-रगण में मध्य लघु वर्ण रा ज भा ऽ । ऽ
ज से जगण-जगण में मध्य गुरु वर्ण ज भा न । ऽ ।
भा से भगण-भगण में आदि गुरु शेष लघु भा न स ऽ । ।
न से नगण-नगण में तीनों लघु वर्ण न स ल । । ।
स से सगण-सगण में प्रथम दो वर्ण लघु तृतीय गुरु स ल गा । । ऽ
ल से लघु ।
गा से गुरु ऽ
इस सूत्र में सम्पूर्ण छन्द शास्त्र के चिह्न समाहित हो गये हैं।

प्रश्न ६७—निम्नलिखित छन्दों के लक्षण तथा उदाहरण लिखिए—

अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा, द्रुतविलम्बित, वंशस्थ, वसन्त तिलका, मालिनी, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी शार्दूलविक्रीडित, तथा स्रग्धरा।

सवैया और कवित के प्रमुख भेद—

१. **अनुष्टुप**—"इस छन्द का आरम्भ नगण एवं सगण से नहीं होना चाहिये। इसके प्रत्येक चरण में आठ वर्ण होते हैं। इस छन्द के चारों चरणों में पाँचवा वर्ण अनिवार्यतः लघु तथा छठा वर्ण गुरु होता है। द्वितीय तथा चतुर्थ चरणों में सप्तम वर्ण भी लघु होता है, जैसे—

।ऽ
कर्मण्येवाऽधिकारस्ते
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८

। ऽ ।
माफलेषु कदाचन
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८

। ऽ
मा कर्मफलहेतु र्भू
१ २३४५६७ ८

। ऽ ।
र्मा ते सङ्गो ऽ स्त्व कर्मणि
१ २ ३४ ५ ६७ ८

इस उदाहरण में चिह्नों से स्पष्ट है कि प्रत्येक चरण का पाँचवा बर्ण लघु है। छठा वर्ण चारों चरणों में दीर्घ है। द्वितीय और चतुर्थ चरण का सप्तम वर्ण लघु है।

एक अन्य उदाहरण—

। ऽ
वागर्थाविव संपृक्तौ
१२३४५ ६७८

।ऽ।
वागर्थ प्रतिपत्तये
१२३ ४५६७८

। ऽ
जगतः पितरौ वन्दे
१२३ ४५६ ७८

। ऽ ।
पार्वती परमेश्वरौ॥
१२३ ४५६७८

(२) **इन्द्रवज्रा**—इस छन्द के प्रत्येक चरण में दो तगण एक जगण तथा दो गुरु होते हैं। इसके प्रत्येक चरण में ११-११ वर्ण होते हैं। यह समवर्ण छन्द है, जैसे—

ऽ ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ ऽ
मैं राज्य की चाहे नहीं करूँगा
है जो तुम्हें इष्ट वही करूँगा
सन्तान जो सत्यवती जनेगी
राज्याधिकारी वह ही बनेगी।

प्रथम दो तगण, एक जगण तथा अन्त में दो गुरु वर्ण हैं। अतः यहाँ इन्द्रवज्रा छन्द है।[1]

---

१. स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः।

द्रुत विलम्बित—यह समवृत्त छन्द इसके प्रत्येक चरण में एक नगण, दो भगण एवं एक रगण क्रमशः आते हैं,[१] जैसे—

नगण भगण भगण रगण
। । । ऽ । । ऽ । । ऽ । ऽ
दिवस का अवसान समीप था
गगन था कुछ लोहित हो चला
तरुशिखा पर थी अब राजती
कुमुदिनी-कुल वल्लभ की प्रभा।

वंशस्थ—यह समवृत्त छन्द है। इसके प्रत्येक चरण में बारह वर्ण होते हैं, जो क्रमशः एक जगण, एक तगण, एक जगण तथा एक रगण के रूप में आते हैं,[२] जैसे—

जगण तगण जगण रगण
। ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ । ।
बसन्त ने सौरभ ने पराग ने
प्रदान की थी अतिकान्त भाव से
बसुन्धरा को पिक को मिलिन्द को
मनोज्ञता मादकता मदान्धता।

वसन्ततिलका—इसके प्रत्येक चरण में चौदह वर्ण होते हैं, जो क्रमशः एक तगण, एक भगण, दो जगण एवं दो गुरु के रूप में स्थित होते हैं,[3] जैसे—

तगण भगण जगण जगण गु०गु०
ऽ ऽ । ऽ । । । ऽ । । ऽ । ऽ ऽ
अत्युज्ज्वला पहन तारक मुक्त-माला
ऽ ऽ । ऽ । । । ऽ । । ऽ । ऽ ऽ
दिव्याम्बरा बन अलौकिक कौमुदी से।
ऽ ऽ । ऽ । । । ऽ । । ऽ । ऽ ऽ
भावों भरी परम मुग्धकरी हुई थी
ऽ ऽ । ऽ । । । ऽ । । ऽ । ऽ ऽ
राका-कलाकर-मुखी रजनी पुरन्ध्री॥

मालिनी—इस समवर्ण छन्द में पन्द्रह अक्षर होते हैं। इसके प्रत्येक चरण में क्रमशः दो नगण, एक मगण एवं दो यगण होते हैं,[४] जैसे—

१. वृत्तरत्नाकर—द्रुतविलम्बित माह नभौ भरौ।
२. ,, जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ।
३. ,, उक्ता वसन्त तिलका तभजा जगौ गः।
४. ,, न न म य य युतेयं मालिनी भोगिलोकैः।

नगण नगण मगण यगण यगण
। । । । । । । ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ
प्रिय पति वह मेरा प्राणप्यारा कहाँ है ?
। । । । । । ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ
दुख जलनिधि डूबी का सहारा कहाँ है ?
लख मुख जिसका मैं आजलौ जी सकी हूँ,
वह हृदय हमारा नैन तारा कहाँ है।

मन्दाक्रान्ता—इस समवर्ण छन्द में सत्रह अक्षर होते हैं। इसके प्रत्येक चरण में क्रमशः एक मगण, एक भगण, एक नगण, दो तगण एवं दो गुरु आते हैं,[१] जैसे—

मगण भगण नगण तगण तगण दो गुरु
ऽ ऽ ऽ ऽ । । । । । ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ
जाते जाते अगर पथ में क्लान्त कोई दिखावे
ऽ ऽ ऽ ऽ । । । । । ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ
तो जाके सन्निकट उसकी क्लान्तियों को मिटाना।
धीरे धीरे परस करके गात उत्ताप खोना
सद्गन्धों से श्रमित जनको हर्षितों सा बनाना॥

शिखरिणी—इस समवर्ण वृत्त में सत्रह वर्ण होते हैं। इसके प्रत्येक चरण में क्रमशः एक यगण एक मगण, एक नगण, एक सगण, एक भगण एवं एक लघु तथा एक गुरु वर्ण होता है। छठे और ग्यारवें वर्ण के बाद यति होती है।[२] जैसे—

यगण मगण नगण सगण भगण ल०गु०
। ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ । । । । । ऽ ऽ । । । ऽ
अनूठी आभा से सरस सुषमा से सरस से
। ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ । । । । । ऽ ऽ । । । ऽ
बना जो देती थी बहु गुणमयी भू-विपिन को।
निराले फूलों की विविध दल वाली अनुप मा
जड़ी-बूटी ना ना बहु फल वती थी विलस ती॥

शार्दूल विक्रीडित—इस समवर्ण वृत्त के प्रत्येक चरण में उन्नीस वर्ण होते हैं। इसके प्रत्येक चरण में क्रमशः एक मगण, एक सगण, एक जगण, एक सगण, दो तगण तथा एक गुरु होता है। इस छन्द में सातवें और बारहवें वर्ण के पश्चात् 'यति' होती है;[३] जैसे—

---

१. वृत्तरत्नाकर—मन्दाक्रान्ता जलधि षड्गौम्भौ नतौ ताद् गुरु चेत्॥
२. „ रसैरुद्रैश्छिन्ना यमन सभला गः शिखरिणी॥
३. „ सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूल विक्रीडितम्॥

मगण सगण जगण सगण तगण तगण गुरु
ऽऽऽ ।।ऽ। ऽ। । ।ऽ ऽऽ। ऽ ऽ। ऽ
रूपोद्यान-प्रफुल्ल-प्राय कलिका राकेन्दु बिम्बानना।
तन्वंगी कलहासिनी सुरसिका क्रीडा-कला-पुत्तली।
शोभा वारिधिकी अमूल्य मणि सी लावण्य लीलामयी।
श्री राधा मृदुभाषिणी मृगदृगी माधुर्यसन्मूर्त्ति थीं।

स्रग्धरा—इस समवर्ण छन्द के प्रत्येक चरण में इक्कीस वर्ण होते हैं। जो क्रमशः मगण, रगण, भगण, नगण तथा तीन यगण के रूप में रहते हैं। इसमें प्रति सात वर्णों के पश्चात् यति होती है,[1] जैसे—

मगण रगण भगण नगण यगण यगण यगण
ऽ ऽ ऽ ऽऽ ऽ ।।।।।।ऽ ऽ। ऽ ऽ ।ऽऽ
नाना फूलों फलों से, अनुपम जग की वाटिका है विचित्रा।
भोक्ता हैं सैकड़ों ही, मधुपशुक तथा, कोकिला गानशीला।
कौवे भी हैं अनेकों, पर धन हरने, में सदा अग्रगामी।
कोई है एक माली सुधि इन सबकी, जो सदा ले रहा है॥

कवित्त—यह मुक्तक वर्णिक छन्द है। इसे घनाक्षरी तथा **मनहरण** भी कहते हैं। इसमें मुख्यतः ३१ से ३३ वर्ण तक प्राप्त होते हैं। इसके भेदों में मनहरण, रूप घनाक्षरी, जनहरण, जलहरण तथा देव घनाक्षरी हैं।

कवित्त या घनाक्षरी—इसके प्रत्येक चरण में ३१ वर्ण होते हैं। ८वें तथा/या १६वें अक्षर पर यति होती है। चरणान्त में प्रायः तुकान्तता होती है। इसे **'मनहरण'** भी कहते हैं, यथा—

इन्द्र जिमि जम्भ पर। वाडव सुअम्भ पर। ८+८
रावण सदम्भ पर। रघुकुल राज है। ८+७
पौन वारिवाह पर। संभु रतिनाह पर। ८+८
ज्यों सहस्त्रवाह पर। राम द्विजराज है। ८+७
दावा द्रुमदंड पर। चीता मृग झुंड पर। ८+८
भूषण वितुंड पर। जैसे मृगराज है। ८+७
तेज तम-अंस पर। कान्ह जिमि कंस पर। ८+८
त्यों मलेच्छ वंश पर। सेर सिवराज है। ८+७

(भूषण शिवावामनी)

रूप घनाक्षरी—इसके प्रत्येक चरण में ३२ वर्ण होते हैं। अन्त में **क्रमशः** गुरु-लघु वर्णों की अनिवार्य योजना होती है। प्रथम सोलह वर्णों के बाद यति **(विराम)** होती है, जैसे—

१. वृत्तरत्नाकर—म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्॥

स्वच्छतर अम्बर में । छनकर आ रहा था—　　१६
　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　ऽ ।　　　} ३२
स्वादु मधु गन्ध से सु । वासित समीर सोम　　१६
त्यागी प्रेमयाग के व्र । ती वे कृती जायापती ।
　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　ऽ ।
पान करते थे गल । - बांह दिये आपा-होम ।　　३२
क्षुद्र कास कुश से ल । गाकर समुद्र तक
　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　ऽ ।
मेदिनी में किसका था मुदित न रोम रोम ।　　३२
समुदित चन्द्र किर । णों का चौंर ढारता था ।
　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　ऽ ।
आरती उतारता था । दिव्य दीपवाला व्योम ।

देव घनाक्षरी—इसके प्रत्येक चरण में ३३ वर्ण होते हैं। चरण के अन्तिम तीनों वर्ण लघु होते हैं । प्रत्येक आठ वर्ण समूह के पश्चात् **'यति'** होती है । जैसे—

झूमत रहत नित रंग में उमंग भरे　　१६ वर्ण
　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　। । ।
　　मस्त मनमौजी रहै भाव के भरन भरन ।　　१७ वर्ण

रीति काल के प्रसिद्ध कविदेव ने सर्वप्रथम ३३ वर्ण वाले इस कवित्त का प्रयोग किया था, अतः इसका नाम 'देव घनाक्षरी' प्रसिद्ध हो गया है ।

विशेष—जिन वर्णिक छन्दों के प्रत्येक चरण में २६ से अधिक वर्ण होते हैं, यह छन्द दण्ड के समान लम्बे होते हैं, अतः इन्हें 'दण्डक' कहा जाता है । दण्डक दो प्रकार के होते हैं—नियमित वर्ण दण्डक तथा मुक्तक दण्डक ।

नियमित दण्डकों में गणों एवं लघु-गुरु की योजना होती है किन्तु मुक्तक दण्डकों में गण-व्यवस्था नहीं होती है। इसमें यत्र-तत्र गुरु-लघु का विधान अवश्य रहता है। इस मुक्तक दण्डक का प्रमुख छन्द घनाक्षरी या कवित्त है । इसके कुछ उदाहरण ऊपर दिये गये हैं ।

सवैया—सवैया छन्द के प्रत्येक चरण में २२ से २६ तक वर्ण होते हैं । इसके लगभग ४८ रूप होते हैं किन्तु प्रमुख रूपों में—मदिरा मत्तगयन्द, दुर्मिल, किरीत, सुन्दरी उपजाति आदि प्रमुख हैं ।

मदिरा सवैया—इस सवैया के प्रत्येक चरण में सात भगण (ऽ । ।) तथा एक गुरु वर्ण होता है । वर्णों की संख्या एक चरण में बाईस होती है—

भगण　　　　　　　　　　　　　　　गुरु
ऽ । । ऽ　। । ऽ । । ऽ　। । ऽ । । ऽ । ।　ऽ । । ऽ
चेटक सों धनु भंग कियो, तन रावन के अति ही बलु हो ।
बाण समेत रहे पचि कैं तहँ जा संग पैन तजौ थलू हो ।

बाण सु कौन ? बली बलि को सुत वैं वलि, बावन बांध लियो।
वेई सुतौ जिनकी चिर चेरिन नाच नचाई कै छाड़ि दियो॥ (केशव)

मत्तगयन्द—इस सवैया के प्रत्येक चरण में २३ वर्ण होते हैं। क्रम से सात भगण तथा अन्त में दो गुरु रहते हैं। समस्त चरण तुकान्त होते हैं। यह सवैया का सर्वाधिक लोकप्रिय रूप है, उदाहरण—

ऽ ।ऽऽ ।।ऽ।। ऽ।।ऽ। ।ऽ।। ऽ ।। ऽ ऽ
या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारों।
आठहु सिद्धि नवौं निधिको सुख नन्द की गाय चराय बिसारों।
खान कहै इन नैनन ते वृज के बन बाग तड़ाग निहारों।
ऽ ।। ऽ ।।ऽ। । ऽ। ।ऽ। । ऽ।।ऽ।। ऽ ऽ
कोटिक हूँ कलधौत कि धाम करील कि कुन्जन ऊपर बारौं।

दुमिल सवैया—इसके प्रत्येक चरण में चौबीस (२४) वर्ण होते हैं। यह आठ (।।ऽ) सगणों में विभक्त रहते हैं। जैसे—

सगण सगण सगण
।। ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ ।।ऽ ।।ऽ
सखि नील नभस्सर में उतरा यह हंस अहा! तरता - तरता।
अब तारक-मौक्तिक शेष नहीं निकला जिनको चरता - चरता।
अपने हिम बिन्दु बचे तब भी चलता उनको धरता - धरता।
गड़ जाएँ न कंटक भूतल के कर डाल रहा डरता - डरता॥
(साकेत : गुप्त जी)

किरीट सवैया—इसके प्रत्येक चरण में आठ (ऽ।।) भगणों से युक्त चौबीस (२४) वर्ण होते हैं। जैसे—

भगण
ऽ।। ऽ ।।ऽ।।ऽ। ।ऽ ।।ऽ।। ऽ।। ऽ।।
मानुष हौं तु वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गाँवकि ग्वारन।
जौ पशु हौं तु कहा बसु मेरो, चरौं नित नन्द कि धेनु मझारन।
पाहन हौं तु वही गिरि को जु धरयौ कर छत्र पुरंदर धारन।
जौ खग हौं तु बसेरों करौं मिलि कालिंदी कूल कदम्ब की डारन॥
(रसखान)

सुन्दरी सवैया—सुन्दरी सवैया के प्रत्येक चरण में आठ सगण (।।ऽ) तथा अन्त में एक गुरु वर्ण होता है। वर्णो की संख्या कुल पच्चीस होती है। जैसे—

सगण गुरु
।।ऽ।।ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ।।ऽ।।ऽ।। ऽऽ
मुख पंकज कंज विलोचन मंजु मनोज सरासन-सी बनि भौंहैं।
।।ऽ। ।ऽ।।ऽ। ऽ।। ऽ। ।ऽ। ।ऽ।। ऽ ऽ
कमनीय कलेवर कोमल श्यामल गौर किसोर जटा सिर सोहैं।

तुलसी कटि तून धरैं धनुवान अचानक दृष्टि परी तिरछी हैं।
केहि भांति कहौं सजनि तेहि सों मृदु मूरति द्वै निकासी मन मोहैं॥

प्रश्न ६८—मात्रिक गणों का विवेचन करते हुए—मानव, हाकलि, चौपाई, पीयूष वर्ष, रोला, ताटंक, लावनी, हरिगीतिका, वीर, बरवै, दोहा, सोरठा, गीति, आर्या, कुण्डलिया और छप्पय छन्दों का सोदाहरण विवेचन कीजिए।

मात्रिक वृत्त—मात्रिक छन्द हिन्दी की प्रकृति के अधिक अनुकूल हैं। इसीलिए हिन्दी काव्य में इनका अधिक प्रयोग हुआ है। इन छन्दों में मात्राओं की एक निश्चित संख्या प्रत्येक चरण में वर्तमान रहती है। मात्रिक गणों का भी निर्माण हुआ है। प्रत्येक गण में चार मात्रायें होती हैं। लघु (ह्रस्व) स्वर की एक मात्रा होती है, इसका चिह्न है (।) गुरु (दीर्घ) स्वर की दो मात्रायें होती हैं। इसका चिह्न (ऽ) होता है। मात्रिक गण पाँच हैं, उनके नाम तथा चिह्न इस प्रकार हैं—

मगण	नगण	भगण	जगण	सगण
ऽऽ	।।।।	ऽ।।	।ऽ।	।।ऽ

आशय यह है कि इन छन्दों में चार मात्राओं को लेकर पाँच गण बनते हैं, सर्वगुरु (ऽऽ) मगण, अन्तगुरु (।।ऽ) सगण, मध्यगुरु (।ऽ।) जगण, आदिगुरु (ऽ।।) भगण, सर्वलघु (।।।।) नगण; इस प्रकार मात्रिक छन्दों के पाँच गण होते हैं।

मात्रिक छन्दों में प्रमुख छन्द हैं—**सममात्रिक** मानव, चौपाई, रोला, ताटंक, गीतिका, वीर, **अर्द्ध सममात्रिक** दोहा, सोरठा, बरवै, आर्या, **विषममात्रिक तथा मिश्र छन्द** कुंडलिया, छप्पय।

मानव—मानव छन्द के प्रत्येक चरण में चौदह मात्राएँ होती हैं, पर किसी चरण में एक साथ तीन चौकलों[1] का प्रयोग नहीं होता।

उदाहरण—

।।।।।।ऽ।। ऽऽ　　१४ मात्राएँ
शशि मुख पर घूँघट डाले
ऽ।। ऽ ऽ। ।ऽऽ　　१४ मात्राएँ
अंचल में दीप छिपाये
ऽ।। ऽ ऽऽऽ ऽ　　१४ ,,
जीवन की गोधूली में
ऽऽ।।ऽ ।। ऽऽ　　१४ ,,
कौतूहल से तुम आये॥

१. चौकल से आशय है चार मात्राओं के '। ऽ ।' क्रम से है। एक साथ दो या तीन चौकलों का प्रयोग होने पर 'मानव' छन्द 'हाकलि' में बदल जाता है।
कतिपय विद्वान छन्द शास्त्री इसे 'आँसू' छन्द भी कहते हैं, क्योंकि प्रसाद ने 'आँसू' काव्य में इतना प्रचुर और सफल प्रयोग किया है, कि परवर्ती विद्वानों ने इसे आँसू छन्द ही मान लिया।

हाकलि—जिस छन्द के प्रत्येक चरण में चार चार मात्राओं के तीन चौकल (वर्ग) और उसके बाद गुरु की मात्रा मिलाकर चौदह मात्राएँ हों, उसे हाकलि कहते हैं, जैसे—

। । । । । । ऽ ऽ । । ऽ । । । । । । ऽ ऽ । । ऽ १४+१४ मात्राएँ
सब जन सबके पालक हों। हितकर भवके चालक हों।
अपने उरके शासक हों निज मन कलुष विनाशक हों।

चौपाई—सममात्रिक छन्द चौपाई हिन्दी का सर्वाधिक प्रयुक्त तथा लोकप्रिय छन्द है। इसके चारों चरणों में सोलह-सोलह मात्राएँ होती हैं। चरण के अन्त में प्राय: दो लघु होते हैं या दो गुरु होते हैं। प्रत्येक अर्द्धाली (दो पंक्तियों) तुकान्त होती है। उदाहरण—

ऽ । । । । । । । । । । ऽ ऽ १६ मात्राएँ
(क) बदउँ गुरु - पद - पदुम - परागा
। । । । ऽ । । । । । । ऽ ऽ १६ ,,
सुरुचि सुबास सरस अनुरागा।
(ख) अन्त में दो लघु का उदाहरण—
। । । । । । । । । । । । ऽ । । १६ मात्राएँ
जगमग जगमग हम जग का मग
ऽ । । । । । । । । ऽ । । । । १६ ,,
ज्योतित प्रतिपग कर ते जगमग।
। । ऽ । । । । । । ऽ । । । । १६ ,,
हम ज्योति - शलभ हम कोमल - प्रभ
। । । । । । । । ऽ ऽ ऽ । । १६ ,,
हम सहज सुलभ दीपों के नभ॥

पीयूषवर्ष—इस छन्द के प्रत्येक चरण में उन्नीस (१९) मात्राएँ होती हैं। यह छन्द दो सप्तकों (ऽ।ऽऽ, ऽ।।।ऽ, ।।।।।ऽ; या ऽ। ऽ।।) एवं एक रगण (ऽ।ऽ) से निर्मित होता है। इसका प्रयोग शृंगार एवं करुण रस के प्रसङ्ग में अधिक होता है। इसके तुकान्त तथा अतुकान्त दोनों ही प्रयोग मिलते हैं। जैसे—

। । । । । ऽ/ऽ । ऽ । ।/ऽ । ऽ ७+७+५ मात्राएँ
जनकपुर की राजकुंज-वि हारिका
ऽ । । । ऽ/ऽ । ऽ ऽ/ऽ । ऽ ,,
एक सुकमा री सलौनी नारिका।
ऽ । । । ऽ/ऽ । । । ऽ । । । ऽ ,,
देख निज शि क्षा सफल लक्ष्मण हँसे
ऽ । ऽ ऽ/ऽ । ऽ । ।/ऽ । ऽ ,,
उर्मिला के नेत्र खंजन से फंसे।

रोला—रोला सममात्रिक छन्द है। इसके प्रत्येक चरण में चौबीस (२४) मात्राएँ हैं। प्राचीन नियमानुसार ११, १३ मात्राओं पर यति होती है। आधुनिक

कवियों के प्रयोगों के अनुसार रोला छन्द का निर्माण प्रायः तीन अष्टकों (SISIS, SSIIII, SIIIII, IIISIS या IISSII) के योग से होता है। जैसे—

I I S I I S /S I S I I I /I S I S S — २४ मात्राएँ
जिसकी रज में लोट लोट कर बड़े हुए हैं

I I S S I I I I I I I I I I I I S I S S
घुटनों के बल सरक सरक कर खड़े हुए हैं ॥

I I I S I I I /S I S I S /I I I I I S S — ,,
परम हंस-सम बाल्य काल में सब सुख पाये

I I S S I I S I I S S S I I S S — ,,
जिसके कारण धूल भरे हीरे कहलाये ॥

अन्य उदाहरण—

S I S I S S S I I I I S I I S I I
हाय/मृत्यु का/ऐसा अमर अ/-पार्थिव पूजन ?
जब विषण्ण नि-र्जीव पड़ा हो/जग का जीवन ?
संग-सौध में/हो शृंगार म/रण का शोभन।
नग्न क्षुधातुर/वास विहीन र/हें जीवित जन। (ताज-पन्त)

ताटंक—ताटंक छन्द के प्रत्येक चरण में तीस (३०) मात्राएँ होती हैं। इसमें १६ और १४ पर यति होती है।

लावनी—लावनी भी ताटंक की तरह तीस (३०) मात्राओं का सममात्रिक छन्द है। इसके चरणान्त में तीन गुरु नहीं होते हैं। **ताटंक** में तीन गुरु अन्त में आवश्यक हैं। जैसे—

S I I S S S S S S/I I S I I I I S S S
लाज भरी आँखें थी मेरी मन में उमंग रंगीली थी।

S S S
तान रसीली थी कानों में, चंचल छैल-छबीली थी।

S S S
दिल में एक चुभन सी थी यह, दुनिया सब अलबेली थी।

S S S
मन में एक पहेली थी मैं, सबके बीच अकेली थी॥

(सुभद्रा कुमारी चौहान)

लावणी—

S I S I S S S I I S I I I S I I I I I S S
बार बार आती है मुझको/मधुर याद बचपन तेरी
गया ले गया तू जीवन की, सबसे मस्त खुशी मेरी
चिन्ता रहित खेलना खाना, वह फिरना निर्मल स्वच्छन्द
कैसे भूला जा सकता है, बचपन का अतुलित आनन्द॥ (चौहान)

हरिगीतिका—हरिगीतिका के प्रत्येक चरण में अट्ठाईस मात्राएँ होती हैं। इसमें सोलह-बारह पर यति होती है। अन्त में लघु और गुरु अनिवार्यतः रहते हैं। मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत-भारती' और 'जयद्रथ-वध' में इसका प्रचुर प्रयोग किया है किन्तु वे चौदह मात्राओं पर यति मानते हैं।

ऽऽ।। ऽ।। ऽऽऽ / ।।। ऽ।ऽ ।।ऽ

उदाहरण—मेरे इम जीवन की है तू सरस साधना कविता।
मेरे तरु की है तू कुसुमित, प्रिये कल्पना लतिका।
मधुमय मेरे जीवन की प्रिय, है तू कमल-कामिनी।
मेरे कुंज-कुटीर-द्वार की, कोमल चरण-गामिनी॥

यहाँ १६ तथा बारह पर यति है।

वीर—इस छन्द के प्रत्येक चरण में इकतीस मात्राएँ होती हैं। चरण के अन्त में गुरु लघु की स्थिति अनिवार्य है। १६ पर 'यति' होती है। इस छन्द का जगनिक के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'आल्हा-खण्ड' में प्रयोग हुआ है, अतः इसे 'आल्हा' छन्द भी कहते हैं।

उदाहरण—

ऽ ऽ ऽऽ ऽ।ऽ।।। / ।।ऽ ।ऽऽ।ऽऽ।
तो भी रानी मार-काट कर, चलती बनी सैन्य के पार
किन्तु सामने नाला आया था यह संकट विषम अपार।
घोड़ा अड़ा नया घोड़ा था, इतने में आ गये सवार।
रानी एक शत्रु बहुतेरे, होने लगे वार पर वार॥

अन्य उदाहरण—

।। ।।ऽऽ ऽऽ ऽ।।।।।ऽ। ऽ ऽ।।ऽ।
फिर परियों के बच्चों से हम सुभग सीप के पंख पसार।
समुद पैरते शुचि ज्योत्स्ना में पकड़ इन्दु के कर सुकुमार॥

(पंत-बादल)

अर्द्ध सम-मात्रिक छन्द—इन छन्दों के प्रथम एवं तृतीय चरण द्वितीय तथा चतुर्थ चरणों की मात्राओं की संख्या समान होती है। इनमें बरवै, दोहा, तथा सोरठा प्रमुख हैं।

बरवै—इस छन्द के विषम (प्रथम तथा तृतीय) चरणों में १२-१२ तथा सम (द्वितीय तथा चतुर्थ) चरणों में ७-७ मात्राएँ होती हैं। सम चरणों की अन्तिम तीन मात्राएँ गुरु-लघु (ऽ।) के क्रम से होती हैं।

उदाहरण—

।।। ।ऽ ऽ ।।।। =१२ ऽ ।।ऽ। =७
अवधि शिला का उर पर था गुरु भार।
।। ।।ऽ। ।ऽऽ =१२ ।।।।ऽ। =७
तिल तिल काट रही थी। दृग जल धार॥

इस उदाहरण के प्रथम एवं तृतीय चरण में बारह-बारह तथा द्वितीय और चतुर्थ

चरण में सात-सात मात्राएँ हैं। द्वितीय तथा चतुर्थ चरण में (ऽ।) क्रम है।

दोहा—दोहा छन्द के विषम चरणों में १३-१३ तथा सम चरणों में ११-११ मात्राएँ होती हैं। विषम चरणों के अन्त में प्रायः लघु-गुरु (।ऽ) या सगण (।।ऽ) प्राप्त होता है। सम चरणों में अन्तिम तीन मात्राओं की योजना अनिवार्यतः गुरु लघु (ऽ।) के क्रम से होती है। यह हिन्दी कवियों का अत्यन्त प्रिय छन्द है।

उदाहरण—

ऽ ऽ । । ऽ ऽ । ऽ =१३ ऽ ऽ ऽ । । ऽ । =११=२४
मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरि सोय।
ऽ । । ऽ ऽ ऽ । ऽ =१३ ऽ । । । । । । ऽ । =११=२४
जा तन की झाई परै स्याम हरित दुति होय॥

(बिहारी-सतसई)

अन्य उदाहरण—

ऽ । । ऽ । । ऽ । ऽ =१३ । । ऽ । । ऽ ऽ । =११
मानस-मन्दिर में सती। पति की प्रतिमा थाप।
। । ऽ ऽ । । । । । ऽ =१३ । ऽ ऽ । ऽ ऽ । =११
जलती-सी उस विरह में बनी आरती आप॥

(गुप्त : साकेत)

सोरठा—दोहा छन्द के क्रम को उलटने पर सोरठा हो जाता है। इसके विषम चरणों में ग्यारह-ग्यारह मात्राएँ तथा सम चरणों में १३-१३ मात्राएँ होती हैं। विषम चरणों के अन्त में लघु होता है तथा सम चरणों के आदि में जगण (।ऽ।) नहीं होता है।

उदाहरण—

। । । । ऽ । । ऽ । =११ ऽ । । ऽ ऽ । । । ऽ =१३
लिख कर लोहित लेख, डूब गया है दिन अहा।
ऽ । ऽ । । । ऽ । =११ ऽ । । । । । । ऽ । ऽ =१३
व्योम-सिंधु सखि देख, तारक-बुद-बुद दे रहा॥

गीति—गीति छन्द के विषम (प्रथम तथा तृतीय) चरणों में बारह-बारह (१२-१२) मात्राएँ तथा सम (द्वितीय एवं चतुर्थ) चरणों में अठारह-अठारह (१८-१८) मात्राएँ होती हैं। जैसे—

। । ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
करुणे क्यों रोती है? =१२ मात्राएँ
ऽ । । ऽ ऽ । । । । ऽ ऽ ऽ
उत्तर में और अधिक तू रोई। =१८ मात्राएँ

ऽ ऽ । ऽ । ऽ ऽ
मेरी विभूति है जो =१२
। । ऽ । । ऽ । ऽ । ऽ ऽ ऽ
उसको 'भवभूति' क्यों कहे कोई॥ १८

(गुप्त : साकेत)

आर्या—आर्या छन्द के प्रथम एवं तृतीय चरणों में बारह-बारह (१२-१२) मात्राएँ, द्वितीय चरण में अठारह (१८) तथा तृतीय चरण में पन्द्रह (१५) मात्राएँ होती हैं।[1]

I I S S S S S
उदाहरण—पहले आँखों में थे   =१२ मात्राएँ

S I I S S I S I I I I I S
मानस में कूद मग्न प्रिय अब थे।   =१८ मात्राएँ

S S I S I S S
छोटे वहीं उड़े थे   =१२ मात्राएँ

I S I S I S I I I I S
बड़े बड़े अश्रू वह कब थे।   =१५ मात्राएँ

मिश्र छन्द—इस वर्ग के छन्दों का निर्माण दो छन्दों को मिलाकर किया जाता है। इस वर्ग के प्रमुख छन्द हैं कुण्डलिया तथा छप्पय।

कुण्डलिया—यह छन्द दोहा तथा रोला छन्दों के मिश्रण से बनता है। इसके चरणों की संख्या छह होती है। प्रत्येक चरण में चौबीस मात्राएँ होती हैं। प्रथम दो चरण दोहा छन्द से तथा शेष चार चरणों में रोला छन्द होता है। इसीलिए इसे मिश्र छन्द कहते हैं। इन दोनों छन्दों का एकात्म्य करने के लिए दोहे के आरम्भ के शब्द या शब्दों की रोला के अन्तिम चरण में आवृत्ति की जाती है तथा रोला के प्रथम चरण के आरंभ में दोहे के चतुर्थ चरण की आवृत्ति होती है।

उदाहरण—

S I I S I I S I I   =१३   I I S S I I S I   =११=२४
दौलत पाय न कीजिए,   सपने में **अभिमान**।

S I I I I I S I S   S I I I I I I S I
चंचल जल दिन चारि की,   **ठांउ न रहत निदान**॥   दोहा

S I I I I I I S I   =११   I I I I I I I I S S   =१३
ठांउ न रहत निदान,   जियत जग में जस लीजै।
मीठे वचन सुनाय,   विनय सब ही की कीजै।
कह गिरधर कविराय,   अरे यह सब घट तोलत।
पाहुन निसि दिन चारि,   रहत सब ही के **दौलत**॥

अन्य उदाहरण—

S I I S I I S I S   =१३ I I I I S I I S I   =११
चौदह चक्कर खायगी   जब यह भूमि अभंग
घूमेंगे इस ओर तब   **प्रियतम प्रभु के संग**।

१. यस्या पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्त था तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश: साऽऽर्या॥

। । । । । । ऽ ऽ । =११	ऽ । ऽ । । ऽ । । ऽ =१३
प्रियतम प्रभु के संग	आएँगे तब हे सजनी ।
अब दिन पर दिन गिनो	और रजनी पर रजनी ।
पर पल-पल ले रहा	यहाँ प्राणों से टक्कर ।
कलह मूल यह भूमि ।	लगावें **चौदह चक्कर** ।। (गुप्त : साकेत)

छप्पयः—छप्पय छन्द का सृजन कुण्डलिया छन्द की तरह दो छन्दों के मिलन से होता है । इस छन्द में रोला तथा उल्लाला छन्दों का मिश्रण होता है । इसके चरणों की संख्या छः होती है । प्रथम चार चरण रोला छन्द (२४ मात्राएँ ११ मात्राओं पर यति) के होते हैं एवं अन्तिम दो चरण उल्लाला छन्द के होते हैं ।

उल्लाला छन्द के प्रथम एवं तृतीय चरण में १५-१५ मात्राएँ होती हैं । द्वितीय तथा चतुर्थ चरण में १३-१३ मात्राएँ होती हैं । द्वितीय और चतुर्थ चरण में तुक साम्य भी रहती है ।

उदाहरण—

ऽ ऽ । । । । ऽ । =११	। । । । । । । ऽ । । ऽ =१३
नीलाम्बर परिधान ।	हरित पट पर सुन्दर हैं ।
ऽ । ऽ । । । । । ।	ऽ । ऽ ऽ ऽ । । ऽ ११+१३
सूर्य-चन्द्र युग मुकुट ।	मेखला रत्नाकर है ।
। । ऽ ऽ । । ऽ ।	ऽ । ऽ ऽ ऽ । । ऽ ११+१३
नदियाँ प्रेम-प्रवाह ।	सूर्य तारे मण्डन हैं ।
ऽ ऽ । । । । ऽ ।	ऽ । । । ऽ ऽ । । ऽ ११+१३
बन्दी जन खग वृन्द ।	शेष फण सिंहासन है ।
। । ऽ । । ऽ । । ऽ । ऽ =१५	। । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ १३=२८
करते अभिषेक पयोद हैं ।	बलिहारी उस वेष की ।
ऽ ऽ । ऽ । ऽ ऽ । ऽ	। । । ऽ । ऽ ऽ । ऽ १५+१३=२८
हे मातृभूमि ! तू सत्य ही ।	सगुण मूर्ति सर्वेश की ।

प्रश्न ६६—'मुक्तछन्द' के उद्भव तथा विकास का विवेचन करते हुए मुक्त छन्द को सोदाहरण स्पष्ट कीजिए ।

भारतीय छन्द-विधान सुदीर्घ यात्रा कर आज मुक्त छन्द तक विकसित हो चुका है । इस विकास यात्रा का एक सुदीर्घ इतिहास है ।

वैदिक युग से लेकर बारहवीं शती के गीतकार जयदेव के 'गीतगोविन्द' तक अतुकांत छन्दों की परम्परा रही है । इन छन्दों में भी तुक के बन्धन का अभाव था ।

गीतगोविन्द से ही तुकान्त काव्य लिखने की परम्परा का श्रीगणेश भी हुआ है । यह तुकान्त काव्य परम्परा बीसवीं सदी के आरम्भिक कुछ वर्षों तक सतत गतिमान रही है ।

अतुकान्त छन्दों की परम्परा का श्रीगणेश संस्कृत के अतुकान्त छन्दों से हो चुका था, किन्तु आधुनिक युग में इसके प्रमुख प्रयोक्ता श्री हरिऔध रहे हैं । उनके

दोनों महाकाव्य, 'प्रियप्रवास' और 'वैदेही वनवास' संस्कृत वृत्तों के सफल प्रयोग कहे जा सकते हैं।

दूसरी स्थिति में वर्णिक मुक्तकों का अनुकान्त प्रयोग हुआ—इसमें 'घनाक्षरी' या 'कवित्त' का श्री मैथिलीशरण गुप्त तथा श्री अनूप शर्मा ने महत्वपूर्ण प्रयोग किये थे। "ऐसे प्रयोगों में पदान्तर-प्रवाही पद्धति में अधिकांश भावच्छन्दों का निर्माण हुआ। लयात्मक दृष्टि से इन छन्दों के सभी चरण बराबर होते हैं, यानी उनकी वर्ण-संख्या समान होती है। पर पाठ करते समय चरणान्त में रुकना आवश्यक होता है।"

तीसरी स्थिति में अतुकान्त रूप से मात्रिक छन्दों का प्रचुर प्रयोग किया गया। इनमें 'पीयूषवर्ष', "प्लवंगम' तथा 'रोला' छन्द का विशेष प्रयोग हुआ। प्रयोग कर्त्ताओं में श्री सियारामशरण गुप्त, पन्त एवं प्रसाद विशेष थे। वास्तव में मुक्त छन्द का आविर्भाव इसी स्थिति के पश्चात् हुआ है।

मुक्त छन्द का संक्षिप्त इतिहास—'परिमल' की भूमिका में श्री निराला ने श्री गिरधर शर्मा को अनुकान्त कविता का मात्रिक रूप में पहला प्रयोगकर्त्ता माना है। 'सती सावित्री' में १६ मात्राओं के आधार पर निर्मित छन्द का अतुकान्त प्रयोग किया था। १९०७ ई० में 'संसार' नामक कविता श्री लोचन प्रसाद पांडेय ने तुकान्त छन्द में लिखी थी। पांडेय जी ने 'हिन्दी में तुकान्तहीनता अर्थात् ब्लैंक वर्स। शीर्षक से इस विषय में विस्तृत एवं गम्भीर विवेचन कर अतुकान्त छन्दों के प्रयोग का समर्थन किया था। श्री जयशंकर प्रसाद ने 'प्लवंगम' छन्द में अतुकान्त शैली में 'भारत' नामक कविता लिखी थी। बाद में इसी छन्द में 'महाराणा का महत्व' खण्ड काव्य एवं 'करुणालय' गीतिरूपक का सृजन किया था। श्री रूप नारायण पण्डेय का 'तारा' नामक गीतीरूपक भी मुक्त छन्द में लिखा गया।

'पीयूषवर्ष' छन्द में सियारामशरण गुप्त तथा पन्त जी ने 'ग्रन्थि' नामक खण्ड-काव्य लिखा।

मुक्त छन्द को डा० पुन्नूलाल शुक्ल ने 'विषम-छन्द' माना है। क्योंकि 'विषम छन्द' वह है "**जिसके सम चरणों एवं अर्द्धसम चरणों में असमानता हो।**" यही मान्यता आचार्य हलायुध की भी है—'**सममर्द्धसमं विषमं च**'। केदारभट्ट का मत है कि "जिस छन्द के चारों चरण भिन्न लक्षण के हों, वह विषम वृत्त है।" गंगादास का मत है कि—"चारों चरणों में भिन्न लक्षण रखने वाला छन्द विषम छन्द है। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकल सकता है कि सम चरणों एवं आर्द्ध सम चरणों के असमान होने का अर्थ है कि समस्त चरण असमान हैं।

संस्कृत व छन्द-शास्त्र में असमान चरणों वाले छन्दों को विषम छन्द माना गया है। इस विषम छन्द को ही मुक्त छन्द मानते हुए डा० पुन्नूलाल शुक्ल ने इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है :—

"विषम छन्द या मुक्त छन्द वह छन्द है, जिसके विकर्ष का लयाधार निश्चित

एवं चरणों की संख्या तथा विस्तार अनिश्चित हो"[1] वास्तव में मुक्त छन्द में छन्द तो मूलतः रहता है, पर उसकी प्रवृति मुक्त होती ।"[2]

आधुनिक युग में छन्दों का गहन अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकला है कि—छन्द का मूल तत्व लय (Rhythm) है। इस तत्व के कारण काव्य में सौन्दर्य, संगीतात्मक आदि का आधान होता है। "प्रत्येक छन्द में एक निश्चित 'लय' होती है। इसी 'लय' का आधार 'लयाधार' कहलाता है।" इसे आप 'लय' कहें या साहित्य-कोश के अनुसार 'छन्द' कहें। बात समान ही है। छन्द की प्रवृति निश्चित ही आज की कविता में मुक्त हो गई है।

इसी प्रवृति की मुक्तता के कारण चरणों की संख्या और मात्राओं का परिवर्तन कर कवि नवीन छन्द का ही सृजन कर लेता है। छन्द का सौन्दर्य इस रूप में भी सुरक्षित रहता है। इस तथ्य को डा० शुक्ल ने स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—"विषम छन्द में कवि को यह पूरा अधिकार है कि वह निश्चित लयाधार की भूमि में रहकर, जितना चाहे, उतना स्वातन्त्र्य प्राप्त कर ले।"

मुक्त छन्द की कविता में लय और लयाधार को लेकर भी मतभेद है। सामान्यतया एक कविता में एक ही लयाधार होता है किन्तु आज यह बन्धन भी अस्वीकृत हो गया है। एक कविता में एक से अधिक लयाधारों का आश्रय लिया जाने लगा है। "विशेषकर 'नयी कविता' लिखने वाले कवियों का कहना है कि उनकी प्रत्येक कविता के प्रत्येक चरण का एक स्वतन्त्र 'लयाधार' हो सकता है।"

डा० पी० एल० शुक्ल का मत इससे भिन्न है—"विषम (मुक्त) छन्द तभी सफल होता है, जबकि एक ही लयाधार की अनेक आवृत्तियाँ होती हैं। भिन्न लयाधारों का संयोग, प्रवाह में व्याघात उत्पन्न करता है। कविता के कई खण्डों में अलग-अलग भिन्न लयाधारों का प्रयोग हो सकता है, परन्तु भिन्न लयाधारों के चरणों का संयोग अवांछनीय है, अन्यथा प्रवाह अवश्य टूट जायगा। जिन चरणों या छन्दों में लय का प्रवाह न हो, उसे गद्य ही मानना चाहिए, भले ही उसमें पूर्ण रस-निष्पत्ति हो गयी हो।[3]"

मुक्त छन्द के लयाधारों के दो उदाहरण प्रस्तुत हैं। प्रथम उदाहरण तुकान्त का है दूसरा अतुकान्त का। यह लयाधार वर्णिक और मात्रिक दोनों रूपों में मिलता है—घनाक्षरी छन्द में आठ, आठ, आठ और सात वर्णों के चार लयखण्ड होते हैं। इनमें आठ वर्णों के खण्ड के भी दो चार-चार वर्णों के समात्मक खण्ड किये जा सकते हैं। इसी प्रकार सात वर्णों के लयखण्ड के भी दो-चार वर्ण और तीन वर्ण वाले खण्ड हो सकते हैं। इन स्थितियों में गति और विराम का सन्तुलन बना रहता है।'जैसे—

१. आ० हि० का० में छन्द-योजना, पृ० ४०६।
२. आ० हि० काव्य में छन्द-योजना, पृ० ४०५।
३. हिन्दी साहित्य-कोश, पृ० ३२१।

(अ) कौन यह कौन कृती । — ८ वर्ण
कौन वह कौन निज । कार्यव्रती । — ८+४ वर्ण
जा रहा था आज इस । राह से । — ८+३
किसके निमित्त सभी । मन के उछाह से । — ८+७
आके यहाँ थे एकत्र । — ८
यत्र-तत्र । — ४
कुटिल कठोर बहु । मार्ग पार करके ? । — ८+७
श्रद्धा का पुनीत घट । भर के । — ८+३
बाट जोहती थीं खड़ी । बालाएँ । — ८+३
पुरुष लिये थे प्रेम । फुल्ल पुष्प मालाएँ । — ८+७

(सियाराम शरण : बापू)

इस उदाहरण में उक्त वर्णक्रम से युग्मकों का अन्त्यानुप्रासयुक्त आयोजन है ।

(ब) कुछ कवि युग्मक के अतिरिक्त पहले चरण का तीसरे और दूसरे का चौथे चरण से अन्त्यानुप्रास मिलाते हैं । किन्तु चरणों के विस्तार में कोई समानता नहीं होती है ।

जैसे—जाग उठती है भीति । — ८ वर्ण
शीत के असह्य प्रकंपन में, — (८+३) ११ वर्ण
दर्शन की सहज प्र/सन्न प्रीति — (८+४ १२) वर्ण
आती नही मन में । — ७ वर्ण

रेखांकितों में अन्त्यानुप्रास है ।

(स) कवि कहीं-कहीं आलिंगित अन्त्यानुप्रास का भी प्रयोग करते हैं; जैसे—

आई अहा मूर्ति वह हँसती, — ११ वर्ण
जैसे एक पुण्य रश्मि स्वर्ग से उतार के, — १५ वर्ण
अन्धतमः पुञ्ज छिन्न करके, — ११ वर्ण
दीख पड़ी अन्तस के अंतक में धंसती । — १५ वर्ण

(बापू)

इस उदाहरण में 'हँसती' और 'धँसती' से, 'उतर के' तथा 'करके' में अन्त्यानुप्रास है । मध्य के दो चरण प्रथम और चतुर्थ चरण से आबद्ध हैं, अतः इस पद्धति के अन्त्यानुप्रास को 'आलिंगित अन्त्यानुप्रास' कहते हैं ।

अन्तमुक्त शुद्ध घनाक्षरी—के उदाहरण अन्त्यानुप्रास रहित मिलते हैं । जयशंकर प्रसाद ने दो-एक अपवादों को छोड़कर कहीं अन्त्यानुप्रास का प्रयोग नहीं किया है । 'प्रलय की छाया' 'शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण' और **'पेशोला की प्रति ध्वनि'** आदि में इस प्रवृत्ति को देख सकते हैं—

अरुण करुण बिम्ब ।	८ वर्ण
वह निर्धूम भस्म । रहित ज्वलन-पिंड ।	७[८] ८ वर्ण
विकल विवर्तनों से	८ ,,
विरल प्रवर्तनों में	८ ,,
श्रमित-नमित सा ।	७ ,,
पश्चिम के व्योम में है । आज निरलंब सा ।	८+७ ,,
आहुतियाँ विश्व की अ/जस्त्र से लुटाता रहा ।	८+८ ,,
सतत सहस्रकर/माला से ।	८+३ ,,
तेज-ओज-बल जो व/न्दान्यता कदम्ब सा ।	८+७ ,,

मुक्त छन्द के इन उदाहरणों में घनाक्षरी छन्द के वर्णिक लयाधार को स्वीकार किया गया है । प्रथम तथा द्वितीय प्रयोग तुकान्त है तो अन्तिम अतुकान्त ।

मात्रिक लयाधार—इस दृष्टि से मुक्त छन्द के लयाधार कुछ निश्चित मात्राओं से बनते हैं । वे लयाधार विभिन्न प्रकार के पर्वों से नियंत्रित हो सकते हैं । " 'पर्व' का अर्थ 'लयखण्ड' या Foot होता है । यथा—त्रिमात्रिक पर्व (तीन मात्राओं से निर्मित लयखण्ड) चतुर्मात्रिक पर्व (चार मात्राओं से निर्मित लयखण्ड), पंचमात्रिक पर्व (पाँच मात्राओं से निर्मित लयखण्ड)" आदि आदि । वस्तुतः लयखण्ड ही लयाधार है । कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(१)	स्तब्ध/अन्ध/कार/सघन	३+३+३+३ मात्राएँ
	मन्द/मन्द/भार/पवन	३+३+३+३ ,,
	ध्यान/लग्न/नैश/गगन	३+३+३+३ ,,
	मूँदे पल/नीलोत्पल	६(३+३)+६(३+३) ,,
(२)	कर्म कर/कर्म कर	५+५ मात्राएँ
	कर्म से/निस्तार	५+५ ,,
	सुन जरा/जो चले	५+५ ,,
	धीर धर/तो	५+२ ,,
	भव पार/	५ ,,

इन दो उदाहरणों में ३ तथा पाँच पर्वों वाले लयखण्ड देखे जा सकते हैं । मुक्त छन्द में दो तीन बार गुन गुना कर लयाधार का ज्ञान किया जा सकता है ।

निराला जी की एक कविता में वर्णिक एवं मात्रिक दोनों लयाधारों का प्रयोग किया गया है । जैसे—

जागो फिर/एक बार ।	६+६ मात्राएँ
समर अमर/कर प्राण ।	६ मात्राएँ+४ वर्ण
गान/गाये महासिंधु से ।	२+७ वर्ण
सिन्धु नद तीर वासी ।	८ वर्ण
सैंधव तुरंगों पर ।	८ वर्ण

चतुरंग चमू संग । ८ वर्ण
सवा सवा लाख पर । ८ वर्ण
एक को चढ़ाऊँगा । ७ वर्ण
गोविंद सिंह निज । ५+५ मात्राएँ
नाम-जब कहाऊँगा । ५+५ मात्राएँ
(जागो फिर एक बार)

मुक्त छन्द के इस प्रकार के प्रयोग यौगिक वर्ग में रखे जा सकते हैं। निराला जी ने 'मुक्त छन्द' के संदर्भ में जितने प्रयोग और उसे प्रतिष्ठित करने के लिए प्रयास किए हैं, वे सराहनीय हैं। उनका मत है कि—"मुक्त छन्द तो वह है, जो छन्द को भूमि' में रहकर भी मुक्त है।" इसीलिए निराला की कविता में छन्द विषयक नाना प्रकार के प्रयोग हैं। डा० श्याम नन्दन शास्त्री ने 'मुक्त छन्द' की विशेषताओं का आकलन इस प्रकार किया है—

(क) "इसमें तुक-निर्वाह से प्राप्त होने वाले सस्ते संगीत की अपेक्षा शब्दों के स्वाभाविक औचित्यपूर्ण सन्निवेश से प्राप्त होने वाला प्राणवन्त लयात्मक संगीत मिलता है। प्रमाण-पुष्टि के लिए महाप्राण निराला की 'जुही की कली', 'बादल राग', 'जागो फिर एक बार !' इत्यादि कविताएँ देखी जा सकती हैं।

(ख) भरती के शब्द एवं भावों का अवकाश इसमें नहीं रहता। कवित्त वगैरह छन्दों में इस दोष की पूरी संभावना रहती है।

(ग) भावावेश एवं विचार-प्रवाह का स्वरूप इसमें सुरक्षित रहता है। कारण, जिन बंधनों के कारण उपर्युक्त दोनों का प्रकृत स्वरूप मारा जाता है, उनसे **'मुक्त छन्द'** मुक्त है।

(घ) भाव के अनुसार लयखंड को आधार बना लेने एवं एक ही कविता के विभिन्न खंडों में विभिन्न लयाधारों की स्वीकृति की छूट रहने के कारण इसमें शब्द संयोजन बड़ा ही सशक्त एवं सार्थक होता है।

(ङ) अभिव्यक्ति में गद्य की-सी स्वाभाविकता, प्रसादात्मकता एवं सीधे मर्म को छू लेने वाली प्रभावमयता होती है।

(छ) इस छन्द में सभी प्रकार के विषयों का ग्रहण एवं वैविध्यपूर्ण विश्लेषण संभव है।[1]

आज हिन्दी में 'मुक्त छन्द' पूर्णतः प्रतिष्ठित है। नयी कविता में भी इसका प्रचुर प्रयोग हो रहा है।

१. काव्य शास्त्र की रूपरेखा, पृ० ३१६-२०।

आलोचना

प्रश्न ७०—आलोचना शब्द की व्युत्पत्ति लिखकर उसकी परिभाषा लिखिए।

व्युत्पत्ति—आलोचना के अर्थ को व्यक्त करने के लिए हिन्दी में कई शब्द प्रचलित हैं। किन्तु इनमें से तीन विशेष प्रसिद्ध हैं—आलोचना, समालोचना और समीक्षा। इन शब्दों के प्रयोग की स्थिति परिवर्तनशील रही है, कभी 'आलोचना' शब्द बहुप्रचलित था, किन्तु आज 'समालोचना' और 'समीक्षा' शब्द का अधिक प्रयोग हो रहा है। स्थूल दृष्टि से देखने पर तीनों शब्द समानार्थक हैं किन्तु मूलतः तीनों में सूक्ष्म अन्तर है, वे विभिन्न अर्थों के सूचक हैं। आलोचना शब्द 'लोच् (लोचृ या लुच्) धातु से बना है+आ+लोच्+अन—आ=आलोचना अथवा आ+लोच्+ल्युट् (अन)= आलोचन। 'लोच्' या 'लोचृ' का अर्थ है देखना। इसलिए किसी वस्तु या कृति की सम्यक् व्याख्या, उसका मूल्यांकन आदि करना ही आलोचना है—"**आ समन्तात् लोचनम् अवलोकनम् इति आलोचनम् स्त्रियाँ आलोचना।**" इस आलोचना शब्द की एक अन्य व्युत्पत्ति—'**लुच्यते अनेन इति लोचनम्**' भी की जाती है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि 'आलोचना का शब्दार्थ है किसी वस्तु को या किसी पदार्थ को विशेष मर्यादित या नियन्त्रित दृष्टि से देखना'—कुछ व्यक्ति इस शब्द का अर्थ केवल गुण-कथन या केवल दोषानुसंधान ही समझ बैठे हैं। इसी दोष के निराकरण के लिए उपसर्ग को जोड़ा जाने लगा, सम् उपसर्ग के जोड़ने से निष्पन्न 'समालोचना' शब्द का अर्थ **संतुलित दृष्टि से किसी रचना के गुण और दोषों** का विवेचन है। इसी गुण-दोष विवेचन के अर्थ में एक शब्द '**समीक्षा**' भी प्रचलित है। संस्कृत की व्युत्पत्ति के अनुसार समीक्षा शब्द का अर्थ है—'जिसमें रचना की अन्तर्व्याख्या और अवान्तरार्थों का विच्छेद किया गया है'—'**अन्तर्भाष्य अवान्तरार्थ विच्छेदश्च समीक्षा**' इस प्रकार इन तीनों शब्दों के अर्थ के परीक्षण के बाद हम कह सकते हैं कि जब विद्वान् बाह्य गुण-दोष कथन की अपेक्षा कवि या लेखक की अन्तःप्रकृति की खोज करने में प्रयत्न-शील हुआ तभी 'समालोचना' और 'समीक्षा' शब्द का प्रचार हुआ, वैसे तीनों शब्द ही समानार्थक हैं।

समालोचना की परिभाषाएँ—इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका का मत है कि 'आलोचना का अर्थ वस्तुओं के गुण-दोषों की परख करना है, चाहे वह परख साहित्य-क्षेत्र में की गई हो या ललित कला के क्षेत्र में। इसका स्वरूप निर्णय में समाविष्ट है—(Criticism is the art of judging the qualities and values of an aesthetic object whether in literature or the fine arts. It involves the formation and expression of judgment.)

वर्सफील्ड आलोचना के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि "आलोचना

कला और साहित्य के क्षेत्र में निर्णय की स्थापना है"—Criticism is the exercise of judgement in the province of art and literature. मैथ्यू आर्नल्ड के अनुसार "आलोचक को तटस्थ भाव से वस्तु के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान का अनुभव और प्रचार करना चाहिए। आलोचना की सबसे बड़ी विशेषता है तटस्थता। वस्तु के स्वरूप की जिज्ञासा ही उसे आलोचना मार्ग में प्रवृत्त करती है।"

प्रभाववादी समीक्षक कार्लाइल ने लिखा है कि "आलोचना पुस्तक के प्रति उद्भूत आलोचक की मानसिक प्रतिक्रिया का परिणाम है।"

हिन्दी के समीक्षकों में डा० श्यामसुन्दरदास आलोचना के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि "साहित्य-क्षेत्र में ग्रन्थ को पढ़कर उसके गुणों और दोषों का विवेचन करना और उसके सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करना आलोचना कहलाता है। ····यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें तो आलोचना को व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा।"

आलोचना के कार्य और प्रभाव का विवेचन करते हुए डा० गुलाबराय ने लिखा है—

"आलोचना का मूल उद्देश्य कवि की कृति का सभी दृष्टिकोणों से आस्वाद कर पाठकों को उस प्रकार के आस्वाद में सहायता देना तथा उसकी रुचि को परिमार्जित करना एवं साहित्य की गतिविधि निर्धारित करने में योग देना है।"

उपर्युक्त विवेचन का सार यह है कि आलोचना में अर्थ का स्पष्टीकरण, विषय का वर्गीकरण तथा निर्णय आदि तत्वों का समावेश होता है। आलोचना का उद्देश्य लेखक और पाठक की रुचि का परिष्कार करना है। इस कार्य के लिए आलोचक इतिहास और तुलना का आश्रय लेता है, अतः उसमें पूर्ण प्रामाणिकता का समावेश भी हो जाता है।

इस प्रकार आचार्यों की परिभाषा तथा आलोचना के स्वरूप पर विचार करने के पश्चात् हम कह सकते हैं कि आलोचना साहित्य में 'सत्साहित्य के निर्माण को प्रोत्साहन तथा असत् साहित्य के निर्माण का जहाँ एक ओर निराकरण करती है वहीं वह साहित्यकारों की निरंकुशता पर भी प्रतिबन्ध लगाती है तथा साहित्य और पाठकों के सम्बन्ध को सामान्य भावभूमि पर प्रतिष्ठित करती है।'

प्रश्न ७१—आलोचक के कर्तव्य का निर्धारण कर उसके गुणों का संक्षेप में विवेचन कीजिए।

आलोचक पहले भावक है। वह सहृदयतापूर्वक काव्य के गुण-दोषों का विवेचन करता है। किन्तु आज के आलोचक के अन्य महत्वपूर्ण कर्त्तव्य भी हैं, क्योंकि आलोचक या भावक का तिहरा उत्तरदायित्व होता है, उसका कवि और लेखक के साथ पहला सम्बन्ध जुड़ता है, वह, सहानुभूति और ईमानदारी से उनकी काव्य परिस्थितियों का मूल्यांकन करता है, फिर उसका सम्बन्ध कृति से जुड़ता है, वह उसका अध्ययन करता

है और फिर आलोचक का सम्बन्ध समाज और सामाजिकों से है। "कवि और लेखक का वह प्रेरक और मार्गदर्शक है, कृति के गुणों का विज्ञापन और दोषों का विवेचन और दिग्दर्शन कराके उसका महत्व प्रचार करना उसका प्रमुख कार्य है और समाज को कृति और कवि के संबंध में वास्तविक ज्ञान कराना, सत्कृतियों के पठन की प्रेरणा जाग्रत करना और उनके लेखकों के प्रति सम्मानभाव जगाना, उसका सर्वप्रधान उत्तरदायित्व है।"

इस विवेचन के पश्चात् हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि समालोचक कवि और पाठक के बीच में माध्यम का कार्य करता है। अतः "उसका दोनों के प्रति उत्तरदायित्व है। एक ओर वह कवि की कृति का सहृदय व्याख्याता और निर्णायक होता है तो दूसरी ओर वह अपने पाठक का विश्वासपात्र और प्रतिनिधि समझा जाता है। कवि की भाँति वह द्रष्टा और स्रष्टा दोनों ही होता है। लोक-व्यवहार तथा शास्त्र का ज्ञान, प्रतिभा और अभ्यास आदि साधन जैसे कवि के लिए अपेक्षित हैं उसी प्रकार समालोचक के लिए भी।" समालोचक के अन्य कर्त्तव्य सद्कृतियों को पढ़ने के लिए प्रेरित करना, साहित्य में उठने वाली विभिन्न असद्वृत्तियों को नियन्त्रित करना, उचित मार्ग का दर्शन, जनरुचि को परिष्कृत करना आदि हैं।

प्रश्न ७२—आलोचना के विभिन्न प्रकारों की विस्तार से विवेचना कीजिए।

आज हिन्दी में प्रचलित आलोचना की पद्धतियाँ पाश्चात्य ही हैं। तथापि हम कह सकते हैं कि भारतवर्ष में संस्कृत आलोचना की भी अपनी अनेक पद्धतियाँ हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) आचार्य-पद्धति, (२) टीका-पद्धति, (३) शास्त्रार्थ-पद्धति, (४) सूक्ति-पद्धति, (५) खण्डन-पद्धति, (६) लोचन-पद्धति, आदि।

आलोचना के प्रकार

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में आलोचना की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित हैं किन्तु स्थूल रूप में वे दो प्रकार की हैं—

(१) सैद्धान्तिक आलोचना।
(२) व्यावहारिक आलोचना।

डा० श्यामसुन्दरदास ने समालोचना के चार प्रमुख भेद माने हैं—

(१) आत्मप्रधान प्रभाववादी।
(२) सैद्धान्तिक समीक्षा।
(३) निर्णयात्मक समीक्षा।
(४) व्याख्यात्मक समीक्षा।

व्याख्यात्मक समीक्षा के कुछ अन्य भेद इस प्रकार हैं—

(१) ऐतिहासिक आलोचना।
(२) तुलनात्मक आलोचना।
(३) मनोवैज्ञानिक आलोचना।
(४) प्रगतिवादी आलोचना।

उपर्युक्त आलोचना-पद्धतियों का सामान्य विवेचन इस प्रकार है।

(१) **आत्मप्रधान या प्रभाववादी आलोचना**—मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आत्म-प्रधान आलोचना का स्थान सर्वप्रथम हमारे समक्ष आता है। आत्मप्रधान आलोचना में आलोचक विषय की विवेचना में इतना तल्लीन या विमुख हो जाता है कि विषय-वस्तु की अपेक्षा भाव-सागर में स्वयं गोते खाने लगता है। उसकी वह आलोचना, आलोचना की अपेक्षा एक साहित्यिक कृति बन जाती है। इस आलोचना में भावना या भावुकता का महत्त्व विशेप हो जाता है और बुद्धितत्त्व का कम। अंग्रेजी आलोचना में प्रभाववादी समीक्षा को विशेप महत्त्व प्राप्त हैं। वहाँ पीटर इस आलोचना पद्धति का विशेष समर्थक रहा है। हिन्दी साहित्य में पद्मसिंह शर्मा एवं आधुनिक युग में जैनेन्द्र को प्रभाववादी समीक्षक कहा जा सकता है। प्रभाववादी समीक्षक "एक प्रकार की साहित्यिक सदसद् विवेक बुद्धि में विश्वास रख अपनी रुचि को अन्तिम प्रमाण मानते हैं।" इस आलोचना पद्धति की प्रथम विशेषता यह है कि इस पद्धति का आलोचक नियम या सिद्धान्तों की अपेक्षा स्वछन्दता का सहारा लेता है, इस स्वच्छन्दता में कृति को पढ़कर उस पर जो प्रभाव पड़ता है तदनुरूप उसका विश्लेषण होता है। इस विश्लेपण में उसकी शैली भावात्मक हो जाती है तथा कल्पना अपनी रंगीनियों के साथ आविर्भूत होती है। **विचारतत्व की अपेक्षा भावतत्व की इसमें प्रधानता रहती है।** स्पिनगार प्रभाववादी आलोचना के स्वरूप को व्यक्त करते हुए लिखता है कि **"किसी कृति को देखकर जिन भावों और प्रभावों की अनुभूति होती है उन्हें उसी तरह से प्रगट कर देना प्रभाववादी समीक्षक का कार्य होता है"**—

To have sensation in the presence of the work of art is to express them. That is the function of a criticism for an impressionist critic.

प्रभाववादी समीक्षा प्रत्येक देश के साहित्य में खोजी जा सकती है क्योंकि मनुष्य हृदय पर पड़े प्रभावों से प्रभावित होता है। इन्हीं प्रभावों को आलोचक अपने शब्दों में व्यक्त कर देता है। हिन्दी साहित्य के भारतेन्दु एवं द्विवेदी युग में इस शैली का बोलबाला था। श्री पद्मसिंह शर्मा द्वारा कृत बिहारी की आलोचना इसी कोटि की है। वे लिखते हैं—

"बिहारी सतसई के दोहे तो शक्कर की रोटी हैं जिधर से तोड़ो उधर से ही मीठे हैं।" इसी प्रकार सूर की प्रशंसा में लिखित यह दोहा भी इसी शैली का उदाहरण है—

किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो, बेध्यो सकल शरीर॥

इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण देखिए—

"वाह रे अन्धे कवि सूरदास! तुमने क्या कमाल किया है। तुमने वह रूप और भाव-सौन्दर्य अपनी बन्द आँखों से देख लिया, जो लोग अपनी खुली आँखों से भी

नहीं देख पाते।"

आलोचक रुचि का महत्व भी इस पद्धति में विशेष रहता है। इस प्रभाववादी समीक्षा में आलोचक की रुचि क्रियमाण रहती है। इस कोटि के आलोचक की रुचि जितनी ही विश्व रुचि के अनुकूल होती है आलोचना उतनी ही सही होगी। यदि आलोचक की रुचि वैयक्तिक विचारों से विकृत है तो आलोचना दूषित होगी।

निष्कर्ष यह है कि (१) इस आलोचना में आलोचक का दृष्टिकोण प्रधान होता है, अतः यह विषयी प्रधान आलोचना होती है। (२) इसमें नियमों की अपेक्षा स्वच्छन्दता का सहारा लिया जाता है। (३) इसमें भावों की अपेक्षा वाणी का विलास ही ज्यादा होता है। (४) इसमें एकपक्षीय निंदा और प्रशंसा विशेष होती है। अतः महफिली दाद और वाहवाही का प्राधान्य होता है।

(२) **सैद्धान्तिक आलोचना**—'सैद्धान्तिक आलोचना' आलोचना की एक विशिष्ट पद्धति है। इसमें "बहुत-सी एक-सी कृतियों का अध्ययन कर जब आलोचक आलोचना के मापदण्ड के रूप में किन्हीं सामान्य नियमों का निर्धारण करता है, तो उस समीक्षा को सैद्धान्तिक समीक्षा कहते हैं।"

इस पद्धति के आलोचक की रुचि परिष्कृत होती है, वह नियमों के अनुसार कार्य करता है, अतः इसकी आलोचना की कसौटी उसके निर्धारित मानदण्ड होते हैं। अतः इसमें हम समालोचना का शास्त्रीय पक्ष स्पष्ट होता हुआ पाते हैं। इसमें उचितानुचित के विवेक को महत्व प्राप्त है। निश्चय ही लेखक को इसमें बहकने का स्थान नहीं रहता है।

इस आलोचना का विषय है साहित्य या काव्य के स्वरूप का विश्लेषण। साहित्य क्या है? कविता क्या है? काव्य का उद्देश्य क्या है? आदि पर इसमें विचार किया जाता है। हडसन ने लिखा है कि **"आलोचक का कार्य केवल यही नहीं है कि वह किसी के औचित्य और अनौचित्य का निर्देश करे, उसका कर्तव्य है कि वह उन सिद्धान्तों और नियमों को खोज निकाले, जिनके आधार पर उस काव्यकृति का निर्माण किया गया और उन नियमों को सिद्धान्तों के रूप में निश्चित कर दे।"**

प्लेटो और अरस्तू के काव्य-सिद्धान्त से लेकर कालरिज, एडीसन, वर्ड्सवर्थ, रिचर्ड्स, क्रोचे, इलियट आदि के सैद्धान्तिक ग्रन्थ और हमारे यहाँ संस्कृत में भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से लेकर जगन्नाथ के रसगंगाधर तक निर्मित समस्त संस्कृत के काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ और ग्रन्थकार इसी कोटि के समालोचक हैं। "हिन्दी में रीतिकाल के लक्षण ग्रन्थ, श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन', शुक्ल जी की 'चिन्तामणि', का 'काव्य में अभिव्यंजनावाद', कन्हैयालाल पोद्दार का 'काव्यकल्पद्रुम', रामदहिन मिश्र का 'काव्यदर्पण' गुलाबराय का 'सिद्धान्त अ[illegible] इसी प्रकार के ग्रन्थ हैं।"

(३) **निर्णयात्मक आलोचना**—"हडसन ने निर्णयात्मक आलोचना को विशेष महत्वपूर्ण माना है। निर्णयात्मक आलोचक कुछ निश्चित नैतिक और साहित्यिक

सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर अपना निर्णय दिया करता है।" इसमें सैद्धान्तिक आलोचना की उपेक्षा न होकर उसका पालन होता है तथा सृजन भी। निर्णयात्मक आलोचक किसी भी आलोच्य कृति और उसके सिद्धान्तों पर विचार कर अपना निर्णय अवश्य देता है। इस समालोचना में समालोचक का रूप न्यायाधीश का होता है। वह निर्णय देता है। कलाकार की मौलिकता या प्रतिभा पर ध्यान न देकर वह उस पर शास्त्रीय नियमों को लागू कर उसकी रचना की परीक्षा करता है। उसकी जिज्ञासा 'यह काव्य कैसा होना चाहिए था' के रूप में स्पष्ट होती है। यूरोप में कुछ समय तक अरस्तू के वाक्य और नियम ईश्वरीय सिद्धान्त समझे जाते रहे थे और भरत, मम्मट और विश्वनाथ हमारी आलोचना के आधार रहे हैं। इस आलोचना को शास्त्रीय आलोचना भी कहते हैं। परन्तु कुछ आलोचक शास्त्रीय नियमों की उपेक्षा कर कृति के पढ़ने से अपने ऊपर पड़े हुए प्रभाव के अनुसार अपना निर्णय देते हैं। इसमें आलोचक की अपनी भावानुभूति प्रबल रहती है। निर्णयिक आलोचकों का एक दूसरा वर्ग कलाकार की प्रतिभा, मौलिकता और शक्ति को पूर्णतया अनुभव कर अपना निर्णय देता है। ऐसे आलोचक उच्चकोटि के माने जाते हैं। केवल शास्त्रीय नियमों पर आधारित आलोचना को आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता क्योंकि यह भले-बुरे का फैसला देने के कारण साहित्य की प्रगति रोकने वाली होती है।

हडसन **निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक आलोचना के अन्तर** को स्पष्ट करता हुआ लिखता है कि "व्याख्यात्मक आलोचक के समान निर्णयात्मक आलोचना करने वाला वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का विश्लेषण और प्रदर्शन नहीं करता, बल्कि उसके आदर्श स्वरूप की ओर संकेत करता है—

"To express what is not what conceivably ought to be."

केनेट ने निर्णयात्मक आलोचना को यंत्रवत आलोचना कहकर, इसकी निन्दा की है—"निर्णयात्मक समालोचना एक प्रकार से यंत्रवत हो जाती है क्योंकि आलोचक एक निश्चित आलोचना-कसौटी पर आलोच्य-वस्तु को कसा करता है।"

Nothing is less satisfactory than an arid mechanism merely measuring criticism.

संस्कृत एवं हिन्दी में निर्णयात्मक आलोचना को महत्त्व प्राप्त रहा है। आज भी अनेक प्राचीन निर्णयात्मक उक्तियाँ काव्यशास्त्र में मान्यता प्राप्त हैं। जैसे—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यम् माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

तथा—

सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केसवदास॥ आदि।

हिन्दी के प्रारम्भिक युग में निर्णयात्मक आलोचना का प्रचार था। महावीर प्रसाद द्विवेदी और मिश्रबन्धु की आलोचनाएँ प्रायः इसी कोटि की हैं। बिहारी और देव के प्रसंग में जो वादविवाद था, वह भी इसी आलोचना के कारण था। आज

के युग में निर्णयात्मक आलोचना की अपेक्षा व्याख्यात्मक आलोचना को विशेष महत्व दिया जाता है। पीटर ने लिखा है कि "किसी भी साहित्यिक कृति का निर्णय देते समय उस युग और व्यक्तियों को भी ध्यान में रखना चाहिए, जिनमें उस कृति की सृष्टि हुई थी—

"Every intellectual product must be judged from the point of view of its age and the people in which it was produced."

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि निर्णयात्मक आलोचना के लिए आलोच्य कृति के ऐतिहासिक पक्ष का विवेचन भी आवश्यक है। ऐसा होने पर ही कृति और कृतिकार के साथ न्याय होगा अन्यथा अन्याय होने की सम्भावना रहती है।

(४) **व्याख्यात्मक आलोचना**—व्याख्यात्मक आलोचना नियमों के बंधनों से मुक्त और साहित्यिक कृतियों की बन्धनरहित व्याख्या का एक प्रयास है। "किसी भी कलात्मक कृति में प्रतिपाद्य विषय, प्रतिपादन और अनुभवजन्य अभिव्यक्ति, ये तीन बातें प्रमुख स्थान ग्रहण करती हैं। इस दृष्टि से व्याख्याता का प्रधान उद्देश्य कृति को उसके वास्तविक रूप में देखकर निरपेक्ष रुचि स्थापित करना है, जो काफी कठिन कार्य है। आलोचक को कलाकार या साहित्यिक की कृति में पूर्णतः लीन होकर उसके उस अनुभव का उद्घाटन करना पड़ता है जिससे उस कृति की रचना हुई। रूढ़ि, आलोचक के पूर्वाग्रह, विरोध, भावुकता, सैद्धान्तिक, आसक्ति, रचनाकौशल सम्बन्धी पूर्वकल्पनाओं आदि बातों से व्याख्यात्मक आलोचना में बाधा पड़ती है। व्याख्यात्मक आलोचना का आश्रय ग्रहण करने वाले आलोचक को अपना निजी व्यक्तित्व पूर्ण बनाना चाहिए और निष्कपटतापूर्वक व्याख्या करने की क्षमता रखनी चाहिए। व्याख्या वास्तव में कलाकार के भावलोक का फिर से सर्जन करती है और आलोचना ऐसे भावलोक पर अपना निर्णय देती है। व्याख्या नवीन अनुभव स्वीकार करती है, साथ ही कृति के साथ ऐक्य प्राप्त कर आनन्द का अनुभव प्रदान करती है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्याख्यात्मक आलोचना का आलोचक सिद्धान्तों और आदर्शों को त्यागकर एक अन्वेषक के रूप में कवि की अन्तरात्मा में प्रविष्ट होकर अत्यन्त सहृदयतापूर्वक उसके आदर्शों, उद्देश्यों तथा विशेषताओं की व्याख्या और विवेचन करता है। आज की आलोचना में व्याख्या एक विशिष्ट गुण है। हडसन ने लिखा है कि "**आज का आलोचक आलोच्य वस्तुओं को समझने के लिए उसकी व्याख्या करने के लिए जितना उत्सुक रहता है उतना उसके गुण-दोषों के कथन के लिए नहीं।**"

वस्तुतः व्याख्यात्मक आलोचना समस्त आलोचनाओं की मूल है। डा० श्यामसुन्दरदास ने साहित्यालोचन में लिखा है कि "**इसी व्याख्या के बल पर हम किसी कृति के महत्व का निर्णय कर सकते हैं। भावमयी समालोचना करने के लिए भी प्रस्तुत रचना का स्वरूप ज्ञान वांछनीय है जो कि व्याख्या ही से प्राप्त होता है।**"

व्याख्यात्मक आलोचना में आलोचक न्यायाधीश की अपेक्षा वह स्वयं अन्वेषक होता है। अतः वह ईमानदारी से आलोचना करता है। व्याख्यात्मक आलोचना का

प्रारम्भिक रूप संस्कृत के भाष्यों और टिप्पणियों में मिलता है। जैमिनी का 'मीमांसा-दर्शन' इसका प्राचीनतम उदाहरण है।

व्याख्यात्मक आलोचना पर विचार करते हुए मौल्टन ने तीन तथ्यों की ओर संकेत किया है : (१) "व्याख्यात्मक आलोचना आलोच्य वस्तुओं में किसी प्रकार का उत्तम, मध्यम भेद नहीं स्वीकार करती। भले ही वह वर्ग भेद स्वीकार कर ले। (२) व्याख्यात्मक आलोचना निर्णयात्मक आलोचना के समान निश्चित नियमों के पालन में विश्वास करती है जो निश्चित कसौटी पर कसी जाती है। (३) व्याख्यात्मक आलोचना नियमों को परिवर्तनशील मानती है। निर्णयात्मक आलोचना नियमों को स्थिर मानती है।" आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास, हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि आलोचक इसी कोटि के आलोचक हैं।

बाबू गुलाबराय व्याख्यात्मक आलोचना की सहायक रूप से उपस्थित होने वाली चार अन्य आलोचना-पद्धतियों को भी स्वीकार करते हैं—(१) ऐतिहासिक, (२) मनोवैज्ञानिक, (३) तुलनात्मक और (४) प्रगतिवादी।

(५) **ऐतिहासिक आलोचना**—ऐतिहासिक आलोचना में साहित्यकार के युग, उसकी परिस्थितियाँ और परिवेश को देखकर प्रभाव का मूल्यांकन किया जाता है। इस प्रकार का आलोचक "परिस्थितिजन्य प्रभावों के प्रकाश में ही आलोच्य-वस्तु की आलोचना करता है। इस कोटि के आलोचकों ने लोकगाथा, भाषाविज्ञान तथा शब्द-व्युत्पत्ति-शास्त्र से इसका सम्बन्ध स्थापित करने की सफल चेष्टा की है। इस आलोचना का मुख्य उद्देश्य साहित्यिक प्रभावों का अनुसन्धान है और इस सिद्धान्त के अन्तर्गत आलोचक साहित्य तथा उसकी अनेक शैलियों पर किसी एक लेखक के व्यापक प्रभाव को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं।"

यह आलोचना-पद्धति, कवि की परिस्थितियों और परिवेश पर ही केन्द्रित होने के कारण पूर्ण नहीं है अपितु एकपक्षीय है।

(६) **तुलनात्मक आलोचना**—इस पद्धति में साहित्यिक प्रभावों की खोज की जाती है। तुलनात्मक आलोचना में केवल ऐतिहासिक दृष्टि से ही तुलना नहीं रहती, अपितु विचारों और प्रकारों की दृष्टि से भी तुलना रहती है। "वास्तव में तुलनात्मक प्रणाली ग्रहण करने वाला आलोचक व्युत्पत्ति पर विशेष ध्यान देता है। इस कार्य की पूर्ति के लिए वह विभिन्न देशों और विभिन्न कालों की मानसिक एवं आध्यात्मिक प्रगति का भी अवलोकन करता है। एक ही देश की विभिन्न साहित्यिक धाराओं का अध्ययन करना उसके लिए अभीष्ट होता है। इन सबमें वह कोई नैसर्गिक सम्बन्ध खोजने की चेष्टा करता है। तुलनात्मक प्रणाली में सफल होने के लिए आलोचक का बहुज्ञ होना भी आवश्यक है। वह साहित्य और कला का मूल किसी रूप में स्वीकार करे, किन्तु उसे यह न भूल जाना चाहिए कि उसका प्रधान कर्त्तव्य केवल वर्णन, विवेचन और विश्लेषण है, निर्णय देना उसका कार्य नहीं। साथ ही इस बात पर ध्यान रखना भी आवश्यक है कि तुलना समान वस्तुओं की ही हो सकती है। यह बात

विषय के अतिरिक्त ध्वनि, ध्येय और अभिव्यंजना प्रणाली के सम्बन्ध में भी लागू होती है। तुलनात्मक आलोचना जब आंतरिक बातों की तुलना का प्रयास करती है तो और भी दुरूह हो जाती है। परम्परागत राजनीतिक या सामाजिक इतिहास के बदले इसमें फिर विचारों के इतिहास पर जोर दिया जाता है। तुलनात्मक आलोचना साहित्यिक अभिव्यंजना का साधनमात्र ही नहीं, मनुष्य के भावों और विचारों का प्रतिबिम्ब या प्रतीक है, वह सामाजिक चेतना का दर्पण है। एक ही कवि के कई ग्रन्थों के आधार पर विषय की पारस्परिक रूप में तुलना हो सकती है अथवा एक ही कवि की विभिन्न रचनाओं की तुलना हो सकती है और अन्त में एक ही भाषा के या अन्य भाषाओं के तद्विषयक कवियों और ग्रन्थों से तुलना हो सकती है—विषय, भाव, भाषा शैली आदि सभी दृष्टियों से। हिन्दी में देव और बिहारी की तुलना कुछ दिनों तक बड़ी धूमधाम से होती रही।"

तुलनात्मक आलोचना-पद्धति के भी अपने गुण-दोष हैं। इसमें मूल्य या स्थान निर्धारण की भावना के कारण, रुचि विशेष के अनुसरण के कारण अथवा पक्षपात की भावना से किसी भी कवि के साथ अन्याय किया जा सकता है। यह आलोचना-पद्धति उसी समय श्रेयस्कर सिद्ध हो सकती है जबकि आलोचक का दृष्टिकोण पूर्ण वैज्ञानिक हो तथा वह अनासक्त भाव से दोनों पक्षों की समान सहानुभूति से विवेचना करे।

(७) **मनोवैज्ञानिक आलोचना पद्धति**—यह पद्धति बीसवीं शती की देन है। आलोचना में कवि के जीवन और काव्य तथा काव्याङ्गों में सम्बन्ध स्थापित किया जाता है तथा कवि के वैयक्तिक स्वभाव, परिस्थितियों और प्रभाव को कृति के आधार के रूप में देखा जाता है। निश्चय ही कुछ काव्यकृतियों की रचना का आधार मनोवैज्ञानिक होता है, उसमें कवि या साहित्यकार अपने पात्रों के मन को व्यक्त करने की चेष्टा करता है। "ऐसी कृतियों की आलोचना भी स्वभावतः मनोवैज्ञानिक ही होगी। किन्तु यह आलोचना वस्तु की आलोचना होगी, उससे पद्धति की सूचना नहीं मिलती। जब पद्धति मनोवैज्ञानिक कही जाएगी तो कवि के आन्तरिक जीवन; वैयक्तिक स्वभाव, परिस्थितियों और प्रभावों में कृति का आधार देखा जाएगा। जब तक कलाकार का अध्ययन पूर्ण न हो जाएगा, तब तक कला का अध्ययन पूर्ण न हो सकेगा। जब कला कलाकार की मानसिक प्रवृत्तियों का ही प्रतिबिम्ब हो तो आलोचक पहले कला का मूल स्रोत ही खोजता है। मूल का ज्ञान हो जाने पर शाखाओं का ज्ञान स्वयं हो जाएगा। ऐतिहासिक आलोचना में देश और जीवन की वाह्य परिस्थितियों का प्रभाव परखा जाता है, तो मनोवैज्ञनिक पद्धति में कलाकार की आन्तरिक परिस्थितियों का और जीवन-चरितात्मक आलोचना में कलाकार के निजी जीवन से सम्बन्धित वाह्य परिस्थितियों का मूल्य आँका जाता है। इस कार्य में अब मनोविश्लेषण-शास्त्र से विशेष सहायता ली जाने लगी है।"...यह पद्धति समकालीन साहित्यकार के साहित्य के अध्ययन के लिए विशेष उपयोगी है, किन्तु पुराने कवि की रचना में गहनतम मानव-स्वभाव वाले अंशों की सहायता से, जहाँ कलाकार की आत्मानुभूति विशेष रूप से

व्यक्त होती है, उसके मन को समझने की भी चेष्टा करती है।

इस आलोचना-पद्धति से साहित्य-निर्माण की समस्या के अध्ययन में विशेष सहायता मिलती है। "मानव जाति के आदिम जीवन में कला के जन्म पर यह पद्धति प्रकाश डालती है। यद्यपि आधुनिक काल में यह पद्धति विशेष रूप से लोकप्रिय हुई है, तो भी एक यह प्रश्न सामने आता है कि इस मनोवैज्ञानिक छान-बीन से स्वयं साहित्यिक रस और आनन्द प्राप्त करने में कहाँ तक सहायता प्राप्त होती है? उत्तर सम्भवतः बहुत उत्साहजनक नहीं होगा। वास्तव में मनोवैज्ञानिक पद्धति का प्रचार साहित्य पर आधुनिक वैज्ञानिक युग की छाप का प्रमाण है। मनोविज्ञान साहित्यिक आलोचना का एक अंगमात्र हो तो अधिक स्वाभाविक होगा।"

इस आलोचना-पद्धति के अपने कुछ गुण-दोष भी हैं। इसमें मनोवैज्ञानिक आलोचक अपनी विवेचना में इतने तल्लीन हो जाते हैं कि कृति की उपेक्षा हो जाती है। प्रभाववादी आलोचक तो प्रभाव को काव्यात्मक शैली में व्यक्त कर देते हैं किन्तु मनोवैज्ञानिक आलोचक अन्तर्मन की गुत्थियाँ सुलझाने में कृति के रहस्य की ओर से उदासीन रहते हैं। इन आलोचकों की भाषा-शैली प्रभाववादियों से भी अधिक दुरूह होती है।

(८) **प्रगतिवादी आलोचना**—"यह आलोचना पद्धति इसी शताब्दी की देन है। सन् १९२८ ई० की रूसी राज्यक्रांति के बाद कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और वर्ग-संघर्ष साहित्य के मूल्यांकन के आधार निश्चित हुए और अर्थ उसका आधार बना....। कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से सम्बन्ध होने के कारण यह आलोचना-प्रणाली भौतिकवादी आलोचना के नाम से अभिहित की जाती है। इसे मार्क्सवादी आलोचना या प्रगतिवादी आलोचना भी कहते हैं। कभी-कभी इसके लिए सामाजिक यथार्थवादी आलोचना अथवा सोवियत समीक्षा-पद्धति नाम भी प्रयुक्त मिल जाता है किन्तु मार्क्सवादी या प्रगतिवादी आलोचना शब्द ही अधिक प्रचलित हैं।

श्री अमृतराय ने संक्षेप में इस आलोचना पद्धति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "मार्क्सवादी आलोचना साहित्य वह समाज शास्त्रीय आलोचना है, जो साहित्य के ऐतिहासिक तथा गतिशील पक्ष के सम्बन्ध का उद्घाटन करती है।"

डा० मिश्र ने मार्क्सवादी आलोचना के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा कि "मार्क्सवादी जीवन शक्तियों के आधार पर कलाकृति की श्रेष्ठता स्वीकार करता है। इससे स्पष्ट है कि उसके मूल्यांकन का आधार बौद्धिक है। पर यह मान लेना कि मार्क्सवादी आलोचना कला में भाव तत्व की आवश्यकता नहीं समझती अथवा उसको गौण महत्व देती है, इस आलोचना के वास्तविक स्वरूप का न समझना मात्र है। कला का प्रभाव बुद्धि पर ही नहीं अपितु हृदय पर भी पड़ता है। भाव, संवेदना और शैली की सजीवता के कारण एक कलाकृति अपेक्षाकृत कम गम्भीर और उलझे हुए बुद्धि तत्व के साथ भी संवेदना तत्त्व की प्रौढ़ बुद्धि तत्त्व वाली कला-कृति से कहीं

उत्कृष्ट मानी जावेगी।"

इस आलोचना-पद्धति में साहित्य को वर्ग की उपज मानकर सामाजिक आवश्यकताओं के सहारे उसका मूल्यांकन किया जाता है। इसमें वर्ग-संघर्ष के आदर्श और विचारधाराओं को महत्व दिया जाता है। यह आलोचना अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट होती है। किन्तु समाजवादी आलोचक राजनीति के दर्पण में ही कृति को देखते हैं। अतः साहित्य की उपेक्षा हो जाती है। लेकिन इस आलोचना से एक लाभ यह है कि "जनजीवन से दूर रहकर मनमाने ढङ्ग से साहित्य-सृजन करने वाले लेखक और कवियों की ऊल-जलूल, आडम्बरपूर्ण थोथी रचनाओं के प्रति जनता में तिरस्कार की भावना आ जाती है क्योंकि यह उनकी कलई खोलकर रख देती है।" इधर प्रगतिवादी आलोचना में पर्याप्त सन्तुलन आता जा रहा है। इन आलोचकों में डा० राम विलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, अमृतराय और शिवदानसिंह चौहान उल्लेखनीय हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि (१) मार्क्सवादी आलोचक काव्य के उपयोगितावादी पक्ष का उद्घाटन करता है। (२) काव्य की प्रेषणीयता का इस आलोचना में विशेष महत्व रहता है। (३) मार्क्सवादी आलोचक ठोस धरातल पर रहता है, अतः उनमें चमत्कार और प्रदर्शन का भाव नहीं होता है। वह भौतिक यथार्थवादी दृष्टि को लेकर चलता है, अतः वह कभी-कभी मार्क्सवाद का प्रचारक भी बन जाता है। (४) मार्क्सवादी आलोचक जनवादी और समाजोपयोगी रचना को महत्व देता है। (५) इस आलोचना पद्धति से नवयुवकों में क्रान्ति की भावना जाग्रत होती है। इसमें साहित्य और समाज का सम्बन्ध स्पष्ट किया जाता है अतः साहित्य में जो काल्पनिकता, पलायनवादिता और प्रतिक्रियावादी विचारधाराएँ पल्लवित हो रही थीं, उनको आघात लगता है।

इन आचोलना-पद्धतियों के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य में शुक्ल पद्धति, सौष्ठववादी या स्वच्छन्दतावादी आदि पद्धतियों का विकास हुआ है। निरन्तर एक विशाल आलोचना-साहित्य का निर्माण हो रहा है, और हिन्दी का आलोचना शास्त्र अपने चरमोत्कर्ष की ओर बढ़ रहा है। इसका भविष्य उज्ज्वल है।

प्रश्न ७३—हिन्दी आलोचना के क्रमिक विकास पर प्रकाश डालिए।

हिन्दी आलोचना का अपना एक स्वतंत्र अस्तित्व है। कुछ लोग उसके स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। वे उसे संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा मात्र मानते हैं अथवा पाश्चात्य आलोचना का अनुकरण कहते हैं। परन्तु हिन्दी आलोचना संस्कृत काव्यशास्त्र और पश्चिम समीक्षा से जुड़े रहने पर भी अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती है। उसका सैद्धान्तिक पक्ष यदि उसे संस्कृत काव्यशास्त्र के निकट ले जाता है तो व्यावहारिक पक्ष पश्चिम समीक्षा से जोड़ देता है।

हिन्दी आलोचना अपने बीज रूप में भक्तिकाल में मिलती है। रीतिकालीन काव्यशास्त्र में उसका और अधिक विकसित रूप दिखाई देता है। परन्तु यह संस्कृत काव्यशास्त्र का अन्धानुकरण मात्र है और इसमें समीक्षा का केवल सैद्धान्तिक पक्ष,

उजागर हुआ है। यद्यपि डा० नगेन्द्र ने यह कहकर कि इसमें संस्कृत की भाँति 'ध्वनि' पर जोर न देकर 'रस' पर जोर दिया गया है, इसको संस्कृत काव्यशास्त्र से पृथक् करने की चेष्टा की है, परन्तु यह अन्तर कोई विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। इस प्रकार हिन्दी आलोचना संस्कृत काव्यशास्त्र से जुड़ी हुई है परन्तु यह बात केवल भक्तिकाल और रीतिकाल के काव्यशास्त्रीय विवेचन के लिए कही जा सकती है। वर्तमान काल में हिन्दी समीक्षा का जो स्वरूप विकसित हुआ है, वह युगीन जीवन-मूल्यों की उपज है। इस आधार पर वह पश्चिम की व्यावहारिक समीक्षा से जुड़ जाती है। परन्तु पश्चिम की व्यावहारिक समीक्षा प्रणाली को अपनाते हुए भी हिन्दी आलोचना ने उसे भारतीय रसवादी दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में ही व्यवहृत किया है। इस प्रकार वह संस्कृत और पश्चिम के काव्यशास्त्र के प्रभावों को झेलते हुए भी अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती है।

यद्यपि हिन्दी आलोचना का स्वतंत्र स्वरूप आधुनिक युग के भारतेन्दु काल में ही प्रकट होता है, परन्तु परम्परा से जुड़े रहने के व्यामोह के कारण हम उसकी जड़ें हिन्दी के भक्तिकाल और रीतिकाल के काव्यशास्त्र में भी खोज सकते हैं।

भक्तिकाल—भक्तिकाल का हिन्दी काव्यशास्त्र जिन रचनाओं में मिलता है, उनके नाम हैं—सूरदास की 'साहित्यलहरी; नन्ददास की 'रसमंजरी' व 'विरहमंजरी'; ध्रुवदास की 'रसहीरावली'; कृपाराम की 'हिततरंगिणी'; बलभद्र मिश्र का 'नखशिख'; तथा रहीम का 'बरवै नायिका भेद।'

इन भक्तियुगीन ग्रन्थों की मूल प्रेरणा सिद्धान्त-विवेचन की लालसा न होकर प्रतिपाद्य का चित्रण मात्र है। इन कवियों का लक्ष्य नायिका भेद को समझना न होकर अपने इष्टदेव की लीलाओं का गान है। इन ग्रंथों का आधार संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ नहीं है।

रीतिकाल—हिन्दी काव्यशास्त्र की अविच्छिन्न धारा रीतिकाल में मिलती है। केशवदास से इसका सूत्रपात हुआ और पद्माकर तक यह चलती रही। प्रमुख कवि एवं उनके ग्रन्थों के नाम इस प्रकार है—

१. केशवदास — कविप्रिया, रसिकप्रिया।
२. चिन्तामणि — कविकुलकल्पतरु।
३. कुलपति — रस-रहस्य।
४. देव — भाव विलास, काव्य रसादन।
५. श्रीपति — काव्य-सरोज।
६. सोमनाथ — रसपीयूषनिधि।
७. भिखारीदास — रस-सारांश, काव्य निर्णय, शृङ्गार निर्णय।
८. प्रतापसाहि — काव्य विलास।
९. पद्माकर — जगद्विनोद।

इन रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का कोई विशेष महत्व नहीं है। इनमें मौलिकता का अभाव है। संस्कृत काव्यशास्त्र का ब्रजभाषा पद्य में अनुवाद कर देना

ही इनका लक्ष्य रहा है। फिर, इनमें विवेचन की प्रौढ़ता, गम्भीरता भी नहीं है। गद्य का प्रयोग न होने के कारण ये समीक्षा का सच्चा स्वरूप प्रस्तुत करने में असमर्थ रहे हैं। इन ग्रन्थों का महत्व केवल इस दृष्टि से है कि इन्होंने संस्कृत न जानने वाले जन समूह को काव्यशास्त्र के सामान्य नियमों से परिचित कराया और संस्कृत की परम्परा को जीवित बनाये रखा।

आधुनिक काल

भारतेन्दु युग—वस्तुतः भारतेन्दु युग हिन्दी समीक्षा का उद्‌भव काल है। रीतिकालीन संस्कृत ग्रन्थों की परिपाटी को छोड़कर हिन्दी आलोचना इस काल में सहसा एक नवीन मार्ग पर अग्रसर हो उठी इसके कई कारण थे—गद्य का आविर्भाव, पत्र-पत्रिकाओं का निकलना, पाठक-समुदाय का बदल जाना। गद्य के आविर्भाव और पत्र-पत्रिकाओं के प्रचलन ने आलोचना के विकास का मार्ग खोल दिया। इस समय पाठक-वर्ग भी बदल गया था। अब रीतिकाल के राजदरबारी सहृदय रसिक के स्थान पर जन-सामान्य पाठक बन गया था। फलस्वरूप आलोचना के क्षेत्र में क्रान्ति आई। भारतेन्दु के 'भारत दुर्दशा' या 'अन्धेरी नगरी' जैसे नाटकों की समीक्षा प्राचीन लक्षण-ग्रन्थों के आधार पर नहीं की जा सकती थी। इसके लिए एक नई कसौटी नितान्त अपेक्षित थी। यद्यपि परम्परा के प्रति मोह के कारण आलोचना का सैद्धान्तिक पक्ष अभी भी विद्यमान था, तथापि उसके सीमित दायरे से मुक्ति की आकांक्षा भी प्रबल हो उठी थी। इसीलिए भारतेन्दु युगीन समीक्षा में पुरानी और नई दोनों प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं, जो कि इस प्रकार हैं—

१. सैद्धान्तिक विवेचन इस काल में भी किया गया। भारतेन्दु ने 'नाटक' लिखा। जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' ने 'छन्द प्रभाकर' लिखा। नागरी प्रचारिणी पत्रिका में गंगाप्रसाद अग्निहोत्री का 'समालोचना' नामक लेख प्रकाशित हुआ। 'नाटक' में भारतेन्दु जी ने नाटक के प्राचीन भेद-उपभेदों की चर्चा करते हुए उसमें आये नवीन तत्वों की ओर निर्देश किया।

२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका में साहित्यकारों के जीवन, रचनाकाल और रचनाओं के बारे में प्रामाणिक लेख प्रकाशित किये गए। इन्हें हम व्यावहारिक समीक्षा का आरम्भिक रूप मान सकते हैं।

३. साहित्य का इतिहास लिखने की प्रवृत्ति परिलक्षित हुई। 'शिवसिंह सरोज' में प्राचीन कवियों का जीवन-परिचय और रचनाएँ लिपिबद्ध की गईं।

४. पुस्तक-समीक्षा की प्रवृत्ति दिखाई दी। 'हिन्दी प्रदीप' और 'आनन्द कादम्बिनी' पत्रिकाओं में लाला श्रीनिवासदास के 'संयोगिता स्वयंवर' की समीक्षा प्रकाशित हुई। 'आनन्द कादम्बिनी' में रमेशचन्द्र दत्त के 'वंग विजेता' नामक उपन्यास के हिन्दी अनुवाद की समीक्षा छपी। इसमें मूल तथा अनुवाद दोनों के गुण-दोषों का विवेचन किया गया। कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, संवाद, सामाजिक मूल्यवत्ता आदि विविध दृष्टियों से कृति का परीक्षण किया गया। ये समीक्षाएँ हिन्दी की व्यावहारिक

समीक्षा का आरम्भिक रूप प्रस्तुत करती हैं।

द्विवेदी युग—सन् १६०० ई० में 'सरस्वती' का प्रकाशन आरम्भ होना हिन्दी-आलोचना के विकास-क्रम में बड़ा महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। १६०३ में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' का सम्पादन भार सम्भाला। उन्होंने इसमें 'पुस्तक-परीक्षा' के नाम से एक स्तम्भ रखा और स्वयं उस स्तम्भ में पुस्तकों की समीक्षाएँ लिखीं। १६०० में ई० बनारस से निकलने वाला 'सुदर्शन' और १६०२ ई० में जयपुर से निकलने वाला 'समालोचक भी पुस्तक-समीक्षा के उद्देश्य से प्रकाशित किये गये थे।

द्विवेदी युगीन आलोचना का स्वरूप निम्न विन्दुओं के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता सकता है—

१. इस काल में पुस्तकों की पुस्तककार आलोचनाएँ आरम्भ हुईं।

२. रचना के परीक्षण का मानदण्ड निर्धारित हो गया। आचार्य द्विवेदी ने नैतिकता और उपयोगितावाद को मानदण्ड माना। जिस रचना में उपयोगी एवं शिक्षाप्रद वर्ण्य-विषय तथा पात्र अपनाये गये हैं, वह उत्तम मानी गई। एक ओर विषय की उच्चता पर ध्यान दिया गया तो दूसरी ओर अभिव्यक्ति की सादगी का समर्थन किया गया। नायिका-भेद, अलंकार-निरुपण आदि परम्परागत रीति-नीति का विरोध किया गया। द्विवेदी जी की धारणा थी—"हिन्दी काव्य की हीन दशा को देखकर कवियों को चाहिए कि वे अपनी विद्या, अपनी बुद्धि और अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग इस प्रकार के ग्रन्थ लिखने में न करें। अच्छे काव्य लिखने का उन्हें प्रयत्न करना चाहिए। अलंकार, रस और नायिका-निरुपण बहुत हो चुका।" द्विवेदी जी की समीक्षा-दृष्टि 'रसज्ञ-रंजन' के निवन्धों में भली-भाँति देखी जा सकती है।

३. आचार्य द्विवेदी की आलोचना-पद्धति की एक महत्वपूर्ण विशेषता उनकी निर्भीकता थी। आलोचना करते समय वे बिना किसी हिचक के लब्ध प्रतिष्ठित साहित्यकार में भी दोष बता देते थे। उनके लिए आलोचना का अर्थ ही 'खण्डन-मण्डन' था और इसमें भी खण्डन का स्वर अधिक प्रखर हो उठता था। यह निर्भीकता, यह खरापन उनके बाद मिलना दुर्लभ हो गया। ज्ञान जहाँ से मिले, वे निःसंकोच ग्रहण करने को तत्पर रहते थे और दोष जहाँ दिखाई दे, वे बताने के लिए सन्नद्ध रहते थे। यह उनके व्यक्तित्व की विशेषता थी।

४. द्विवेदी युगीन आलोचना की एक अन्य विशेषता, जो हमारा ध्यान खींचती है, वह है—तुलनात्मक समीक्षा। देव और बिहारी के बीच श्रेष्टता का निर्णय करने के लिए आरम्भ होने वाले इस विवाद में द्विवेदी युग के प्रायः सभी महत्वपूर्ण आलोचकों ने भाग लिया। पं० पद्मसिंह शर्मा, पं० कृष्ण बिहारी मिश्र, लाला भगवान दीन आदि सभी ने इस बहस में हिस्सा लिया। 'हिन्दी नवरत्न' में मिश्रबन्धुओं ने देव को बिहारी से ऊँचा स्थान दिया। इस पर पं० पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी को देव से श्रेष्ठ बताया। तब पं० कृष्ण बिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' लिखकर पुनः देव की श्रेष्टता का प्रतिपादन किया। लाला भगवानदीन ने 'बिहारी और देव' लिखकर

बिहारी की श्रेष्टता सिद्ध की। इस तुलनात्मक समीक्षा से एक बात और प्रकट हुई। आचार्य द्विवेदी ने तो परम्परा का विरोध करके अपने नैत्तिकता और उपयोगितावादी स्वरों को मुखरित किया था, परन्तु इस तुलनात्मक समीक्षा में कलात्मक सूक्ष्मता, चमत्कारगत वक्रता आदि गुणों के आधार पर कवियों का परीक्षण किया गया। इस प्रकार इन आलोचकों की दृष्टि आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की दृष्टि से अलग रही। यद्यपि ये आलोचक भी युगीन नैतिकता से प्रभावित थे, तथापि इनके साहित्यिक संस्कार मूलतः रसवादी दिखाई देते हैं। इन्होंने अपनी समीक्षा में शैलीगत चमत्कार को विशेष महत्व दिया, आलोच्य विषय के गुण-दोषों की परख करने के स्थान पर भाषा सम्बन्धी गुण-दोषों का परीक्षण किया तथा प्रबन्ध की अपेक्षा मुक्तक को महत्व दिया।

५. द्विवेदी युग में समसामयिक कथा साहित्य पर विवादों के रूप में एक नई समीक्षा दृष्टि भी सामने आई। **'चन्द्रकान्ता'** में **'संभव-असंभव'** के प्रश्न को लेकर जो बदस शुरू हुई उसमें 'सुदर्शन', श्री वेंकटेश्वर समाचार,' 'भारत मित्र,' समालोचक', 'छत्तीसगढ़ मित्र' आदि पत्रों ने भाग लिया। 'छत्तीसगढ़ मित्र' में श्रीनिवास दास के 'परीक्षा गुरु' की समीक्षा छपी। 'समालोचक' में किशोरीलाल गोस्वामी के 'तारा' उपन्यास की समीक्षा छपी। इन समीक्षाओं में आम तौर पर पुस्तक के आकार-प्रकार की चर्चा रहती थी, नैतिक-सामाजिक दृष्टि से उनकी विषय सामग्री को देखा जाता था, कभी-कभी भाषा आदि पर टिप्पणी दे दी जाती थी।

६. साहित्य का इतिहास लिखने की परम्परा भी विकसित हुई। 'मिश्रबन्धु विनोद' लिखा गया, जिसमें लेखकों का इतिवृत्त दिया गया था।

शुक्ल युग—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी समीक्षा को अपनी प्रखर प्रतिभा तथा क्षमता से गौरव के उच्च शिखर पर पहुँचा दिया। आलोचना-क्षेत्र के इस परिवर्तन की ओर संकेत करते हुए वे लिखते हैं—"इस तृतीय उत्थान (सन् १९१८ ई० में) समालोचना का आदर्श भी बदला। गुण-दोष के कथन के आगे बढ़कर कवियों की विशेषताओं और अन्तःप्रवृत्ति की छानबीन की ओर भी ध्यान दिया गया।" कहना न होगा, यह प्रयास सर्वप्रथम स्वयं आचार्य शुक्ल ने ही किया था।

आचार्य शुक्ल ने प्राचीन और नवीन के समन्वय द्वारा एक ऐसी समीक्षा-पद्धति की स्थापना की थी, जो अनुपम शक्ति-सम्पन्न थी। शुक्ल जी जिस समय आलोचना क्षेत्र में आये, उस समय द्विवेदी युगीन नैतिकता और इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध क्रान्ति का उद्घोष करते हुए छायावाद का उदय हो चुका था। कविता के क्षेत्र में छायावाद का बोलबाला था और कथा-साहित्य में प्रेमचन्द स्वयं एक युग बनकर अवतीर्ण हो चुके थे। रीतिकालीन संस्कार भी सर्वथा निःशेष नहीं हुए थे। उस संक्रमण काल में आचार्य शुक्ल ने युग पुरुष की भूमिका निभाई।

शुक्ल जी के हाथों में हिन्दी आलोचना की बागडोर आते ही 'देव और बिहारी' तथा 'बिहारी और देव,' जैसे तुलनात्मक अध्ययन से हटकर आलोचना का केन्द्र हिन्दी का भक्तिकालीन साहित्य हो गया। शुक्ल जी ने कविता में अनुभूति को प्रधानता दी।

उन्होंने लोक-मानस और लोक-हृदय के साथ रागात्मक का सम्बन्ध स्थापित होने को प्रमुखता दी। उन्होंने भारतीय रसवाद को जिस लोक-सम्पृक्ति का भाव दिया, उसका निर्वाह प्रवन्ध काव्य में ही सम्भव था। उन्होंने भारतीय साहित्य की उपलब्धियों को मथकर यह निष्कर्ष निकाला कि भावों की गहराई और औदात्य ही किसी रचना को महत्ता प्रदान करने वाले तत्व हैं।

शुक्ल जी सिद्धान्त-निरूपण में जितने दक्ष थे, उन सिद्धान्तों का परीक्षण करने में उससे भी अधिक निपुण थे। काव्य का परीक्षण करने की उन्हें अन्तर्भेदिनी दिव्य दृष्टि प्राप्त थी। इसीलिए उन्होंने सूर, तुलसी और जायसी पर बड़ी प्रभावशाली व्यावहारिक समीक्षायें लिखीं। उनके आलोचक व्यक्तित्व की एक प्रमुख विशेषता उनकी सजग एवं व्यापक दृष्टि थी। जिस लगन और उत्साह से उन्होंने मध्ययुगीन काव्य का विवेचन किया, उसी रुचि से आधुनिक साहित्य पर भी दृष्टिपात किया। जिस साहित्य में युगों से कविता-साम्राज्ञी की प्रतिष्ठा रही हो, उसमें निबन्ध के विषय में यह मन्तव्य देना कम साहस और सूझबूझ की बात नहीं है कि, "यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबंधों में ही सबसे अधिक सम्भव होता है।" प्रेमचन्द के उपन्यासों में यथार्थवादी जीवन दृष्टि, सामाजिकता आदि को देख उन्होंने उन्हें हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार घोषित किया।

शुक्ल युग की एक महान विभूति बाबू श्यामसुन्दरदास थे। उनका महत्व इस बात में है कि उन्होंने अपने 'साहित्यालोचन' द्वारा पहली बार हिन्दी समालोचना को अध्ययन-अध्यापन के विषय के रूप में प्रतिष्ठित किया। इस ग्रन्थ की रचना एम० ए० के पाठ्यक्रम में उपर्युक्त आलोचनात्मक ग्रन्थ के अभाव की पूर्ति के रूप में की गई थी। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में, "श्यामसुन्दरदास जी का 'साहित्यालोचन' उतना मौलिक न हो, किन्तु वह साहित्य और उनके अंगों की तटस्थ, ऐतिहासिक तथा वास्तविक व्याख्या का प्रयत्न है।"

शुक्ल युग के अन्य महत्वपूर्ण समीक्षकों में बाबू गुलाबराय, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, जगन्नाथ शर्मा, लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', कृष्ण शंकर शुक्ल, सत्येन्द्र आदि आते हैं। बाबू गुलाबराय की प्रमुख समीक्षात्मक कृतियाँ 'काव्य के रूप,' 'सिद्धान्त और अध्ययन' हैं। उन्होंने पूर्व और पश्चिम की समीक्षा प्रणालियों को उदारतापूर्वक ग्रहण किया।

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में विशेष महत्वपूर्ण नहीं हैं, किन्तु व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में उन्होंने विशेष कार्य किया है। रीतिकाल का नामकरण, प्रवृत्तियाँ साहित्य आदि विषयों पर विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया है। उनकी मुख्य कृतियाँ हैं—'भूषण', 'विहारी', 'घनानन्द', 'बिहारी की वाग्विभूति' तथा 'वाङ्मय विमर्श'।

लक्ष्मीनारायण सुधांशु आचार्य शुक्ल की परम्परा के आलोचक हैं। 'जीवन के

तत्व और काव्य के सिद्धान्त' तथा 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं।

कृष्णशंकर शुक्ल ने व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया है। 'महाकवि रत्नाकर' तथा 'केशव को काव्यकला' उनकी महत्वपूर्ण आलोचनात्मक पुस्तकें हैं।

डॉ० सत्येन्द्र का मुख्य क्षेत्र भी व्यावहारिक समीक्षा रहा है। उनकी मुख्य पुस्तकें हैं—'गुप्तजी की कला', 'प्रेमचन्द और उनकी कहानी कला,' 'ब्रजलोक' 'साहित्य का अध्ययन', 'हिन्दी एकांकी', 'साहित्य की झांकी।'

शुक्लोत्तर युग—शुक्लोत्तर युग में हिन्दी समीक्षा की बहुमुखी प्रगति हुई। उसका अध्ययन इस प्रकार कर सकते हैं।

स्वच्छन्दतावादी समीक्षा—इस समीक्षा का मूलाधार छायावादी काव्य है। छायावादी कविता की मुख्य विशेषताएं थीं—स्वानुभूति की प्रधानता, कल्पना की अतिशयता, नवीन सौन्दर्य दृष्टि। इन्हीं विशेषताओं के आधार पर स्वच्छन्दतावादी समीक्षा ने छायावाद का परीक्षण किया। शुक्ल जी ने नैतिकता और उपयोगितावाद के प्रति अपने अटूट आग्रह के कारण अनुभूति की मार्मिकता पर कम जोर दिया था। जोर तो दिया था पर अनुभूति को सामाजिकता से जोड़ दिया था। केवल अनुभूति की मार्मिकता को समग्रता से ग्रहण करने का प्रयास स्वच्छन्दतावादी आलोचकों ने किया। इनमें सर्वप्रमुख नाम आचार्य नन्द दुलारे बाजपेयी का है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा डा० नगेन्द्र भी इसी कोटि में आते हैं। इस समीक्षा पद्धति की मुख्य विशेषताएँ निम्न हैं—

१. अनुभूति जगत को सर्वोपरि महत्व देना इसकी प्रधान विशेषता है। इसीलिए इस धारा के समीक्षकों के विषय-प्रधान काव्यों की अपेक्षा भाव-प्रधान गीतों को अधिक सराहा। छायावादी गीतों ने इन्हें आकर्षित किया तथा प्राचीन काल के सूर, तुलसी, कबीर, मीरा और विद्यापति जैसे कवियों की गीतिकला भी इन्हें खींचे बिना न रही।

२. इस समीक्षा पद्धति में नवीन सौन्दर्य-बोध को अपनाया गया। नवीन जीवन मूल्यों, हृदय की संश्लिष्ट भाव-छवियों और अभिव्यक्ति के नवीन उपकरणों में इन्होंने सौन्दर्य के दर्शन किये।

आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी छायावादी काव्य-जगत के मोहक सौन्दर्य से इतने अभिभूत हो उठे कि उन्होंने उसी के आधार पर अपनी समीक्षा पद्धति को विकसित किया। इस परम्परा के दूसरे महत्वपूर्ण समीक्षक डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी रहे। उन्होंने स्वच्छन्दतावादी समीक्षक होते हुए भी अनुभूति का सम्बन्ध सामाजिक मंगल से जोड़ा। लोक-मंगल की बात शुक्ल जी ने भी की थी, किन्तु द्विवेदी जी का लोकमंगल उससे भिन्न है। इसे मानवतावाद कहना अधिक समीचीन होगा। द्विवेदी जी ने सामंजस्य और संतुलन को भी विशेष प्रश्रय दिया है। समीक्षा के क्षेत्र में वह शास्त्रीय, व्याख्यात्मक तथा प्रभाववादी सभी समीक्षाओं में रस और सौन्दर्य का महत्व स्वीकार

करते हैं। कबीर और सूर पर उन्होंने विद्वत्तापूर्ण व्यावहारिक समीक्षाएँ लिखीं। इस दिशा में तीसरा नाम डा० नगेन्द्र का है जिनकी महत्वपूर्ण समीक्षात्मक कृतियां हैं—'रीतिकाल और देव', 'देव और उनकी कविता', 'साकेत एक अध्ययन', 'कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ', 'सुमित्रानन्दन पन्त', 'आधुनिक हिन्दी नाटक।' उनके सैद्धांतिक विवेचन और व्यावहारिक परीक्षण में एकसूत्रता विद्यमान है। वे शास्त्रीय आधार पर खड़े हैं और उस पर खड़े होकर ही नई दिशाओं को ढूंढ़ते हैं। यही उनकी समीक्षात्मक दृष्टि की विशेषता है।

प्रभाववादी समीक्षा—इस कोटि की समीक्षा में पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी अग्रगण्य हैं। आचार्य शुक्ल ने इस समीक्षा को महत्वहीन मानते हुए कहा था—"न ज्ञान के क्षेत्र में उसका कोई मूल्य है, न भाव के क्षेत्र में। उसे समीक्षा या आलोचना कहना ही व्यर्थ है।" शांतिप्रिय द्विवेदी को इस कोटि का समीक्षक इसलिए माना गया क्योंकि उन्होंने छायावादी ढंग पर कविता न लिखकर गद्य लिखा। इन समीक्षाओं में काव्यात्मकता का इतना बाहुल्य हो गया है कि सारभूत करने पर ही विचारों को देखा जा सकता है। अपनी इस दुर्बलता से परिचित होने के कारण ही उन्हें अपने पक्ष में सफाई देने की जरूरत पड़ी थी—"प्राभाविक आलोचना द्वारा आलोचना में अनुभूति का परिचय मिलता है। अनुभूति के लिए रसज्ञता ही नहीं, रसार्द्रता भी चाहिए।" जो भी हो, इतना मानना पड़ेगा कि शांतिप्रिय द्विवेदी ने भाव-विभोर होकर छायावाद पर जो समीक्षायें कीं, उनसे विद्यार्थी-जगत का बहुत लाभ हुआ और छायावाद की दुरुहता उनके लिए बोधगम्य बनी।

कवि समीक्षक—शुक्लोत्तर हिन्दी समीक्षा के विकास-क्रम को समझते समय हम कवि समीक्षकों के योगदान को अनदेखा नहीं कर सकते। इन कवि समीक्षकों में जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पन्त, निराला और महादेवी वर्मा का नाम आता है। प्रसाद जी ने 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' लिखकर अपने विचारों का प्रवर्त्तन किया। छायावाद और रहस्यवाद के सम्बन्ध में उन्होंने अपनी स्थापनाएँ सामने रखीं। इन कवि-समीक्षकों के सम्बन्ध में ध्यान रखने की बात यह है कि ये लोग मूलतः कवि थे। आलोचना करना इनका मुख्य कर्म न था। प्रायः रचना-कर्म के बीच से इनकी आलोचनाएँ स्वतः निःसृत हो गई हैं।

सुमित्रानन्दन पन्त की मान्यता थी कि पुराने सिद्धान्तों के आधार पर नये साहित्य का मूल्यांकन नहीं हो सकता। नये साहित्य के मूल्यांकन के लिए नई कसौटी की आवश्यकता बताते हुए उन्होंने 'पल्लव' के 'प्रवेश' में लिखा था—"हिन्दी में सत्समालोचना का बड़ा अभाव है। रस गंगाधर, काव्यादर्श आदि की वीणा के तार पुराने हो गये, वे स्थायी, संचारी, व्यभिचारी आदि भावों का जो कुछ संचार अथवा व्यभिचार करवाना चाहते थे, करवा चुके। जब तब समालोचना का समयानुकूल रूपान्तर न हो, वह विश्वभारती के आधुनिक विकसित तथा परिष्कृत स्वरों में न अनुवादित हो जाय, तब तक हिन्दी में सत्साहित्य की सृष्टि हो भी नहीं सकती।"

इसीलिए पन्त ने काव्य भाषा के क्षेत्र में क्रांति लाने की बात इस प्रकार कही—"हमें भाषा नहीं, राष्ट्रभाषा की आवश्यकता है, पुस्तकों की नहीं, मनुष्यों की भाषा, जिसमें हम हँसते रोते, खेलते-कूदते, लड़ते, गले मिलते, साँस लेते और रहते हैं।" काव्य-भाषा में बिंबात्मकता पर जोर देते हुए उन्होंने कहा—"कविता के लिए चित्र भाषा की आवश्यकता पड़ती है।" इस प्रकार भाषा और शिल्प पर उन्होंने विशेष जोर दिया।

निराला का कार्य पन्त से भिन्न था। 'पंत और पल्लव', 'मेरे गीत और कला', 'परिमल' की भूमिका आदि में उनके आलोचनात्मक विचारों की झाँकी मिलती है। इन निबंधों में उनके सौन्दर्य-बोध, अध्ययन, सूक्ष्म दृष्टि और रसज्ञता के दर्शन होते हैं। मुक्त छंद की आवश्यकता और महत्व पर उन्होंने प्रकाश डाला। इस संबंध में उन्होंने अपनी मान्यता भी स्थापित की—"हिन्दी में मुक्त छंद कवित्त छन्द की बुनियाद पर सफल हो सकता है।" निराला ने 'साहित्य और भाषा', 'रचना-सौष्ठव', 'हमारे साहित्य का ध्येय' जैसे कुछ निबंधों में सिद्धान्तों की बातें भी उठाई हैं।

महादेवी वर्मा के आलोचनात्मक विचार उनकी 'यामा' और 'दीपशिखा' की भूमिकाओं में मिलते हैं। 'साहित्यकार की आत्मा और अन्य निबंध' में भी उनके इन विचारों का स्वरूप प्राप्त होता है। उनके साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण करने के समय तक छायावाद पर लगाये जाने वाले आरोपों की परम्परा समाप्त-प्राय: हो चुकी थी। उन्होंने काव्योचित अलंकृत गद्य में छायावाद सम्बन्धी अपनी धारणाओं को स्पष्ट रूप से सामने रखा। छायावाद की सामाजिकता और यथार्थवादिता की भी उन्होंने व्याख्या की।

प्रगतिवादी समीक्षा—प्रगतिशील समीक्षा ने भी आलोचना के क्षेत्र में नवीन मान स्थापित किये। मार्क्सवाद के आधार पर आगे बढ़ने वाले समीक्षकों में शिवदान सिंह चौहान, अमृतराय, प्रकाशचन्द्र गुप्त, और रामविलास शर्मा के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रगतिवाद के अभ्युदय ने रचना और समीक्षा के क्षेत्र में एक नई क्रांति का सूत्रपात किया। उसने जीवन दृष्टि, सौन्दर्यबोध, शिल्पविधि और संवेदना सभी में परिवर्तन ला दिया। इस समीक्षा ने साहित्य का उद्देश्य सामाजिक यथार्थ का उद्घाटन करना बताया और लोकमंगल के दृष्टिकोण से समन्वित सामाजिक यथार्थवाद की भूमिका पर समीक्षा को प्रतिष्ठित किया। शोषक और शोषित के वर्गसंघर्ष का चित्रण किया। प्रगतिवाद ने वहाँ भी सौन्दर्य देखा जहाँ अभी तक किसी की दृष्टि नहीं गई थी। समाज के तथाकथित निम्न वर्ग के जीवन की समस्याओं और पीड़ाओं के उद्घाटन में रुचि ली। छायावादी कवियों की लाक्षणिक और प्रतीकात्मक भाषा को अपनाने के स्थान पर उसने सादगी और सहजता भरने पर जोर दिया। इन समीक्षकों का मत है कि सामाजिक यथार्थ की शक्तियों से युक्त साहित्य महान है। मात्र रसवादी या मात्र शिल्पप्रधान ग्रन्थ प्रगतिवादी समीक्षा की दृष्टि से श्रेष्ठ नहीं है। श्रेष्ठ या महान् साहित्य वह है "जो रस या अनुभूति का सर्जन या अभिव्यक्ति व्यापक सामाजिक

जीवन के अगणित संबंधों के सन्दर्भ में करें।" प्रगतिवादी समीक्षा ने साहित्य को सामाजिक क्रान्ति का हथियार माना है, फिर भी उसने भावात्मक तत्वों की पूर्ण उपेक्षा नहीं की। प्रगतिवादी समीक्षकों में **शिवदानसिंह चौहान** का दृष्टिकोण स्वस्थ तथा स्पष्ट है। वे साहित्य के गम्भीर अध्येता हैं। रुचि कलात्मक एवं परिष्कृत है। डा० रामदरस मिश्र ने इनके विषय में लिखा है कि 'इनकी समीक्षाओं में सर्वत्र साहित्यिकता लक्षित होती है।'......ये साहित्य में सौन्दर्यानुभूति, मानवीय संवेदना तथा विकसित कलात्मक उपलब्धियों की स्वीकृति देखना चाहते हैं। "अतएव इनकी समीक्षाओं में प्रगति और परम्परा का संतुलित रूप दिखाई पड़ता है।" अन्य प्रगतिशील समीक्षकों की तरह एकांगिता और संकीर्णता नहीं है। श्री चौहान जहाँ रसवाद, मनोविज्ञानवाद की कमियों का उल्लेख करते हैं, वहीं प्रगतिवाद की कमियों का भी वर्णन करते हैं। 'साहित्य की परख', 'साहित्यानुशीलन', तथा 'आलोचना के मान' इनके समीक्षात्मक निबंधों के संग्रह हैं। उनके आरंभिक निबंध 'प्रगतिवाद' नामक पुस्तक में संकलित हैं।

प्रकाशचन्द्र गुप्त भी अत्यन्त उदार और प्रगतिशील आलोचक हैं। उनके निबंध संग्रहों—'आधुनिक हिन्दी साहित्य एक दृष्टि' 'हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा' तथा 'साहित्य धारा' से उनकी आलोचना विषयक दृष्टि का परिचय मिलता है। वे विध्वंसात्मक आलोचना के घोर विरोधी हैं। श्री गुप्त की आलोचना शैली सरल सुबोध और शालीन है।

डा० रामविलास शर्मा प्रतिभावान, निर्भीक, ओजस्वी व्यक्तित्व वाले प्रगतिवादी समीक्षक हैं। इस आन्दोलन के प्रमुख कर्णधारों में से एक रहे हैं। वे सामाजिक यथार्थ के प्रबल समर्थक हैं। उनका मत है कि "कला में शक्ति केवल मांजने से नहीं आती वरन् विषय की जीवंतता से आती है। जनता के जीवन के चित्रण से साहित्य में अधिकाधिक सौन्दर्य पैदा होता है। यथार्थवाद का स्वस्थ ओजस्वी रूप ही शर्मा जी को प्रिय है और उसके नाम पर रोमांस, नग्न-भोगविलास और व्यक्तिवादी अहं के विस्तृत वर्णन को वे हेय समझते हैं।"

व्यावहारिक समीक्षाओं में भी शर्मा जी ने प्रगतिशील मानदंड का प्रयोग किया है। शर्मा जी तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति और उसके प्रभाव के संदर्भ में ही कवियों का मूल्यांकन करते हैं। "इसीलिए डा० शर्मा ने तुलसी, भूषण, भारतेन्दु, गुप्त, प्रसाद, पंत, निराला इत्यादि कवियों को क्रान्तिकारी कहा है।" उक्त कवियों ने अपने युग की सड़ी-गली प्रवृत्तियों का खण्डन कर जनता का मानवतावादी चित्रण किया है। 'प्रेमचन्द और उनका युग', प्रेमचंद, 'भारतेन्दु युग', "निराला', 'रामचंद्र शुक्ल' आदि इनकी स्वतंत्र पुस्तकें हैं। इनके अतिरिक्त अनेक निबंध 'संस्कृति और साहित्य' में संग्रहीत हैं।

डा० रामदरस मिश्र ने शर्मा जी की समीक्षा के विषय में लिखा है कि "शर्मा जी की दृष्टि, पकड़, समझ और अनुभूतिशीलता में समीक्षक की पूरी-पूरी

क्षमता है। जहाँ वे तटस्थ होकर विचार करते हैं वहाँ उनका स्तर बड़ी उच्चकोटि का होता है। शर्मा जी में नवीनता है, अभिव्यक्ति प्रणाली बड़ी ही स्पष्ट, प्रत्यक्ष और तीखी है। वह पाठकों को सीधे प्रभावित करती ।"[1]

मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा—फ्रायड, एडगर और युंग के मनोविश्लेषणवाद ने भी साहित्य-चिन्तन को प्रभावित किया है। उस प्रभाव को निम्न संकेतों द्वारा देखा जा सकता है—

(१) साहित्य-सृजन की प्रेरणा का मूल मनुष्य का चेतन मन न होकर अवचेतन मन है। (२) साहित्य व्यक्तिगत अनुभूति अधिक है। साहित्य में जो सामाजिक तत्व उभर कर आते हैं, वे साहित्यकार के निजी अनुभव की अपेक्षा सामाजिक दबाव जन्य होते हैं। (३) साहित्य में प्रवृत्तियाँ कार्य करती हैं न कि बौद्धिकता। (४) अवचेतन की दमित वासनाओं पर परिस्थितियों का प्रभाव होता है, किन्तु यह प्रभाव आन्तरिक कम ही होता है। (५) प्राचीन नैतिक मान्यतायें व्यर्थ एवं आरोपित हैं। "पाप-पुण्य, भले-बुरे, छोटे-बड़े के बंधे-बंधाये पैमाने झूठे हैं। वे मनुष्य का विनाश करते हैं क्योंकि वे मनुष्य के अवचेतन में स्थित वेगवान वासनाओं की सहज सुन्दर तुष्टि में नहीं, उनके दमन में विश्वास करते हैं।" यह दमन विकास का बाधक है। वस्तुतः मनुष्य परिस्थितिवश सहज प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर कार्य करता है, अतः उसके किसी कार्य का नैतिक दायित्व उस पर नहीं है। फलतः फ्रायड की इन मान्यताओं से प्रभावित होकर महान् पात्रों की अपेक्षा, अपनी वासनाओं से उलझे हुए उद्देश्यहीन पात्रों का सृजन होने लगा।

मनोविश्लेषणवादी समीक्षकों में इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय प्रमुख हैं। देवराज उपाध्याय भी इसी कोटि के समीक्षक हैं। डा० नगेन्द्र की स्वच्छन्दतावादी समीक्षा पर इसका प्रभाव देखा जा सकता है।

इलाचन्द्र जोशी एक ओर आनन्द को काव्य का उद्देश्य मानकर कामवाद को आनंन्द और भारतीय रसवाद से जोड़ देते हैं। दूसरी ओर मार्क्सवाद से जोड़कर यथार्थवाद का निर्माण करते हैं। श्री जोशी ने अनेक आलोचनात्मक पुस्तकें लिखी हैं किन्तु इनके सिद्धान्तों में सर्वत्र एकरूपता का अभाव है। जोशी जी मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद की स्थापना करते हैं, जिसका बाह्यपक्ष है मार्क्सवाद और अन्तर्पक्ष है मनोविश्लेषणवाद। किन्तु क्या इन दोनों दृष्टियों में समन्वय संभव है, यदि 'हाँ', तो कैसे? जोशी जी के सिद्धान्तों का असन्तुलन उनकी व्यावहारिक समीक्षाओं में भी दृष्टिगत होता है।

अज्ञेय ने पाश्चात्य आलोचकों (फ्रायड तथा एडगर) के "मनोवैज्ञानिक सत्यों को कला-निर्माण का मूल प्रेरणा स्रोत मानकर उसे नैतिकता, सामाजिकता और प्रेषणीयता आदि प्रश्नों से जोड़कर वह साहित्यिक रूप दिया जो भारतीय चिंतन से

१. भारतीय समीक्षा, पृ० ११२।

मेल खाता है और हिन्दी समीक्षा के नये आयामों को स्पष्ट करता है।"

अज्ञेय मूलतः कवि हैं, समीक्षक कम। फिर भी समीक्षा क्षेत्र में पर्याप्त मौलिक कार्य किया है। "इनके पास गहरी संवेदन शीलता है, सूक्ष्म दृष्टि है, जाग्रत सौन्दर्य बोध है, किसी मौलिक प्रश्न को उठाने की शक्ति है या प्राचीन प्रश्नों की मौलिक व्याख्या देने की क्षमता है किन्तु इनका यथार्थवादी दृष्टिकोण सीमित है। अर्थात् ये उभरती हुई सामाजिक चेतना और नया उत्साह लेकर आने वाले नव निर्माणशील वर्तमान तथा भविष्य को नहीं देख सके; अत्यन्त दकियानूसी ढंग का फतवा दे डाला कि दुःख-सुख सबको है, गरीबों ने ही दुःख का ठेका नहीं लिया है। अमीरों और गरीबों के दुःख-सुख का विश्लेषण और उनके मौलिक भेदों की व्याख्या भी आलोचक को करनी होगी।"[1]

स्वच्छन्द समीक्षा—वर्तमान काल की समीक्षा में कुछ ऐसे भी समीक्षक हैं, जो वादों के दायरे से मुक्त होकर समीक्षा कार्य में संलग्न हैं। "किसी वाद का आग्रह स्वीकारे बिना खुली दृष्टि, खुले हृदय, उन्मुक्त विवेक और अध्ययन के आधार पर स्वतंत्र मानदण्ड निर्धारित कर मूल्यांकन करना।" इस श्रेणी के आलोचकों की समीक्षा को 'स्वच्छन्द-समीक्षा' कहा जा रहा है। डा० रामदरस मिश्र[2] ने इन आलोचकों के विषय में लिखा है कि—"वे परम्परा और वर्तमान की चेतनाओं से समृद्ध है। साहित्य के व्यक्तित्व और सामाजिकता के पारम्परिक महत्व को पहचानते हैं। वादों को पहचान कर उनमें से ग्राह्य चीजें ले लेते हैं। इस प्रकार वे एक ऐसे मानदण्ड का निर्माण करते हैं, जो किसी प्रकार के आग्रह से बोझिल नहीं होता।" इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण है—डा० देवराज। इस कोटि के अन्य समीक्षकों में हैं—नलिन विलोचन शर्मा और डा० प्रभाकर माचवे।

समकालीन समीक्षा—आज की समीक्षा

'आज की समीक्षा' प्राचीन समीक्षा से कई अर्थों में भिन्न है। वह प्राचीन समीक्षा में परिष्कार चाहती है क्योंकि आज के नवलेखन का वह सही मूल्यांकन नहीं कर पाती है। नयी रचनाओं की संवेदना और उसके सौन्दर्य की परख के लिए नई समीक्षा पद्धति की आवश्यकता है। आज की समीक्षा नवलेखन की उपज है। वह आज भी प्राचीन मानों को अस्वीकार कर नये मानों की खोज में है। नवलेखन से सम्बद्ध लेखकों में ही इस समीक्षा के सूत्र निहित हैं, मात्र सूत्र ही निहित हैं क्योंकि नवलेखन के क्षेत्र में कोई ऐसा समीक्षक नहीं है, जो नवीन मानों को सुनिश्चित कर सका हो, वैसे समीक्षा क्षेत्र में आचार्य द्विवेदी से लेकर वि० ना० साही तक इस क्षेत्र में अनेक समीक्षक कार्य करते रहे हैं। नवलेखन के क्षेत्र में अज्ञेय और मुक्तिबोध ने ही विभिन्न कृतियों पर समय-समय पर विचार करते समय या सम्पादन करते समय

---

१. भारतीय समीक्षा, डा० रामदरस मिश्र, पृ० ११५-१६।

२. वही, पृ० ११६।

साहित्य के मूल प्रश्नों पर विचार व्यक्त किये हैं।

आज के सर्जक की दृष्टि यथार्थवादी है, अतः उसका चिन्तन, जीवन-मूल्य और भाव पहले से भिन्न हैं, वह अपने भोगे हुए को वास्तविक मानता है, परिणामतः उसकी संवेदनाएँ पहले से भिन्न हैं। चूँकि जीवन जटिल है, व्यक्ति का व्यक्तित्व दुहरा है अतः ये संवेदनाएँ भी प्रायः जटिल हैं, किसी एक भाव की सत्ता की खोज उसमें संभव नहीं है। "वह देखता है, अनुभव करता है कि प्राचीन जीवन मूल्य टूट रहे हैं, सारे आदर्श खोखले हो रहे हैं, चारों ओर बिखराव है, टूटन है, अकेलापन है, इनके बीच कुछ उगती हुई आस्थाएँ हैं, फिर वे टूट जाती हैं। यह सत्य सर्जक को एक अजब चक्रव्यूह में डाल देता है। कवि छोटी-छोटी कविता में भी अनेक उलझी संवेदनाओं को व्यक्त करता चलता है, पूरे के पूरे सर्जन में ऐसा लगता है कि हमारे भीतर की अनेक परस्पर-लिपटी तहें उभरती चली आ रही हैं, हम भीतर ही भीतर महसूस करने लगते हैं कि एक ही साथ कुछ संवेदनाएँ, कुछ प्रश्न, कुछ टूटती हुई सत्ता का बोध, कुछ बनती हुई जिन्दगी की आवाज हैं। बिंबों और विशेषतया खंडित बिंबों की योजना ऐसे सत्यों की अभिव्यक्ति में बड़ी सहायक होती है।" अतः आज का समीक्षक समीक्षा का उद्देश्य जीवन की जटिलताओं को समझना मानता है। नवीन मानव मूल्यों को वह परखना चाहता है। जीवन चेतना को समझने की वह दृष्टि देना चाहता है।

क्या कोई कलाकार आत्म केन्द्रित होकर समाज से निस्संग रहकर सर्जन कर सकता है इस सम्बन्ध में मुक्तिबोध का विचार था—"कि कवि, कहानी लेखक, उपन्यासकार का सौन्दर्य-प्रतीति में वह सामाजिक दृष्टि सन्निहित है जिसका उसने उन जीवन-प्रसंगों के मार्मिक आकलन के समय उपयोग किया था। इस सामाजिक दृष्टि के बिना वह सौन्दर्य प्रतीति ही असंभव हो सकती थी।" भले ही वह दृष्टि या प्रभाव परम्परा, राजनीतिक वातावरण अथवा अपने प्राचीन या नवीन संस्कारों से प्राप्त की हो, किन्तु समाज और अपनी सामाजिक दृष्टि के बिना यह मूल्यांकन संभव नहीं है।

आज की समीक्षा का दूसरा सत्य है सृष्टा और परिवेश का जीवित सम्बन्ध। यह परिवेश रचनाओं में नाना रूपों में व्यक्त होता है। प्राचीन कवि या लेखक कल्पना लोक में, वायवीय संसार में रहता हुआ सृजन करता था किन्तु आज का सर्जक अपनी रचना में पूर्णतः समाहित रहता है, उसका टूटा हुआ, खंडित व्यक्तित्व रचना में घुला-मिला रहता है। अतः रचनाकार के व्यक्तित्व को समझना किसी रचना को समझने का मूल आधार है। अतः आज की समीक्षा का एक मान है सर्जक का व्यक्तित्व और उसका परिवेश।

इस प्रकार आज की समीक्षा समाजशास्त्र और मनोविज्ञान दोनों की उपलब्धियों से आलोकित है।

आज का समीक्षक रचनाकार के सर्जन के मूलभूत तत्व और उनके रूपों का

भी विवेचन करता है सर्जन की मूल प्रक्रिया से भिन्न दृष्टियों से प्राप्त तत्वों या सत्यों को वह स्वीकार नहीं करती है भले ही वे तत्व अत्यन्त मूल्यवान हों—"चाहे रस हो, चाहे प्रेषणीयता का प्रश्न हो, चाहे भाषा का सवाल हो, चाहे बड़े-बड़े सामाजिक मूल्यों की समस्या हो, चाहे आधुनिक बोध हो, चाहे परम्परागत प्रतीतियाँ हों, चाहे श्लीलता-अश्लीलता का सवाल हो, सभी को आज की समीक्षा सर्जन के मूल प्रश्नों के साथ संबद्ध करके देखने का प्रयत्न कर रही है।"

साहित्य का मूल धर्म क्या है ? सौन्दर्य की सृष्टि अथवा जीवन की वास्तविक चेतना की अभिव्यक्ति। आज का समीक्षक सौन्दर्य की सृष्टि को महत्व देता हुआ भी जीवन की चेतना को अधिक महत्व देता है। डा० मिश्र ने ठीक ही लिखा है कि—"निश्चय ही जीवन-चेतना का यह रूपांकन सर्जक के व्यक्तित्व के माध्यम से होने के नाते उसकी संवेदना में पगा होता है, साथ ही उसकी जीवन-दृष्टि और बौद्धिक चेतना से लिपटा भी होता है। उसका कहना है कि समकालीन जीवन-चेतना अपनी अभिव्यक्ति में रसमयी ही नहीं होती, वह हमारी बौद्धिक चेतना को जगाती भी है और मन को केवल तुष्ट करने के स्थान पर प्रश्नाकुल भी करती है।"

आज का समीक्षक कविता की प्रेषणीयता के प्रश्न पर भी गम्भीर चिन्तन करता है। यह प्रश्न पुरातन होते हुए भी चिर नूतन है। हर युग की कविता के सन्दर्भ में यह प्रश्न उठता रहा है आज भी उठ रहा है। नव लेखन के कवियों ने भी इस पर विचार किया है, किन्तु आज का विचारक मानता है कि सर्जक के समक्ष प्रश्न प्रेषणीयता का नहीं है, उसके समक्ष प्रधान प्रश्न अभिव्यक्ति का है। वह पूरी ईमानदारी से व्यक्त करना चाहता है। अभिव्यक्ति का माध्यम शब्द है, वह सामूहिक सम्पत्ति है, अतः वह व्यक्त होने के बाद प्रेषित भी होता है। "लेकिन प्रेषित होने में उसकी कला-कुशलता और पाठक की जागरूकता दोनों सहायक होते हैं।"

आज की समीक्षा की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है—शिल्प-विधि का चिन्तन। आज की समीक्षा भाषा और भाव को अलग-अलग नहीं देखती। प्राचीन साहित्य में भी शब्द और अर्थ की एकता पर विचार हुआ था "किन्तु सर्जन की प्रक्रिया के स्तर पर भाषा पर विचार करने की प्रवृत्ति का विकास नवलेखन में विशेष रूप से हुआ है। भाषा और भाव की विवेचना अलग-अलग नहीं हो सकती। हर शब्द किसी न किसी अर्थ से, गाढ़ भाव से संपृक्त होता है। कलाकार शब्दों के स्वभाव को, यानी उनके भीतर निहित भाव-छवि को पहचानता है और नये-नये संदर्भों में उनका प्रयोग कर नयी अर्थ-छवियों से उन्हें जोड़ता है। भाषा का सर्जन में अपरिहार्य योग है, वह ऊपरी चीज नहीं है।......"भाषा की शक्ति की कमी को कवि लय से पूरा करता है।"

आज के लेखन की भाषा की महत्वपूर्ण उपलब्धि बिम्ब-योजना है। "आज की जटिल, खंडित संवेदनाओं और बोधों को व्यक्त करने के लिए बिम्बों और विशेषतया खंडित बिम्बों और मुक्त साहचर्य की योजना हो रही है। बिम्बों की योजना आज सर्जन की अनिवार्य आवश्यकता है।" इसी प्रकार सर्जक प्रतीकों का भी सहारा

लेकर अभिव्यक्ति करता रहा है। किन्तु "आज के युग में उसकी अनिवार्यता अधिक बढ़ गयी है। प्रतीक-योजना से कविता दुरुह तो बनती है किन्तु वह काव्य के सत्य को व्यक्त करने के लिए कहीं-कहीं अपरिहार्य हो उठती है। अज्ञेय जी ने 'आत्मनेपद' के 'प्रतीकों का महत्व' निबन्ध में प्रतीक-योजना को जीवित भारतीय काव्य की मुख्य विशेषता माना है। सर्वाधिक जीवंत जनसाहित्य सदा से और सबसे अधिक प्रतीकों और अन्योक्तियों के सहारे ही अपना प्रभाव उत्पन्न करता है।"

आधुनिक समीक्षा में शिल्प सम्बन्धी अनेक तथ्यों पर विचार हुआ है। तुक, मात्रा, लय, छन्द, उपन्यास तथा कहानी की भाषा, आंचलिक उपन्यासों की शिल्प प्रक्रिया आदि पर भी आज की समीक्षा में विचार हुआ है और हो रहा है। अन्त में निष्कर्ष यही है कि "आज की समीक्षा भी मूलतः अनुभव को ही प्रधानता देती है.... परिवेशगत अनुभव पर वल देकर आज की हिन्दी समीक्षा मूलतः साहित्य में जीवन को महत्व देती है।"

प्रश्न ७४—'समीक्षा के नये प्रतिमान' विषय पर एक लघु लेख लिखिए।

साहित्य का प्रवाह युगानुरूप धारणाओं, साहित्यिक निकष और जीवन-मूल्यों के उपादान ग्रहण करता हुआ गतिमान रहता है। अतः किसी युग के साहित्य को तत्कालीन साहित्यिक धारणा, निकष और जीवन-मूल्यों के सन्दर्भ में मूल्यांकित करना उपादेय कहा जा सकता है। किन्तु इसका यह आशय भी नहीं है कि साहित्य के मानदण्ड अस्थिर और परिवर्तनशील होते हैं। वस्तुतः उनके व्यवहार की पद्धति में युगानुकूल संस्कार अत्यन्त आवश्यक है। नये साहित्य के साथ नये मान उदित होते किन्तु कोई भी मान न पूर्ण न सर्वकालिक ही और न सार्वभौमिक ही। डा० प्रेम शंकर का मत है कि "प्रतिमान अथवा निकष वे साधन जिन पर हम किसी कृति की परीक्षा करना चाहते।" यद्यपि साहित्य कालजयी होता है फिर भी उसकी युग संपृक्ति से इन्कार नहीं किया जा सकता। जब युग बदलता है, युगीन जीवन मूल्य बदलते हैं तब स्थायी प्रतिमानों की बात करना कहाँ तक उचित है? एक प्राचीन कहावत है 'पुरानी शराब नई बोतल में न डालनी चाहिए अन्यथा वह फूट जाती है।' इसी प्रकार प्राचीन प्रतिमानों पर नये साहित्य की परख कैसे हो सकती है? अरस्तू का काव्य-शास्त्र यूनानी नाटकों की दुखान्त समृद्ध परम्परा के आधार पर निर्मित हुआ, उसी कसौटी पर क्या सभी कृतियों का परीक्षण हो सकता है? वस्तुतः समीक्षा में अन्तर्निहित सृजनात्मकता ही वह वस्तु है जो सामाजिक संदर्भों में जुड़े साहित्य के शाश्वत सार्वभौम महत्व का उद्घाटन करती है। इस दृष्टि से दक्ष समीक्षक का महत्व मौलिक ग्रन्थों के रचयिता से कम नहीं है।

साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि साहित्यकार परम्परागत रूढियों में बंधकर साहित्य रचना नहीं करता। समय के साथ उपमान, बिम्ब, प्रतीक बदलते रहते हैं। अज्ञेय ने लिखा भी है—

अगर मैं तुमको
ललाती सांझ के नभ की तारिका
अब नहीं कहता
....
तो नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है ।
बल्कि केवल यही :
ये उपमान मैले हो गये हैं
देवता इन प्रतीकों से कर गये हैं कूच
कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है ।"

\+   +   +

कवि की धारणा है कि जिस प्रकार बर्तन ज्यादा घिस जाने से उसका मुलम्मा छूट जाता है, उसी प्रकार प्रतीक और उपमान भी पुराने होकर अपना मूल्य खो देते हैं । नवीन भाव बोध की अभिव्यक्ति के लिए नवीन शिल्पविधि आवश्यक है । ऐसी दशा में नवीन साहित्य का मूल्यांकन पुराने प्रतिमानों से कैसे हो सकता है । प्रश्न का उत्तर देने के क्रम में नवीन प्रतिमानों की तलाश आरम्भ हुई । 'नयी समीक्षा' शब्द प्रकाश में आया ।

'नयी समीक्षा' का जन्म टी० एस० इलिइट की रचनाओं से माना जाता है, जबकि स्वयं इलियट को यह परिबद्धता स्वीकार नहीं है । कलीन्थ ब्रुक्स का भी कथन है कि 'नयी समीक्षा' उपयुक्त नाम नहीं है क्योंकि उससे साहित्यिक दलबन्दी या 'वाद' का आभास मिलता है । तथापि यह शब्द साहित्य में चल रहा है । **इसमें रचना के सामाजिक तथा जीवनगत सूत्रों को इतना महत्व नहीं दिया जाता, जितना रचना पर दिया जाता है ।** इनकी मान्यता है कि रचना को रचना के रूप में देखना चाहिए । बिम्ब विधान, छन्द, टोन आदि संवेदनाओं और वर्ण्य-विषय को एकान्विति प्रदान करनी चाहिए और समीक्षक को उस एकान्विति का उद्‌घाटन करना चाहिए । आई० ए० रिचर्ड्स, टी०ई० हुल्मे, हरबर्ट रीड और केनेथ बर्क 'नयी समीक्षा' के प्रमुख समर्थकों में हैं ।

समीक्षा के नये प्रतिमानों की बात आने पर यह सबसे महत्वपूर्ण बात है कि समीक्षा के प्रतिमान जीवन-निरपेक्ष नहीं हो सकते । उन्हें जीवन से जुड़ा हुआ होना ही चाहिए । निश्चय ही जब नई कृतियाँ नये परिवेश में नयनोन्मीलन करती हैं तब उन्हें व्याख्यायित करने के लिए पुरानी कसौटी किस प्रकार उपयुक्त हो सकती है । प्राचीन आलोचना का बहुप्रयुक्त एवं चर्चित शब्द 'साधारणीकरण' है । घिसते-घिसते यह शब्द आज अपने निश्चित अर्थ में रूढ़ हो गया है । आज उसके स्थान पर 'प्रेषणीयता' शब्द चल रहा है । आशय वही है कि जो कुछ रचनाकार कहना चाहता है, क्या वह उसे पाठक तक पहुंचा सका है ? प्रेषित कर सका है ? यह 'प्रेषणीयता' और 'साधारणीकरण' शब्द भी कभी अपर्याप्त हो सकते हैं और इनकी जगह नये शब्द की

तलाश भी संभव हो सकती है।

साहित्य-समीक्षा के शाश्वत मूल्यों की स्थापना असंभव है। जहाँ तक समीक्षा का प्रश्न है, हम कभी जाने-अनजाने अपने दैनिक जीवन में इससे गुजरते रहते हैं, किसी सुन्दर पुस्तक को पढ़ते हैं, किसी सुन्दर नाटक अथवा चित्रपट का देख, दूसरों से उसकी अच्छाई-बुराई का जिक्र करते हैं। यह मनुष्य मात्र की स्वभाविक प्रवृत्ति है, इससे उसकी जिज्ञासा तुष्ट होती है। चूँकि आलोचना मनुष्य की जिज्ञासा की तुष्टि के लिए अत्यन्त आवश्यक है, इसीलिए उसके प्रतिमानों का प्रश्न भी बड़ा महत्वपूर्ण बन जाता है। यह प्रश्न सनातन है, प्रत्येक युग के आचार्य इसे पूछते आये हैं और समाधान करते आये हैं। किसी ने रस को प्रधानता दी तो किसी ने अलंकार को; किसी ने रीति को मुख्य माना तो किसी ने ध्वनि को; पर कोई भी मानदण्ड अन्तिम मानदण्ड न बन सका। यह विचार करने की एक सतत प्रक्रिया है, युग-धर्म के अनुरूप मानदण्डों का महत्व घटता-बढ़ता रहा है। आज का आलोचक यथार्थपरक दृष्टि, समाज-सापेक्ष-चिन्तन और परिवेश का साहित्य से अनिवार्य सम्बन्ध स्वीकारता है अतः उक्त तथ्य आलोचना के तत्व बन जाते हैं। साहित्य का मूल धर्म है **सौन्दर्य की सृष्टि**। किन्तु आज का समीक्षक सौन्दर्य को महत्व देता हुआ भी जीवन चेतना को अधिक महत्व दे रहा है क्योंकि "समकालीन जीवन चेतना अपनी अभिव्यक्ति में रसमयी ही नहीं होती, वह हमारी बौद्धिक चेतना को जगाती भी है और मन को केवल तुष्ट करने के स्थान पर प्रश्नाकुल भी करती है।"

आज की समीक्षा के तत्वों को समाजशास्त्र और मनोविज्ञान दोनों ही प्रभावित करते हैं। इनकी पृष्ठभूमि में ही समीक्षा तत्व पल्लवित होते हैं क्योंकि रचनाकार के सर्जन में उक्त तत्व योगदान देते हैं—"चाहे रस हो, चाहे प्रेषणीयता का प्रश्न हो, चाहे भाषा का सवाल हो, चाहे बड़े-बड़े सामाजिक मूल्यों की समस्या हो, चाहे आधुनिक बोध हो, चाहे परम्परागत प्रतीतियाँ हों, चाहे श्लीलता-अश्लीलता का सवाल हो, सभी को आज की समीक्षा सर्जन के मूल प्रश्नों के साथ सबद्ध करके देखने का प्रयत्न कर रही है।"

नयी समीक्षा के प्रतिमानों पर विचार करते समय एक तथ्य यह भी विचारणीय है कि आज का समीक्षक भाव और भाषा को अलग-अलग नहीं देखता है। फिर भी जब प्रतिमानों पर विचार करेगें तो निम्नलिखित आलोचना के प्रतिमान निर्धारित होंगे, जो सदा से मान्य रहे हैं, और आगे भी मान्य रहेगें—

भाषा—साहित्यकार अपनी भावनाओं, अपने चिन्तन-मनन-आचार-विचार को भाषा के माध्यम से ही मूर्त्त आकार प्रदान करता है। कवि अपनी अनुभूतियों को यदि सक्षम, सुन्दर और सशक्त रूप में अभिव्यक्ति नहीं देगा तो वे पाठक को आकृष्ट नहीं कर सकेगीं। अतः आलोचना की प्रक्रिया में भी भाषा का सर्वाधिक महत्व है, आलोचक की भाषा ऐसी होनी चाहिए जो पाठकों को रचना से साक्षात्कार कराती हो। प्रत्येक आलोचक की भाषा उसके चिन्तन-क्रम की सूचना देती है। शुक्ल जी की आलोचना प्रक्रिया समझने

के लिए 'संश्लिष्ट चित्रण', 'लोकमंगल,' आदि का समझना आवश्यक है। हजारीप्रसाद द्विवेदी का प्रिय प्रयोग 'मानव की जय यात्रा' है, तो अज्ञेय ने 'व्यक्तित्व की खोज' को अपनी आलोचना में स्थान दिया है। यह विशिष्ट प्रयोग आलोचना को समझने में सहायक होते हैं। इसी प्रकार कवि, लेखक, कहानीकार और उपन्यासकार में अपनी-अपनी भाषा होती है, उस रचनाकार की भाषा को युग-संदर्भ में रखकर ही उसकी आलोचना करनी चाहिए। नये कवियों ने पुराने शब्दों को नयी अर्थवत्ता प्रदान की है, अतः ऐसे कवियों की आलोचना करते समय उस अर्थवत्ता को भी परखना होगा। अतः कहा जा सकता है कि—'भाषा' को आलोचना का एक प्रतिमान स्वीकार करना ही चाहिए।

बिम्ब—आधुनिक काव्य की सूक्ष्म अर्थवत्ता बिम्ब में प्रतिबिम्बत है। क्योंकि "आज की जटिल, खंडित संवेदनाओं और बोधों को व्यक्त करने के लिए बिम्बों और विशेषतया खंडित बिम्बों और मुक्त साहचर्य की योजना हो रही है। बिम्बों की योजना आज सर्जन की अनिवार्य आवश्यकता है।" अतः बिम्बों का आधुनिक समीक्षा में महत्व बहुत अधिक है। बिम्बों के अनेक रूप हैं, अनेक वर्ग हैं उनको हृदयंगम किये बिना आलोचना सटीक नहीं हो सकती। नयी कविता बिम्ब की दृष्टि से पर्याप्त विवादास्पद, किन्तु समृद्ध है। उसके बिम्ब खंडित और उलझे होकर भी उनमें नवीनता, विविधता और मौलिकता है। आज की आलोचना बिम्बों का मूल्यांकन किये बिना अधूरी ही रहेगी अतः बिम्ब भी आलोचना का एक नया प्रतिमान है।

प्रतीक—प्रतीकों का महत्व साहित्य में सदा से रहा है दैनिक जीवन में भी प्रतीक हमारी काव्य और भावनाओं की अभिव्यक्ति के माध्यम रहे हैं वेदों से लेकर आज तक के साहित्य में प्रतीकों की एक अविच्छिन्न परम्परा रही है। "मनुष्य का समस्त जीवन प्रतीकों से परिपूर्ण है। वस्तुतः मनुष्य मूलतः प्रतीकों के माध्यम से ही सोचता है अमूर्त चिंतन अधिक विकसित स्तर का लक्षण है कुछ प्रतीक सार्वभौम होते हैं। जैसे सिंह वीरता का, श्वेत रंग पवित्रता का, शृगाल कायरता का और लोमड़ी चतुराई का प्रतीक है।"[१] यह भी सत्य है कि मनुष्य इनका प्रयोग निरन्तर करता रहा है और आगे भी करेगा, किन्तु देखा यह जा रहा है कि प्रतीकों के अर्थ बदलते रहे हैं, अनेक नूतन प्रतीक जन्म भी ले रहे हैं अतः साहित्य का मूल्यांकन करते समय इन प्रतीकों की उपेक्षा संभव नहीं है। "आज के युग में उसकी अनिवार्यता अधिक बढ़ गयी है। प्रतीक योजना से कविता दुरूह बनती है, किन्तु वह काव्य के सत्य को व्यक्त करने के लिए कहीं-कहीं अपरिहार्य हो उठती है। अज्ञेय जी ने 'आत्मनेपद के प्रतीकों का महत्व" निबंध में प्रतीक योजना को जीवंत भारतीत काव्य की मुख्य विशेषता माना है। सर्वाधिक जीवंत जन-साहित्य सदा से और सबसे अधिक प्रतीकों और अन्योक्तियों के सहारे ही अपना प्रभाव उत्पन्न करता है।" यह प्रतीक योजना भी आज की समीक्षा का एक प्रतिमान मानना चाहिए।

१. आत्मनेपद, अज्ञेय, पृ० ४१।

आज की समीक्षा में शिल्प विषयक अनेक तथ्यों पर गम्भीर चिन्तन किया गया है। कविता के सन्दर्भ में छन्द उपमान, तुक, मात्रा, लय आदि तत्त्व आलोचना के प्रतिमान रहे हैं किन्तु आज की समीक्षा इन पर विचार करके भी इन्हें शाश्वत प्रतिमान स्वीकार करने को उत्सुक नहीं है। क्योंकि कविता में कभी-कभी इनमें एक से अधिक तत्वों के न होने पर भी कविता में सौन्दर्य रहता है, पाठक उससे अभिभूत होता है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आज की समीक्षा में जीवन की चेतना (यथार्थ, आदर्श,) सामाजिकता, (वर्ग ऊँच-नीच) परिवेश, प्रेषणीयता आदि तत्व महत्वपूर्ण हैं। जो किसी रचना के मूल्यांकन के आधार बनते हैं। दूसरी ओर जब रचना शिल्प पर विचार करते हैं, तो कहा जा सकता कि भाषा और भाव गाढ़भाव से संपृक्त हैं, फिर भी रचना की समीक्षा करते समय भाषा, बिम्ब और प्रतीक आलोचना के प्रतिमान स्वीकार्य हैं। इनके विश्लेषण के बिना रचना के साथ न्याय सम्भव नहीं है।[1]

प्रश्न ७५—हिन्दी आलोचना के विकास में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य नगेन्द्र एवं डा० रामविलास शर्मा के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।

रामचन्द्र शुक्ल

हिन्दी आलोचना के भव्य भवन का शिलान्यास यद्यपि आचार्य शुक्ल से पूर्व ही हो चुका था, तथापि इस भवन को सुदृढ़ और गगनचुम्बी बनाने का कार्य शुक्ल जी ने ही किया। उन्हें हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में युग-प्रवर्त्तक होने का गौरव प्राप्त है। उनसे पूर्व हिन्दी-आलोचना एक छोटे से पौधे के रूप में थी, जिसे उन्होंने अपनी प्रतिभा, विद्वत्ता और चिन्तन के जल, वायु और प्रकाश द्वारा विशाल वृक्ष के रूप में परिणत किया। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है, "शुक्ल जी ने हिन्दी-समीक्षा में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। वे नए युग के विधायक थे।" डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल का मत है, "आचार्य शुक्ल को हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक और प्रौढ़ समालोचक होने का गौरव प्राप्त है। वे तात्विक व ऐतिहासिक, दोनों प्रकार के महत्व से सम्पन्न हिन्दी के एक ऐसे दिग्गज आचार्य हैं, जिन्होंने शास्त्राभ्यास और वैयक्तिक जीवनानुभूति के योग से निर्मित अपने मौलिक चिन्तन के सुदृढ़ सूत्र में भारतीय व पाश्चात्य समीक्षात्मक विचार-सारणियों को, सुप्रतिष्ठित जीवन-मूल्यों के आलोक में, गुम्फित किया है और समीक्षा को ऊँचा अर्थ व आशय प्रदान किया है।"

आचार्य शुक्ल के आलोचक स्वरूप को समझने के लिए हमें उनके निम्न ग्रन्थों का अध्ययन अभीष्ट है—

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, २. चिन्तामणि भाग १ तथा २, ३. रस मीमांसा, ४. गोस्वामी तुलसीदास, ५. भ्रमरगीतसार की भूमिका, ६. जायसी ग्रंथावली की भूमिका, ६. बुद्धचरित की भूमिका।

१. इस प्रश्न के लिए प्रश्न ७३ के अंतर्गत समकालीन समीक्षा का भी अध्ययन करें

आचार्य शुक्ल की सैद्धांतिक आलोचना—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचनाएँ प्रस्तुत कीं। उनकी सैद्धान्तिक आलोचना का स्वरूप चिन्तामणि भाग २ के 'काव्य में रहस्यवाद' और 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' शीर्षक लेखों में मिलता है। उनके 'रस मीमांसा' नामक ग्रन्थ में भी इसका स्वरूप दिखाई देता है। उनकी सैद्धान्तिक आलोचना की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

१. शुक्लजी ने आलोचना का मानदण्ड भारतीय 'रसवाद' को माना है। उनकी रसवादी मान्यता में तीन प्रमुख बातें हैं—

(क) नैतिकता, संयम, आदर्श पर विशेष बल। 'शिवत्व' से अनुप्राणित होना।

(ख) प्राचीन आचार्यों का अनुकरण मात्र न होकर मौलिकता से युक्त होना।

(ग) आलोचना का पूर्ण उपयुक्त मानदण्ड स्वीकार करना।

२. शुक्लजी ने भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संबंध में अपने विचार प्रकट किये हैं। भाव को वे प्रत्यक्ष बोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति का संश्लिष्ट रूप मानते हैं। विभाव को वे काव्य में मुख्य ठहराते हैं और विभाव पक्ष के व्यापक चित्रण के लिए कल्पना का संबल ग्रहण करना उचित समझते हैं। अनुभाव के अंतर्गत वे केवल आश्रय की चेष्टाएँ लेते हैं, आलम्बन की चेष्टाओं को 'हाव' के अन्तर्गत रखते हैं। जिन भावों को किसी पात्र में प्रकट होता देखकर दर्शक या श्रोता भी उसके जैसा अनुभव कर सकते हैं, उन्हें शुक्ल जी ने प्रधान भाव माना है और शेष को संचारी भाव कहा है।

३. रस दशा का अभिप्राय शुक्ल जी ने हृदय की मुक्तावस्था से लिया है। व्यक्ति का लोक-सामान्य भाव-भूमि पर जा पहुँचना ही हृदय की मुक्तावस्था है। आचार्य शुक्ल ने भरतमुनि तथा पण्डित विश्वनाथ का रस-निष्पत्ति सिद्धान्त अपनाया है किन्तु संस्कृत आचार्यों की रस के स्वरूप और काव्य के उद्देश्य संबंधी धारणा उन्हें मान्य नहीं। वे काव्य का चरम लक्ष्य 'आनन्द' नहीं मानते। उनके अनुसार क्रोध, भय, जुगुप्सा और करुण भाव की अनुभूति आनन्दमय न होकर दुःखात्मक होती है। शुक्ल जी रस की अनुभूति को लौकिक मानते हैं और प्राचीन आचार्यों के रस को 'अलौकिक', 'ब्रह्मानन्द सहोदर' आदि कहने को औपचारिक विशेषण मात्र मानते हैं।

४. काव्य के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल की धारणा है कि कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मानव के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और उसका निर्वाह होता है। जगत् के कुछ पदार्थों को देखकर भी रसानुभूति होती है और कविता के पढ़ने से भी होती है। यह स्थिति तभी उत्पन्न होती है जब कविता का आलम्बन व्यक्ति का अधिक-से-अधिक परिचित होता है। रस-दशा में पाठक की स्थिति तीन रूपों में व्यक्त होती है—(क) पाठक का हृदय मुक्तावस्था को प्राप्त हो जाता है। (ख) वह अपने-पराये के भेदभाव से ऊपर उठकर काव्य के भाव में ही तन्मय हो जाता है। (ग) किसी अन्य वस्तु व्यापार की उसे अनुभूति नहीं रहती है।

५. साधारणीकरण के सम्बन्ध में शुक्ल जी का मत है, "जब तक किसी भाव

का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यत: सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।" शुक्ल जी की धारणा यह है कि साधारणीकरण आलम्बन का ही होता है।

६. क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का शुक्लजी ने तीव्र विरोध किया।

७. प्रकृति-चित्रण के सम्बन्ध में उनका विचार है कि प्राकृतिक दृश्य हमारे समक्ष आलम्बन रूप में भी उपस्थित होते हैं और उद्दीपन रूप में भी।

८. जिन कवियों को लोक-हृदय की पहचान होती है और जो लोक-सामान्य आलम्बनों का सफल विधान करते हैं, उन्हें शुक्लजी ने श्रेष्ठ कवि माना है। जो कवि केवल आलंकारिक चमत्कार अथवा कोरे उपदेश के लिए काव्य-रचना करते हैं, उन्हें वे निकृष्ट कोटि का सिद्ध करते हैं।

९. शुक्लजी ने काव्य-भाषा की चार मुख्य विशेषताएँ मानी हैं—(क) लाक्षणिकता, (ख) रूप-व्यापार-सूचक शब्दों का प्रयोग, (ग) नाद, सौष्ठव तथा (घ) रूप-गुण-बोधक शब्दों का प्रयोग।

१०. अलंकारों को वे कविता का साधन ही मानते हैं, साध्य नहीं।

११. छन्द विधान को वे नाद-सौन्दर्य की प्रेषणीयता में सहायक मानते हैं। छन्दों की मात्राओं के घटाने-बढ़ाने से यदि नए संगीत की सृष्टि हो सके तो वे ऐसा करने की छूट देते हैं।

व्यावहारिक आलोचना—आचार्य शुक्ल ने जिन सैद्धान्तिक मान्यताओं का निरूपण किया, उन्हें वे व्यवहार में भी लाये। इसीलिए उनकी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचना एकदम घुली-मिली है। उनकी व्यावहारिक आलोचना का स्वरूप जायसी ग्रन्थावली की भूमिका, भ्रमरगीत सार की भूमिका तथा गोस्वामी तुलसीदास व हिन्दी साहित्य का इतिहास में प्राप्त होता है। उनकी समस्त व्यावहारिक आलोचनाओं को हम दो भागों में बांट सकते हैं—

(क) कवियों पर लिखी गई समीक्षाएँ तथा

(ख) काव्य-धाराओं पर लिखी गई समीक्षाएँ।

आचार्य शुक्ल ने तुलसी, सूर, जायसी आदि कवियों पर जो समीक्षाएँ प्रस्तुत कीं, उससे हिन्दी-आलोचना की भित्ति सुदृढ़ बनी। तुलसी की समीक्षा करते हुए शुक्ल जी ने काव्य के अन्तर्बाह्य पक्षों की दृष्टि से उनके काव्य का विवेचन किया। तुलसी की भक्ति-पद्धति, लोकधर्म, लोकमंगल, लोकनीति, ज्ञान-भक्ति विवेचन आदि पर भी विचार किया और तुलसी की काव्य-पद्धति, भाषाधिकार, उक्ति-वैचित्र्य आदि का भी निरूपण किया है। इस प्रकार तुलसी की उन्होंने सर्वाङ्गीण आलोचना प्रस्तुत की है। द्विवेदीयुगीन नैतिकता और आदर्श के गहन पक्षपाती होने के कारण शुक्लजी को तुलसी सबसे प्रिय कवि और तुलसी का रामचरित मानस सबसे प्रिय काव्य-ग्रन्थ प्रतीत हुआ। मानस के लोक-धर्म के आदर्श की ओर वे सम्पूर्ण हृदय से आकर्षित हुए। यह लोकधर्म

सत् की रक्षा और असत् के दलन में निरत दिखाई देता है। शुक्लजी ने पूरी भावुकता और तन्मयता के साथ मानस की इस विशेषता को उजागर किया है।

शुक्लजी ने लोकमंगल और आनन्द का निरूपण करने वाले काव्यों को दो भागों में बांटा है—लोकमंगल की साधनावस्था को लेकर चलने वाले काव्य तथा लोकमंगल की सिद्धावस्था को लेकर चलने वाले काव्य। प्रथम वर्ग में वे तुलसी का काव्य रखते हैं तथा द्वितीय में सूर के काव्य को स्थान देते हैं। इसमें गर्जन-तर्जन, विप्लव, तेज आदि नहीं है, अपितु एक मधुरिमा और कोमलता आदि से अन्त तक व्याप्त है। यद्यपि शुक्लजी एक उच्चकोटि के सहृदय समीक्षक और काव्य-मर्मज्ञ थे, किन्तु द्विवेदी युगीन नैतिकता से प्रभावित होने के कारण उन्हें सूर की माधुर्यपूर्ण उक्तियों में वह सौन्दर्य नहीं दिखा, जो तुलसी के लोकधर्म निरूपण में दिखाई दिया। फलस्वरूप वे सूर के प्रति आवश्यकता से अधिक कठोर हो गये।

विस्तार की दृष्टि से शुक्लजी की तीनों भूमिकाओं में 'जायसी' ग्रन्थावली की भूमिका सबसे बड़ी है। इसमें उन्होंने कवि का जीवन-परिचय या रचना के सामान्य गुण-दोष निरूपित करके अपने आलोचक कर्म की इतिश्री नहीं समझ ली है, अपितु कवि की अंतःप्रवृत्तियों का उद्घाटन करते हुए कृति का सर्वाङ्गीण विवेचन प्रस्तुत किया है। यद्यपि आज जायसी का अध्ययन, दर्शन और सिद्धान्त आदि अनेक दिशाओं में बहुत आगे बढ़ गया है, किन्तु पद्मावत के काव्य-सौन्दर्य के सम्बन्ध में हम शुक्लजी द्वारा स्थापित मान्यताओं से तनिक भी आगे नहीं बढ़ सके हैं। इससे उनके विवेचन की पूर्णता प्रकट हो जाती है।

आचार्य शुक्ल ने छायावाद, रहस्यवाद आदि काव्यधाराओं पर भी अपनी समीक्षा प्रस्तुत की है। अनेक आलोचकों का कथन है कि उन्होंने इन काव्यधाराओं का खण्डन किया है और इनके प्रति यथोचित सहानुभूति नहीं दिखाई है। परन्तु वास्तव में उन्होंने इन काव्यधाराओं की हर बात को बुरा नहीं कहा। जहाँ उन्हें अच्छाई दिखाई दी है, वहाँ सराहना भी की है। छायावाद की लाक्षणिकता की उन्होंने प्रशंसा की है। वस्तुतः शुक्लजी इन काव्यधाराओं की कतिपय प्रवृत्तियों के प्रति असहिष्णु तो थे, परन्तु हठधर्मिता और असहृदयता उनमें न थी। समय के साथ जब उन दोषों में परिमार्जन होता गया, शुक्लजी इन काव्यधाराओं के प्रति सहिष्णु बनते गये।

आचार्य शुक्ल की समीक्षा पद्धति का मूल्यांकन—आचार्य शुक्ल की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षा का एक सम्यक विवेचन करने के उपरान्त हम कह सकते हैं कि वे अन्यतम कोटि के समीक्षक थे। डा० रामलाल सिंह के शब्दों में, "उन्होंने हिन्दी समीक्षा का स्वतन्त्र तथा नव्य दर्शन उपस्थित किया। डा० मनोहरलाल गौड़ का कथन है, "सबसे महत्व की बात यह है कि उन्होंने बहुत पढ़ा है, पढ़े को समझा है, समझे को पचाया है और पचाए हुए को ही लिखा है। शुक्लजी की लेखनी से ऐसी कोई बात नहीं निकली, जिस पर उन्होंने गहराई से विचार नहीं किया है।"

आचार्य शुक्ल ने आलोचना के क्षेत्र में अनेक मौलिक उद्भावनाएँ कीं। उन्होंने साहित्य के मानदण्ड का आधार मनोरंजन अथवा चमत्कार के स्थान पर जीवन को

बनाया। इसी आधार पर उन्होंने तुलसी के साहित्य की महत्ता प्रतिपादित की; क्योंकि वह जीवन की व्याख्या प्रस्तुत करता है और लोक-धर्म अपनी सम्पूर्णता के साथ उसमें अभिव्यक्त हुआ है।

शुक्लजी ने आलोचना के लिए शक्ति, शील और सौन्दर्य का उच्च आदर्श खोज निकाला और इसी के आधार पर सूर, तुलसी, जायसी आदि कवियों की समीक्षाएं प्रस्तुत कीं। उन्होंने भारतीय रसवाद की गम्भीर एवं व्यापक समीक्षा प्रस्तुत कर उसे भारतीय समीक्षा-शास्त्र का आदर्श बनाया। प्राचीन रसवादी धारणा को परिवर्तित और परिवर्द्धित कर उन्होंने उसे मौलिक रूप प्रदान किया। उन्होंने काव्य में रस-दशा के साथ-साथ शील दशा की भी अवतारणा की। यह उनकी मौलिक उद्भावना थी। उनके अनुसार इस दशा में पहुँचने पर हम काव्य की उस भूमि पर पहुँच जाते हैं जहाँ मनोविकार अपने क्षणिक रूप में न दिखाई देकर जीवन-व्यापी रूप में दिखाई देते हैं।

आचार्य शुक्ल ने साहित्य के दार्शनिक आधार को संपुष्ट बनाया। उन्होंने पाश्चात्य समीक्षकों की काव्य को कला मानने की धारणा का खण्डन किया और उसे सत्यानुशीलन की साधना बताया। उनका कहना था कि कविता जीवन और जगत के मार्मिक पक्ष को मनुष्य के सामने इस प्रकार लाती है कि मनुष्य स्वार्थ के संकुचित घेरे से बाहर निकल भूमा के साथ एकाकार हो जाता है।

आचार्य शुक्ल की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि वे अपने सिद्धान्तों के संबंध में पूर्ण दृढ़ थे। साहित्य संबंधी जो सिद्धांत और आदर्श उन्होंने एक बार निश्चित कर लिये, उनका उन्होंने कठोरता से पालन किया। चूँकि ये मान्यताएँ उन्होंने गहन अध्ययन और सूक्ष्म चिंतन के बाद निर्धारित की थीं, अतः वे स्वयं उनके संबंध में दृढ़ और अपरिवर्तन शील बने रहे। अपनी शक्ति और क्षमता के बल पर उन्होंने सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचनाएँ प्रस्तुत कीं। अन्य आलोचक प्रायः या तो सिद्धांत निर्धारित करते हैं या फिर व्यावहारिक आलोचनाएँ लिखते हैं। शुक्लजी ने अपनी असाधारण सामर्थ्य के बल पर दोनों ही क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया।

आचार्य शुक्ल की आलोचना शैली में कहीं भी रूक्षता नहीं है। कारण यह है कि उनमें हृदय और बुद्धि का पूर्ण समन्वय था। किसी विषय की आलोचना करते समय भी उन्होंने बुद्धि का उपयोग तो किया है, परन्तु हृदय को बराबर साथ रखा है। विषय का स्पष्ट विवेचन उनकी एक अन्य विशेषता है। किसी कवि के जीवन-परिचय का अभाव होने पर उन्होंने उसकी कृतियों द्वारा ही उसके स्वभाव और प्रकृति आदि की झलक प्राप्त की। व्यावहारिक आलोचना के लिए उन्होंने सूर, तुलसी और जायसी जैसे उच्चतर कवियों को चुना और अपनी संवेद्य काव्य भावना के बल पर उनकी समीक्षा प्रस्तुत की। परन्तु इसके साथ-साथ हमें स्मरण रखना चाहिए कि उन्होंने हिन्दी साहित्य का इतिहास भी लिखा है और यहाँ उनको सभी कवियों से जुड़ना पड़ा है। पर यहाँ भी उन्होंने अपने समीक्षा विषयक सिद्धान्तों का सफल प्रयोग किया। कहीं-कहीं उनकी व्यक्तिगत रुचियाँ भी प्रकट हो गई हैं, यथा—उन्होंने प्रबन्ध-

रचना को मुक्तक काव्य पर प्रधानता दी है अथवा निर्गुण-सगुण की दार्शनिक धाराओं में सगुण पक्ष की ओर झुक गये हैं, या लोकमंगल को लोकरंजन से श्रेष्ठ माना है। परन्तु अधिकांशतः वे तटस्थ ही रहे हैं। यह तटस्थता आलोचक में होनी ही चाहिए। शुक्लजी एक उच्च कोटि के काव्य-मर्मज्ञ और सहृदय समालोचक थे। आचार्य नन्द-दुलारे बाजपेयी ने उनके आलोचक रूप के महत्व को स्वीकार करते हुए लिखा है कि "शुक्लजी की सबसे बड़ी विशेषता है, समीक्षा के सब अंगों का समान रूप से विन्यास। अन्य प्रान्तीय भाषाओं में समीक्षा के किसी एक अंग को लेकर शुक्लजी की टक्कर लेने वाले अथवा उनसे विशेषता रखने वाले समीक्षक मिल सकते हैं, पर सब अंगों का समान विकास उनका-सा कोई कर सका है, मैं नहीं जानता। वे आलोचक या समीक्षक मात्र नहीं थे, सच्चे अर्थों में साहित्य के आचार्य थे।

शुक्लजी ने यूरोप के साहित्य-क्षेत्रों में जल्दी-जल्दी होने वाले वाद परिवर्तनों पर अपनी आस्था नहीं रखी। उन्होंने इसे बदलते फैशन-जैसी चीज बताया। न वे विभिन्न वादों की उलझन में पड़े और न सामाजिक या राजनीतिक क्षेत्रों की विचार-धाराओं से जुड़े। परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि वे अपने युग के प्रति उनमें कोई जागरुकता न थी। उन्होंने जिस लोकधर्म के सिद्धान्त का बार-बार उल्लेख किया है वह मध्यवर्ग की उन आदर्शवादी धारणाओं से संयुक्त है जो बीसवीं सदी के प्रथम चरण की विशेषता थी।

शुक्लजी ने गम्भीर समीक्षाएँ प्रस्तुत कीं, परन्तु यत्र-तत्र उनमें हास्य-व्यंग्य का पुट भी बनाये रखा। विषय के गम्भीर विवेचन के पश्चात् व्यंग्य और हास्य की यह मीठी-सी चोट पाठक का मन हल्का कर देती है और वह पुनः गम्भीर अध्ययन में लीन होने की सामर्थ्य पा जाता है।

शुक्लजी का मत यह भी था कि साहित्य की समीक्षा किसी एक पहलू पर दृष्टि रखकर न की जानी चाहिए वरन् सर्वाङ्गीण होनी चाहिए। आज समीक्षा के क्षेत्र में किसी एक कोने को पकड़कर ही खींचते चलने की जो प्रवृत्ति चल रही है उससे भ्रम फैलता है और कोई लाभ नहीं होता। शुक्लजी ने इस प्रवृत्ति को **साहित्यिक कनकौआ उड़ान** कहा है।

शुक्लजी ने आलोचना-क्षेत्र में अपनी अमिट छाप अंकित की। डा० नगेन्द्र ने लिखा है, "आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विषय में कदाचित् यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि उनके समान मेधावी आलोचक किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा में नहीं है।" न केवल आलोचना अपितु निबन्ध, कविता, इतिहास, अनुवाद और सम्पादन आदि विविध क्षेत्रों में शुक्लजी की प्रतिभा का आलोक विकीर्ण हुआ। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सत्य ही लिखा है, "आचार्य शुक्ल उन महिमाशाली लेखकों में हैं जिनकी प्रत्येक पंक्ति आदर के साथ पढ़ी जाती है और भविष्य को प्रभावित करती रहती है। 'आचार्य' शब्द ऐसे ही कर्त्ता साहित्यकारों के योग्य है। पं० रामचन्द्र शुक्ल सच्चे अर्थों में आचार्य थे।"

नन्ददुलारे बाजपेयी

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य-कृतियों का भाव संवेद्य और नैतिक मूल्यांकन तो किया था, पर वे नवीन युग की विकासोन्मुख काव्यधारा के सौष्ठव का पूर्ण साक्षात्कार न कर पाये। छायावादी काव्यधारा का मूल्यांकन करने में उनकी नीति-प्रधान रसदृष्टि असमर्थ ही रही। यह कार्य हिन्दी की सौष्ठव तथा स्वच्छन्दतावादी समीक्षा पद्धति ने किया। इस पद्धति के प्रमुख समीक्षकों में से एक हैं—आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी।

समीक्षात्मक दृष्टिकोण—बाजपेयी जी ने हिन्दी आलोचना में अपने स्वछन्द विचारों के साथ पदार्पण किया। एक कहावत है, 'नई शराब पुरानी बोतल में न भरनी चाहिए, वह फूट जाती है।' इसी प्रकार नये काव्य की आलोचना भी पुरानी कसौटी पर ठीक-ठीक ढंग से नहीं हो सकती है। शुक्लजी ने सूर, तुलसी, जायसी आदि की सर्वाङ्गीण आलोचना करके हिन्दी आलोचना को सुदृढ़ भित्ति पर स्थापित अवश्य किया था. परन्तु उनकी नैतिकता की कसौटी पर सभी काव्य कसे नहीं जा सकते। इसीलिए बाजपेयी ने शुक्लजी की दृष्टि को छायावादी काव्य के संदर्भ में अनुपयुक्त माना। उनका कथन था कि अपने पूर्वाग्रह और द्विवेदीयुगीन संस्कारों के कारण शुक्ल जी छायावादी काव्य के साथ न्याय नहीं कर सकते हैं। इसके लिए आलोचना की नई कसौटी होनी चाहिए। डा० भगवतस्वरूप मिश्र ने इसी बात को लक्ष्य करके लिखा है—"बाजपेयी जी ने शुक्लजी के प्रबन्ध काव्यवाद तथा मर्यादावाद के कठोर नियंत्रण से हिन्दी समीक्षा को मुक्ति दिलाई है।"

बाजपेयी जी की समीक्षा पद्धति का स्वरूप उनकी इन रचनाओं में मिलता है—१. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, २. आधुनिक साहित्य, ३. जयशंकर प्रसाद, ४. महाकवि सूरदास, ५. प्रेमचन्द, ६. कवि निराला तथा ७. नया साहित्य : नये प्रश्न।

छायावाद के प्रति आकर्षण—छायावादी काव्य ने बाजपेयी जी की समीक्षा दृष्टि के निर्माण में महत् योग दिया। छायावाद की नूतन कल्पना छवियाँ, वायवीयता, अमूर्त भावों का चित्रण और लाक्षणिकता आदि की ओर वे विशेष आकृष्ट हुए। परिणामस्वरूप द्विवेदीयुगीन नैतिकता और इतिवृत्तात्मकता के प्रति वे स्वाभाविक रूप से विमुख रहे। साकेत की अभिव्यक्तियाँ उन्हें प्रभावित न कर सकीं। महावीरप्रसाद द्विवेदी के भाषा-परिष्कार और सम्पादन को महत्व देते हुए उनके भी साहित्य को उन्होंने महत्वहीन ही माना। प्रेमचन्द के आदर्श को भी वे सराह न सके। ऐसा प्रायः उनकी आरंभिक आलोचनाओं में ही हुआ है। जहाँ वे संयम न रख सके हैं। उदाहरण के लिए देखिए—प्रेमचन्द जी एक शब्द को लेकर मजाक करने लगे—"जहाँ वाणी मौन रहती है वह साहित्य है? वह साहित्य नहीं गूँगापन है। यदि इस प्रकार की दलील की जाय तो हम भी कह सकते हैं कि उपन्यास, कहानियाँ और लेख लिखते समय क्या आपकी वाणी चिल्लाया करती है? आपकी किन-किन रचनाओं का कंठ फूट चुका है?

क्या वह आविष्कार लखनऊ में हुआ है, जिससे साहित्यिक पुस्तकें वहाँ की कुंजड़िनों की तरह वाचाल बन गई हैं ?"

यह उद्धरण यदि एक ओर उनकी हास्य-व्यंग्य की प्रवृत्ति का द्योतक है, आलोचना करते-करते प्रतिपक्षी पर व्यंजक प्रश्नों की बौछार कर देने की प्रवृत्ति का परिचायक है तो दूसरी ओर उनकी व्यक्तिगत आक्षेप करने की प्रवृत्ति का निदर्शक भी है। परन्तु आरम्भिक रचनाओं के बाद उनकी लेखनी में संतुलन आता गया और उन्होंने व्यक्तिगत आक्षेप करना छोड़ दिया। 'आधुनिक साहित्य' तथा 'नया साहित्य नये प्रश्न' में संकलित निबन्धों में उनका संतुलन देखा जा सकता है।

समन्वय भावना—बाजपेयी जी समन्वयवादी समीक्षक हैं। उन्होंने स्वच्छन्दता और सौष्ठववादी समीक्षा पद्धति का शुक्ल पद्धति से समन्वय किया। शुक्लजी की विश्लेषणात्मक पद्धति को विस्तार देते हुए उन्होंने उसे निगमनात्मक कर दिया। शुक्ल जी के नीतिवादी दृष्टिकोण को स्वीकार करते हुए उन्होंने उसे लोक कल्याण में रूपांतरित कर दिया। साहित्य का उद्देश्य चरित्र-निर्माण है, शुक्लजी की इस धारणा को स्वीकार करते हुए साहित्य का उद्देश्य वे सांस्कृतिक चेतना प्रदान करना मानते हैं। शुक्लजी की रसवादी धारणा को अपनाते हुए भी वे उसका पाश्चात्य संवेदनीयता से समन्वय स्थापित करते हैं। वस्तुतः बाजपेयी जी को एक समृद्ध भाव-भूमि प्राप्त हुई थी। उस समय हिन्दी आलोचना विकास की ऊँचाइयों पर पहुँची हुई थी। बाजपेयी जी को विरासत के रूप में शुक्लजी की अमूल्य सिद्धान्त-निधि मिली, अध्ययन-मनन के लिए पाश्चात्य-समीक्षा सिद्धान्त मिले और इसके साथ-साथ समकालीन विकसनशील आलोचना का स्वरूप मिला। इस समय तक सिद्धान्त बन चुके थे, उपकरण निर्मित हो चुके थे। इसी बनी-बनाई पृष्ठभूमि पर कार्य करने के लिए जिस सजग आलोचना-बुद्धि की आवश्यकता थी, उसका बाजपेयी जी में पूर्ण सन्निवेश था।

सौन्दर्य प्रेम—बाजपेयी जी की समीक्षात्मक दृष्टि को समझने के लिए हमें उनकी सूर और प्रसाद की आलोचनाएँ देखनी आवश्यक हैं। सूर के गोचारण तथा गोवर्द्धन-धारण के कथात्मक प्रसंगों का सौन्दर्य उन्हें अभिभूत किये बिना नहीं रहता। तभी वे लिखते हैं, "स्थिति विशेष का पूरा दिग्दर्शन भी करें, घटना क्रम का आभास भी दें और साथ ही समुन्नत कोटि के रूप-सौन्दर्य और भाव सौंदर्य की परिपूर्ण झलक भी दिखाते जायें, यह विशेषता हमें कवि सूरदास में ही मिलती है। इससे प्रकट है कि सौंदर्य-बोध पर बाजपेयी जी की पूर्ण आस्था है। कदाचित् इसीलिए जयशंकर प्रसाद उनके सर्वाधिक प्रिय कवि बने। डा० रामचन्द्र तिवारी ने लिखा है, "कहना चाहे तो कह सकते हैं कि यदि आचार्य शुक्ल के काव्य-सिद्धान्त तुलसी के आधार पर निर्मित हुए हैं, तो बाजपेयी जी की मान्यताएँ प्रसाद से प्रभावित हैं।"

प्रसाद जी रसवादी (आनन्दवादी) कलाकार थे और बाजपेयी जी रसवादी समीक्षक हैं। सौंदर्य को वे नैतिकता के बन्धनों में बांधना नहीं चाहते हैं। शुक्लजी ने सौंदर्य को शिवत्व से पूरित देखना चाहा था, पर बाजपेयीजी सौंदर्य को स्वतः ही शिवत्व-

मय देखते हैं और उसे नैतिकता के बन्धनों में आवृत्त करने के विरुद्ध हैं। वे मानते हैं कि श्रेष्ठ कला में श्लील-अश्लील का प्रश्न उठाना अनुचित है। उनके शब्दों में "महान कला कभी अश्लील नहीं हो सकती।" उनका विश्वास है—"सौंदर्य स्वतः शिव है।"

सौंदर्य के प्रति बाजपेयी जी में निरन्तर आग्रह का भाव विद्यमान रहा है। प्रेमचन्द की आलोचना में उन्होंने कहा है, "इस 'शिव' शब्द को हम व्यर्थ समझकर निकाल देना चाहते हैं। 'सत्य' और 'सुन्दर' पर्याप्त हैं।" उनका विश्वास है कि, "सुन्दरतम साहित्यिक रचनाओं में सार्वजनिकता होती है, युग का प्रतिबन्ध या वाद का वितण्डा नहीं होता।" इस प्रकार सौंदर्यानुसंधान उनकी समीक्षा-दृष्टि की एक महत्वपूर्ण विशेषता है।

रस विषयक दृष्टि—बाजपेयी जी ने प्राच्य एवं पाश्चात्य आलोचकों के अध्ययन एवं संतुलन द्वारा साहित्यिक व्यक्तित्व का निर्माण किया। पाश्चात्य विचारधारा से प्रभावित होने के कारण वे काव्य को कला मानते हैं, जबकि भारतीय काव्यशास्त्र उसे कला नहीं मानता। वे रस को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहने की परम्परागत मान्यता से भी सहमत नहीं है। उनका तर्क है कि रस को ब्रह्मानन्द सहोदर कहकर उसकी आड़ में अनेक ऐसे तत्वों का प्रतिपादन किया गया है, जो भारतीय संस्कृति और समाज का प्रतिनिधित्व नहीं कर पाते। उनकी यह भी मान्यता है कि रस-सिद्धान्त को इतना व्यापक रूप प्रदान करना चाहिए कि वह सम्पूर्ण साहित्य-समीक्षा का मूल आधार बन सके। रस को केवल वेद्यान्तर स्पर्श शून्य और ब्रह्मानन्द सहोदर कहना उसे संकुचित परिधि में बांधना है। उसे इतना व्यापक बना देना चाहिए कि कला-मात्र के आनन्द को 'रस' नाम से अभिहित किया जा सके। बाजपेयी जी की रस विषयक इस मान्यता से स्पष्ट है कि वे अभिव्यंजनावादी नहीं हैं। वे काव्य में अनुभूति की तीव्रता को ही मुख्य मानते हैं और अभिव्यंजना को गौण समझते हैं। उनके शब्दों में, "काव्य अथवा कला का सम्पूर्ण सौंदर्य अभिव्यंजना का ही सौन्दर्य नहीं है। अभिव्यंजना काव्य नहीं है। काव्य अभिव्यंजना से उच्चतर तत्व है। उसका सीधा सम्बन्ध मानव-जगत और मानस वृत्तियों से है, जबकि अभिव्यंजना का सम्बन्ध केवल सौंदर्यपूर्ण प्रकाशन से है।"

अलंकार विषयक दृष्टि—बाजपेयी जी का अलंकार सम्बन्धी दृष्टिकोण यह है कि अलंकार काव्य के लिए आवश्यक नहीं हैं। उनका कथन है, "कविता अपने उच्चतम स्तर पर पहुँचकर अलंकार विहीन हो जाती है। कविता जिस स्तर पर पहुँचकर अलंकार विहीन हो जाती है। वहाँ वह वेगवती नदी की भाँति हाहाकार करती हुई हृदय को स्तम्भित कर देती है। उस समय उसके प्रवाह में अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि न जाने कहाँ बह जाते हैं और सारे सम्प्रदाय न जाने कैसे मटियामेट हो जाते हैं।" बाजपेयी जी के अनुसार ऐसी उच्चस्तरीय कविता में अलंकार वही कार्य करते हैं जो दूध में पानी। इससे प्रकट है कि बाजपेयी जी काव्य में अनुभूति को प्रधानता देते

हैं, अभिव्यक्ति को नहीं। उनकी समीक्षा पद्धति का निर्माण भारतीय और पाश्चात्य दोनों विचारधाराओं के समन्वय से हुआ है। इसीलिए उन्होंने विश्वासपूर्वक कहा है, "पिछले पचास वर्षों से हिन्दी-साहित्य की जो मर्यादा बन गई है उसे हम किसी भी स्थिति में टूटने न देंगे।" वे अतिवादों से बचते हुए भारतीय साहित्य-शास्त्र की मान्यताओं को समुन्नत और व्यापक बनाना चाहते हैं। इसके लिए वे आवश्यकता पड़ने पर पाश्चात्य सिद्धान्तों को ग्रहण करने से भी नहीं हिचकते हैं।

वाजपेयी जी की मान्यता है कि साहित्य को जीवन के लिए अजस्त्र स्त्रोत की भांति होना चाहिए। उसमें समाज, संस्कृति, जीवन, सांस्कृतिक चेतना और भावनाओं के परिष्करण की शक्ति होनी चाहिए। काव्य के सम्बन्ध में वे सौंदर्य तत्व पर विशेष बल देते हैं तो नाटक और कथा के क्षेत्र में जीवन-चेतना और सामाजिक प्रभाव को मुख्य मानते हैं। इसीलिए उन्होंने जैनेन्द्र के सीमित दृष्टिकोण, वैविध्यहीनता, ह्रासोन्मुखी मूल्यों पर प्रहार किये। अश्क की उपन्यास-सृष्टि को सजीव किन्तु, पात्रों को निर्जीव माना है, 'शेखर : एक जीवनी के सम्बन्ध' में प्रश्न उठाये हैं।

वाद विमुखता—वाजपेयी जी किसी वाद में आस्था नहीं रखते हैं। उनका स्पष्ट कथन है, "वाद पद्धति पर चलने का नतीजा साहित्य में कृत्रिमता बढ़ाना, दलबन्दी फैलाना और साहित्य की निष्पक्ष माप को क्षति पहुँचाना ही हो सकता है।" आलोचक-कर्म की सफलता के लिए वाजपेयी ने दो आवश्यक शर्तें बताई हैं—"एक यह कि समीक्षक का व्यक्तित्व समुन्नत हो और दूसरी यह कि उसमें कला का मानसिक आधार ग्रहण करने की पूरी शक्ति हो—किसी मतवाद का आग्रह न हो।" उनका आग्रह है कि युग की संवेदनाओं से समीक्षक का घनिष्ट परिचय होना चाहिए। साहित्य में प्रयोगों का खिलवाड़ उनकी दृष्टि में "समीक्षा को जड़ से उखाड़ फेंकने का सरंजाम" है।

समीक्षा-शैली—वाजपेयी जी की समीक्षा-शैली व्याख्यात्मक और विवेचनात्मक है। उनकी मुख्य विशेषताएँ निम्न हैं—१. किसी कृति की विशेषताओं का उद्घाटन करते समय वे क्रमानुसार एक, दो, तीन नम्बर देते हुए उनका वर्णन करते हैं। शुक्ल जी की भांति किसी एक तथ्य को सूत्र रूप में उपस्थित करके उसकी व्याख्या नहीं करते, अपितु तथ्यों का क्रमानुसार वर्णन करते हैं।

२. व्याख्या में पूर्णता और प्रभावात्मकता की सृष्टि के लिए वे तुलनात्मक पद्धति का प्रश्रय भी ग्रहण करते हैं। साकेत की आधुनिकता पर विचार करते हुए उसकी कामायनी, कुरुक्षेत्र और मानस से तुलना करते हैं।

३. कहीं-कहीं विषय में डूबकर वे भावविभोर भी हो जाते हैं। ऐसे स्थलों पर उनकी आलोचना प्रभाववादी हो जाती है। सूर की आलोचना में ऐसा देखा जा सकता है। परन्तु ऐसे स्थल अत्यन्त कम हैं।

४. वाजपेयी जी कहीं-कहीं आवेश में आकर प्रश्नों की बौछार करने लगते हैं। यथा—'शेखर : एक जीवनी' की आलोचना का यह स्थल देखिए—"अब वह (शशि)

और भी निराश्रित हो गई, किन्तु शेखर को और भी बल मिला। संस्कार के लिए ? समाधान के लिए ? शांति के लिए ? नहीं, आत्म प्रवंचना के लिए, विषाद-तृप्ति के लिए, अहं-पूर्ति के लिए।"

५. हास्य-व्यंग्य का सन्निवेश वाजपेयी जी की आलोचना-शैली की एक अन्य विशेषता है। कहीं-कहीं व्यंग्य में तीखापन भी आ गया है।

भाषा—वाजपेयी जी की आलोचनाओं की भाषा संयत व गम्भीर है। डा० नगेन्द्र ने उनकी भाषा और विवेचन पर अस्पष्टता का आरोप किया है जो अनुचित है। वस्तुतः वाजपेयी जी की भाषा में भावोद्बोधन की अद्भुत शक्ति है। कहीं-कहीं अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग भी करते हैं परन्तु उनके साथ हिन्दी शब्द भी रख देते हैं। उर्दू शब्दों का उनकी भाषा में अभाव है। तथ्यों के उल्लेख के अवसरों पर वाक्य छोटे-छोटे रहते हैं, जबकि भावों का प्रवाह रहने पर वाक्य बड़े हो जाते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से प्रकट है कि वाजपेयी जी आधुनिक हिन्दी समीक्षकों में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। प्राचीन और नवीन के सहज सामंजस्य को नया रूप, नया जीवन और नई दिशा देने का उन्होंने सराहनीय कार्य किया है। प्राचीनता से उन्हें विरोध नहीं है और न नवीनता के प्रति व्यामोह है। इन दोनों के संयत सम्मिश्रण को उन्होंने साहित्य-क्षेत्र में वांछनीय बताया है। आधुनिक काव्य-चेतना के लिए उपर्युक्त भारतीय काव्य-तत्व उन्होंने निःसंकोच ग्रहण किये हैं और भारतीय समाज के उपर्युक्त पाश्चात्य आदर्शों को भारतीय जामा पहनाने में भी कोई त्रुटि नहीं की है। पीटर और एडीसन की विचारधारा को भी उन्होंने अपनाया तथा भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परागत मान्यताओं को भी उपजीव्य बनाकर अपनी समीक्षा पद्धति का विकास किया।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी भावयित्री और कारयित्री प्रतिभा से सम्पन्न कलाकार थे। एक ही व्यक्ति में इन दोनों प्रतिभाओं के दर्शन विरल होते हैं। या तो कोई व्यक्ति शास्त्रों का ज्ञाता होता है या फिर साहित्य का रचयिता। किन्तु दोनों गुण जिस व्यक्ति में विद्यमान होते हैं, वही श्रेष्ठ साहित्यकार माना जाता है। सौभाग्य से डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी को ये दोनों प्राप्त हुए। आधुनिक हिन्दी साहित्य में इस दृष्टि से उनके समकक्ष केवल आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आते हैं। वे भी सिद्धान्तों के नियामक और साहित्य-स्रष्टा दोनों थे। यही विशेषता द्विवेदी जी में रही। 'साहित्य का साथी' तथा 'साहित्य का मर्म' यदि उनकी आलोचना-पद्धति के निदर्शक बने तो 'बाणभट्ट की आत्मकथा,' चारुचन्द्र लेख,' 'पुनर्नवा,' 'अशोक के फूल,' 'कुटज' आदि ग्रन्थ उनके श्रेष्ठ रचनाकार होने के प्रमाण हैं।

आचार्य शुक्ल ने अपनी प्रतिभा, चिन्तन और पांडित्य द्वारा हिन्दी-आलोचना के जिस भव्य पथ का निर्माण किया था, उसे और अधिक प्रशस्त बनाने का कार्य द्विवेदी जी ने किया। उनके सिद्धान्त और मान्यताएँ शुक्ल जी के विरुद्ध नहीं थीं; अपितु उन्होंने शुक्ल जी द्वारा अधूरे छोड़े गये कार्य को पूरा किया। हिन्दी समीक्षा को

उन्होंने एक नई उदार और वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान की। डा० शंभुनाथ सिंह ने लिखा है, "शुक्लजी ने यदि हिन्दी साहित्य को उनका इतिहास दिया है, तो द्विवेदी जी ने सचमुच उस साहित्य की भूमिका प्रस्तुत की है और इस तरह उनके अधूरे कार्य को पूरा किया है। वस्तुतः ये दोनों व्यक्तित्व एक-दूसरे के पूरक हैं, प्रतिद्वन्द्वी नहीं।"

डा० बच्चनसिंह ने आचार्य द्विवेदी की 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' को 'उनके सिद्धान्तों की बुनियादी पुस्तक' कहा है। इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९४० ई० में हुआ। इसके एक वर्ष पश्चात् 'कबीर' का प्रकाशन हुआ। 'सूर साहित्य' पहले ही सन् १९३४ ई० में प्रकाशित हो चुकी थी। इन पुस्तकों ने सम्पूर्ण हिन्दी-संसार का ध्यान आकर्षित किया। 'सूर साहित्य' में भावुकता का रंग कुछ प्रगाढ़ हो गया है। किन्तु शेष दोनों पुस्तकें द्विवेदी जी के विचारों की परिपक्वता की द्योतक हैं। उनका मानवतावादी दृष्टिकोण तथा ऐतिहासिक पद्धति इनमें उभर कर सामने आई। उन्होंने बताया कि किसी साहित्यकार को व्यापक सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि आलोचक को अपनी सांस्कृतिक विरासत का पूर्ण ज्ञान हो। यद्यपि 'कबीर' के प्रकाशन से पूर्व डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के संत साहित्य सम्बन्धी कुछ लेख हिन्दी में प्रकाशित हो चुके थे और अंग्रेजी में 'निर्गुन स्कूल ऑव हिन्दी पोयट्री' नामक ग्रन्थ भी छप चुका था, परन्तु अंग्रेजी में होने के कारण वह सर्वजनग्राह्य न था। डा० बड़थ्वाल में वह मानवतावादी उदार दृष्टिकोण भी न था जो द्विवेदी जी ने भारतीय वाङ्मय के गहन अध्ययन-मनन, युगीन समस्याओं के सूक्ष्म चिन्तन और शांति-निकेतन के प्रवास काल में कवीन्द्र-रवीन्द्र तथा क्षितिमोहन सेन के सान्निध्य से प्राप्त किया था। इसीलिए द्विवेदी जी का समीक्षक रूप इतना गौरवशाली बना। शांति-निकेतन के 'विश्वभारती' जैसे संस्कृति-पीठ का ही प्रभाव है कि वे साहित्य को सांस्कृतिक भूमिका में रखकर देखने को प्रवृत्त हुए हैं।

आचार्य शुक्ल में उस तटस्थता और उदारता की कमी थी, जो एक समीक्षक के लिए आवश्यक है। शुक्लजी नैतिकता और लोकमंगल के समर्थक थे और इसीलिए इन भावनाओं को व्यक्त करने वाले कवि तुलसी पर उनकी श्रद्धा सर्वाधिक थी। निर्गुण धारा के कवियों पर उन्होंने उदारतापूर्वक विचार नहीं किया। हिन्दी साहित्य के आदि काल की सिद्धों, नाथों और जैनों की कृतियों को उन्होंने सांप्रदायिक धार्मिक उपदेश तथा शुष्क ज्ञान कहकर उपेक्षित बना दिया। इन उपेक्षित अंशों का द्विवेदी जी ने सहृदयतापूर्वक संस्पर्श किया। द्विवेदी जी ने कहा कि धार्मिक रचनाएँ साहित्य की परिधि से निर्वासित नहीं की जा सकतीं क्योंकि उनमें भी काव्यत्व रहता है। यदि धार्मिकता के नाम पर ही किसी कृति को साहित्य से बहिष्कृत किया जायगा, तो तुलसी का रामचरितमानस और जायसी का पद्मावत भी धार्मिक "कृतियाँ होने के कारण साहित्य-सीमा में प्रविष्ठ न हो सकेंगे। इस मत को प्रस्तुत करते हुए शुक्लजी द्वारा उपेक्षित हिन्दी साहित्य के इतिहास के अंश पर द्विवेदी जी ने सहानुभूति के साथ विचार किया। उनकी यह विशेषता एक सफल समीक्षक होने का प्रमाण है। इसी आधार

पर उन्होंने कबीर के काव्य की विशेषताओं का उद्घाटन किया, सिद्धों, नाथों, और जैनों के साहित्य का विवेचन किया। उनके 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'कबीर', 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल,' 'नाथ संप्रदाय,' 'मध्यकालीन धर्म-साधना', आदि ग्रन्थ इस दृष्टि से देखे जा सकते हैं।

कबीर का मूल्यांकन द्विवेदी जी ने अनेक नई दृष्टियों से किया। उन्होंने बताया कि कबीर का महत्व सबसे अधिक इस बात से है क्योंकि उन्होंने मनुष्य-मनुष्य के बीच रागात्मक सम्बन्ध का उद्घाटन किया है। कबीर के भाषागत वैशिष्ट्य पर भी सर्व-प्रथम उन्हीं की दृष्टि गई। वे लिखते हैं—"भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है, उसे उसी रूप में कहलवा लिया—बन गया तो सीधे-साधे नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार-सी नजर आती है।"

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने साहित्य का मर्म मानवतावाद को माना है। उनका कहना है—"मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, दीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोद्दीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुःखकातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।" अतएव स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि मानवतावादी है। उनका मानवतावाद उपनिषदों से प्रभावित है, उसमें मनुष्य-मनुष्य में भेद नहीं माना जाता। इसका प्रतिपादन 'साहित्य का मर्म' में बड़े विशद और वैज्ञानिक रूप में हुआ है। इसी मानवतावाद की अभिव्यक्ति 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' और 'कबीर' में इतिहास का आश्रय लेकर हुई है तो 'साहित्य का मर्म' में विविध ज्ञान-विज्ञान के माध्यम से हुई है। द्विवेदी जी ने बताया कि साहित्य के मर्म तक पहुँचने के लिए समीक्षक को विज्ञान, राजनीति, अर्थनीति आदि सभी से सहायता लेनी ही पड़ेगी। भारत के लिए यह नई बात नहीं है। यहाँ पर काव्य-शास्त्र को विभिन्न ज्ञान-विज्ञानों ने आदिकाल से ही प्रभावित और लाभान्वित किया है।

द्विवेदी जी साहित्यकार का लक्ष्य मनुष्य का हित-साधन करना मानते हैं और 'कला कला के लिए' के सिद्धान्त के समर्थक नहीं हैं। उनका इतिहासकार रूप उनके समीक्षक रूप में इस प्रकार घुल-मिल गया है कि उन्हें परस्पर पृथक् करके अध्ययन करना सम्भव नहीं है। इसीलिए उनके आलोचनात्मक साहित्य को मोटे रूप से यदि हम दो भागों में बांटे—१. इतिहास सम्बन्धी तथा २. समीक्षा सम्बन्धी, तो ये दोनों रूप हमें परस्पर घुले-मिले दिखाई देंगे। अभी तक हिन्दी साहित्य के भक्तिकाव्य के सम्बन्ध में शुक्लजी द्वारा निर्दिष्ट मान्यता ही चल रही थी कि मुसलमानों के सामने पराजित होने पर हिन्दू जाति के निराश और भग्न हृदय के सम्मुख ईश्वर की शरण में जाने के अतिरिक्त कोई उपाय न था, इसीलिए इस साहित्य में भक्ति भावना विद्यमान है। द्विवेदी जी ने हिन्दी के भक्ति साहित्य को हतदर्प पराजित हिन्दू-जाति की संपत्ति नहीं माना। उनका कहना है—"अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस

साहित्य का रूप बाहर आना वैसा ही होता जैसा आज।" द्विवेदी जी ने इसे एक स्वाभाविक सांस्कृतिक विकास का परिणाम बताया है। उन्होंने इसकी जड़ें लोक-चिन्तन में ढूंढ़ी हैं। उनकी यह धारणा पूर्ववर्ती विद्वानों से सर्वथा भिन्न है, मौलिक है।

द्विवेदी जी की समीक्षा के क्षेत्र में एक अन्य महत्वपूर्ण देन यह है कि उन्होंने हिन्दी के काव्य-रूप के विकास की ओर ध्यान दिया। यह कार्य उनसे पूर्व अन्य किसी आलोचक ने नहीं किया। हिन्दी साहित्य के साथ उन्होंने अन्य प्रांतों के साहित्य का सम्बन्ध जोड़कर काव्य रूपों में तुलनात्मक विवेचन की दिशा में भी कार्य किया है।

द्विवेदी जी की आलोचना-शैली के अनेक रूप मिलते हैं। विवेचनापूर्ण व्याख्यात्मक शैली में उन्होंने जो आलोचनाएँ लिखी हैं उनमें विषय-प्रतिपादन के लिए उद्धरण दिये है। अपने गहन अध्ययन द्वारा विषय का समर्थन करने के लिए उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। उनकी आलोचना शैली का दूसरा रूप भावात्मक है, जिसमें किसी कवि की विशेषताओं की प्रशंसा की है। मध्ययुगीन साहित्य और संस्कृति द्विवेदी जी का प्रिय क्षेत्र है। उन्होंने सांस्कृतिक गतिविधि, लोक जीवन आदि के बीच से साहित्य का परीक्षण करने की जिस वैज्ञानिक पद्धति को जन्म दिया, उसके लिए हिन्दी समीक्षा उनकी चिर-ऋणी रहेगी। एक आलोचक ने ठीक ही लिखा है कि—"ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक समीक्षा पद्धति का आदर्श रूप पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी की आलोचनाओं में प्रस्फुटित हुआ है।"

डा० नगेन्द्र

डा० नगेन्द्र के साहित्यिक व्यक्तित्व की झाँकी हमें कई रूपों में मिलती है—कवि, निबन्धकार एवं आलोचक के रुप में। आरम्भ में वे एक कवि थे और इसलिए कवि-सुलभ भावुकता और रसज्ञता के कारण उनकी आलोचनाएँ भी सरस बन पड़ी हैं डा० नगेन्द्र के साहित्यिक जीवन का उदय सन् १९३७ ई० में 'वनवाला' नामक रचना के प्रकाशन से हुआ और तब से लेकर अब तक उनका रचना कार्य अबाध गति से चल रहा है। 'सुमित्रानन्दन पन्त', साकेत एक अध्ययन', 'आधुनिक हिन्दी नाटक,' 'विचारं और विश्लेशण' तथा 'नई समीक्षा नये सन्दर्भ' उनकी प्रमुख समीक्षात्मक कृतियाँ हैं। बहुत लिखने पर भी डा० नगेन्द्र ने बहुत अच्छा लिखा है। डा० कुमार विमल ने इसका कारण उनके साहित्यिक व्यक्तित्व और पांडित्य का मेल बताया है, "शास्त्रनिष्णात आचार्यत्व और कवित्व की सहस्थिति ने डा० नगेन्द्र की आलोचना शैली को एक अप्रतिम दीप्ति से मण्डित कर दिया है।"

डा० नगेन्द्र को सर्व प्रथम छायावादी आलोचना के रुप में ख्याति मिली। छायावादी काव्य का विस्मय-बोध, प्रेम भावना और सौंदर्य चेतना उन्हें आकर्षक लगी थीं। छायावादी कविता उन्हें जिस वायवी स्वप्नलोक में ले गई थी, उसके परिणामस्वरूप 'सुमित्रानन्दन पन्त' पुस्तक लिखी गई। इस पुस्तक में कहीं शास्त्रीयता नहीं है। केवल है ताजगी और सादगी। इसके पश्चात 'साकेत एक अध्ययन' में उनकी शास्त्रीय रुचि प्रकट हुई। आगामी कृतियों में उनका पांडित्य पूरित स्वरूप उभर कर सामने आ गया

उनकी रसवादी दृष्टि पुष्ट एवं स्पष्ट रूप में प्रकट हो गई।

डा० नगेन्द्र की समीक्षा पद्धति की विशेषता है—भारतीय और पाश्चात्य काव्य शास्त्रों का समन्वय। उन्होंने इन दोनों को एक दूसरे का विरोधी न मानते हुए पूरक माना। भारतीय काव्य-शास्त्र में काव्यानुभूति का सूक्ष्म विवेचन है और पाश्चात्य काव्य शास्त्र में कवि की मनःस्थिति तथा काव्य-निर्माण में प्रेरणा देने वाले सामाजिक प्रभावों का विश्लेषण है। इसलिए वे 'विचार और विश्लेषण' में लिखते हैं—"इस प्रकार ये दोनों एक दूसरे के विरोधी न होकर सहायक या पूरक हैं। इनके तुलनात्मक अध्ययन की सबसे बड़ी उपयोगिता यह हो सकती है कि इनका समन्वय करके एक पूर्णतर काव्य-शास्त्र का निर्माण किया जाय जिसमें स्रष्टा और भोक्ता के पक्षों का व्यापक विवेचन हो।"

डा० नगेन्द्र की समीक्षा शैली नन्ददुलारे वाजपेयी की अपेक्षा शुक्ल जी के अधिक निकट है। शुक्लजी की आलोचना-पद्धति जिन दुर्बलताओं से आक्रान्त थी, उनका डा० नगेन्द्र ने बड़ी कुशलता से परिहार किया; शुक्लजी में अपने आदर्शों के प्रति इतनी अधिक निष्ठा थी कि उससे जरा भी अलग दिखने वाले तत्व को वे निःसंकोच छोड़ देते थे अभिव्यंजनावाद को वे 'वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान' मानते हुए उससे विमुख हो गये। छायावाद और रहस्यवाद के प्रति भी वे अधिक सहिष्णु न हो सके। साहित्य का लोक-धर्म से उन्होंने इतना गहरा संबंध माना कि व्यष्टि की अवहेलना कर गये। नगेन्द्र ने इन दोषों से स्वयं को बचाए रक्खा। उन्होंने छायावाद को साहित्यिक आधार पर प्रतिष्ठित करके उसके संबंध में शुक्लजी द्वारा निर्मित भ्रामक धारणा को दूर किया। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के प्रति भी शुक्लजी का रुख बड़ा कठोर था। भारतीयता के प्रति अटूट आग्रह के कारण वे पश्चिम को सरलता से हृदयंगम नहीं कर सके। नगेन्द्र में इस प्रकार का कोई आग्रह नहीं है।

"अतः आगे चलकर जब विश्व-समालोचना (Well Kritik) स्पष्ट स्वरूप ग्रहण करने लगेगी, तब उसके निर्माण में योग देते समय हिन्दी-आलोचना का प्रतिनिधित्व नगेन्द्र ही अच्छी तरह कर सकेंगे क्योंकि शुक्लजी की अनेक मान्यतायें जातीय पूर्वाग्रहों और हठी आदर्शों के कारण विश्व आलोचना के सार्वदेशिक संकाय में स्थान नहीं पा सकेंगी।" किन्तु यह मत सर्वांश में सत्य नहीं है। शुक्लजी का हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में अवदान अप्रतिम है। उनके जैसा प्रौढ़ और सर्वाङ्गीण आलोचक आज तक नहीं हुआ। नन्ददुलारे वाजपेयी, हजारी प्रसाद द्विवेदी, नगेन्द्र प्रभृति परवर्ती आलोचकों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उनसे टकराकर उनकी श्रेष्ठता स्वीकार करली और अपने लिए नया मार्ग ढूंढ़कर हिन्दी आलोचना को आगे बढ़ाया।

रस के सम्बन्ध में नगेन्द्र ने अधिक विस्तृत और मनोवैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया। इसे देखकर कुछ लोगों ने उन्हें भ्रमवश फ्रायडवादी आलोचक कहा है। इसमें सन्देह नहीं कि फ्रायड के मनोविज्ञान का उन पर प्रभाव है। किन्तु वह स्वयं साध्य न होकर रसवाद के साधन रूप में सामने आया है। 'साकेत' में गुप्तजी ने जिस एकान्त, निष्ठा और मनोयोग से उसकी विरह-व्यथा का अंकन किया है, 'साकेत एक अध्ययन' में उसी तन्मयता एवं मनोयोग से डा० नगेन्द्र ने उस व्यथा के सूत्र पकड़े है। राम,

सीता, लक्ष्मण के वन जाते समय उर्मिला एक शब्द भी नहीं बोलती। उसका मौन उसकी कातरता तथा दयनीयता का सूचक है। डॉ० नगेन्द्र ने अपनी मनोवैज्ञानिक अंतर्दृष्टि द्वारा इस स्थिति की संवेदनीयता की सही पकड़ की है—"यदि वह स्वयं ही उक्त भावनाओं को शब्दों में व्यक्त करती, तो वे ईर्ष्या का रूप धारण कर लेतीं, इसलिए कवि ने राम और सीता के द्वारा उनकी ओर संकेत कराया है।" इसी प्रकार कैकेयी का यह मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी अपूर्व है—"युग युग की लाँछिता रानी को भव्य माता के रूप में देखकर वृद्ध जग आज चकित है।"

डॉ० नगेन्द्र ने अपनी दृष्टि रसवाद पर केन्द्रित करके भी समसामयिकता से स्वयं को काटा नहीं है। वे बराबर नई कविता, उपन्यास, कहानी की आलोचना करते रहे हैं। कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ तथा उर्वशी आदि ही उनके चिन्तन का केन्द्र नहीं बनी हैं, 'नयी समीक्षा नये संदर्भ' में मूल्यों के विघटन, सांस्कृतिक संकट जैसे विषयों ने भी उनका ध्यानाकर्षण किया है। रसवाद के प्रति उनका आग्रह उनके 'विचार और विश्लेषण' के इन शब्दों से प्रकट है—"साहित्य का चरम मान रस ही है, जिसकी अखण्डता में व्यष्टि और समष्टि, सौंदर्य और उपयोगिता, शाश्वत और सापेक्षित का अन्तर मिट जाता है : अन्य कथित मान या तो रस के एकांगी व्याख्यान हैं या फिर असाहित्यिक मान हैं जिनका आरोप साहित्य के लिए अहितकर है।"

नगेन्द्र की रसवादी दृष्टि का विशेष पल्लवन उनके 'रस–सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ में हुआ है। वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि रस-सिद्धान्त उनके लिए कोई 'शास्त्रविनोद' नहीं है बल्कि 'साधु काव्य निषेवण' से निर्मित अन्तःसंस्कारों की सहज संहिति है। आनन्दवर्धन, भट्टनायक, अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने जिस रस-सिद्धान्त का विकास किया था, उसका पुनर्विकास डा० नगेन्द्र ने अपने सूक्ष्म चिंतन और गहन अध्ययन के द्वारा किया है। रस सिद्धान्त की शक्तिमयता पर उनका इतना अखंड विश्वास है कि वे इसके आधार पर प्रत्येक देश तथा प्रत्येक युग के साहित्य का मूल्यांकन किया जा सकने की बात कहते हैं। नगेन्द्र की रसवादी धारणा की मुख्य दो विशेषताएँ हैं—

१. रस सिद्धान्त की व्याख्या में मनोविज्ञान को अपेक्षित महत्व प्रदान करना।

२. संश्लिष्ट काव्य-शास्त्र का उन्नयन, जिसमें एक ओर हिन्दी तथा अहिन्दी भारतीय भाषाओं के काव्यशास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन को अपनाया गया है तथा दूसरी ओर पाश्चात्य काव्यशास्त्र का भी पूरा उपयोग किया गया है। इसकी आवश्यकता बताते हुए वे 'रस सिद्धान्त' में कहते हैं—"वर्तमान साहित्य जगत में पाश्चात्य आलोचना के मान-प्रतिमान इतने अधिक रम गये हैं कि आज का साहित्य-मनीषी उन्हीं के माध्यम से चिंतन और मूल्यांकन करता है। अतः प्राचीन काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों की यथावत् अवतारणा की अपेक्षा उनका नई आलोचना-पद्धति से विचार-विवेचन करना आवश्यक हो गया है।"

डा० नगेन्द्र ने अभिव्यक्ति को निश्छलता को साहित्य का सर्वप्रथम और सबसे महत्वपूर्ण लक्षण बताया है। महान् कविता के लिए वे कवि के व्यक्तित्व का महान्

होना भी आवश्यक बताते हैं। अभिव्यक्ति की निश्छलता उनकी आलोचना पद्धति का एक विशेष गुण भी है। उनमें अपनी बात कहने में कहीं दुराव नहीं है। गहन, पैना और स्पष्ट विश्लेषण उनकी आलोचना पद्धति के विशिष्ट गुण हैं। उनका समीक्षा-चिन्तन जितना सूक्ष्म और कोमल है, उनकी भाषा भी उतनी ही स्वच्छ और परिमार्जित है। आरम्भ में वे कवि थे, इसलिए उनकी समीक्षा में भी यत्र-तत्र अभिव्यंजना का वैभव मिल जाता है, यथा—'तरल प्रवहमान भावुकता', 'कल्पना-विलास', 'भाषा की रेशमी जाली', 'आवेग की प्रखर शिखायें', आदि।

भाषा की चित्रोपम एवं आलंकारिक शैली के दर्शन निम्न उदाहरणों में देखिए—

(क) "गहरे काले अन्धेरे में उन्मादिनी रानी उल्का के समान चमक रही है।"

(ख) "शान्त गम्भीर सागर जो अपनी आकुल तरंगों को दबाकर धूप में मुस्करा उठा है या फिर गहन आकाश जो झंझा और विद्युत को हृदय में समाकर चांदनी की हंसी हंस रहा है, ऐसा ही कुछ प्रसाद का व्यक्तित्व था।"

(ग) "इस प्रकार के चलचित्र क्षण भर फुलझड़ी की भाँति चमक कर पीछे एक रेखा-सी छोड़ जाते हैं।"

डा० नगेन्द्र की आलोचना में व्यंग्य भी देखने को मिलता है। पर उनका व्यंग्य तीखा एवं कटु नहीं होता। प्रसाद के नाटकों के दोष बताते हुए वे 'आधुनिक हिन्दी नाटक' में लिखते हैं—"अनेक स्थानों पर नाटककार को घटनाओं की गतिविधि सम्भालना कठिन हो गया है। और ऐसा करने के लिए उसे या तो वांछित व्यक्ति को उसी समय भूमि फाड़कर उपस्थित कर देना पड़ा है—अथवा किसी का जबरदस्ती गला घोटना पड़ा है।" वैसे अधिकांश स्थलों पर नगेन्द्र में गम्भीरता का प्राचुर्य है। और व्यंग्य विनोद की कमी है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण होने के कारण ऐसा होना स्वाभाविक ही था।

डा० नगेन्द्र की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षा का एक सम्यक् पर्यवलोकन यह सिद्ध कर देता है कि सैद्धान्तिक समालोचना के क्षेत्र में उनका कार्य बड़ा विस्तृत और प्रौढ़ है। किन्तु व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में शुक्लजी ने साहित्यकार तथा उनकी कृतियों का जैसा सूक्ष्म मूल्यांकन किया है, वैसा आज तक अन्य कोई आलोचक नहीं कर सका है। सूर, तुलसी, जायसी आदि के सम्बन्ध में आज तक आचार्य शुक्ल के निर्णय अचूक और मान्य समझे जाते हैं। व्यावहारिक समीक्षा का दूसरा रूप काव्य-धाराओं का अध्ययन है, और इस दिशा में डा० नगेन्द्र आगे बढ़ गये हैं। निष्कर्षतः डा० कुमार विमल के शब्दों में हम कह सकते हैं कि, "ज्ञान-विस्तार और युगीन आवश्यकताओं के अनुरूप हिन्दी साहित्य में जिस नवीन संश्लिष्ट काव्य-शास्त्र का उदय हुआ है, उसे विकास देने वाले मनीषियों की पंक्ति में आचार्य शुक्ल के बाद डा० नगेन्द्र ही दूसरे गौरव-शिखर हैं।"

डा रामविलास शर्मा

डा० रामविलास शर्मा मार्क्सवादी आलोचक हैं। उनके सम्बन्ध में डा० बच्चन-

सिंह ने लिखा है कि "मार्क्सवादी आलोचकों में रामविलास शर्मा की दृष्टि सबसे अधिक पैनी, स्वच्छ और तलस्पर्शी है विचारों के स्तर पर वे कहीं भी समझौतावादी नहीं होते। वे बहुत ही खरे दो टूक बात कहने वाले निर्भीक आलोचक हैं।',

मार्क्सवादी आलोचना का प्रादुर्भाव शर्मा जी से पूर्व ही हो चुका था। 'हंस' के सम्पादक के रूप में डा० शिवदान सिंह चौहान उसके सैद्धांतिक पक्ष पर बहुत कुछ लिख चुके थे। प्रकाशचन्द्र गुप्त ने भी इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये थे। आरम्भ में प्रगतिवाद साहित्य की व्यापक प्रगतिशील चेतना के उन्मेष को लेकर अवतीर्ण हुआ था, किन्तु बाद में उसका आशय कम्युनिस्ट पार्टी की नीतियों का उद्घोषण मात्र रह गया था। मार्क्सवादी साहित्यकार केवल उस साहित्य को उत्तम मानते थे जिसमें सर्वहारा वर्ग के वर्ग-संघर्ष का चित्रण हो, पार्टी की नीतियों के आधार पर जनता को सशस्त्र क्रांति की चेतना प्रदान की गई हो। इस संकीर्णता की कटु आलोचना भी हुई। शनैः शनैः साहित्यकारों ने इन संकीर्णताओं से मुक्त होने का प्रयास भी किया।

'जहाँ तक डा० रामविलास शर्मा का प्रश्न है, वे मार्क्सवादी आलोचक होने के कारण साहित्य में सर्वहारा वर्ग के चित्रण पर बल देते हैं। 'साहित्य संदेश' में प्रकाशित अपने एक लेख में उन्होंने कहा है, "साहित्य लिखते समय साहित्यकार को यह ध्यान रखना चाहिए, कि वह 'सर्वहारा' का सहयोगी साहित्य निर्मित करे।" पर यह एक संकीर्ण मनोवृत्ति है। समाज में केवल सर्वहारा वर्ग की ही समस्याएँ नहीं है; वर्ग-वैषम्य से पीड़ित जनता भी है। क्या प्रगतिशील साहित्य को उनके विषय में न सोचना चाहिए? केवल 'सर्वहारा वर्ग' की बात कहना साहित्य को संकीर्ण परिधि में आबद्ध कर देना है।

रामविलास शर्मा की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि उन्होंने हर नये का समर्थन और हर प्राचीन का विरोध नहीं किया। उन्होंने उन मार्क्सवादी आलोचकों पर आरोप लगाया जिन्होंने पंक्तियाँ खोज-खोजकर तुलसीदास को प्रतिक्रियावादी, ब्राह्मणवादी आदि सब कुछ कहा है। उनका अपना मत है—"यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम अपने साहित्य की पुरानी परम्पराओं से परिचित हों। परिचित होने के साथ-साथ हमें उनके श्रेष्ठ तत्वों को भी ग्रहण करना चाहिए।" (संस्कृति और साहित्य' की भूमिका)।

रामविलास शर्मा की समीक्षा-शैली की प्रमुख विशेषता है व्यंग्य की मार करना। डा० नगेन्द्र की 'विचार और अनुभूति' नामक पुस्तक पर चुटकी लेते हुए वे कहते हैं कि, "नगेन्द्र जी के विचार उन्हें एक कदम आगे ढकेलते हैं तो उनकी अनुभूति उन्हें चार कदम पीछे घसीट ले जाती है। इस पुस्तक का नाम 'एक कदम आगे और चार कदम पीछे भी हो सकता था।"

एक अन्य उदाहरण देखिए—

"नगेन्द्रजी के यहाँ हर चीज शुद्ध है। बानगी देखिए—

१. साहित्य के क्षेत्र में तो शुद्ध मनोविज्ञान का ही अधिक विश्वास करना उचित

होगा।

२. लोक प्रचलित अस्थायी वादों के द्वारा साहित्य का रस शुद्ध हो जाता है।

३. छायावाद निश्चित ही शुद्ध कविता है।

हम अपनी तरफ से यही कह सकते हैं कि नगेन्द्र जी की आलोचना बिल्कुल शुद्ध आलोचना होती है।

शर्माजी की समीक्षा शैली की एक अन्य विशेषता यह है कि उसमें उदाहरण विद्यमान रहते हैं। इससे आलोचना में बल आ जाता है। उन्होंने जब महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन की विचारधारा की आलोचना की थी तो साहित्य में जैसे एक भूचाल आ गया था। किन्तु उन्होंने प्रमाण देकर अपनी बात कही थी इसलिए आने वाले तूफान से अप्रभावित रहे। स्वयं उनकी आलोचना जब अमृतराय ने 'हंस' में की तो उन्होंने यही कहा कि आप प्रमाण दीजिये, बिना प्रमाण दिये मैं आपके किसी आरोप पर गम्भीरता से विचार नहीं करूँगा।

शर्माजी एक सफल आलोचक हैं। उनके जिन गुणों ने उन्हें सफल आलोचक बनाया है वे हैं—विद्वत्ता, भाषाधिकार; प्रामाणिक बात कहने की आदत, वैज्ञानिक दृष्टि, निष्पक्षता। निष्पक्षता के गुण ने जहाँ एक ओर उनसे किसी की भी बेहिचक आलोचना कराई है, वहाँ दूसरी ओर छोटे-छोटे लेखकों को यथोचित सम्मान भी दिलवाया है। उनकी विशेषता है कि उनमें अहंकार नाममात्र को भी नहीं है। प्राय: जाने-माने विद्वान् नवोदित साहित्यकारों की उपेक्षा करते हैं। किन्तु शर्माजी किसी भी नये रचनाकार का उद्धरण बड़ी उदारता से अपनी रचना में दे देते हैं। यह उनकी निष्पक्षता ही है जो वे एक ओर पन्त और राहुल जैसे ख्यातिलब्ध साहित्यकारों को नहीं बख्शते और दूसरी ओर नये रचनाकारों की बांछनीय सराहना करते हैं।

रामविलास शर्मा ने हिन्दी में सन्त साहित्य, भारतेन्दु युग, छायावाद, प्रेमचन्द, निराला आदि पर अत्यन्त सुलझे हुए विचार व्यक्त किए हैं। सन्त कवियों के विषय में वे लिखते हैं—"सदियों के सामन्ती शासन की शिला के नीचे जन-साधारण की सहृदयता का जल सिमट रहा था; सन्त कवियों की बाणी के रूप में वह अचानक फूट पड़ा और उसने समूचे भारत को रस सिक्त कर दिया।" भारतेन्दु युग की नव्य चेतना और नव जागरण ने उन्हें प्रभावित किया और उन्होंने मुक्त कंठ से उसकी सराहना की। प्रेमचन्द की जनवादी चेतना के वह मुक्त कंठ से प्रशंसक हुए। उनका कथन है—"हिन्दुस्तान के किसानों को प्रेमचन्द की रचनाओं में जो आत्माभिव्यंजन मिला, वह भारतीय साहित्य में बेजोड़ है।"

छायावादी काव्यधारा का उन्होंने अभिनन्दन किया और नई रोमांटिक कविता को दाद देते हुए कहा—'नई रोमांटिक कविता ने नायक-नायिकाओं की क्रीड़ा के स्थान पर व्यक्ति और उसके भावों-विचारों को प्रतिष्ठित किया। निष्प्राण प्रतीकों के बदले सजीव भावों की व्यंजना के द्वारा वे साहित्य को जीवन के निकट लाये।" निराला के वे प्रशंसक हैं। उन्होंने ईमानदारी के साथ स्वीकार किया है—"बारह वर्ष

नक इतने निकट सम्पर्क में रहने के कारण उनपर पूर्ण तटस्थता से लिखना मेरे लिए प्रायः असंभव है।" किन्तु उन्होंने अपने प्रयास के विषय में घोषित किया है—"साहित्य के हित को ध्यान में रखते हुए मैंने यही प्रयास किया है कि कहीं उनकी अनुचित प्रशंसा न हो और कहीं भी उनके साहित्य की कमजोरियों पर पर्दा डालने से हमारी नई साहित्यिक प्रवृत्तियों का अनहित न हो।" कहना न होगा कि यही दृष्टि प्रत्येक आलोचक में होनी चाहिए तभी उसकी आलोचना सही होगी।

डा० रामविलास शर्मा आम तौर पर छन्दोबद्ध कविता के समर्थक हैं। फिर भी उन्होंने निराला के मुक्त छन्द की प्रशंसा की है। कारण यह है कि निराला के मुक्त छन्द में गेयता, ध्वनि साम्य, सानुप्रासिकता, काव्य गुणों की सत्ता आदि विशेषताएँ रहती हैं। इसके विपरीत जिन कवियों के मुक्त छन्द कोरे गद्य में बदल जाते हैं, उनकी उन्होंने कटु आलोचना की है।

रामविलास शर्मा साम्राज्यवाद, पूँजीवाद आदि के कट्टर शत्रु हैं और जिन रचनाओं में इनकी यत्किंचित भी झलक मिलती हो, उनकी वे आलोचना करते हैं। उनका मत है—"जो पूँजीवाद या साम्राज्यवाद की खुशामद करे, उन्हें स्थायी बनाने में मदद करे, प्रगति के मार्ग पर कांटे बिछाए, वह देश का शत्रु है और हिन्दी का शत्रु है, धर्म और संस्कृति के नाम पर जनता का गला घोंट कर वह पूँजीवाद के दानव को मोटा करना चाहता है। उनसे सभी लेखकों और पाठकों को सावधान रहना चाहिए।"

डा० रामविलास शर्मा की विचारधारा में काव्यशास्त्र की परम्परागत मान्यताओं के लिए कोई स्थान नहीं। वे रस और अलंकार विषयक प्राचीन मान्यताओं के के विरुद्ध हैं। रस को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहने वालों के साथ उन्होंने खूब चुटकियां ली हैं। आधुनिक युग में प्राचीन रस सिद्धांत की निःसारता उन्होंने सिद्ध की है। परन्तु इसका यह आशय नहीं कि वे हर प्राचीनता के विरोधी हैं। हम देख चुके हैं कि वे संत साहित्य और तुलसी के प्रशंसक रहे हैं। 'मध्यकालीन हिंदी कविता में गेयता' में वे लिखते हैं—"गांव के किसानों को आए दिन के व्यवहार में तुलसी, रहीम, सूर, गिरधर आदि की उक्तियाँ उद्धृत करते सुनिए तो पता चलेगा कि वे साहित्यकारों के शब्दों को किस प्रकार अपने जीवन में परखते चलते हैं। जो साहित्य इस तरह उनके जीवन में घुल मिल जाता है, वहीं टिकाऊ होता है, दूसरा नहीं।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि डा० रामविलास शर्मा आधुनिक हिन्दी आलोचकों की अग्रिम पंक्ति में आसीन हैं।

अध्याय ११

काव्य के रूप और विधाएँ

प्रश्न ७६—महाकाव्य के स्वरूप का विवेचन कीजिए और उसके तत्वों का उल्लेख कीजिए।

अथवा

महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों का उल्लेख कर आधुनिक काल के संशोधित लक्षणों का विवरण प्रस्तुत कीजिए।

अथवा

प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वानों के आधार पर महाकाव्य के स्वरूप का विवेचन कीजिए।

काव्य शब्द व्यापक अर्थ को अभिव्यक्त करता है। भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य के दो प्रमुख भेद मान्य हैं—दृश्यकाव्य और श्रव्यकाव्य। शैली के भेद से श्रव्य-काव्य के तीन भेद किए गए हैं—पद्य, गद्य और मिश्र (चम्पू)। पद्य काव्य को आकार की दृष्टि से प्रबन्धकाव्य एवं मुक्तककाव्य कहते हैं। प्रबन्धकाव्य के दो भेद प्रसिद्ध हैं—महाकाव्य एवं खण्डकाव्य। डा० त्रिगुणायत ने एक तीसरे 'प्रबन्ध-पद्य' काव्य रूप को स्वीकार किया है। उनके अनुसार—"समस्त प्रबन्ध रचनाएँ इन दोनों विभागों के अन्तर्गत नहीं आ पातीं। बहुत से ऐसे प्रबन्धकाव्य शेष रह जाते हैं जिनमें न तो महा-काव्य के वैधानिक लक्षण मिलते हैं और न खण्डकाव्य की विशेषताएँ ही उपलब्ध होतीं हैं। ऐसे प्रबन्ध अधिकतर लिखे तो महाकाव्य की रचना की दृष्टि से जाते हैं, किन्तु किन्हीं कारणों से सफल महाकाव्य नहीं होते।" इस प्रकार प्रबन्ध-काव्य के तीन भेद होते हैं।

भारतीय दृष्टि से महाकाव्य की परिभाषा—भारतीय काव्यचिन्तकों ने महा-काव्य के स्वरूप पर गम्भीर चिन्तन कर अपने लक्षण निर्धारित किए हैं। महाकाव्य के नाम से स्पष्ट संकेत मिलता है कि काव्य के इस अङ्ग में "जीवन का अत्यन्त व्यापक चित्रण, उदात्त मानवीय अनुभूतियों के रूप में प्रकट किया जाता है।"

संस्कृत के काव्यशास्त्रियों में सर्वप्रथम **भामह** ने महाकाव्य के स्वरूप का निर्धारण इस प्रकार किया है—

"महाकाव्य सर्गबद्ध होता है। वह महानता का महान् प्रकाशक होता है। उसमें निर्दोष शब्दार्थ, अलंकार और सद्वस्तु होनी चाहिए। उसमें विचारविमर्श, दूत, प्रयाण, युद्ध, नायक का अभ्युदय—ये पाँच संधियाँ हों। बहुत गूढ़ न हो, उत्कर्षयुक्त हो। चतुर्वर्ग-आदेश होने पर भी प्रधानतः अर्थ उपदिष्ट हो। लोक-स्वभाव का वर्णन और सभी रसों का पृथक् चित्रण हो। नायक के कुल, बल, शास्त्रज्ञान आदि का उत्कर्ष

जताकर और किसी के उत्कर्ष के लिए नायक का वध नहीं करना चाहिए।"

(काव्यालंकार १।२०-२२)

भामह के बाद दण्डी ने महाकाव्य के स्वरूप और उसके लक्षणों का विस्तार से विवेचन किया है। दण्डी के अनन्तर आनन्दवर्धन, भोज और विश्वनाथ ने महाकाव्य के लक्षणों पर प्रकाश डाला है। आचार्य विश्वनाथ ने महाकाव्य का जो स्वरूप प्रस्तुत किया, उसमें पूर्वोक्त समस्त आचार्यों की मान्यताओं का समाहार किया गया है, वह परिनिष्ठित महाकाव्य का स्वरूप इस प्रकार है—

(१) महाकाव्य सर्गबद्ध होता है, किन्तु

(क) सर्ग न छोटे होने चाहिए, और न अधिक बड़े।

(ख) सर्ग आठ से अधिक होने चाहिए, किन्तु किन्हीं के अनुसार वे तीस से अधिक भी न होने चाहिए—'अष्ट सर्गान्नतु न्यूनं त्रिंशत्सर्गाच्च नाधिकम्'।

(ग) सर्ग के अंत में भावी कथा की सूचना रहती है।

(घ) सर्ग के अन्त में छन्द का परिवर्तन आवश्यक है।

(ङ) एक ही सर्ग में कई छंदों का प्रयोग कभी-कभी हो सकता है। सर्ग का नामकरण भी होना चाहिए।

(२) काव्य का एक नायक होता है; उसमें निम्न गुण होने चाहिए—(क) शूर-वीर, (ख) उच्चकुलोत्पन्न, (ग) क्षत्रिय, (घ) धीरोदात्त आदि गुणों से सम्पन्न।

(३) रस—महाकाव्य में शृंगार, वीर और शान्त में से एक अंगी (मुख्य) होना चाहिए, अन्य रस अंग रूप में होने चाहिए।

(४) वृत्त—महाकाव्य की कथावस्तु ऐतिहासिक, लोकप्रसिद्ध और सज्जनाश्रित होनी चाहिए :

(५) फल—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से किसी एक की प्रतिष्ठा आवश्यक है।

(६) वस्तु-संगठन और नाट्य-सन्धियाँ और सन्ध्यङ्गों की योजना आवश्यक है।

(७) मंगला-चरण-ग्रन्थारम्भ में नमस्क्रिया अथवा वस्तुनिर्देश आवश्यक है।

(८) कहीं-कहीं सज्जन-प्रशंसा और खलनिन्दा की आवश्यकता है।

(९) प्रकृतिवर्णन—संध्या, सूर्योदय, चन्द्रोदय आदि का वर्णन तथा जीवन के प्रसंगों की रमणीय योजना होनी चाहिए।

(१०) महाकाव्य का नाम कवि नायक अथवा वस्तु के आधार पर होना चाहिए।

भारतीय काव्यशास्त्र में महाकाव्य के उपर्युक्त लक्षण स्वीकार किये गए हैं किन्तु इनमें से कुछ तत्व ऐसे हैं जो अन्तरङ्ग और अनिवार्य हैं तथा कुछ गौण। कुछ ऐसे भी तत्व हैं जो महाकाव्य के लिए आवश्यक हैं किन्तु उनका यहाँ स्पष्ट उल्लेख नहीं है। उदाहरण के लिए चरित्र-चित्रण, संवाद आदि।

निश्चय ही महाकाव्य एक प्रबन्ध रचना है, अतः इसमें जीवन का सांगोपांग

वर्णन होना चाहिए।

महाकाव्य सम्बन्धी पाश्चात्य धारणा—पश्चिम में काव्यशास्त्र विषयक चिंतन अरस्तू के समय से प्रारम्भ हो गया था। अरस्तू ने महाकाव्य के सम्बन्ध में जो विचार प्रस्तुत किए हैं, संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

१. महाकाव्य में अनुकरण होना चाहिए और यह अनुकरण समाख्यानात्मक होना चाहिए, क्योंकि महाकाव्य में कथा प्रस्तुत की जाती है।

२. उसमें छः पद वाले वीरछन्द का प्रयोग होना चाहिए, क्योंकि यह सबसे अधिक भव्य और गरिमामय होता है।

३. उसकी कथा-वस्तु में अन्वितियों का संगठन रहना चाहिए। कार्य की अन्विति का संघटन (यूनिटी अव ऐक्शन) तो नितान्त आवश्यक है। अतएव कथा-वस्तु का आदि, मध्य और अन्त सुस्पष्ट और सुसम्बद्ध होना चाहिए।

४. उसमें अवान्तर कथाओं का प्रयोग हो सकता है, किन्तु उनसे मुख्य कथा का पोषण होना चाहिए। उनके कारण एकतानता भी दूर होती है।

५. कथानक को इतिहास से ग्रहण करना चाहिए, परन्तु उस कथानक को इतिहास का रूप नहीं देना चाहिए। क्योंकि इतिहास में तो अनेक व्यक्तियों और अनेक (कभी-कभी असम्बद्ध) घटनाओं का उल्लेख होता है और ये व्यक्तिगत घटनाएँ ऐसी हों, जो हमारे संवेदन को प्रबुद्ध कर सकें। अतएव 'महाकाव्य' में ऐतिहासिकता के साथ कल्पना का भी प्रचुर पुट रहता है।

६. महाकाव्य में अनेक वस्तुओं, परिस्थितियों और भावों के विस्तृत वर्णन विद्यमान रह सकते हैं, पर ऐसे सभी वर्णनों में स्वाभाविकता सदा बनी रहनी चाहिए। अतएव यह आवश्यक है कि कवि असम्भव घटनाओं के वर्णन से दूर ही रहे।

७. महाकाव्य में जीवन के विविध चित्र होते हैं, क्योंकि वह सम्पूर्ण जीवन की रोचक झाँकी है।

८. महाकाव्य सरल अथवा जटिल शैली में लिखा जा सकता है। "जहाँ कार्य की गति रुक जाय और विचार या चरित्र का अभिव्यंजन न हो, वहाँ भाषा अलंकृत होनी चाहिए; इसके विपरीत अत्यधिक कान्तिमयी पदावली चरित्र और विचार को ही आच्छन्न कर लेती है।"

९. महाकाव्य के पात्र महान् होने चाहिए। उनमें अद्भुत तत्व के लिए अधिक अवकाश रहता है।

१०. महाकाव्य का लक्ष्य या उद्देश्य श्रोता का मनोरंजन है और इसका कारण कलात्मक अनुकृति है।

फ्रांसीसी समीक्षक **लबस्सु** महाकाव्य को प्राचीन घटनाओं के युग-चित्रण-परक एक पद्यबद्धरूपक मानता है। **डेवनाट** अर्वाचीन घटनाओं की अपेक्षा प्राचीन घटनाओं को महाकाव्य का आधार स्वीकार करता है क्योंकि प्राचीन घटनाओं में चित्रण की स्वतन्त्रता रहती है। **लुकन** प्राचीन घटनाओं की तुलना में अर्वाचीन घटनाओं को

महाकाव्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण मानता है क्योंकि चित्रण की सजीवता में अर्वाचीन घटनाएँ अधिक समर्थ होती हैं। रसाँ मध्यम-मार्ग का अवलम्बन कर न अति प्राचीन न अति नवीन घटनाओं को महाकाव्य का विषय कहता है।

'कविता के सिद्धान्त' नामक कृति में **सी० एम० गेले** का मत है....."महाकाव्य किसी ऐसे महिमामंडित कथानक या व्यापार के गरिमापूर्ण कथा-प्रबन्ध की वह सात्विक अभिव्यक्ति है जो किन्हीं वीर पात्रों और अतिप्राकृत शक्तियों द्वारा सर्वाधिष्ठात्री की नियति के नियंत्रण में घटित होता है।"

W. M. Diction ने महाकाव्य के विषय में लिखा है कि "महाकाव्य एक ऐसे नायक का चित्रण करता है जो किसी देश अथवा किसी आदर्श का प्रतिनिधित्व करता है और जो उसकी विजय के साथ विजयी होता है। वह कोई महान् अथवा महत्वपूर्ण व्यापार हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है और उसी प्रकार उसके पात्र भी महान् अथवा महत्वपूर्ण होते हैं। सारी रचना में एक गरिमा होती है। नाटक की तुलना में महाकाव्य के व्यापार की गति मन्द होती है उसमें घटना-बाहुल्य होता है। —मानव जीवन की जितनी ही विस्तृत भूमिका का उसमें ग्रहण होता है, उतनी ही सफलता महाकाव्य को मिलती है।"[1]

पाश्चात आलोचक **वाल्टर पेटर** ने महाकाव्य के लक्षण इस प्रकार लिखे हैं— (१) महाकाव्य में सुसंगठित, गम्भीर एवं प्रसिद्ध कथा हो, (२) महाकाव्य के पात्र उदात्त चरित के हों, (३) महाकाव्य की कथा में मानव जीवन की आस्थायें तथा जीवन का व्यापक चित्रण हो। (४) कलात्मक दृष्टि भाषा-शैली व छन्दविधान अशिथिल हो। (५) महाकाव्य का उद्देश्य भी महान् होना चाहिए।

प्राच्य एवं पाश्चात्य महाकाव्य के लक्षणों का साम्य-वैषम्य

प्राच्य एवं पाश्चात्य महाकाव्य के लक्षणों को देखने पर उनमें पर्याप्त साम्य लक्षित होता है, जो अन्तर है वह सामान्य ही है। वह अन्तर इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

(१) भारतीय-काव्यशास्त्र महाकाव्य में शृङ्गार, वीर और शान्त रस में से किसी एक रस को अंगी रस के रूप में महत्व देता है जबकि पाश्चात्य काव्यशास्त्री वीर रस को महत्व देते हैं—

(२) पाश्चात्य महाकाव्य में जातीय भावना के विकास का आग्रह स्पष्ट लक्षित होता है, जबकि भारतीय काव्यशास्त्र में इसका कोई स्पष्ट संकेत नहीं है।

(३) पाश्चात्य महाकाव्य में आद्यन्त एक छन्द के प्रयोग का विधान है, जबकि भारतीय काव्यशास्त्र में विविध प्रकार के छन्दों के प्रयोग का आग्रह है।

(४) भारतीय महाकाव्य में नायक और उसके कार्यकलाप को विशेष महत्व प्राप्त है जबकि पाश्चात्य काव्यशास्त्र जातीय भावना को विशेष महत्व प्रदान करते हैं।

१. काव्यशास्त्र की रूपरेखा, पृ० २०४।

कलाकार युगसापेक्ष काव्य का सृजन करता है, वह तदनुरूप काव्य का रूप विधान भी करता है, जैसा कि डा० **रामकुमार वर्मा** ने लिखा है—

"·····नवनिर्माण के युग में काव्य के किसी रूप की आवश्यकता है, तो वह केवल महाकाव्य है। गीतिकाव्य में तो केवल व्यक्तिगत भावनाओं का प्रकर्ष रहता है। महाकाव्य में किसी भी कथावस्तु द्वारा राष्ट्र के जीवन की प्रमुख आवश्यकताओं का सरस भाषा के माध्यम से प्रतिपादन किया जा सकता है; उसमें जन-जीवन के लिए मंगलमय संदेश रहता है, जो फुटकर कविताओं में नहीं रह सकता।"

आज के इस बौद्धिक युग में महाकाव्य की प्राचीन एवं अर्वाचीन मान्यताओं में परिवर्तन आ गया है। जैसा कि **बाबू गुलाबरायजी** ने लिखा है कि **आजकल के महाकाव्यों में घटनाओं के वर्णन की अपेक्षा विचारों और भावों का अधिक विस्तार है।"** यही कारण है कि आधुनिक महाकाव्य में चारित्रिक दृढ़ता, लौकिक बुद्धिवाद, विषयवस्तु की महत्ता, नवीन उद्भावनाएँ, मानवतावादी व्यापक दृष्टिकोण, शब्द-शक्तियों में से लक्षणाव्यंजना का महत्व, मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर चरित्रचित्रण आदि तत्व विशेष मुखरित दृष्टिगत होते हैं। **रवि बाबू** का यह दृष्टिकोण ही आज के महाकाव्यों में अधिक स्वीकृत हुआ है कि—

"एक व्यक्ति की कवित्व शक्ति ने समस्त जातीय संस्कारों को जब काव्य का बाना पहना दिया तभी प्रकृत महाकाव्य की सृष्टि होती है।·····गरिमा विशेषत्व है।"

इसीलिए **डा० शम्भूनाथ सिंह** ने महाकाव्य के जो लक्षण निश्चित किए हैं उनमें उद्देश्य और प्रेरणा को महत्व देते हुए भी गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्व को विशेष स्थान दिया है उनका मत है कि—

"गुरुत्व कवि के उच्च विचारों से आता है, गाम्भीर्य उसकी संयत और गम्भीर भावाभिव्यक्ति से उत्पन्न होता है और महानता उसकी घटनाओं शैली, उद्देश्य और प्रभावान्विति से उत्पन्न होती है।" इस कथन से महाकाव्य के आन्तरिक एवं बाह्य तत्वों का संकेत मिल जाता है। डा० सिंह ने प्राच्य एवं पाश्चात्य विचारकों के महाकाव्य के लक्षणों के अध्ययन के अनन्तर महाकाव्य की निम्न परिभाषा निर्धारित की है—

"महाकाव्य वह छन्दोबद्ध काव्य रूप है जिसमें क्षिप्र कथाप्रवाह, या अलंकृत वर्णन अथवा मनोवैज्ञानिक चित्रण से युक्त ऐसा सुनियोजित, सांगोपाङ्ग और जीवन्त लम्बा कथानक होता है जो रसात्मकता या प्रभावान्विति उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ होता है। जिसमें यथार्थ कल्पना या सम्भावना पर आधारित ऐसे चरित्र या चरित्रों के महत्वपूर्ण जीवनवृत्त का पूर्ण या आंशिक चित्रण होता है जो किसी युग के सामाजिक जीवन का किसी न किसी रूप में प्रतिनिधित्व करते हैं और जिसमें किसी महत्प्रेरणा से परिचालित होकर किसी महदुद्देश्य की सिद्धि के लिए किसी महत्वपूर्ण गम्भीर अथवा आश्चर्योत्पादक और रहस्यमय घटना या घटनाओं का आश्रय लेकर संश्लिष्ट और समन्वित रूप से जाति-विशेष और युग-विशेष के समग्र जीवन के विविध रूपों, पक्षों, मानसिक अवस्थाओं अथवा नाना रूपात्मक कार्यों का वर्णन और उद्घाटन किया गया रहता है; और

जिनकी शैली इतनी उदात्त और गरिमामयी होती है कि युग-युगान्तर में उस महाकाव्य को जीवित रहने की शक्ति प्रदान करती है।"

आशय यह है कि महाकाव्य के तत्वों को हम इस प्रकार निर्धारित कर सकते हैं—कथावस्तु, पात्र-चरित्र-चित्रण, संवाद, देशकाल-वातावरण, रस एवं भाव, उद्देश्य, भाषाशैली, इन्हीं तत्त्वों में प्राचीन एवं अर्वाचीन समस्त काव्यशास्त्रियों के निर्धारित तत्वों का समाहार हो जाता है। निश्चय ही उदात्तता, विराटता तथा गौरव-गरिमा महाकाव्य के महत्वपूर्ण तत्व हैं, जिसमें सत्यं, शिवं और सुन्दरम् की अजस्र धारा प्रवाहित होती है और होनी चाहिए।

प्रश्न ७७—खण्डकाव्य के स्वरूप का विवेचन कीजिए।

संस्कृत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में खण्डकाव्य का व्यापक विवेचन नहीं मिलता है। **भामह** एवं दण्डी ने खण्डकाव्य का उल्लेख भी नहीं किया है, जबकि महाकाव्य का व्यापक विवेचन किया है। **रुद्रट** ने प्रबन्धकाव्य के दो विभाजन महाकाव्य और लघुकाव्य के नाम से किये हैं। **हेमचन्द्र** भी खण्डकाव्य का उल्लेख नहीं करते हैं। आचार्य **विश्वनाथ** पहले व्यक्ति हैं, जो खण्डकाव्य का संक्षिप्त लक्षण प्रस्तुत करते हैं—एक कथा का निरूपक, पद्यबद्ध, सर्गमय ग्रन्थ—जिसमें सब सन्धियां न भी हों काव्य कहलाता है। काव्य के एक अंश का अनुसरण करने वाला खण्डकाव्य होता है—

....काव्यं सर्गसमुत्थितम्।
एकार्थप्रवणैः पद्यैः सन्धि सामग्र्यवर्जितम्।
खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च॥ (सा० द० ६।३ २८-२९)

इस लक्षण में 'एक देश' शब्द का प्रयोग किया गया है, उससे विश्वनाथ का क्या आशय है? उसके आशय का अनुमान डा० त्रिगुणायत के अनुसार इस प्रकार है—

(१) उसमें जीवन के किसी एक पक्ष का चित्रण किया जाता है।
(२) उसमें महाकाव्य के लक्षण संकुचित रूप में स्वीकार किये जाते हैं।
(३) रूप और आकार में खण्डकाव्य महाकाव्य से छोटा होता है।
(४) कुछ अन्य विशेषताएँ—प्रभावान्विति, वर्णन, प्रवाह आदि।

खण्डकाव्य एवं महाकाव्य का अन्तर :

आकार-प्रकार की दृष्टि से खण्डकाव्य एवं महाकाव्य में वही अन्तर है जो कहानी और उपन्यास अथवा एकांकी और नाटक में है। खण्डकाव्य भी प्रबन्धकाव्य का एक भेद है, इसलिए उसमें भी प्रायः वही तत्व रहते हैं, जो महाकाव्य में। किन्तु महाकाव्य में विस्तार होता है, जबकि खण्डकाव्य में संकोच। खण्डकाव्य की कथा जीवन के किसी एक पक्ष, एक घटना या प्रसंग-परिस्थिति से सम्बद्ध रहती है। इसमें प्रासंगिक कथाएँ बहुत कम या नहीं भी होती हैं। कथा में उतार-चढ़ाव के लिए भी अधिक क्षेत्र नहीं होता है। इसके अतिरिक्त मार्मिक प्रसंगों का चयन, कथा की व्यवस्थित एवं संगठित योजना, उत्सुकता और स्वभाविकता आदि गुण होते हैं। कथा इतिहास की या काल्पनिक हो सकती है।

खण्ड काव्य में पात्र कम होते हैं और उनके चरित्र का विकास भी व्यापक धरातल पर नहीं हो पाता। फिर भी चरित्र की स्पष्ट एवं सजीव रेखाएँ स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि में विकसित होनी चाहिए।

इसके अतिरिक्त संवाद तथा **देशकाल-वातावरण** की भी संक्षिप्त, रोचक, स्वाभाविक और परिस्थित्यनुकूल योजना होनी चाहिए। रस एवं भाव का विस्तार खण्डकव्य में कम होता है फिर भी उसमें एक मुख्य रस होता है।

खण्डकाव्य का **उद्देश्य** महाकाव्य के समान महान् होना चाहिए। "जीवन के आदर्शों और सत्प्रवृत्तियों से खण्डकाव्य को भी प्रेरणापूर्ण बनाना चाहिए। चाहे महाकाव्य जैसी विराटता, महानता, गौरव-गरिमा इसमें न आ पावे, फिर भी उदात्त मानवीय संवेदनाओं का खण्डकाव्य में भी प्रकाशन होना ही चहिए।"

खण्डकाव्य की **भाषा-शैली** में कलात्मकता और गरिमा होनी चाहिए। उसमें सरलता, सजीवता, स्वाभाविक अलङ्करण एवं प्रवाह होना चाहिए। भावानुकूल छन्द विधान भी उसके सौन्दर्य की वृद्धि करता है।

हिन्दी साहित्य के खण्डकव्यों में मैथिलीशरण गुप्त के पंचवटी, यशोधरा, 'सिद्धराज,' 'जयद्रथवध,' रामनरेश त्रिपाठी के 'स्वप्न,' 'मिलन', 'पथिक', निराला का 'तुलसीदास' आदि महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं।

प्रश्न ७८—मुक्तक काव्य के लक्षण व स्वरूप का विवेचन करते हुए मुक्तक काव्य की सामान्य विशेषताएँ निर्धारित कीजिए।

भारतीय काव्य में प्रबन्ध की दृष्टि से श्रव्य काव्य के दो भेद माने गये हैं—प्रबन्ध और मुक्तक। प्रबन्धकाव्य के अन्तर्गत महाकाव्य और खण्डकाव्य होते हैं। प्रबन्धकाव्य में पूर्वापर-सम्बन्ध रहता है जबकि मुक्तक में पूर्वापर सम्बन्ध का सर्वथा अभाव रहता है। मुक्तककाव्य में भावात्मकता का प्राधान्य रहता है। इसमें कवि की वैयक्तिक अनुभूतियों, भावनाओं और आदर्शों का प्राधान्य रहता है। मुक्तक एवं प्रबन्धकाव्य के भेद को स्पष्ट करते हुए एक आलोचक ने लिखा है कि "प्रबन्ध कवि की किसी महती इच्छा, इतिवृत्तविधायिनी बुद्धि और शिल्प-कुशल चेतना का परिणाम है किन्तु मुक्तक कवि की सद्यः स्फुरित भावुकता, समाज-चेतना और भावविधायिनी प्रतिभा की अभिव्यक्ति।"

परिभाषा—मुक्तक शब्द की निष्पत्ति—मुक्त+कन् से होती है। मुक्त धातु का अर्थ है बन्धन-रहित अथवा स्वतन्त्र।

संस्कृत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में 'मुक्तक' काव्य की अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं वे इस प्रकार हैं—"मुक्तक वह श्लोक है जो वाक्यान्तर की अपेक्षा नहीं रखता—**"मुक्तकं वाक्यान्तर निरपेक्षो यः श्लोकः"** अग्निपुराणकार के अनुसार मुक्तक वह है जो एक ही श्लोक में चमत्कारक्षम हो—**'मुक्तकं श्लोकः एवैकश्चमत्कारक्षमं सताम्'।** वामन ने प्रबन्ध की अपेक्षा अनिबद्ध (मुक्तक) काव्य को हीन कोटि का काव्य माना है। उनका कथन है कि जैसे अग्नि का एक कण नहीं चमकता वैसे ही मुक्तक भी अकेला शोभित नहीं होता—**"नानिबद्धं चकास्ति एक तेजः परमाणुवत्"** (का० सू० १।३।२९)।

इसके विपरीत आनन्दवर्धन मुक्तक में प्रबन्ध के समान रसोद्बोध की क्षमता मानते हैं —"मुक्तकों में रस-निबन्धन में आग्रहशील कवि के लिए रसाश्रित औचित्य नियामक तत्व है। प्रबन्ध के समान मुक्तकों में भी रस अभिनिवेश करने वाले कवि पाये जाते हैं"—

इसके बाद उन्होंने उदाहरणार्थ अमरुक कवि को प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि —अमरुक के श्लोकों में शृङ्गार रस का प्रवाह प्रबन्धकाव्यों के समान ही है— **"यथाह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृङ्गाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव ।"** आनन्दवर्धन की स्थापना का समर्थन करते हुए अभिनवगुप्त ने लिखा है कि—मुक्तक उसे कहते हैं जो पूर्वापर निरपेक्ष होकर भी रसास्वादन में समर्थ हो"—

"पूर्वापरनिरपेक्षेणाऽपि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम् ।"

इस प्रकार अभिनवगुप्त ने भी आनन्दवर्धन की मान्यता का समर्थन किया है। मुक्तक में रससंचार कराना अधिक कठिन कार्य है क्योंकि प्रबन्ध में विभावादि की योजना जितनी सरल और सहज होती है उतनी मुक्तक में नहीं। दूसरा तथ्य यह है कि प्रबन्ध का कथाप्रवाह भी रसानुभूति में सहायक होता है पर मुक्तक का रचयिता उस सुविधा को प्राप्त नहीं कर सकता। जहाँ तक रसानुभूति की बात है दोनों में कोई अन्तर नहीं पड़ता, किन्तु यह भी निश्चित है कि प्रभाव की गम्भीरता, व्यापकता तथा स्थायित्व की दृष्टि से प्रबन्ध विशेष महत्वपूर्ण है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत भी यही है कि "मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती, जिसमें कथा-प्रसङ्ग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदयकलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबन्धकाव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसी से यह सभा समाजों के लिए अधिक उपयुक्त होता है। इसमें उत्तरोत्तर दृश्यों द्वारा संगठित पूर्ण जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अंग का प्रदर्शन नहीं होता, बल्कि एक रमणीय खण्ड-दृश्य इस प्रकार सहसा सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणों के लिए मन्त्रमुग्ध सा हो जाता है। इसके लिए कवि को मनोरम वस्तुओं और व्यापारों का एक छोटा सा स्तवक कल्पित करके उन्हें अत्यन्त संक्षिप्त और सशक्त भाषा में प्रदर्शित करना पड़ता है।"[1]

आचार्य शुक्ल मुक्तक की तीन विशेषताओं पर बल देते हैं—

(१) एक रमणीय मार्मिक खंड-दृश्य का सहसा आनयन।

(२) चयन, संयम, और मंडन की प्रवृत्ति।

(३) कुछ क्षणों के लिए चमत्कृत कर देने वाला प्रभाव।

'**बिहारी की काव्य-कला**' के लेखक ने सफल मुक्तक की विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार किया है—

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २९८-९९।

(१) "मुक्तक में प्रत्येक छन्द अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में सक्षम होना चाहिये। (२) मुक्तक में सरसता होनी चाहिये। प्रबन्ध की धारा में तो नीरस पद्य भी उसी प्रकार सरस हो जाते हैं जिस प्रकार पवित्र-सलिला भागीरथी की पावन जलधारा में मलिन जल भी पूत प्रभाव ग्रहण कर लेता है। किन्तु मुक्तक में भाव-प्रवाह के अभाव में नीरसता फौरन खटकने लगती है। अस्तु, उसे सरस होना चाहिए। (३) मुक्तक-कार को व्यंग्य प्रयोग में प्रवीण होना चाहिये। उसके पास प्रबन्धकार की भाँति विस्तृत क्षेत्र न होकर अत्यन्य संकीर्ण परिधि रहती है जिसमें उसे अभिधा की अपेक्षा व्यंजना का ही संबल ग्रहण करना पड़ता है। (४) मुक्तक रचना की सफलता के लिए मुक्तक-कार में कल्पना की समाहार शक्ति होनी चाहिए। वह अपने भावों को मधुर-मंजुल कल्पना से आवेष्टित कर जितने ही हृदयग्राही ढंग से उपस्थित करेगा, उसकी मुक्तक रचना उतनी ही सफल होगी। (५) मुक्तककार को अभिव्यंजना के प्रधान माध्यम अर्थात शब्दों के प्रयोग में दक्ष होना चाहिए। गिने-चुने शब्दों में सफलतापूर्वक भावों की अभिव्यक्ति करने के लिए उसकी भाषा में समासगुण का आधिक्य रहना चाहिए। (६) मुक्तक रचनाकार में मार्मिक दृश्यों का चयन करने की क्षमता होनी चाहिए। असीमित जीवन-क्षेत्र से उसे ऐसे मार्मिक दृश्य चुन लेने चाहिए जिनका सजीव चित्र वह अपने छंद की छोटी-सी चित्रपटी पर प्रस्तुत कर सके। (७) मुक्तक का वृत्तांश ऐसा होना चाहिये कि पाठक उस तक शीघ्र पहुँच सके डा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार "जहाँ प्रसङ्ग के आक्षेप में कठिनाई पड़ती है। या नाना प्रकार के प्रसंगों का आक्षेप सम्भाव्य होता है वहाँ मुक्तक उत्तम नहीं कहा जा सकता है।" (८) सफल मुक्तक में नाद-सौन्दर्य होना चाहिए। (९) मुक्तक में रसमग्न करने की क्षमता होनी चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन के अनन्तर मुक्तककाव्य की परिभाषा इन शब्दों में निर्धारित की जा सकती है—

"मुक्तक पूर्व और पर से निरपेक्ष, मार्मिक खंडदृश्य अथवा संवेदना को उपस्थित करने वाली वह रचना है जिसमें नैरन्तर्यपूर्ण कथा-प्रवाह नहीं होता, जिसका प्रभाव सूक्ष्म अधिक, व्यापक कम होता है। तथा जो स्वयं पूर्ण अर्थभूमि-सम्पन्न अपेक्षाकृत लघुरचना होती है।" अथवा आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के शब्दों में "जिस रचना का लगाव पूर्वापर किसी दूसरी रचना से नहीं होता वह अनुबन्धहीन स्वतः अर्थद्योतन में समर्थ रचना मुक्तक कहलाती है।"

प्रश्न ७९—गीतिकाव्य की परिभाषाएँ लिखकर उसके स्वरूप और उसकी विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए।

गीति कवि के अन्तस्तल से निःसृत होने वाली वह मनोहर निर्झरिणी है जिसमें संगीत की लोल लहरियों की थिरकन और भावों की मधुरिम तरंगावलियों का नर्तन समाविष्ट रहता है। निःसंदेह काव्य-कला अपने कोमलतम स्वरूप को लेकर गीतिकाव्य में ही अवतरित हुई है। गीतिकाव्य का अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द लिरिक (Lyric) है जिसका सम्बन्ध वीणा के सदृश एक वाद्य यन्त्र से है। इसीलिए कुछ लोगों ने लिरिक का अनु-

वाद वैणिक भी किया है। वैणिक या लिरिक का मूल अर्थ तो वीणा से सम्बद्ध है परन्तु प्रायः उन सभी गेय पदों के लिए गीतिकाव्य शब्द प्रयुक्त किया जाता है जिनसे भावातिरेक के साथ निजीपन का प्राधान्य रहता है। वस्तुतः संगीत यदि गीत का कमनीय कलेवर है तो निजी भावातिरेक उसमें स्पन्दित होने वाला प्राणतत्व है, जिसके अभाव में गीत निर्जीव एवं निष्प्राण हो जाता है। यह भावातिरेक सुखात्मक या दुःखात्मक दोनों ही हो सकता है। गीतिकाव्य की इन्हीं विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए महादेवी वर्मा ने इस प्रकार इसकी परिभाषा की है—"**साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्द रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।**"

गीतिकाव्य की अनेक परिभाषाएँ प्राच्य एंव पाश्चात्य विचारकों ने अपने-अपने मतानुसार की है। हडसन के अनुसार "**शुद्ध गीतिकाव्य में एक ही भाव, एक ही उमंग भावावेश के साथ संक्षिप्त रूप में व्यंजित होता है। विस्तार उसके प्रभाव को कम कर देता है।**" हरबर्ड रीड के अनुसार है "**सूक्ष्म अनुभूतिमय रचना को गीतिकाव्य कहा जाता है।**" राइस के शब्दों में "**भाव या भावात्मक विचार के लयमय विस्फोट को गीतिकाव्य कहते हैं।**" हीगेल का कथन है कि **जब विश्व-हृदय में प्रविष्ट होकर कवि अपनी अनुभूति को चित्तवृत्तियों के अनुरूप मधुर कोमलकान्त पदावली में व्यक्त करता है तब गीत को जन्म मिलता है।**"

डा० श्यामसुन्दरदास के अनुसार "**गीतिकाव्य में कवि अपनी अन्तरात्मा में प्रवेश करता है बाह्य जगत् को अपने अन्तःकरण में ले जाकर उसे अपने भाव में रंजित करता है। उसमें शब्द-साधना के साथ स्वर (संगीत) की साधना होती है।**"

उपर्युक्त प्राच्य-पाश्चात्य मतों के पर्यावलोकन के उपरान्त हम कह सकते हैं कि "गीतिकाव्य या प्रगती कवि की वह निजी सुख-दुःखमयी तीव्र संकल्पात्मक भावानुभूति का कोमल शब्दावली में संक्षिप्त खण्ड उच्छ्वास है, जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय एवं संगीतात्मक होता है।"

गीतिकाव्य के तत्व—गीतिकाव्य के निम्नलिखित सात तत्व हैं—

१. **भावप्रवणता**—मानव का हृदय-तल असंख्य भावों और अनुभूतियों का क्रीड़ा स्थल है। प्रेम, करुणा, हर्ष एवं विषाद आदि भाव उसमें सदैव विद्यमान रहते हैं। कवि अपने गीतों में अन्तरतम के इन्हीं मूल भावों को वाणी प्रदान करता है। हृदय की सुख-दुःखात्मक वृत्तियाँ ही गीतिकाव्य का विषय बनती हैं। गीत में हृदय की कोमल भावनाओं का सहज स्वाभाविक स्फुरण होता है। कवि के अन्तर की अनुभूति जब घनीभूत होकर अपनी तीव्रता की चरम सीमा पर पहुँच जाती है। तभी गीतिकाव्य का जन्म होता है। करुणा के भाव को गीति का स्रोत माना गया है। क्रौंच पक्षी के करुण-क्रन्दन को सुन आदिकवि के मुख से स्वतः कविता फूट पड़ी थी। कवि पन्त ने भी

**"वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान ।
उनड़ कर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान ।।"**

अँग्रेजी के प्रसिद्ध कवि शैली ने भी इसी बात को इस प्रकार कहा है—

"Our sweetest songs are those
That telleth saddest thought."

इन उद्धरणों का यह अभिप्राय नहीं है कि गीत केवल करुणा से ही अनुस्यूत होता है, अपितु इनका तात्पर्य यह है कि गीत भावावेश के तीव्रतम चरम बिन्दु का परिचायक है। भावप्रवणता गीतिकाव्य का सर्वप्रधान तत्व है। गीत में वर्णित भाव जितना अधिक गहन एवं उदात्त होगा, गीत उतना अधिक उत्कृष्ट कोटि का कहा जायेगा।

२. **आत्माभिव्यक्ति**—गीतिकाव्य का दूसरा महत्वपूर्ण तत्व आत्माभिव्यक्ति है। गीत-सृजन के मूल में चूंकि कवि की निजी सुखदु:खमयी अभिव्यक्ति रहती है अतएव इसका स्वरूप आत्माभिव्यक्तिपरक बन जाता है। परन्तु विशेषता यह है कि यह अभिव्यक्ति आत्मपरक होते हुए भी सबकी अनुभूति बन जाती है। गीत का आस्वादन करने वाला प्रत्येक पाठक और श्रोता कवि की अनुभूति से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। गीत-रचना स्वान्तः सुखाय होते हुए भी परान्त सुखाय हो जाती है। गीतिकार के गीतों का 'मैं' व्यक्ति-विशेष के भावों का अभिव्यंजक न रहकर समस्त काव्यशास्त्रों के भावों का सूचक बन जाता है। इसी में गीतकार की सफलता निहित है। यदि वह निजीपन की झोंक में गीत को स्वान्तः सुखाय तक ही सीमित रखता है, तो उसकी अभिव्यक्ति सफल नहीं कही जायेगी। "गीतकार की दृष्टि अपेक्षाकृत सीमित वैयक्तिक और आत्मनिष्ठ होती है। रस्किन के शब्दों में गीतिकाव्य कवि की निजी भावनाओं का प्रकाश होता है। सहज शुद्ध भाव, स्वच्छन्द कल्पना तर्कवाद न्यायमूलकता से मुक्त विचार, ये ही गीतिकाव्य की वास्तविक विशेषताएँ हैं।" गीति की संगीतात्मकता इसी का अनिवार्य परिणाम कही जा सकती है। ब्रूनेतियर ने कहा है, गीतिकाव्य में कवि भावानुकूल लयों में अपनी आत्मनिष्ठ वैयक्तिक भावना व्यक्त करता है।"

३. **सौन्दर्यमयी कल्पना**—गीतिकाव्य आत्मा की अनुभूति का व्यक्य रूप है, गीतिकार अपनी खण्ड अनुभूतियों, मार्मिक सौन्दर्यमयी कल्पना के द्वारा व्यक्त करता है। वह रूप-विधान, बिम्ब, प्रतीक, उपमान आदि के प्रयोग से अपनी कृति में अपूर्व सौन्दर्य का सृजन करता है। इस काव्य-सृष्टि में सौन्दर्यमयी कल्पना महत्त्वपूर्ण योग-दान करती है।

४. **संक्षिप्त आकार**—गीतिकाव्य में खण्ड अनुभूतियों को व्यक्त किया जाता है, यह अनुभूति संक्षिप्त होती हैं, अतः सघन और मार्मिक होती हैं। यदि भावना का अधिक विस्तार होगा तो भाव की सघनता और तीव्रता कम होने का डर रहता है। कल्पना के कृत्रिम प्रयोग से जब कवि अनुभूति का वर्णन विस्तार से करने लगता है तो गीतिकाव्य की आत्मा को हानि पहुँचती है।

५. **संगीतात्मकता अथवा गेयता**—गीतिकाव्य संगीतात्मक होता है, अतः गेयता

या स्वर तथा शब्दों की संगीतात्मकता उसका प्रधान स्वर है। इसके लिए कवि कोमल-कान्त पदावली को अपनाता है। साथ ही यह ज्ञातव्य है कि यह संगीतात्मकता भावों की उपज है न कि तबले की थाप। "गीति का सहज स्वाभाविक रूप उसकी संगीतात्मकता और गेयात्मकता में ही सुरक्षित रहता है। उसकी प्रभाव-शक्ति भी इससे बढ़ती है। संसार के श्रेष्ठ गीत गेय ही हैं और रहेंगे।"

६. **प्रभावान्विति और समाहित प्रभाव**—गीतिकाव्य में किसी एक मार्मिक अनुभूति को शब्दबद्ध किया जाता है, अतः उसमें एकसूत्रता और एकध्येय रहता है। अतः वह समाहित प्रभाव को उत्पन्न करता है। जिस गीत में जितनी प्रभावान्विति होगी, वह उतना ही सुन्दर और मार्मिक होगा यह प्रभावान्विति ही गीतिकाव्य को एक स्वतन्त्र और पूर्ण रचना का पद प्रदान करती है। "गीति-रचना की प्रथम आवश्यकता यह है कि उसमें संवेगात्मक एकता या भाव-संतुलन सुरक्षित रहे। जिसमें किसी एक ही विचार, भाव या परिस्थिति का चित्रण सम्भव है।....गीति की भावमूलक एकता में उसके आकार की लघुता का गुण भी निहित है। किसी एक तीव्र अनुभूत भाव की स्थिति अधिक देर तक विकासशील नहीं रह सकती। यदि उसे बढ़ाया जाएगा तो उसमें पुनरुक्ति, उपदेशात्मकता, वर्णनात्मकता और परिणामस्वरूप प्रभावहीनता आ जायगी। कवि की आत्मनिष्ठ तीव्र भावानुभूति अखण्ड और सुसंहृत रूप में गीति के लघु आकार में ही सुरक्षित रह सकती है। प्रेरणाप्राप्त सौन्दर्य-कल्पना से प्रसूत गम्भीर मनोवेग की अभिव्यक्ति में गीति की तीव्रता भी स्वाभाविक है और समाहित प्रभाव भी।"

७. **कलात्मक कोमलकांत पदावली**—गीतिकाव्य कवि की स्वानुभूतिजन्य सौन्दर्यमयी कल्पना है, अतः उसे शब्दबद्ध करने के लिए कोमलकांत पदावली की नितांत आवश्यकता होती है। क्योंकि "गीति-काव्य में कोमल भावनाओं के अनुरूप मसृण, कोमल, सुन्दर प्रवाहात्मक एवं कलात्मक भाषाशैली होती है।" इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य के गीति-काव्य के इतिहास में विद्यापति, सूर, तुलसी, मीरा आदि का नाम लिया जा सकता है किन्तु इस दृष्टि से छायावादी कवियों का कार्य ज्यादा उल्लेखनीय है। "भाषा की लाक्षणिक व्यंजना-शक्ति, सुन्दर मूर्त-अमूर्त-विधान, स्वाभाविक अलंकरण, नई सौन्दर्य-सृष्टि, नयी उपमान-योजना आदि सभी कलात्मक प्रसाधनों का विकास गीति-काव्य ने अपने छायावादी काल में कर लिया था।"

पाश्चात्य समीक्षा में गीतिकाव्य की जो विशेषताएँ हैं, उनमें संगीतात्मकता और आत्माभिव्यक्ति, अर्थात् "अन्तर्निहित संगीतात्मकता और तीव्र अनुभूतिपूर्ण स्वानुभूलकता को गीतिकाव्य की आत्मा स्वीकार किया गया है। उन्हीं के परिणामस्वरूप गीति में सरस उद्रेक, नवोन्मेष, सद्यःस्फूर्ति, स्वच्छता, अनाडम्बर आदि विशेषताएँ आ जाती हैं।"

प्रश्न ८०—गीतिकाव्य के विभिन्न भेदों का सामान्य वर्णन करते हुए लोक-गीत तथा साहित्यिक गीत का अन्तर स्पष्ट कीजिए। साथ ही मुक्तक काव्य और

गीति के अन्तर का भी उल्लेख कीजिए।

गीतिकाव्य के भेद—गीतिकाव्य के विभाजन के अनेक आधार हैं—जैसे, भाषा, देश, वर्ण्य-विषय और विधान आदि। हम यहाँ वर्ण्य-विषय के आधार पर गीतिकाव्य के रूप-भेदों का नामोल्लेख इस प्रकार कर सकते हैं—वीर गीत, शोक गीत, चतुर्दशपदी, व्यंग्य गीत, रूपक गीत, राष्ट्रीय गीत, उपालम्भ गीत, विचारात्मक गीत, आदि।

वीर गीत (Ballads)—किसी वीर व्यक्ति के चरित्र को आधार बनाकर लिखा गया गीत 'वीर गीत' कहलाता है। इस प्रकार के गीतों में प्रायः कथा और संगीतात्मकता का मिश्रण होता है। इस प्रकार के गीतों की भाषा प्रसाद और ओज गुण सम्पन्न होती है। किन्तु इन्हें कुछ आलोचक गीतिकाव्य में स्वीकार नहीं करते क्योंकि इनमें प्रबन्धात्मकता होती है। फिर भी राष्ट्रीय भावना को लेकर लिखे गये अनेक गीत इस कोटि में सहज आ जाते हैं, उन्हें हम 'राष्ट्रीय गीत' या 'वीर गीत' कह सकते हैं।

करुण गीत (Elegy)—ग्रीक में विशेष प्रकार के छन्द विधान को ही 'इलेजी' कहा जाता है। अतः 'इलेजी' छन्द में निर्मित गीत ही 'एलेजी' कहा जाने लगा है। इन गीतों में करुणा का प्राधान्य होता है जहाँ अपने प्रिय का निधन या उसके अनिष्ट की कल्पना होती है। प्रसाद का 'आँसू' निराला की 'सरोजस्मृति' आदि इसके उदाहरण हैं।

सम्बोध गीत (Ode)—गीत में किसी वस्तु या प्राणी को सम्बोधित कर अपनी भावाभिव्यक्ति की जाती है। जैसे पंत की 'छाया', 'भावी पत्नी के प्रति', निराला की 'यमुना के प्रति'।

चतुर्दशपदी (Sonnet)—यह गीत चौदह पंक्तियों का होता है। इसमें प्रेम, विरह आदि कोमल भावनाओं के आधार पर गीत लिखे जाते हैं। हिन्दी में इन गीतों को विशेष महत्व नहीं मिला है। हाँ, प्रभाकर माचवे ने 'नारी के प्रति' आदि चतुर्दशपदियाँ अवश्य लिखी हैं।

व्यंग्य गीत (Satire)—'व्यंग्य गीत' उन गीतों का नाम है जिनमें किसी वस्तु, स्थान, प्राणी या तथ्य पर व्यंग्य या कटाक्ष किया जाता है। आधुनिक काल में भारतेन्दु, निराला तथा प्रगतिवादी कवियों ने काफी व्यंग्य गीत लिखे हैं। निराला की 'कुकुरमुत्ता' तथा 'मालपूये' आदि ऐसी ही कविताएँ हैं।

उपालम्भ गीत—व्यंग्यपूर्ण उपालम्भों से युक्त कविता उपालम्भ गीत के अन्तर्गत आती है। सूर के पद इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।

रूपक गीत—जिन गीतों में रूपकों या अन्योक्तियों से अप्रस्तुत के द्वारा अर्थ व्यंजित होता है, उन्हें 'रूपक गीत' कहते हैं। छायावादी कवियों ने ऐसे अनेक गीत लिखे हैं।

लोक गीत एवं साहित्यिक गीत—'लोकगीत' भी गीतों के अन्तर्गत आते हैं।

इनमें जन-जीवन के दर्शन होते हैं किन्तु साहित्यिक गीत और लोक गीतों में अन्तर होता है—

(१) "लोक गीतों में निजीपन होता है किन्तु उनमें साधारणीकरण और सामान्यता कुछ अधिक रहती है इसी के द्वारा वैयक्तिक रस की अपेक्षा जन रस उत्पन्न होता है। साहित्यिक गीतों में निर्माता का निजीपन रहता है। (२) लोक गीतों का सम्बन्ध प्रायः अवसर विशेष होली, विवाह, जन्मोत्सव आदि में रहता है किन्तु साहित्यिक गीत सदैव गाये जाते हैं। (३) लोक गीतों के निर्माता प्रायः अपना नाम अव्यक्त रखते हैं और कुछ में व्यक्त भी रहता है किन्तु साहित्यिक गीतों में प्रायः नाम व्यक्त ही रहता है।"

लोग गीतों और साहित्यिक गीतों में साम्य भी पर्याप्त होता है—(१) "लोक गीतों में भी साहित्यिक गीतों की सी कल्पना रहती है। (२) लोक गीत भी जातीय साहित्य से सामग्री ग्रहण करते रहते हैं। रामायण-महाभारत से सम्बन्धित अनेक लोक गीत हैं। (३) लोक साहित्य और शिक्षित लोगों के साहित्य में आदान-प्रदान होता रहता है। जायसी के पदमावत की कथा का पूर्वार्द्ध लोक साहित्य से ही निर्मित है।" बाबू गुलाबराय ने लिखा है कि "साहित्यिक गीतों का उदयालोक गीतों से ही हुआ है। मेरी समझ में तो महाकाव्य भी लोक गीतों के विकसित और संगठित रूप हैं।"

गीतिकाव्य एवं मुक्तककाव्य—गीतिकाव्य मुक्तककाव्य से भी भिन्न है। इन दोनों का सामान्य अन्तर इस प्रकार देखा जा सकता है—"एक मुक्तक विषय प्रधान है दूसरा गीति विषयी-प्रधान। एक में कवि पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्ति करता है तो दूसरे में कवि स्वयं पात्र बन बैठता है। एक वस्तु-परक है तो दूसरा भाव परक। एक परिस्थिति विशेष का चित्रण करता है तो दूसरा भाव विशेष का। एक का कवि तटस्थ दर्शक है तो दूसरे का स्वयं भोक्ता।" मुक्तक काव्य की शैली अपेक्षाकृत स्थिर, परिमार्जित, कृत्रिम तथा असहज होती है। जबकि प्रगीत की अपेक्षाकृत तरल, स्वाभाविक, सहज, और अकृत्रिम होती हैं।

प्रश्न ८१—(१) निबन्ध शब्द की व्याख्या करते हुए निबन्ध की एक परिभाषा दीजिए।

(२) निबन्ध के तत्वों का विवेचन कर विभिन्न शैलियों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए। साथ ही निबन्ध के विभिन्न प्रकारों का परिचय दीजिए।

(३) निबन्ध, प्रबन्ध तथा लेख का अन्तर स्पष्ट कीजिए।

महत्व—'गद्यं कवीनां निकषं' वदन्ति, वामन की इस उक्ति को देखकर शुक्लजी ने कहा था कि "यदि गद्य कवियों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में ही सबसे अधिक होता है।" आचार्य शुक्ल के इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि गद्य का सर्वाधिक विकसित और प्रभावशाली रूप निबन्ध है। भाषा की दृष्टि से भी गद्य का यह रूप परिपक्व और उन्नततम है।

निबन्ध शब्द का अर्थ एवं प्रयोग—इस शब्द का मौलिक अर्थ **वाचस्पत्यम्**

कोश में नि+बन्ध (बाँधना)+घञ् (संग्रह) रोकना किया गया है।

प्राचीन साहित्य में इस शब्द का प्रयोग विभिन्न रूपों में हुआ है—

(१) याज्ञवल्क्य स्मृति में **निबन्धोद्दवमेय**—रूप में।

(२) हेमचन्द्र ने संग्रह-ग्रंथ, मूलरोध रूप रोग, बन्धन के अर्थ में इसका प्रयोग किया है।

(३) **निबन्धयासुरी मता** (१६/५) भी बाँधने की क्रिया के अर्थ में आया है।

(४) 'हिन्दी साहित्य कोश' के अनुसार "निबन्ध का प्रयोग लिखे हुए भोजपत्रों को संवारकर बाँधने या सीने की क्रिया के लिए भी होता था, किन्तु कालान्तर में अर्थ-संकोच के रूप में केवल साहित्यिक कृति के लिए इसका प्रयोग किया जाने लगा।"

(५) "संस्कृत में निबन्ध का समानार्थी किन्तु अधिक व्यापक शब्द प्रबन्ध है, जिसका मूल अर्थ प्र+बन्ध (बाँधना)+अच्, सन्दर्भ या ग्रन्थ रचना है। आधार (कथा विषय) पर कल्पना से ग्रन्थ रचना करना भी प्रबन्ध कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, परम्परानुमोदन के साथ किसी विषय की कथा का गद्य या पद्य में प्रस्तुतीकरण प्रबन्ध कहलाता है।" इसी अर्थ के रूप में गोस्वामी तुलसीदास ने भी लिखा है—

'नानापुराणनिगमागम ... भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति

निबन्ध एवं प्रबन्ध शब्दों का अर्थ प्रायः समान ही सन्दर्भ, ग्रन्थ रचना, कल्पना प्रसूत कथा, परम्परानुमोदन, कथा का गद्य या पद्य में प्रस्तुतीकरण, आख्यान, कथा, काव्य आदि है। इसीलिए शुक्ल जी के विस्तृत कवि सम्बन्धी लेख उन्हीं के आधार पर 'प्रबन्ध' कहे जाते हैं।

निबन्ध के पर्याय के रूप में प्रबन्ध के अतिरिक्त लेख, सन्दर्भ, रचना और प्रस्ताव शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। 'हिन्दी साहित्य कोश' में इनका विवेचन करते हुए लिखा गया है कि लेख मूल अर्थ में समस्त लिखी सामग्री के लिए आता है, किन्तु वास्तव में यह उस गद्य रचना के लिए प्रयुक्त होने लगा है, जिसमें लेखक प्रमुख तथा निर्वैयक्तिक ढंग से किसी विषय पर शास्त्रीय ढंग से प्रकाश डालता है। इसे अंग्रेजी का **आर्टिकल** कह सकते हैं। **सन्दर्भ** का अर्थ पिरोना, प्रसंग, सम्बन्ध-निर्वाह, एक साथ बाँधना या बुनना, संकलन करना, व्यवस्थित करना, साहित्यिक रचना या वह ग्रन्थ हैं, जिसमें ग्रन्थ के दुरूह स्थलों का अर्थ दिया गया हो। यह लेख से कम व्यापक है। निबन्ध के पर्याय के रूप में यह वह गद्य रूप है, जिसमें किसी विषय के किन्हीं प्रसङ्गों पर विचार प्रकट किये जाते हैं। **रचना** का मूल अर्थ कृति के लिए होता है। निबन्ध के अर्थ में यह किसी विषय या वस्तु पर उनके स्वरूप, प्रकृति, गुण-दोष आदि की दृष्टि से लेखक की गद्यात्मक अभिव्यक्ति है। अंग्रेजी का **'कम्पोजीशन'** इसके समान अर्थ रखता है।"[१]

हिन्दी में 'निबन्ध' से जिस साहित्यिक विधा की अभिव्यक्ति होती है, वह वस्तुतः लैटिन के **'एक्सेजियर'**, फ्रेंच के **'एसाइ'** और अंग्रेजी के **'एसे'** का पर्याय-

१. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ४४५।

वाची शब्द है। 'इसका शाब्दिक अर्थ प्रयत्न, प्रयोग अथवा परीक्षण होता है।'

निबन्ध की अनेक परिभाषाएँ विद्वानों ने की हैं। प्रत्येक विद्वान् ने किसी एक या दो तत्वों को महत्व दिया है। इसीलिए एक परिष्कृत और सर्वसम्मत परिभाषा न तो उपलब्ध ही है और न सम्भव ही। फिर भी हम विभिन्न परिभाषाओं को उद्धृत कर विचार करेंगे। चूँकि आधुनिक हिन्दी-निबन्ध साहित्य पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित है, अतः पाश्चात्य विद्वानों की परिभाषाओं पर हम यहाँ पहले विचार कर रहे हैं—

मोन्टेन—"ये मेरी भावनाएँ हैं, इनके द्वारा मैं किसी सत्यान्वेषक का दावा नहीं करता, प्रत्युत स्वयं को पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करता हूँ"—"These essays are an attempt to communicate a soul. वे पुनः निबन्धों को अपने व्यक्तित्व का चित्र भी कहते हैं—"I am the subject of my essays because I my self am the only person whom I know thoroughly."

डा० जानसन के अनुसार "निबन्ध मस्तिष्क की एक शिथिल विचारतरंग है। जो अनियन्त्रित, क्रमहीन, अपरिचित और अपरिपक्व रचना है, यह नियमबद्ध एवं क्रमबद्ध रचना नहीं है"—A "loose sally of mind, an irregular indigested piece of literature not a regular and orderly performance of literature." जानसन की निबन्ध की परिभाषा से निबन्ध के एक गुण आवेग की सूचना मिलती है।

क्रैबल ने उपहासात्मक शब्दों में निबन्ध की यह परिभाषा दी है—"निबन्ध लेखन-कला का बहुत प्रिय साधन है। जिस लेखक में न प्रतिभा है और न ज्ञान-वृद्धि की जिज्ञासा। निबन्ध-लेखन उसको भी अनुकूल पड़ता है और उस पाठक को भी भाता हैं, जो विविधता तथा हल्की रचना में आनन्द लेता है।"

आवोर्म्स का कथन है कि "निबन्ध सामयिक विषय पर हल्का-फुल्का अनौपचारिक लेख है"—'Essays is light gossipy article on a topical subject.'

जी० वी० **प्रेस्टले** का मत है कि—निबन्ध मौलिक व्यक्तित्व की निश्छल अभिव्यक्ति है—'Essay is a genuine expression of the original person-ality.'

लेवो महोदय का मत है कि "निबन्ध का अर्थ एक ऐसा लघुकाय शिथिलबन्ध है, जिसमें दार्शनिक और सामाजिक किसी विषय पर वैयक्तिक अथवा ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार किया गया हो।"

हेनरी **मोर्ले** महोदय 'वैचारिक विषय का विश्लेषण' निबन्ध का प्रमुख गुण मानते हुए लिखते हैं कि—

"The History of essay writing begins with Montaigue and then passes to Bacon. Each used the word essay in its true sense, as an essay or analysis of some subject of thought."

इसी प्रकार के अन्य पाश्चात्य विद्वान् निबन्धों में विषय की गम्भीरता का

विश्लेषण स्वीकार करते हैं। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि जहाँ विचार ठूंस-ठूंस कर भरे जावें वही सफल निबन्ध होता है। इसका प्रतिपादन करते हुए लॉक्स लिखता है कि "ponderous volume close packed with philosophic matter." **हर्बर्ट रीड** कलाओं को कलाकार की मानसिक वैयक्तिक उत्पत्ति मानते हुए लिखता है कि—In a way all the arts are personal, in that they depend on the particular distinct and mental habit of the writer.

हडसन निबन्धों में वैयक्तिकता को महत्व देते हैं—"The true essay is essentially personal." इसके अतिरिक्त रचयिता के चिन्तन और चरित्र-चित्रण को भी वे महत्व देते हैं।

निबन्ध के विषय में पाश्चात्य दृष्टिकोण विचारणीय हैं, क्योंकि निबन्ध को 'मस्तिष्क का उन्मुक्त अनियमित तथा अपरिपक्व मौज स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि निबन्ध में सीमाबद्धता, विषय का विस्तार और गहराई भी अपेक्षित है। न ही निबन्ध को केवल वैयक्तिक विधा स्वीकार किया जा सकता है, यदि ऐसा होगा, तो वर्ण्य-विषय की गम्भीरता तिरोहित हो जाएगी। आज का निबन्ध साहित्य काफी विकसित हो चुका है, उसकी मान्यताओं में भी थोड़ा परिवर्तन आ चुका है, उपर्युक्त-पाश्चात्य विचारकों की मौलिक मान्यताओं को स्वीकार कर भी आज का निबंधकार वर्ण्य-विषय को विशेष महत्व देने लगा है।'

हिन्दी साहित्य के निबन्धकारों ने 'निबन्ध' की जो परिभाषाएँ दी हैं, वे भी विचारणीय हैं—डा० श्यामसुन्दर दास के अनुसार निबन्ध की परिभाषा निम्न है—"निबन्ध उस लेख को कहना चाहिए जिसमें किसी गहन विषय पर विस्तृत एवं पाण्डित्यपूर्ण विचार किया गया हो।"

निबन्ध विषय पर विचार करते हुए आचार्य **रामचन्द्र शुक्ल** ने लिखा है कि "आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो।"[१]

किन्तु वे व्यक्तिगत विशेषता को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि "व्यक्ति-विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों की शृंखला रखी ही न जाय या जान-बूझकर जगह-जगह से तोड़ दी जाए, भावों की विचित्रता दिखाने के लिए ऐसी अर्थ-योजना दी जाय उनकी अनुभूति से प्रकृत या लोक-सामान्य स्वरूप से कोई सम्बन्ध ही न रखे अथवा भाषा में सरकस वालों की सी कसरतें या हठयोगियों के से आसन कराये जायें जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा और कुछ न हो।"[२]

डा० नगेन्द्र के अनुसार "निबन्ध उस कलात्मक गद्य लेख को कहते हैं, जिनमें वैयक्तिक दृष्टिकोण तथा आत्मिक ढंग से विषय का प्रवाहपूर्ण वर्णन हो, और जो अपने

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५०५ सं० १९९९।
२. वही, पृ० ५०५।

संक्षिप्त आकार में स्वतः पूर्ण हो।"

श्री जयनाथ नलिन निबन्ध में अनुभूतियों के साथ सरलता और सजीवता को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार निबन्ध "किसी विषय पर स्वाधीन चिन्तन और निश्छल अनुभूतियों का सरस, सजीव और मर्यादित, गद्यात्मक प्रकाशन है।"[1]

बाबू गुलाब राय के शब्दों में "निबन्ध उस रचना को कहते हैं, जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता सौष्ठव, सजीवता तथा आवश्यक संगीत और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।"[2]

बाबू जी की परिभाषा से मिलती-जुलती परिभाषा डा० भगीरथ मिश्र की भी है—"निबन्ध वह गद्य रचना है जिसमें लेखक किसी भी विषय पर स्वच्छन्दतापूर्वक परन्तु एक विशेष सौष्ठव, संहिति, सजीवता और वैयक्तिकता के साथ अपने भावों, विचारों और अनुभवों को व्यक्त करता है।"[3]

प्राच्य एवं पाश्चात अधिकांश निबन्धकारों ने निबन्ध में वैयक्तिकता एवं स्वच्छदता को स्वीकार किया है किन्तु उसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि लेखक अमर्यादित हो अनावश्यक कल्पना की उड़ान करता रहे। निबन्ध के क्षेत्र में, उसकी परिभाषा आदि में वैविध्य है, सीमा रेखा का अभाव है। इस विषय में 'हिन्दी साहित्य कोष' में विवेचन करते हुए लिखा गया है कि—

"निबन्ध के लक्षणों में स्वच्छन्दता, सरलता तथा आडम्बरहीनता तथा घनिष्टता और आत्मीयता के साथ लेखक के वैयक्तिक आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण का भी उल्लेख किया जाता है। परन्तु ये लक्षण विभिन्न लेखकों की कृतियों में कितने विभिन्न रूपों में मिलते हैं इसे स्मरण रखना आवश्यक है। निबन्धकार की स्वच्छन्दता उच्छृंखलता नहीं है। उसकी अनियमितता में भी एक नियम है और उसकी अव्यवस्था में भी एक व्यवस्था है; जान पड़ता है कि वह कलात्मक प्रयास नहीं करता, परन्तु वास्तव में ऐसा भ्रम पैदा करने के लिए उसे स्वतः अपनी मौलिक पद्धति खोजनी पड़ती है, अतः निबन्ध एक ऐसी कलाकृति बन जाता है कि उसके नियम लेखक द्वारा ही आविष्कृत होते हैं। इसी प्रकार सहज सरल आडम्बरहीन आत्माभिव्यक्ति के लिए एवं परिपक्व और विचारशील गम्भीर व्यक्तित्व की अपेक्षा है। यद्यपि उसकी कृति में प्रायः रचना की परिपक्वता का अभाव-सा दिखाई देता है; परन्तु पाठक के साथ लेखक की निकटता और आत्मीयता वास्तविक होती है। इसके अभाव में सफल कथात्मक निबन्ध रचना सम्भव नहीं, लेकिन बिना किसी संकोच के लेखक अपने जीवन-अनुभव सुनाता है और उन्हें आत्मीयता के साथ उसमें भाग लेने के लिए आमन्त्रित करता है। उसकी यह घनिष्ठता जितनी सच्ची और सघन

१. हिन्दी निबन्धकार, पृ० १० ।
२. काव्य के रूप, पृ० २३६ ।
३. काव्यशास्त्र, पृ० ७७ ।

होगी उसका निबन्ध पाठकों पर उतना ही सीधा और तीव्र असर करेगा। इसी आत्मीयता के साथ निबन्ध-लेखक पाठकों को अपने पाण्डित्य से अभिभूत नहीं करना चाहता और अधिकाधिक ऋजु और उदार रूप में प्रकट होता है। निबन्ध की वैयक्तिक आत्मनिष्ठता भी इसी आत्मीय दृष्टिकोण का परिणाम कही जा सकती है। स्वभावतः इसके भी अनेक रूप और प्रकार हो सकते हैं। अनेक ऐसे निबन्ध-लेखक हैं, जिनकी रचनाएँ निर्वैयक्तिक कही गई हैं और वे विषय-वस्तु पर तटस्थ रूप में विचार प्रकट करते दिखाई देते हैं। परन्तु वास्तव में निबन्ध-लेखन की आत्मनिष्ठ वैयक्तिकता व्यक्ति सापेक्ष्य है। उसकी मात्रा में न्यूनता हो सकती है, उसका सर्वथा अभाव हो, ऐसा सम्भव नहीं है। निबन्ध-लेखक की विचार-प्रगल्भता, अनुभव शीलता और प्रौढ़ता का परिचय देती है, परन्तु वह एक विशेष मनोदशा (मूड) में लिखा जाता है। इसलिए उसमें परिपूर्णता स्वभावतः नहीं होती। परन्तु ऐसा नहीं कि वह लेखक के किसी विषय-सम्बन्धी विचारों का संक्षेप या सार होता है, प्रत्युत सीमित दृष्टिकोण से किसी विशेष मनोदशा के अन्तर्गत लेखक उसमें अपने विचार प्रकट करता है। परिणामस्वरूप निबन्ध का आकार साधारणतया अधिक लम्बा नहीं हो सकता।"[1]

उपर्युक्त विवेचन तथा विभिन्न विद्वानों की परिभाषाओं के आधार पर निबन्ध के निम्न गुण निर्धारित किये जा सकते हैं—

(१) एकसूत्रता निबन्धों का सर्वस्व है।

(२) निबन्धों के व्यक्तिगत दृष्टिकोण तथा व्यक्तित्व का प्राधान्य होता है।

(३) प्रतिपादन में आत्मीयता।

(४) प्रभावपूर्ण भावात्मकता।

(५) तथ्यात्मक दार्शनिक वैज्ञानिकता का अभाव।

(६) स्वतः पूर्णता एवं संक्षिप्तता।

(७) निबन्ध में शैली के परिष्कार एवं उसे प्रभावात्मक बनाने के लिए ध्वनि हास्य, व्यंग्य, लाक्षणिकता और कुछ अलंकारों का प्रयोग भी हो सकता है।

इसीलिए 'साहित्य विवेचन' के लेखक-द्वय निबन्ध की निम्न परिभाषा प्रस्तुत करते हैं—

"निबन्ध गद्यकाव्य की वह विधा है, जिसमें लेखक एक सीमित आकार में इस विविध रूप-जगत् के प्रति अपनी भावात्मक तथा विचारात्मक प्रतिक्रियाओं को प्रकट करता है।"

आचार्य शुक्ल की दृष्टि में श्रेष्ठ निबन्ध वही है जिसमें "विचार ठूँस-ठूँस कर भरे जावें" जहाँ "गूढ़ विचारधारा पाठकों को मानसिक श्रमसाध्य नूतन उपलब्धि के रूप में जान पड़े" तथा जिसमें "विचारों की वह गूढ़ गुम्फित परम्परा····जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार-पद्धति पर दौड़ पड़े।"[2]

१ हिन्दी साहित्य कोश०, पृ० ४४६।
२. हि० सा० इ०, पृ० ५०१।

शैली की दृष्टि से विचार करने पर हम डा० श्यामसुन्दरदास के शब्दों में कह सकते हैं कि एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव, सजीवता, प्रवाहपूर्णता एवं आवश्यक संगति निबन्ध शैली के अपने गुण हैं। "तथ्य यह है कि निबन्ध को एक विशिष्ट साहित्यिक व्यक्तित्व इसी शैली द्वारा प्राप्त होता है।"

निबन्ध के प्रकार—निबन्धों के चार भेद हो सकते हैं। अधिकांश विद्वान् चार प्रकार के निबन्ध मानते हैं—वर्णनात्मक, कथात्मक या विवरणात्मक, भावात्मक और विचारात्मक। डॉ० भगीरथ मिश्र के अनुसार "प्रथम दो कल्पना-प्रधान, तीसरा भाव-प्रधान और चौथा विचार-प्रधान होता है।"[1]

वर्णनात्मक निबन्ध—इस प्रकार के निबन्धों में "किसी घटना या पदार्थ का वर्णन रहता है," ये विवरण-प्रधान, चित्रात्मक और गद्यदृश्यों से परिपूर्ण होते हैं तथा "ये निबन्ध भावप्रबलता से प्रेरित कल्पना के विप्लव और विक्षोभ को अंकित करने वाले रूप-विधान का भाव लिये होते हैं।"

विचारात्मत निबन्ध—इन निबन्धों में मनोविज्ञान, दर्शन आदि की विभिन्न मान्यताओं की विवेचना एवं साहित्यिक विधाओं की आलोचना होती है। इन्हें विवेचनात्मक निबन्ध भी कहा जाता है।

भावात्मक निबन्ध—भावात्मक निबन्धों में भावुकता एवं मनोवेगों का प्राधान्य होता है। भले ही वह रागात्मक हो या व्यंग्यात्मक। इस प्रकार के निबन्धों पर विचार करते हुए डा० भगीरथ मिश्र ने लिखा है कि "भावात्मक निबन्धों का उद्देश्य भावोद्रेक या रस संचार है। निबन्ध का यह सबसे प्रभावशाली रूप है, प्रेम, करुणा, हास्य, वीरता आदि के भावों का चित्रण करने वाले निबन्ध बड़े ही प्रभावपूर्ण होते हैं। भावात्मक निबन्धों की तीन शैलियाँ देखी जाती हैं—धारा शैली, विक्षेप या तरंग शैली और प्रलाप शैली। **धारा शैली** में मन्थर गति से संयत शब्दावली में भाव का धाराप्रवाह प्रकाशन होता है। **विक्षेप** या तरंग शैली में भावों का प्रकाशन कहीं वेग से होता है कहीं मन्थर गति से। भावों का प्रकाशन तरंग, मौज या मस्ती में होता है। **प्रलाप** शैली अति भावावेश की उच्छृंखल अवस्था में होता है, इसमें लेखक भावों के प्रकाशन में एक व्याकुलता और छटपटाहट का अनुभव करता है और भावों की अनर्गल अभिव्यक्ति भी पुनरुक्ति के कारण इस शैली में होती है।"

विवरणात्मक निबन्ध—इन निबन्धों में कथा या समय के आधार पर गति-शील वर्णन रहता है। वर्णन का सम्बन्ध देश से है और विवरण का सम्बन्ध काल से। अतः "विवरणात्मक निबन्धों में वर्ण्य-विषय स्थिर रूप से नहीं वरन् गतिशील रूप में रहता है, वह प्रगति, समय और स्थान दोनों ही में हो सकती है। समय की प्रगति कालक्रम में और स्थान की प्रगति यात्रा आदि के रूप में देखी जाती है।" इन निबन्धों को डा० भगीरथ मिश्र कथात्मक निबन्ध भी कहते हैं।

निबन्धों की शैली—निबन्धों की अनेक शैलियाँ हो सकती हैं, किन्तु विचारात्मक निबन्धों की शैली (१) व्यासात्मक और (२) समासात्मक होती है। भावप्रधान निबन्धों की शैली (३) धारा शैली, (४) तरंग शैली तथा (५) विक्षेप या प्रलाप शैली होती है।

भारत में संस्कृत-साहित्य में निबन्धों के उदारहण मिलते हैं, जहाँ दार्शनिक समस्याओं का विवेचन होता था किन्तु हिन्दी में प्रचलित निबन्ध पाश्चात्य निबन्ध के तत्वों से प्रभावित हैं। हिन्दी-साहित्य का निबन्ध-साहित्य गौरवशाली लेखकों से गौरवान्वित है।

प्रश्न ८२—कहानी की परिभाषा एवं स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहानी के तत्वों का विश्लेषण कीजिए।

आज की लोकप्रिय साहित्यिक विधाओं में कहानी को मूर्धन्य स्थान प्राप्त है। "साहित्य की समस्त विधाओं में यही एक ऐसी विधा है जो पाठक का चरम अनुरंजन करने के साथ-साथ एक चिरन्तन रस का उद्घाटन करने में भी प्रयत्नवान रहती है। मेरा विचार तो यह है कि लोक-कल्याण भावना और लोक-रंजन तत्व का जितना सुन्दर समन्वय इस विधा में होता है उतना साहित्य की किसी अन्य विधा में नहीं।"

कहानी की परिभाषा आज तक सर्वसम्मत नहीं हो सकी है क्योंकि अभी यह विकासशील विधा है, कहानी की प्रगति क्षण-क्षण में निरन्तर नवीनता प्राप्त कर रही है, अतः उसका स्वरूप **'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति'** वाला है।

इसीलिए आलोचक उसके स्वरूप को रूपायित करने में अभी सफल नहीं हो सके हैं—अतः यही कहना समुचित प्रतीत होता है कि—

लिखन बैठी जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर॥

फिर भी विद्वानों ने प्रयास किया है, उस प्रयास की झलक पाश्चात्य और प्राच्य विद्वानों की दृष्टि में दर्शनीय है—

(१) **हडसन**—"लघुकथा में केवल एक ही मूल भाव रहता है।"

(२) **वेल्स**—"कहानी को आकार में अधिक से अधिक इतना बड़ा होना चाहिए कि वह सरलता से बीस मिनट में पढ़ी जा सके।"

(३) **एडगर एलर पो**—"कहानी वह गद्यकथा है जो आधे घण्टे से लेकर दो घंटे में समाप्त हो जाती है।"

(४) **एलेरी**—सक्रियता पर जोर देते हुए लिखते हैं कि "कहानी घुड़दौड़ के समान है जिसमें प्रारम्भ और अन्त का विशेष महत्व होता है—A short story is just like a horse-race. It is start and finish which count most.

(५) **सर हूफ वाल्पोल**—"कहानी कहानी होनी चाहिए, अर्थात उसमें घटित होने वाली वस्तुओं का ऐसा लेखा-जोखा होना चाहिए जो घटना और आकस्मिकता से परिपूर्ण हो; उसमें क्षिप्र गति का ऐसा अप्रत्याशित विकास हो जो कुतूहल के द्वारा सार

और सन्तोष को पूर्ण अवस्था तक ले जाये।"

(६) **सर एलब्राइट**—"आधुनिक कहानी का लक्ष्य केवल वास्तविक अथवा तर्कपूर्ण क्रम के द्वारा जीवन की यथाघटित घटनाओं की पुनरावृत्ति नहीं है, वरन् जीवन के एक छोटे अंश का स्पष्ट और कलापूर्ण चित्र चित्रित करना है, जिससे (लेखक) की पूर्व निर्धारित घटनाएँ हृदय स्पर्शी बन सकें और घटनाएँ पारस्परिक सम्बन्ध और वातावरण की एकता को प्रकट करें।"

(७) **एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका**—"अन्त में स्वतन्त्र साहित्य विधा के रूप में कहानी का वर्णन करते हुए इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है कि वह संक्षिप्त, अत्यधिक संगठित तथा पूर्ण कथा रूप है।"

भारतीय विद्वानों द्वारा प्रदत्त परिभाषाएं निम्न हैं—

(१) **प्रेमचन्द**—"कहानी (गल्प) एक रचना है, जिसमें जीवन के किसी एक अंग या किसी एक मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य रहता है। उसके चरित्र, उसकी शैली उसका कथा-विन्यास सब उसी भाव को पुष्ट करते हैं।"

(२) **प्रसाद**—"सौन्दर्य की एक झलक का चित्रण करना और उसके द्वारा रस की सृष्टि करना ही कहानी का उद्देश्य है।"

(३) **रायकृष्ण दास**—"कहानी मनोरंजन के साथ-साथ किसी न किसी सत्य का उद्घाटन करती है तथा आख्यायिका में सौन्दर्य की एक झलक का रस है।

(४) **श्यामसुन्दरदास**—"आख्यायिका एक निश्चित लक्ष्य या प्रभाव को लेकर नाटकीय आख्यान है।"

(५) **जैनेन्द्रकुमार**—"कहानी तो एक भूख है जो निरन्तर समाधान पाने की कोशिश में रहती है। हमारे अपने सवाल होते हैं, शंकाएँ होती हैं, चिन्ताएँ होती है और हम उनका उत्तर, उनका समाधान खोजने का, पाने का सतत प्रयत्न करते रहते हैं। हमारे प्रयोग होते रहते हैं। उदाहरणों और मिसालों की खोज होती रहती है। कहानी उस खोज के प्रयत्न का एक उदाहरण है।

(६) **अज्ञेय**—"कहानी जीवन की प्रतिच्छाया है और जीवन स्वयं एक अधूरी कहानी, एक शिक्षा है, जो उम्र भर मिलती है, और समाप्त नहीं होती।"

(७) **चन्द्रगुप्त विद्यालंकार**—"घटनात्मक इकहरे चित्रण का नाम कहानी है। साहित्य के सभी अङ्गों के समान रस उसका आवश्यक गुण है।"

(८) **गुलाबराय**—"छोटी कहानी एक स्वतः पूर्ण रचना है, जिसमें एक तथ्य या प्रभाव को अग्रसर करने वाली व्यक्ति-केन्द्रित घटना या घटनाओं के आवश्यक उत्थान, पतन और मोड़ के साथ पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने वाला वर्णन हो।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर आधुनिक कहानियों की विशेषताएँ निम्न हैं—

"आकार लाघव, पात्रों की न्यूनता, कार्य-स्थान-काल की एकता, जीवन की घटना अथवा स्थिति विशेष का मार्मिक चित्रण, कहानी पर यथार्थ का आवरण, घटना अथवा

परिस्थिति की सरलता, एक भावना एक घटना का प्रभावपूर्ण चित्रण, संकेतात्मक चरित्र-चित्रण, उद्देश्य की स्पष्टता, व्यक्तित्व प्रधान शैली नाटकीय कथनोपकथन, परोक्ष रूप से मानवीय सन्देश, मानव-मन का मनोवैज्ञानिक चित्रण, औत्सुक्य, मानव के शाश्वत संघर्ष की व्यंजना कलात्मक शैली आदि।"[1]

कहानी की इन विशेषताओं के आधार पर निम्न तत्व निर्धारित किये गये हैं—

(१) कथावस्तु, (२) पात्र तथा चरित्र चित्रण, (३) कथोपकथन या संवाद, (४) वातावरण अथवा देशकाल, (५) भाषा शैली, (६) उद्देश्य।

कथावस्तु—कथावस्तु कहानी का महत्त्वपूर्ण तत्व है किसी समय बिना कथावस्तु के कहानी की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी किन्तु आज बिना कथावस्तु के भी कहानियों का सृजन हो रहा है। डा० गुलाबराय का कथन है कि "बिल्कुल आधुनिक कहानी में घटना चक्र का महत्व घटता जा रहा है। घटनाएँ भाव और विचारों को आश्रय देने के लिए अर्गला (अरगनी) का सा काम देती हैं और कहीं-कहीं वे एक बिन्दु की खूँटीमात्र रह जाती हैं।" फिर भी कथावस्तु कहानी का महत्वपूर्ण अङ्ग है। इस अङ्ग का चयन मानव जीवन के किसी भी क्षेत्र से हो सकता है। विशेषतः इतिहास, पुराण, पत्र-पत्रिका, दैनिक जीवन, साहित्य और कल्पना से कथावस्तु का ग्रहण होता है। कथावस्तु की सफलता के लिए निम्न विशेषताओं का होना आवश्यक है (१) संवेदना, (२) संघर्ष, (३) कौतुहल, (४) औत्सुक्य और करुणा, (५) कथानक का किसी सत्य के उद्घाटन में समर्थ होना, (६) कथानक का खण्डों में विभाजन और संक्षेप। इन विशेषताओं से सम्पन्न कथानक सुन्दर प्रभावशाली कहानी के सृजन में योगदान दे सकता है। कथावस्तु का विभाजन आरम्भ, मध्य और अन्त के रूप में होता है।

आरम्भ—कहानी का आरम्भ कई प्रकार से किया जा सकता है; उदाहरण के लिए—१. परिचयात्मक भूमिका, २. कोरा परिचयात्मक आरम्भ, ३. नवीन ढंग का आकस्मिक आरम्भ, ४. प्रकृति चित्रण, ५. नाटकीय कथोपकथन, (६) इतिवृत्तात्मक, ७. कौतूहलोत्पादक आरम्भ। किन्तु कहानी का आरम्भ कलात्मक होना चाहिए, नाटकीय होना चाहिए तथा उसे उत्सुकता जाग्रत करने में समर्थ होना चाहिए। यदि आरम्भ सुन्दर और रसात्मक हो तो कहना ही क्या?

मध्य—कहानी के मध्य भाग का सम्बन्ध किसी समस्या या संघर्ष से अवश्य होना चाहिए। इस संघर्ष या समस्या का प्रस्तुतीकरण कलात्मक रूप में होना चाहिए। यह भी स्मरण रखने योग्य है कि कहानी में संवेदना धीरे-धीरे स्पष्ट हो तथा कहानी के प्रति पाठक का औत्सुक्य प्रति पल बढ़ता चले। कहानी की वस्तु का विकास प्रवाहपूर्ण ढंग से हो और उसकी रोचकता कहीं भी क्षीण न हो। कहानी का अधिकांश कथ्य इस भाग से स्पष्ट हो जाना चाहिए।

१. लेखक का पालिसाहित्य का इतिहास, पृ० ८०।

अन्त—कहानी के विकास की यह अन्तिम अवस्था है। कहानी का अन्त प्रारम्भ के अनुरूप सन्तुलित होना चाहिए। इसकी निम्न विशेषताएं होनी चाहिए—(१) कथ्य की पूर्णता का द्योतक, लघु प्रसारगामी, सरल तथा आकस्मिक। **डा० जगन्नाथ शर्मा** ने लिखा है कि "जितना भी विवरण कहानी में प्रसरित रहता है उसका सारा सौन्दर्य पुंजीभूत होकर अन्त में आकर एक विशेष प्रकार की संवेदनशीलता को स्फुरित करता है। सिद्धान्त को दृष्टि से इसी को प्रभावान्विति और समष्टि प्रभाव माना जाता है।" कहानी का चरम सौन्दर्य उसके अन्त में निहित रहता है, अतः यह कहानी का महत्वपूर्ण तत्व है। जैसा कि एक आलोचक ने लिखा है कि **"कहानी का डङ्क उसकी पूँछ में चमकता है जिस प्रकार बिच्छू का डङ्क उसकी पूँछ में होता है। ठीक उसी प्रकार कहानी का सारा रहस्य, उसका समस्त प्रभाव उसके अन्त में निहित रहता है।"**

शीर्षक—कहानी का शीर्षक औत्सुक्योत्पादक, लघु और नवीन होना चाहिए। **डा० जगन्नाथ शर्मा** ने लिखा है कि "शीर्षक में प्रतिपाद्य बोधकता अनिवार्य है।" इसी प्रकार चार्ल्स बैरेट ने लिखा है कि "शीर्षक विषयानुकूल, निश्चयबोधक, आकर्षक नवीन एवं लघु हो"—A good title is apt, specific, attractive and new and short. कहानी शीर्षक निश्चित रूप से अच्छा होना चाहिए। "शीर्षक वही अच्छा होता है जो कहानी की प्रकृति के अनुरूप हो।" Keep the title in the proper proportion to the nature and interest of the story. (मेकानोचो)

कहानी के शीर्षक अनेक प्रकार के हो सकते है—

(१) भावात्मक उदाहरणार्थ व्रतभंग, अवलम्व
(२) तथ्योद्बोधक — एक गौ, डाकू
(३) ऐतिहासिक — स्वर्ग के खण्डहर
(४) नामावाची — काबुलीवाला
(५) सम्बन्धवाची — जीजी, माँ।

इसी प्रकार कुछ शीर्षक—

अ. **एक शब्द वाले** (रोज, शरणागत);

ब. **दो शब्द वाले** (एथेन्स का सत्यार्थी, शतरंज के खिलाड़ी);

स. **वाक्यात्मक** (दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी) हैं।

किन्तु **शीर्षक** का कथावस्तु से सम्बन्ध होना चाहिए, बनावट तथा अस्वाभाविकता उसमें नहीं होनी चाहिए, क्योंकि शीर्षक की सफलता पर ही कहानी की सफलता निर्भर रहती है।

पात्र और चरित्र-चित्रण—आधुनिक कहानियों में चरित्र-चित्रण को विशेष महत्व प्राप्य है। "चरित्र-चित्रण का सम्बन्ध पात्रों से होता है। कहानी के पात्रों की संख्या न्यूनातिन्यून होना वांछनीय है। कहानीकार अपने पात्रों के चरित्र का विकास क्रमबद्ध नहीं करता। वह पूर्वनिर्मित चरित्र के ऐसे अंश पर प्रकाश डालता है जिसमें

व्यक्ति का व्यक्तित्व झलक उठे। कहानीकार यदि किसी पात्र के चरित्र में परिवर्तन करता है तो एक साथ करता है, क्रमशः नहीं। कहानी के पात्र सजीव और व्यक्तित्व-पूर्ण होने चाहिये, कहानी के पात्र कल्पना-लोक में जन्म लेकर भी अपने व्यक्तित्व के अनुकूल कार्य-कलाप करते हैं।"

चरित्र-चित्रण में सबल और निर्बल दोनों ही पक्षों के चरित्र होने चाहिए। तभी उसमें स्वाभाविकता सुरक्षित रह सकती है। प्रायः कहानी में चरित्र दो प्रकार के होते हैं—वर्गगत और व्यक्तिगत। इनमें भी कोई देवपात्र होता है तो कोई असुर और कोई मानव।

चरित्र-चित्रण करने की दो शैलियाँ हैं—(१) प्रत्यक्ष या विश्लेषणात्मक; (२) परोक्ष या अभिनयात्मक। चरित्र-चित्रण करने के निम्न साधन हैं—१. वर्णन २. संकेत, ३. कथोपकथन, ४. घटना, ५. विश्लेषण और ६. अन्तर्द्वन्द्व आदि।

कथोपकथन या संवाद—यह तत्व कहानी का प्राण है। संवाद कहानी में चरित्र का चित्रण, वर्णन में रोचकता तथा प्रवाह और कथावस्तु को विकास की ओर ले जाने का कार्य करते हैं। संवाद कहानी को अधिकाधिक संवेद्य बनाते हैं। वे एक विशेष प्रकार के वातावरण का निर्माण करने में समर्थ होते हैं। संवाद कहानी में स्वाभाविकता भी लाते हैं।

सफल संवादों के निम्न गुण हो सकते हैं—

(१) गतिशील, सरल, लाक्षणिक, आकर्षक शब्दावली में लिखित होने चाहिए। (२) वे लघु मार्मिक, स्वाभाविक और मौलिक भी होने चाहिए। (३) संवाद पात्र और परिस्थिति के अनुकूल तथा मनोवैज्ञानिक होने चाहिए। (४) हास्य, व्यङ्ग, मुहावरे और लोकोक्तियों से सम्पन्न संवाद प्रभावशाली होते हैं। (५) संवाद जिज्ञासोत्पादक होने चाहिए। (६) अपने में पूर्ण तथा उद्देश्य या काव्य को प्रकट करने में सफल होने चाहिए। (७) संवादों की प्रकृति ऐसी होनी चाहिए कि वे सक्रियता और सजीवता के साथ-साथ कहानी में एक अनिर्वचनीय सौन्दर्य-विधान करने की क्षमता रखने वाले हों। (८) कहानी के संवादों में स्वगत-कथन तथा सैद्धांतिक विवेचनों के लिए कोई स्थान नहीं है।

अतः अनेक कहानियाँ बिना संवादों के भी लिखी जा रही हैं, जैसे जोशी की 'प्लेनचेट' कहानी। आज भी साहित्य में नये-नये प्रयोग हो रहे हैं।

वातावरण—देशकाल—"कहानी में सजीवता और स्वाभाविकता लाने वाले तत्वों में वातावरण का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। वातावरण से विरहित कहानी ठीक उसी तरह प्रभावहीन लगेगी, जिस प्रकार दुष्यन्त और शकुन्तला का अभिनय करने वाले पात्र का नग्न रंगमंच पर दैनिक वस्त्रों में अभिनय करना लेशमात्र भी प्रभावोत्पादक नहीं होता। वातावरण वास्तव में दर्शक के मस्तिष्क पर पड़ने वाला वह प्रभाव है जो देशकाल और व्यक्ति की पारस्परिक अनुरूपता से उत्पन्न होता है।" इस तत्व के अन्तर्गत कहानी में देशकाल का चित्रण, वेशभूषा, साज-सज्जा, रीति-रिवाज, रहन-

सहन, आचार-विचार, प्रकृति-वर्णन, नगर-वर्णन, ऋतु-वर्णन, काल-वर्णन आदि का समावेश होता है।

वातावरण कहानी में (१) हमारी इन्द्रियों को प्रभावित कर उद्दीप्त करता है; (२) वह हमारी सौंदर्यानुभूति की वृत्ति को सन्तुष्ट करता है; (३) वह हमारी सहानुभूति को जाग्रत करता है तथा (४) कहानी में आकर्षण उत्पन्न करता है। उदाहरण के लिए प्रसाद की 'पुरस्कार' कहानी के प्रारम्भ का यह अंश लिया जा सकता है—

"आर्द्रा नक्षत्र आकाश में काले-काले बादलों की घुमड़ जिसमें दुन्दुभी का गम्भीर घोष, प्राची के एक निरभ्र कोने में स्वर्ग झाँकने लगा। नगर तोरण से जयघोष हुआ, भीड़ में गजराज का चमरधारी शुण्ड उन्नत दिखाई दिया और उत्साह का समुद्र हिलोरें लेने लगा।"

वातावरण एवं देशकाल के अन्तर्गत संकलन-त्रय स्थान, समय और कार्य की एकता का समावेश भी होता है। यूनानी एवं फ्रेंच कहानीकारों ने इनको विशेष महत्व प्रदान किया है किन्तु आज की कहानी में इनका प्रयोग अनिवार्य नहीं माना जाता, किन्तु कार्य की एकता का सिद्धांत अत्यावश्यक है।

भाषा-शैली—कहानी की भाषा वातावरण, पात्र और परिस्थिति के अनुकूल होनी चाहिए। स्वच्छ, सरल, व्यावहारिक, स्पष्ट, शुद्ध, गतिशील, सरस तथा गम्भीर और भावपूर्ण स्थलों पर परिवर्तनशील भाषा कहानी के सौंदर्य की वृद्धि करती है। शैली आकर्षक, हास्य-व्यङ्ग और विनोद से युक्त होनी चाहिए। लोकोक्ति एवं मुहावरों से युक्त भाषा-शैली सुन्दर मानी जाती है।

आज की कहानी में निम्न शैलियाँ प्रचलित हैं—

(१) आत्मचरित शैली, इसमें पात्र स्वयं बोलता है।

(२) ऐतिहासिक या अन्य पुरुषवाचक शैली, यह वर्णनात्मक शैली है।

(३) संवादात्मक—दो पात्रों के वार्तालाप के द्वारा कहानी लिखी जाती है।

(४) पत्रात्मक—दो या कई पत्रों के द्वारा लिखी जाती है। इसमें आदि और मध्य पत्र द्वारा तथा अन्त में कहानीकार उपसंहार कर देता है।

(५) **डायरी शैली में**—डायरी की भाँति यह कहानी लिखी जाती है। जैसे, भगवती प्रसाद वाजपेयी की 'सूखी लकड़ी।'

(६) मिश्र शैली—इस रूप में कई शैलियाँ मिलकर कहानी को पूर्ण करती हैं।

आज की कहानी प्राचीन कहानियों की भाँति एक राजा और रानी की कहानी नहीं है। वह साहित्य की महत्वपूर्ण विधा तथा नाटकीय आख्यान है। अतः उसमें नाटक की-सी सजीवता और कलात्मकता अपेक्षित है जो कि शैली की श्रेष्ठता और सफलता पर ही निर्भर है।

उद्देश्य—साहित्य की प्रत्येक विधा किसी न किसी उद्देश्य या लक्ष्य को लेकर लिखी जाती है। अतः कहानी भी सोद्देश्य ही लिखी जाती है। कहानी का ध्येय केवल मनोरंजन करना ही नहीं है, उसका ध्येय जीवन के तथ्यों का विश्लेषण तथा मानव-

मन का निकट से अध्ययन भी है। 'कहानी का उद्देश्य' अधिकांशतः व्यंजित रहता है। कभी-कभी यह उद्देश्य स्पष्ट भी हो जाता है। 'उसने कहा था' में प्रेम और आदर्श की प्रतिष्ठा की गई है। अलबम (सुदर्शन) में याचक के स्वाभिमान की रक्षा उसका उद्देश्य है। कभी-कभी कहानी का उद्देश्य गूढ़ भी रहता है। कभी-कभी कहानी का उद्देश्य उसके अन्तिम वाक्य में निहित रहता है। अज्ञेय की कहानी 'शत्रु' का अन्तिम वाक्य —"जीवन की सबसे बड़ी कठिनाई यही है कि हम निरन्तर आसानी की ओर आकृष्ट होते रहते हैं।" कहानी के उद्देश्य को स्पष्ट करता है।

कुछ कहानीकार कहानी में उद्देश्य तत्व को विशेष महत्व प्रदान करते हैं और कुछ इसको इतना महत्व नहीं देते। वास्तव में कहानी हमारी समस्याओं को हल नहीं करती अपितु वह मात्र मार्ग-दर्शन करती है।

प्रश्न ८३—उपन्यास शब्द का प्रयोग और अर्थ स्पष्ट करते हुए उसकी परिभाषा लिखिए।

'उपन्यास' शब्द की निष्पति उप+नि+आस्+अच् धातु तथा प्रत्यय आदि के योग से हुई है। इस शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ **'समीप में रखना'** है। अमरकोष में इस शब्द की व्याख्या इस प्रकार है—**"उपन्यासः प्रसादनम्"**—इसका अर्थ उस रचना से है जो मानव आत्मा को प्रसादित-आनन्दित करे। नाट्य-शास्त्र में उपन्यास शब्द का प्रयोग 'प्रतिमुखसन्धि' के भेद के रूप में हुआ है—**"उपपत्तिकृतोह्यर्थ उपन्यासः प्रसादनम्"** इसका अर्थ है कि किसी अर्थ को समुचित रूप में प्रस्तुत करना उपन्यास कहलाता है। दशरूपककार धनंजय इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार करते हैं **"उपन्यासस्तु सोपायम्"** अर्थात् युक्तिपूर्वक बीज का उद्भेद करने वाली प्रतिमुख सन्धि का एक भेद 'उपन्यास' है अमरकोषकार उपन्यास को वाङ्मुख कहते हैं—**"विवाये व्यवहार स्यात् उपन्यासस्तु वाङ्मुखम्"**। मनुस्मृतिकार के अनुसार उपन्यास का अर्थ विचार-है—**"विश्व जंन्वमिमं पुण्यमुपन्यासं संनिबोधत्"**। कालिदास इस शब्द का प्रयोग अभिव्यक्ति के अर्थ में करते हैं—**"आत्मनः उपन्यासपूर्वकम्"**। इसी प्रकार संस्कृत के 'मालतीमाधव' नामक नाटक तथा ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में 'कथन' के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग मिलता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साहित्यक विधा के रूप में प्रयोग कर्ता का इस परम्परा से परिचय रहा होगा। क्योंकि आज का उपन्यास मनोरंजन का साधन है, जीवन को युक्तियुक्त रूप में पाठकों के सम्मुख रखता है। इसका यह नाम पूर्णतः सार्थक है।

अंग्रेजी में उपन्यास शब्द के लिए नॉविल शब्द का प्रयोग मिलता है यह नॉविल शब्द इटेलियन के 'नॉवेला' से निकला है। अंग्रेजी में इस शब्द का प्रयोग सत्रहवीं शताब्दी से होने लगता है।

नॉविल शब्द की व्याख्या करते हुए शिलपे ने लिखा है कि "नॉविल शब्द से एक नवीन प्रकार की प्रकथन-प्रधान रचना का बोध होता है जिसमें आधुनिकता और

सत्य दोनों की प्रतिष्ठा पाई जाती है।"

भारत की प्रान्तीय भाषाओं में भी इस शब्द का प्रयोग मिलता है। तमिल भाषा में उपन्यास शब्द का अर्थ व्याख्यान या भाषण है। मराठी में नॉवेल के अर्थ में ही 'नवलकथा' शब्द का प्रयोग होता है। डा० सुकुमार सेन के अनुसार 'उपन्यास' शब्द का वर्तमान अर्थ में सर्वप्रथम प्रयोग १६ वीं शताब्दी के मध्य भूदेव मुकर्जी ने किया है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "उपन्यास वस्तुतः नवल अर्थात् नया और ताजा साहित्यांग है परन्तु फिर भी जिस मेधावी ने कथा, आख्यायिका आदि शब्दों को छोड़कर अंग्रेजी नॉविल का प्रतिशब्द उपन्यास माना था, उसकी सूझ की प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जा सकता, जहाँ उसने इस नये शब्द के प्रयोग से यह सूचित किया है कि यह साहित्यांश पुरानी कथाओं और आख्यायिकाओं से भिन्न जाति का है, वहाँ इसके शब्दार्थ [उप—निकट, समीप+न्यास=रखना] ने यह भी सूचित किया है कि इस विशेष साहित्यांश द्वारा ग्रन्थकार पाठक के निकट अपने मन की कोई विशेष बात, कोई अभिनव मत रखना चाहता है। इसलिए यद्यपि यह शब्द पुरानी परम्परा के प्रयोग के अनुकूल नहीं पड़ता, तथापि उसका प्रयोग उपन्यास की विशिष्ट प्रकृति के साथ बिल्कुल बेमेल नहीं कहा जा सकता।"

परिभाषा—उपन्यास की परिभाषा देना यद्यपि सम्भव नहीं है तथापि उसका संकेत तो दिया ही जा सकता है। परिभाषाकार प्रायः उपन्यास की विशेषता और गुण को दृष्टि में रखकर ही उपन्यास की परिभाषा देते हैं। डा० श्यामसुन्दर दास के अनुसार उपन्यास—"**मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है।**" प्रेमचन्द के अनुसार—"**मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्य को खोलना ही उपन्यास का मूलतत्व है।**" बाबू गुलाबराय का मत है कि "उपन्यास कार्य-कारण शृङ्खला में बँधा हुआ वह गद्य कथानक है जिसमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार तथा पेचीदगी के साथ वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों से सम्बन्धित वास्तविक काल्पनिक घटनाओं द्वारा मानव-जीवन के सत्य का रसात्मक रूप से उद्घाटन किया जाता है।" डा० देवराज उपाध्याय के अनुसार "उपन्यास गद्य साहित्य का अन्यतम रूप है जिसका आधार कथा है—चाहे वह सीधे मनुष्यों की हो या मनुष्येतर जीव और निर्जीव प्रकृति की, चाहे वह सच्ची हो या कल्पित।" डा० भगीरथ मिश्र का मत है कि "युग की गतिशील पृष्ठभूमि पर सहज शैली में स्वभाविक जीवन की एक पूर्ण व्यापक झाँकी प्रस्तुत करने वाला गद्य-काव्य उपन्यास कहलाता है।" अज्ञेय के अनुसार—"उपन्यास व्यक्ति को अपनी परिस्थितियों के साथ सम्बन्ध की अभिव्यक्ति के उत्तरोत्तर विकास का प्रतिनिधित्वकरण है।" प्रसिद्ध अंग्रेजी साहित्यकार एच० जी० वैल्स उपन्यास को एक रिक्त मस्तिष्क और रिक्त समय के लिए उपयोगी मनोरंजन की वस्तु मानते हैं—Harmless opiate for vacant mind and vacant hours. किन्तु 'न्यू इंगलिश डिक्शनरी' के अनुसार—"उपन्यास वह बड़े आकार का गद्यमय

आख्यान या वृत्तान्त है, जिसके कथानक में ऐसे पात्र और कार्य चित्रित होते हैं, जो वास्तविक जीवन के प्रतिनिधि होने का दावा करते हैं।" निश्चय ही उपन्यास जीवन के सत्य का उद्घाटन कर मस्तिष्क का मनोरंजन करता हुआ उसे उदात्त बनाता है। **श्री नलिन विलोचन शर्मा ने** लिखा है कि 'हिन्दी उपन्यास का इतिहास, किसी भी देश के उपन्यास के इतिहास की तरह, हिन्दी भाषा-क्षेत्र की सभ्यता और संस्कृति के नवीन रूप के विकास का साहित्यिक प्रतिफलन है ।"

उपन्यास आज के जीवन की सर्वाधिक लोकप्रिय विधा है। इसमें जीवन का व्यापक, उदात्त, मार्मिक, मनोरंजनपूर्ण किन्तु यथार्थ चित्रण होता है।

प्रश्न ८४—उपन्यास के प्रमुख तत्वों का विवेचन कीजिए।

पाश्चात्य विद्वान् श्री हडसन ने उपन्यास-कला का तात्विक विवेचन करते हुए और उपन्यास की रचना के आधारभूत मूल तत्वों का निरूपण करते हुए कथावस्तु चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, देशकाल, भाषा-शैली और जीवन दर्शन या उद्देश्य को उपन्यास के मूल-तत्व माना है। उन्हीं छः तत्वों को पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों ने अब उपन्यास के मूल तत्वों के रूप में ग्रहण कर लिया है।

विद्वान उपन्यास के छ: तत्व स्वीकार करते हैं—(१) कथावस्तु, (२) चरित्र-चित्रण, (३) कथोपकथन, (४) भाषा-शैली, (५) देशकाल और (६) उद्देश्य। उपर्युक्त तत्व वही हैं जो कहानी और नाटक के हैं।

कथावस्तु—कथावस्तु उपन्यास का मूल आधार है बिना कथा के कोई उपन्यास चल ही नहीं सकता; क्योंकि उपन्यास मानव जीवन को लेकर चलता है और मानव के जीवन में घटित घटनाएँ तथा उनके संदर्भ में मनुष्य के क्रियाकलाप और मनोभाव ही कथा का स्वरूप-निर्माण करते हैं। यही कथा उपन्यास का मूल आधार बनती है।

कथावस्तु के **युग एवं काल, विषय एवं समस्या तथा कथा-संविधान की दृष्टि से** सामान्यतः तीन वर्ग किये जा सकते हैं।

युग एवं काल की दृष्टि से उपन्यास की कथावस्तु के तीन भेद किए जा सकते हैं—भूतकाल, वर्तमान तथा भविष्य की कथावस्तु। भूतकाल की कथावस्तु पर आधारित दो तरह के उपन्यास होते हैं—ऐतिहासिक एवं पौराणिक। इतिहास को आधार बनाकर हिन्दी में अनेक उपन्यास लिखे गए हैं। भविष्य की कल्पना करके भी कुछ उपन्यास हिन्दी में लिखे गए हैं जैसे जैनेन्द्र का उपन्यास 'जय वर्धन'। वर्तमान काल को आधार बनाकर तो आमतौर पर उपन्यास लिखे ही जाते हैं।

विषय एवं समस्या की दृष्टि से उपन्यास अनेक प्रकार के होते हैं; क्योंकि मानव-जीवन से सम्बन्धित विषय और उसके जीवन की समस्याएँ अनन्त हैं, फिर भी सामान्यतः ऐतिहासिक एवं सामाजिक दो विषयों से हम उन्हें विभाजित कर सकते हैं। सामाजिक वर्ग के उपन्यास आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, निम्न वर्ग से सम्बन्ध रखने वाले, मध्यवर्ग या उच्चवर्ग के जीवन पर आधारित आदि कई प्रकार के होते हैं। उन

सब में अलग-अलग जीवन की अलग-अलग समस्याएँ ली जाती हैं; किन्तु मोटे तौर पर समस्या की दृष्टि से वैयक्तिक एवं सामाजिक दो वर्ग किए जा सकते हैं। वैयक्तिक वर्ग में व्यक्ति की अपनी निजी समस्याओं की कथा का आधार बनाया जाता है जैसे जैनेन्द्र के उपन्यास। सामाजिक वर्ग में ऐसी समस्याओं का चित्रण होता है जो पूरे समाज की समस्याओं का प्रतिनिधित्व करती हैं जैसे प्रेमचन्द्र के उपन्यास। यद्यपि इन दोनों ही प्रकार के उपन्यासों में कथा का आधार व्यक्ति ही होते हैं, किन्तु सामाजिक वर्ग के उपन्यासों में व्यक्ति-पात्र प्रतिनिधि-पात्र का रूप ग्रहण कर लेते हैं।

कथा संविधान की दृष्टि से दो प्रकार की कथाएँ होती हैं—**आधिकारिक कथा एवं प्रासंगिक कथाएँ**। आधिकारिक कथा पूरे उपन्यास में आरम्भ से अन्त तक एक ही होती है। यह उपन्यास के नायक के जीवन से सम्बद्ध होती है। इसे मूल कथा भी कहते हैं। प्रासंगिक कथाएँ एक या अनेक हो सकती हैं। इनका उपयोग आधिकारिक कथा को आगे बढ़ाना, उसके घटना-चक्रों में तारतम्य और शृङ्खला प्रस्तुत करना और नायक के जीवन की मूल समस्याओं और उसकी चारित्रिक विशेषताओं को स्पष्ट करना होता है। यह प्रासंगिक कथाएँ मूल समस्या के अतिरिक्त समाज की अन्य समस्याओं पर भी प्रकाश डालने का काम करती हैं।

हडसन ने उपन्यास की कथावस्तु की सामान्य विशेषता को स्पष्ट करते हुए कहा है कि—**"वह उपन्यास वास्तव में श्रेष्ठ है जो आकार में बड़ा, विस्तृत और गम्भीर रूप से उन घटनाओं पर आधारित होता है जो जीवन के संघर्ष को प्रभावित करती हैं।"**

मैथ्यू आर्नल्ड के अनुसार **"जीवन के ठोस सत्यों पर आधारित उपन्यास की —— श्रेष्ठ होती है।"**

हैमिल्टन के अनुसार उपन्यास की कथा सुसम्बद्ध और
चाहिए।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उपन्यास की कथावस्तु की विशेषताओं का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि—"कोई उपन्यास सफल है या नहीं, इस बात की प्रथम कसौटी यह है कि कहानी वाले ने कहानी ठीक सुनाई है या नहीं, अनावश्यक बातों को तूल तो नहीं दिया है। जहाँ-जहाँ कहानी मर्मस्पर्शी हो सकती है वहाँ-वहाँ उसने उसे उचित रीति से सम्हाला है या नहीं, छोटी-छोटी बातों में ही उलझकर तो नहीं रह गया। प्रसंगवश आई हुई घटना का इतना अधिक वर्णन तो नहीं करने लगा है जिससे पाठक का जी ही ऊब जाय और सौ बात की एक बात यह है कि शुरू से अन्त तक सुनने वाले की उत्सुकता जागृत रखने में नाकामयाब तो नहीं रहा।"

इस प्रकार कथावस्तु उपन्यास-रचना का मुख्य आधार और प्रमुख तत्व है। इसके अभाव में उपन्यास का ढाँचा ही नहीं खड़ा हो सकता।

चरित्र-चित्रण—चरित्र-चित्रण पात्रों के क्रिया-कलाप से सम्बन्ध रखता है।

पात्रों के क्रिया-कलाप ही घटनाओं का कारण बनते हैं और घटनाओं का शृङ्खलाबद्ध संयोजन कथावस्तु का रूप ग्रहण करता है । पात्रों के बिना कथा का अस्तित्व नहीं हो सकता । पात्रो के चरित्र ही घटनाओं में तथा उससे सम्बन्धित अन्य पात्रों के सम्बन्ध-सूत्रों का निर्माण करते हैं । इस प्रकार उपन्यास में आने वाले हर पात्र की अपनी चारित्रिक विशेषताएँ होती हैं। जो घटनाएँ कथा का अंग बनती हैं उन्हीं के संदर्भ में पात्रों की चारित्रिक विशेषताएँ स्पष्ट होती चलती हैं । उपन्यास में **चरित्र-चित्रण की अनेक विधियाँ** प्रयोग में आती हैं । उन्हें निम्न प्रकार देखा जा सकता है—

(१) कभी उपन्यासकार अपनी ओर से पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का वर्णन करता।

(२) कभी अन्य पात्रों के माध्यम से अन्य पात्रों का चरित्र उभरता है ।

(३) कभी पात्रों के आपसी सम्बन्धों के माध्यम से पात्रों का चरित्र उभरता है ।

(४) तो कभी-कभी किसी पात्र द्वारा किए गए किसी काम या कही गई कोई बात की प्रतिक्रिया में किए गए काम या कही गई बात से चरित्र उभरता है ।

(५) और कभी पात्र स्वयं अपने मनोविश्लेषण द्वारा अपनी चारित्रिक विशेषताओं को स्पष्ट करता है—

चरित्र के प्रकार—चरित्र की दृष्टि से विद्वानों ने तीन प्रकार के चरित्र माने हैं—उत्तम, मध्यम और अधर्म । उत्तम पात्र आदर्श पात्र होते हैं । मध्यम पात्र वह होते हैं जो अच्छाई-बुराई के बीच झकोले खाते हैं और अच्छाई-बुराई से संघर्ष करते हुए अच्छाई की ओर बढ़ते हैं । अधम पात्र वह हैं जो निरन्तर बुराई में ही डूबे रहते हैं । उत्तम पात्रों में अच्छाई का अंश अधिक और बुराई का अंश कम होता है ।

उपन्यास के पात्र जीवन के विभिन्न वर्गों और स्तरों का प्रतिनिधित्व करते हैं और अपनी चारित्रिक विशेषताओं के साथ-साथ अपने वर्ग और स्तर की चारित्रिक विशेषताओं का प्रतिनिधित्व भी करते हैं ।

डा० श्यामसुन्दरदास के अनुसार पात्रों का **चरित्र-चित्रण दो विधियों** से किया जाता है—एक तो विश्लेषणात्मक या साक्षात् विधि द्वारा और दूसरी अभिनयात्मक या परोक्ष विधि द्वारा । पहली विधि में लेखक अपनी ओर से पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का वर्णन करता है और दूसरे प्रकार की विधि में पात्रों के अपने कथन तथा कार्य-व्यापार के माध्यम से चरित्र उभरता है ।

चरित्र-चित्रण में कथावस्तु की अनुकूलता, स्वाभाविकता, मौलिकता, सजीवता पाठकों को प्रभावित करने की शक्ति आदि गुण और विशेषताएँ होनी चाहिए । क्योंकि पात्रों के साथ ही पाठक की संवेदना का साधारणीकरण होता है । वह पात्रों के साथ सजीव भावात्मक सम्बन्ध स्थापित कर उन्हीं के रूप में अपनी कल्पना का, उन सारी स्थितियों का स्वयं भोक्ता बन जाता है ।

वस्तुतः कथा-वस्तु और चरित्रों का विकास एक दूसरे पर आश्रित ही नहीं

वरन् सहायक और पूरक भी है ।

कथोपकथन—कथोपकथन उपन्यास का तीसरा महत्वपूर्ण तत्व है जो उपन्यास के स्वरूप गठन में मुख्यत: चार काम करता है—कथावस्तु को आगे बढ़ाता है; पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं और आपसी सम्बन्धों को स्पष्ट करता है; घटनाओं में शृङ्खला तथा सम्बन्ध स्थापित करता है तथा उपन्यास के उद्देश्य को स्पष्ट करता है ।

कथोपकथनों द्वारा उपन्यासकार उपन्यास में वर्णित घटनाओं तथा दृश्यों को अपेक्षित रूप तथा सजीवता और मर्मस्पर्शिता उत्पन्न करता है एवं कथा का विस्तार करता है ।

पात्रों के आपसी कथोपकथन के द्वारा ही पाठक पात्रों के मनोभावों और उनके अलग-अलग स्वभावों से परिचित होता है और उनके प्रति अलग-अलग मनोभावों का निर्माण करता है ।

विभिन्न पात्रों के आपसी विरोधी मतों को व्यक्त करने वाले कथोपकथनों के द्वारा ही उपन्यासकार उपन्यास के उद्देश्य और विचार को स्पष्ट करता है ।

कथा तथा उसके विकास में पात्र की उपयुक्त भूमिका के प्रति उपयुक्तता, पात्रों की अपनी विशेषताओं, जीवन-स्तर आदि की अनुकूलता सम्बद्धता, स्वाभाविकता, एवं सहजता, सजीवता, संक्षिप्तता एवं उद्देश्य को उभारने की क्षमता आदि कथोपकथन के अनेक गुण हैं ।

देशकाल या वातावरण—उपन्यास में देशकाल के महत्व को स्पष्ट करते हुए डा० गुलाबराय ने लिखा है—"देशकाल के चित्रण में सदा इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि वह कथानक के स्पष्टीकरण का साधन ही रहे, स्वयं साध्य न बन जाय । जहाँ देशकाल का वर्णन अनुपात से बढ़ जाता है वहाँ उससे जी ऊबने लगता है, लोग जल्दी-जल्दी पन्ने पलटकर कथासूत्र को ढूंढ़ने लग जाते हैं । देशकाल का वर्णन कथानक को स्पष्टता देने के लिए होना चाहिए, न कि उसकी गति में बाधा डालने के लिए ।····देशकाल वातावरण का बाहरी रूप है । वातावरण मानसिक भी हो सकता है । आदमी जिस प्रकार के समाज में रहता है वैसा ही वह काम भी करने लग जाता है । प्राकृतिक चित्रण भी उद्दीपन रूप से पात्रों की मानसिक स्थिति या मूड को निश्चित करने में सहायक होते हैं । प्रकृति और पात्रों की मानसिक स्थिति का सामंजस्य पाठक पर अच्छा प्रभाव डालता है और उपन्यास में काव्यत्व भी ले आता है जैसे किसी के मरते समय दीपक बुझ जाना, सूर्य का अस्त हो जाना अथवा घड़ी का बन्द हो जाना वातावरण में अनुकूलता उत्पन्न कर शब्दों को एक विशेष शक्ति प्रदान कर देता है ।

देश, काल या वातावरण शब्द से ही स्पष्ट है कि कला देश-प्रदेश अथवा स्थान की है और उसका काल अथवा समय क्या है और उस स्थान तथा समय की परिस्थितियाँ क्या हैं । उनका पात्रों पर कैसा प्रभाव पड़ता है ? इस दृष्टि से उनके तीन भेद किए जा सकते हैं—सामाजिक, प्राकृतिक एवं ऐतिहासिक ।

पहली के अन्तर्गत लेखक सामाजिक स्थिति, रीति-रिवाज, वेश-भूषा पात्रों का जीवन-गत स्तर उनकी शिक्षा, संस्कृति संस्कार आदि का चित्रण करता है।

दूसरी के अन्तर्गत लेखक उसके परिवेश तथा संदर्भ में पात्रों की मनोदशा का भावात्मक स्वरूप प्रस्तुत करता है और उसे अधिक मार्मिकता प्रदान करता है।

तीसरी का उपयोग ऐतिहासिक उपन्यासों में ही होता है।

अतः देशकाल और वातावरण के विषय में सामान्यतः कहा जा सकता है कि कथानक के मर्म और पात्रों की विशेषताओं को उभारने की उपयुक्त पृष्ठ-भूमि प्रदान करता है।

भाषा-शैली—सजीव से सजीव कथानक भी विना प्रभावशाली भाषा और सजीव शैली के नीरस और सारहीन वनकर रह जाता है। भाषा-शैली ही उपन्यास को प्रारम्भ से अन्त तक पढ़ जाने की उत्सुकता और उमंग पाठक में जगाती है। अतः भाषा-शैली उपन्यास के तत्वों में अपना प्रमुख और महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

भाषा और शैली यद्यपि अलग-अलग हैं; किन्तु भाषा शैली का अंग है और शैली भाषा का प्राण। भाषा कथा और उसके पात्रों को वाणी प्रदान करती है और शैली उस वाणी में साभिप्राय अर्थ की प्राण प्रतिष्ठा करती है। शैली कथा को कहने और प्रस्तुत करने तया पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं और मनोभावों को चित्रित करने के ढंग से सम्वन्ध रखती है। शैली ही वास्तव में उपन्यास में मौलिकता के गुण का समावेश करती है।

भाषा सरल, सजीव, पात्रानुकूल, रोचक, मर्मस्पर्शी, प्रभावपूर्ण और प्रवाह-मयी होनी चाहिए।

शैली अनेक प्रकार की होती है, जैसे—वर्णनात्मक शैली, आत्मकथात्मक शैली, पत्रात्मक शैली, डायरी शैली, जीवनी शैली और मिश्रित शैली आदि। अधिकांश उपन्यासों में एक साथ कई शैलियों का प्रयोग पाया जाता है।

भाषा-शैली का महत्व इसलिए भी अधिक है क्योंकि इन्हीं के माध्यम से लेखक अपने उपन्यास को प्रभावमय और मर्मस्पर्शी बनाता है और उसमें मौलिकता का समावेश करता है।

उद्देश्य—डा० प्रताप नारायण टंडन के शब्दों में "आज उपन्यास को केवल एक मनोरंजन के साधन के रूप में ही पाठक ग्रहण और स्वीकार नहीं करना चाहते। वे एक प्रखर और स्पष्ट जीवन-दर्शन की माँग करते हैं।"

डा० श्यामसुन्दर दास के शब्दों में—"उपन्यास में मुख्यतः यही दिखलाया जाता है कि पुरुषों और स्त्रियों के विचार, भाव और पारस्परिक सम्बन्ध कैसे हैं, वे किन-किन कारणों अथवा प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर कैसे-कैसे कार्य करते हैं; अपने प्रयत्नों में वे किस प्रकार सफल अथवा विफल होते हैं और इन सबके फलस्वरूप उनमें कैसे-कैसे मनोविकार आदि उत्पन्न होते हैं।.........सभी उपन्यासों में कुछ न कुछ विशेष विचार अथवा सिद्धान्त आप से आप आ जाते हैं।"

हेनरी जेम्स के अनुसार "उपन्यास के अस्तित्व का एकमात्र कारण यही है कि वह जीवन का प्रतिनिधित्व करने का प्रयत्न करता है ।"

यह बात जीवन में सत्य है कि बिना किसी प्रयोजन या उद्देश्य के हम न तो किसी से कोई बात करते हैं, न सम्बन्ध रखते हैं और न कोई कार्य ही करते हैं। उपन्याय जीवन का ही चित्रण है। फिर वह निरुद्देश्य कैसे हो सकता है? मनोरंजन भी तो एक उद्देश्य ही है और जीवन में मनुष्य का मनोरंजन भी जीवन के सहज कार्य व्यापारों और मनुष्य-मनुष्य के आपसी सम्बन्धों तथा सहजीवन के बीच ही होता है।

उपन्याम लिखना भी अपने में एक उद्देश्य है। कोई लेखक उपन्यास तभी लिखता है जब वह किसी कथा, किन्हीं पात्रों और उनके जीवन-रहस्यों से, जिनका परिचय या तो उससे हुआ है या जिनका उदय जीवन के अनुभवों के आधार पर उसकी कल्पना में हुआ है, परिचय वह अपने से अन्य सबसे कराना चाहता है। उपन्यास की कथा की कल्पना को अपनी भोगी हुई अनुभूतियों का जब वह अन्यों के साथ मिलकर सहयोग करना चाहता है तो वह उपन्यास के रूप में उसे अभिव्यक्त कर सबके सहयोग योग्य बना देता है। अतः उद्देश्य उपन्यास का एक अत्यावश्यक और महत्वपूर्ण तत्व है।

प्रश्न ८५—"उपन्यास आधुनिक युग का महाकाव्य है।" उपन्यास और महाकाव्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए उक्त कथन के तात्पर्य को स्पष्ट कीजिए।

उपन्यास की विधा आधुनिक युग की एक लोकप्रिय विधा है। उपन्यास की परिभाषा विद्वानों ने उसके गुणों और विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत की है। उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्द इसे "मानव-चरित्र का चित्र" मात्र मानते हैं। डा० श्यामसुन्दर दास के मतानुसार "मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा" ही उपन्यास है। बाबू गुलाबराय ने भी उस गद्य कथानक को उपन्यास शब्द से अभिहित किया है जिस में वास्तविक एवं काल्पनिक घटनाओं के माध्यम से मानव-जीवन के सत्य का रसात्मक रूप से उद्घाटन किया जाता है।

अनेक विद्वानों ने उपन्यास नामक इस साहित्यिक विधा को **"आधुनिक युग का महाकाव्य"** स्वीकार किया है। उपन्यास को महाकाव्य मानने का आधार यही है कि दोनों विधाएँ मानव-जीवन की सर्वाङ्गीण अभिव्यक्ति में योगदान देती हैं। जीवन के सम्पूर्ण पहलुओं की झाँकी इनमें दृष्टिगत होती है। दोनों का वर्ण्य-विषय मानव का सम्पूर्ण जीवन होता है और अपने अन्तःकरण पर अवस्थित जीवन के सम्पूर्ण पहलुओं की झाँकी को उपन्यासकार तथा महाकाव्यकार अपने-अपने ढंग से अभिव्यक्त करते हैं। परन्तु कथावस्तु सम्बन्धी इस समानता को छोड़कर उपन्यास एवं महाकाव्य में अन्य कोई साम्य नहीं है। दोनों का वर्ण्य-विषय यद्यपि एक ही है परन्तु अन्य बातों में उनमें पर्याप्त वैषम्य है। उपन्यास एवं महाकाव्य के सामान्य अंतर का विश्लेषण करते हुए डा० भगीरथ मिश्र ने लिखा है कि—"युग की गतिशील पृष्ठभूमि पर सहज शैली में स्वाभाविक जीवन की एक पूर्ण व्यापक झाँकी प्रस्तुत करने वाला गद्य-काव्य उपन्यास कहलाता है। नाटक, महाकाव्य और उपन्यास जीवन की परिस्थितियों एवं

चिन्ताओं से युक्त जीवन को सम्पूर्ण रूप में अभिव्यक्त करते हैं। परन्तु इन तीनों में सुकर और प्राकृतिक रूप उपन्यास का ही है। इसमें लेखक अत्यन्त स्वच्छन्द होकर अपने हृदयपटल पर पड़े हुए जीवन के जीते-जागते चित्रों को प्रस्तुत करता है। नाटक और महाकाव्य के-से बंधन उपन्यास लेखक के लिए नहीं होते।....महाकाव्य में काव्याङ्गों का पूर्ण ज्ञान, जीवन का गम्भीर अनुभव और विवेचन तो आवश्यक है ही, उसकी रचनाविधि के भी अपने नियम हैं; परन्तु उपन्यास के लिए ये कठिनाइयाँ, बन्धन और पृष्ठभूमि की आवश्यकताएँ नहीं। वह कथा साहित्य का सरल स्वाभाविक रूप है; इसी कारण से आजकल उसका अत्यधिक विकास हो रहा है।"

उपन्यास की पृष्ठभूमि उसी प्रकार व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित होती है जिस प्रकार महाकाव्य की। महाकाव्य में युग-युगीन समस्याएँ समाहित रहती हैं। उसमें जनजीवन के व्यापक क्षेत्र का समावेश होता है। उसमें जन-जीवनेतर क्षेत्र को भी आत्मसात किया जाता है। इसी प्रकार उपन्यास भी मानव जीवन का चित्रण है जिसमें मनुष्य के चरित्र का सजीव चित्रण होता है। निश्चय ही मनुष्य का सम्बन्ध अपने युग, समाज, देश और उसकी परिस्थितियों से रहता है। उस मनुष्य का व्यापक चित्रण प्राचीन काल से महाकाव्यों में होता आया है, और आज के युग में इस कार्य को उपन्यास कर रहे हैं अतः कहा जा सकता है कि **"उपन्यास आधुनिक युग का महाकाव्य है।"** इन दोनों विधाओं के अन्तर को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

१. महाकाव्य और उपन्यास में मानव-जीवन का समग्र चित्रण होता है, इसका चित्रण इतने व्यापक धरातल पर होता है कि वह युगयुगीन समस्याओं को अपने में समेट लेता है।

२. इस दोनों विधाओं में मानव का (पात्र के रूप में) चरित्र चित्रित किया जाता है।

३. अन्य तत्वों की दृष्टि से—संवाद, वातावरण चित्रण, भाषा तथा उद्देश्यों में भी समानता होती है। यद्यपि शास्त्रीय लक्षणों की दृष्टि से रचना-विधान में अन्तर है किन्तु उन लक्षणों को कथावस्तु, पात्र-चरित्र-चित्रण, संवाद, देशकाल-वातावरण, भाषा-शैली और उद्देश्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

डा० रामदत्त भारद्वाज ने 'काव्य-शास्त्र की रूपरेखा' में इन दोनों विधाओं के अन्तर को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

प्रथमतः इन दोनों में अभिव्यक्ति का भेद है। महाकाव्य पद्य में तो उपन्यास गद्य में लिखा जाता है। उपन्यास में नाटकीयता की, किन्तु महाकाव्य में वर्णन की प्रधानता होती है। इसी कारण एफ़० आर लेवो० ने उपन्यास को नाटकीय गद्यकाव्य बताया और फिल्डिंग ने अपने एक उपन्यास को 'गद्यमय सुखान्त महाकाव्य' कह दिया है। हार्डी की भी ऐसी ही धारणा थी।

द्वितीयतः महाकाव्य में परम्परागत ऐतिहासिक घटनाओं का प्रायः वर्णन रहता है, किन्तु उपन्यासकार अपने अनुभव के आधार पर जीवन के किसी पक्ष का कल्पना-

धृत समर्थन करता है ।

तृतीयतः उपन्यास और महाकाव्य दोनों के अपने-अपने रचना-विधान हैं, पर महाकवि की अपेक्षा उपन्यासकार अपनी अभिव्यक्ति में अधिक स्वतन्त्र होता है । इस नियन्त्रित स्वतन्त्रता के कारण महाकाव्य में किसी वर्ग के चरित्र का चित्रण तो हो पाता है, किन्तु व्यक्ति के चरित्र का विकास उतना अधिक नहीं हो पाता ।

चतुर्थतः "महाकाव्य और उपन्यास में उद्देश्य का अन्तर है । महाकाव्य का उद्देश्य, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से एक की स्थापना के और पश्चिमी महाकाव्यों में महाकार्य, महोद्देश्य और महाफल, महती प्रेरणा आदि प्रयोजन रहते हैं, किन्तु उपन्यास में इनके लिए कोई विशेष स्थान नहीं । अतएव यदि महाकाव्य आदर्श-प्रधान है तो उपन्यास यथार्थ-प्रधान ।"

प्रश्न ८६—(१) उपन्यास एवं कहानी के अन्तर को स्पष्ट कीजिए ।

(२) "कहानी उपन्यास का लघु रूप नहीं है अपितु वह एक स्वतन्त्र साहित्यिक विधा है ।" इस कथन को ध्यान में रखते हुए, कहानी और उपन्यास के साम्य और वैषम्य पर प्रकाश डालिए ।

(३) "आज की कहानी उपन्यास से एक सर्वथा भिन्न एवं स्वतन्त्र साहित्यिक रूप है ।" इस कथन को दृष्टि-पथ में रखते हुए कहानी और उपन्यास के भेद को समझाइए ।

'उपन्यास' शब्द संस्कृत भाषा का शब्द है, किन्तु संस्कृत में यह इसके आधुनिक अर्थ में प्रयुक्त नहीं है । आज उपन्यास शब्द से एक साहित्यिक विधा का अर्थ ग्रहण किया जाता है जिसमें "जीवन एवं जगत् का सविस्तार निदर्शन होता है, जीवन और जगत् की व्याख्या होती है ।" कहानी प्राचीन आख्यायिका की सन्तति होने पर भी स्वरूप में उससे भिन्न है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्राचीन संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त कथा एवं आख्यायिका शब्दों का प्रयोग आज उसी अर्थ में नहीं हो रहा है ।

आधुनिक काल में प्रचारलब्ध उपन्यास एवं आख्यायिका चिरकाल से सम्बद्ध होते हुए भी आज के विकासवादी युग में एक-दूसरे से पर्याप्त साम्य रखते हुए भी परस्पर भिन्न हैं । 'उपन्यास' शब्द का अर्थ है—"**युक्ति संगत रूप से अभिनव को अभिनव रूप में प्रस्तुत करना ।**" संस्कृत में लिखित 'कादम्बरी' उपन्यास का ही पूर्वरूप है । आज मराठी में उपन्यास में अर्थ में 'कादम्बरी' शब्द का प्रयोग होता है । गुजराती में 'नवलकथा' जो कि नवीनता, नूतनता के साथ अंग्रेजी के Novel शब्द के समकक्ष ही है । आज हिन्दी में भी 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग इन्हीं अर्थों में हो रहा है ।

वर्तमान युग की कहानियाँ जिनको गल्प, कथा, लघुकथा और आख्यायिका भी कहते हैं, वे चिरकाल से प्रचलित कहानियों की ही सन्तति हैं किन्तु 'टेकनीक' की दृष्टि से उस पर पाश्चात्य भाव इतना पड़ चुका है कि वे उनसे भिन्न प्रतीत होती हैं। बाबू गुलाबराय जी का यह कथन सत्य है कि—"**कहानी पुराने रूप में उपन्यास की**

अग्रजा है तो नए रूप में उसकी अनुजा ।"

कहानी, उपन्यास, नाटक—साहित्य की इन तीनों ही विधाओं के तत्वों में सर्वथा समानता है, किन्तु तत्वों के अनुपात का अन्तर वैषम्य का कारण बनता है। उदाहरण के लिए कथा-प्रधान उपन्यास होता है; कथोपकथन प्रधान नाटक एवं चरित्र-चित्रण अथवा समस्या प्रधान कहानी होती है, किन्तु इतना साम्य होने पर इन तत्वों के प्रयोग में प्रधानता के कारण उसका भिन्न स्वरूप सिद्ध होता है—"**प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति ।**" इस न्याय से नामों का आधार तत्तत तत्व की प्रधानता है।

कहानी एवं उपन्यास के निम्न सर्वमान्य तत्व हैं—(१) उद्देश्य, (२) कथा-वस्तु, (३) पात्र-चरित्र-चित्रण, (४) कथोपकथन, (५) देशकाल तथा (६) भाषा शैली।

उद्देश्य—वास्तव में इन दोनों विधाओं के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए उद्देश्य तत्व ही पर्याप्त है। उपन्यास के समान कहानी सर्वाङ्गीण हल प्रस्तुत नहीं करती, वह तो मात्र मार्ग-दर्शन, इंगित अथवा सुझाव देती है। कहानी उपन्यास की भाँति कथा-प्रधान नहीं होती है। कहानी तो अपने एकान्त लक्ष्य—सिद्धि के लिए मर्मस्पर्शी प्रभविष्णुतापूर्ण समाधान करती है। कहानी की इसी विशेषता को लक्ष्य कर **श्री वासुदेव** ने लिखा है कि "उपन्यास उस शिकारी के समान है जो अपने निशाने की चिड़िया के साथ उसके आसपास बैठी हुई दूसरी चिड़ियों तथा उसके पास के दृश्य, वातावरण जहाँ तक उसकी दृष्टि जा सकती है, का निरीक्षण करता है। उसके विपरीत कहानीकार धनुर्विद्या-विशारद वीर अर्जुन की तरह अपने निशाने को अचूक बनाने के लिए केवल पक्षी की आँखों को ज्यादा से ज्यादा सिर को जिसमें आँख स्थित है, लक्ष्य कर तीर छोड़ता है। इस प्रकार कहानीकार केवल एक ही लक्ष्य पर सारा आलोक केन्द्रित करके उसके प्रभाव को तीव्रतम बनाने की चेष्टा करता है।

उपन्यास विशाल आकार का होता है, इसलिए अनेक समस्याएँ, विस्तृत विश्लेषण एवं अनेक उद्देश्यों से समन्वित होता है। कहानी का शब्द, प्रतिशब्द एवं वाक्य निरन्तर निश्चित लक्ष्योन्मुख होता है।

कथावस्तु—कथावस्तु के अभाव में उपन्यास रचना सम्भव नहीं है। पाश्चात्य देशों में कथा के अभाव में उपन्यास लिखने के प्रयास असफल हो चुके हैं किन्तु कहानी कथा के अभाव में भी बन रही है।

उपन्यास में प्रासङ्गिक कथाएँ, प्रकृति-वर्णन, राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक समस्याओं का विश्लेषण बिस्तार से किया जा सकता है किन्तु कहानी में यह सम्भव नहीं है। **श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी** ने लिखा है कि "उपन्यास एक शाखा-प्रशाखा वाला विशाल वृक्ष है जबकि कहानी एक सुकुमार लता।" कहानीकार **'पहाड़ी'** के शब्दों में "उपन्यास को हम नक्षत्र खचित आकाश कहें तो कहानी को सप्तरंगी इन्द्रधनुष मान लें। व्याख्या उपन्यास का प्राण है। संकेत और गूँज कहानी की जीवन-श्वासें।" **श्री प्रेमचन्द** ने उपन्यास एवं कहानी के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "कहानी रचना है

जिसमें जीवन के किसी अङ्ग या किसी मनोभाव को प्रदर्शित करना लेखक का उद्देश्य रहता है। उसके चरित्र, उसकी शैली, उसका कथाविन्यास सब उसी एक भाव की पुष्टि करते हैं। उपन्यास की भाँति उसमें मानव-जीवन का सम्पूर्ण तथा वृहत रूप दिखाने का प्रयास नहीं किया जाता, न उसमें उपन्यास की भाँति सभी रसों का सम्मिश्रण होता है। वह ऐसा रमणीय उद्यान नहीं। जिसमें भाँति-भाँति के फूल, बेल, बूटे सजे हुए हैं, बल्कि एक गमला है जिसमें एक ही पौधे का माधुर्य अपने समुन्नत रूप में दृष्टिगोचर होता है।"

पात्र—उपन्यासों में पात्र-संख्या पर कोई विशेष प्रतिबन्ध नहीं है, उसमें बहुसंख्यक पात्र हो सकते हैं क्योंकि उनमें पात्रों के चरित्र-चित्रण के लिए विस्तृत क्षेत्र होता है।

कहानी में पात्रों की संख्या सीमित रहती है। यदा-कदा तो एक ही पात्र रहता है, (किन्तु सामान्यतया तीन-चार तक) क्योंकि पात्र की अधिकता होने पर उनके चरित्र का विकास असम्भव हो जायगा और कहानी की प्रभावशाली एकनिष्ठता भी समाप्त हो जायगी।

उपन्यास की आधिकारिक कथा का एक नायक होता है तथा अनेक प्रासङ्गिक कथाओं के अनेक नायक हो सकते हैं। किन्तु कहानी में प्रसाङ्गिक कथाओं के अभाव में सह-नायकों का प्रश्न ही नहीं रहता है। उपन्यास के पात्र और नायक कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त होते हैं, जबकि कहानी के प्रत्येक पात्र पर कहानीकार का अंकुश रहता है।

उपन्यास एवं कहानी में मानव जीवन से सम्बद्ध किसी भी श्रेणी के पात्र आ सकते हैं। चरित्र-चित्रण-प्रधान उपन्यास एवं कहानी दोनों ही हो सकते हैं किन्तु उपन्यास में इसके लिए अधिक अवसर एवं अवकाश होता है। कहानी में चरित्र की झलक होती है, उपन्यास में विस्तृत झाँकी। कहानी में प्रायः प्रत्यक्ष तथा अभिनयात्मक चरित्र-चित्रण प्रणाली का प्रयोग होता है, उपन्यास में परोक्ष अभिनयात्मक विकसित प्रणाली का सहारा लिया जाता है।

कथोपकथन—कहानी के लघु आकार के कारण उसमें कथोपकथन संक्षिप्त, सशक्त, व्यञ्जनापूर्ण, सार्थक एवं मार्मिक होने चाहिए, तभी कहानीकार की सफलता सम्भव है। कथोपकथन ही कहानी लेखक की अग्नि-परीक्षा है।

उपन्यास एवं कहानी में नाटकीयता का आनंद इसी तत्व से सम्भव है। वैसे कहानी वर्णनात्मक भी सम्भव है किन्तु यह शैली उत्तम नहीं होती है।

उपन्यास का क्षेत्र विस्तृत होता है, अतः लेखक विश्लेषण एवं वर्णन दोनों के लिए स्वतन्त्र होता है। अतः हम कह सकते हैं कि उपन्यासकार के कथोपकथन संक्षिप्त एवं विस्तृत दोनों प्रकार के हो सकते हैं किन्तु कहानी में संक्षिप्त कथोपकथन ही अपेक्षित हैं।

देशकाल—इस तत्व से परे न उपन्यास जा सकता है और न कहानी। साहित्य समाज का दर्पण है, अतः कोई साहित्य इस तत्व से निरपेक्ष नहीं हो सकता। इस तत्व का

निर्वाह सफल कहानीकार एवं उपन्यासकार दोनों ही करते हैं यह तत्व कहानी एवं उपन्यास दोनों के लिए समान रूप से महत्वपूर्ण है किन्तु उपन्यास में युग का विस्तृत चित्र मिलता है। तथा कहानी में संक्षिप्त झलक।

शैली—शैली की दृष्टि से ये दोनों विधाएँ परस्पर भिन्न हैं, यद्यपि वर्ण्य-विषय प्रायः समान होते हैं। कहानी की शैली व्यंजना-प्रधान होती है। 'गागर में सागर' की लोकोक्ति इसी विधा पर पूर्णतः चरितार्थ होती है। श्री प्रेमचन्द ने एक स्थान पर लिखा है कि "हम कहानी ऐसी चाहते हैं कि वह थोड़े शब्दों में कही जा सके। उसमें एक वाक्य, एक शब्द भी अनावश्यक न आने पाये। उसका पहला ही वाक्य मन को आकर्षित कर ले और अन्त तक मुग्ध किये रहे····।" कहानी का एक लक्ष्य स्पष्ट होने के कारण उसकी "शैली में कसावट, ठोसपन और संक्षिप्तता अनिवार्य रूप से रहते हैं। इसके विरुद्ध उपन्यास में ध्येय की एकता के अभाव में शैली में न तो संक्षिप्तता ही होती है और न संकोच उसमें विस्तार की, विवरण की प्रवृत्ति होती है।"

संक्षेप में डा० भगीरथ मिश्र के अनुसर इन दोनों विधाओं का अन्तर इस प्रकार है।

कहानी	**उपन्यास**
(१) कहानी जीवन की एक झलक मात्र प्रस्तुत करती है।	(१) उपन्यास सम्पूर्ण जीवन का विशाल और व्यापक चित्र उपस्थित करता है।
(२) कहानीकार के लिए संक्षिप्तता और संकेतात्मकता आवश्यक है।	(२) उपन्यासकार के लिए विवरण-पूर्ण, विशद और व्याख्यापूर्ण शैली आवश्यक है।
(३) कहानीकार एक भाव या प्रभाव विशेष का चित्रण करता है।	(३) उपन्यास पूरी परिस्थिति और गतिशील जीवन की निवृति करता है।
(४) कहानी में प्रासंगिक कथाओं का अवसर नहीं होता।	(४) उपन्यास में प्रासंगिक कथाओं का संगठन, आधिकारिक कथा की एक-रसता को दूर करने तथा वर्णन में विविधता लाने के लिए आवश्यक होता है।
(५) कहानी में थोड़े समय में महत्वपूर्ण बात कहनी होती है। अतः कला की सूक्ष्मता इसमें आवश्यक होती है। कहानी कलात्मक अधिक होती है। वह एक भाव विशेष का ही चित्रण करने का प्रयत्न करती है।	(५) उपन्यास में सूक्ष्मकला की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी व्यापक उदात्त दृष्टिकोण तथा भाव, रस और परिस्थिति के समग्र रूप में चित्रण की। रस के विविध रूपों का समावेश उपन्यास में हो सकता है।
(६) कहानी द्वारा हल्का मनोरंजन ही प्रायः सम्पादित हो पाता है।	(६) उपन्यास परिस्थिति और पात्र के पूर्ण चित्रण द्वारा हृदयमंथन और मन-संस्कार भी करता है।

अन्त में हम निष्कर्ष रूप में यह कह सकते हैं कि कहानी तथा उपन्यास नामक साहित्य की इन दो विधाओं में केवल आकार का ही अन्तर नहीं है, उसमें शिल्प-विधान की दृष्टि से भी मौलिक अन्तर है। **डा० जगन्नाथ शर्मा ने** इनके अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—"थोड़े में यदि कहानी और उपन्यास का तारतम्य निरूपण करना हो तो कहा जा सकता है कि कहानी यदि अपने एकोन्मुख समष्टि प्रभाव के माध्यम से हमारे चित्त को पूर्णतया झंकृत और आन्दोलित करके हमें अनुमान, कल्पना और जिज्ञासा के उन्मुक्त द्वार पर ला खड़ा करती है तो उपन्यास जीवन के विविध क्षेत्रों की झाँकी देकर सारे रहस्यों और वस्तुस्थितियों से परिचित कराकर हमारे भीतर एक पूर्णता विधायक संतुष्टि उत्पन्न कर देता है।" आशय स्पष्ट है कि उपन्यास में पाठक सब कुछ पढ़ता है और आनन्द लेता है, जबकि कहानी में पाठक बहुत कुछ अपनी कल्पना के सहारे आनन्दानुभव करता है। निश्चय ही कहानी उपन्यास का न तो छोटा रूप है और न उनका सम्बन्ध पिता और पुत्री का है वरन् वह उससे सर्वथा स्वतन्त्र और भिन्न रचना है। बेरी के मतानुसार 'उपन्यास एक तृप्ति है और कहानी एक उभार'—The novel is a satisfaction, the short story is a stimulus. निश्चय ही कहानी जीवन का एक अंश है और उपन्यास सम्पूर्ण जीवन का चित्र।

प्रश्न ८६—नाटक के तत्वों का विश्लेषण करते हुए संकलन-त्रय, द्वन्द्व योजना एवं रंगमंच की उपयोगिता तथा आवश्यकता पर विचार कीजिए।

संस्कृत नाट्यशास्त्र में नाटक के तीन मूलभूत तत्व माने गये हैं—वस्तु, नेता और रस। दशरूपक में लिखा है—"वस्तुनेता रसस्तेषां भेदक।" संस्कृत आचार्यों ने इन्हीं तीन तत्वों का विस्तृत निरूपण किया है। इधर पाश्चात्य काव्यशास्त्र में नाटक के छः तत्व माने गये हैं और आजकल यही छः तत्व हिन्दी नाट्यकला के प्रमुख तत्वों के रूप में ग्रहण किये गये हैं—१. वस्तु, २. पात्र, ३, कथोपकथन, ४. देशकाल, ५. शैली और ६. उद्देश्य।

१. वस्तु अथवा कथावस्तु—नाटक का कथानक ही वस्तु (Plot) होता है। कालरिज ने इसे Organic unity (सजीव एक तत्व) कहा है। अरस्तू के अनुसार कथानक कुछ घटनाओं का ऐसा संघात है। जिसमें प्रत्येक संघटक इस प्रकार जुड़े होते हैं कि किसी एक के हटते ही सारा कथानक विश्रृंखलित हो जाता है। नाट्यशास्त्र में वही कथानक उत्तम माना गया है जिसमें सर्वभाव, सर्व रस, सर्व कर्मों की प्रवृत्तियाँ तथा नाना अवस्थाओं का विधान हो—

"सर्व भावैः सर्व रसैः सर्वकर्मप्रवृत्तिभिः।
नानावस्थान्तरोपेतं नाटकं संविधियते॥"

नाटक की कथावस्तु में औदात्य और औचित्य का समुचित ध्यान रखना चाहिए। जो अंश औदात्य और औचित्य के विरुद्ध जा रहे हों, उन्हें निकाल देना चाहिए।

कथावस्तु के प्रकार—कथावस्तु के दो भेद हैं—आधिकारिक तथा प्रासंगिक। नाटक के प्रधान फल का भोक्ता अधिकारी कहलाता है। और उसके जीवन से सम्बन्धित कथा आधिकारिक कहलाती है। चूँकि प्रधान फल का भोक्ता नायक होता है। अतएव उसके जीवन से सम्बन्धित कथा आधिकारिक होती है। इसे मुख्य कथा कहते हैं और यह नाटक में आदि से अन्त तक चलती है। इसके विपरीत प्रासंगिक कथा मुख्य कथा में योग देने वाली, नायक के चरित्र-विकास में सहायता देने वाली कथा को गति देने वाली होती है। इसे गौण कथा कहते हैं और यह नाटक में एक या एक से अधिक होती है। रामायण में राम की कथा आधिकारिक तथा सुग्रीव की कथा प्रासंगिक है।

प्रासंगिक कथावस्तु के भी दो भेद होते हैं—पताका तथा प्रकरी। पताका मुख्य कथा के साथ अन्त तक चलती है और 'प्रकरी' थोड़ी दूर तक जाने के बाद समाप्त हो जाती है। रामायण में सुग्रीव की कथा 'पताका' तथा शबरी का वृत्तान्त 'प्रकरी' है।

नाटक की कथावस्तु विषयवस्तु की दृष्टि से तीन प्रकार की मानी गई है—'प्रख्यात', उत्पाद्य और मिश्र। प्रख्यात कथा का आधार इतिहास, पुराण या लोकप्रसिद्ध घटना होती है। इसमें कल्पना के लिए अधिक स्थान नहीं रहता। 'उत्पाद्य' कथा का आधार कवि-कल्पना होती है। 'मिश्र' कथा वह है जिसमें इतिहास और कल्पना दोनों का सम्मिश्रण होता है।

अभिनय की दृष्टि से नाटक की कथाएँ दो प्रकार की होती हैं—दृश्य तथा सूच्य। दृश्य वह कथा है जिसे रंगमंच पर दिखाया जाता है सूच्य वह कथा है जिसे रंगमंच पर दिखाया नहीं जाता, केवल उसकी सूचना दे दी जाती है। इसमें वध, युद्ध, जन्म, मरण, राष्ट्र-विप्लव, स्नान, भोजन, चुम्बन आदि के प्रसंग आते हैं। सूच्य कथावस्तु की सूचना देने वाले साधन 'अर्थोपक्षेपक' कहलाते हैं। ये पाँच होते हैं—विष्कंभक, प्रवेशक, चूलिका, अंकास्य, अंकावतार। 'विष्कंभक' वह अंश है, जो विगत या भावी घटनाओं की सूचना देता है। यह नाटक में अंक के आरम्भ या मध्य किसी भी स्थान पर हो सकता है। इसमें केवल दो पात्रों के संवादों द्वारा बीती हुई या भावी घटना की सूचना दी जाती है। यदि पात्र संस्कृत बोलते हैं तो विष्कंभक शुद्ध और यदि प्राकृत बोलते हैं तो मिश्र कहलाता है।

'प्रवेशक' में भी विष्कंभक के समान घटनाओं की सूचना दी जाती है। परन्तु इसके पात्र सदैव निम्न वर्ग के होते हैं और प्राकृत भाषा ही बोलते हैं। इसीलिए नाटक के आरंभ में प्रवेशक के प्रवेश का निषेध है।

'चूलिका' में कथा सम्बन्धी सूचना पर्दे के पीछे से दी जाती है।

'अंकास्य' में किसी अंक के अन्त में बाहर जाने वाले पात्रों द्वारा आगामी अंक की कथा सम्बन्धी सूचना दी है।

'अंकावतार' वहाँ होता है जहाँ बिना पात्र बदले हुए पूर्व अंक की कथा आगे चलाई जाती है।

संवाद की दृष्टि से नाटक की कथावस्तु तीन प्रकार की होती है—सर्वश्राव्य, अश्राव्य तथा नियत श्राव्य। 'सर्वश्राव्य' वह कथांश है जो सबके सुनने योग्य होता है। 'अश्राव्य' का आशय स्वगत कथन से है। इसे पात्र इस ढंग से कहता है कि दूसरे पात्र उसे नहीं सुन रहे हैं। पर आजकल इसे अस्वाभाविक मानकर इसका प्रयोग यथा-संभव नहीं किया जाता है। इसी का एक रूप आकाशभाषित है। जिसमें कोई पात्र आकाश की ओर मुंह करके बोलता है और ऐसा प्रदर्शित करता है कि उसे भी प्रत्युत्तर में दूर से आती आवाज सुनाई दे रही है। 'नियत श्राव्य' वह कथानक है जिसे मंच पर कुछ पात्र सुनते हैं, कुछ नहीं। पर यह भी अस्वाभाविक-सा लगता है अतः यथा-सम्भव इसे काम में नहीं लाना चाहिए।

कथा-विन्यास—संस्कृत नाट्य शास्त्रियों ने नाटक की कथा का विन्यास करने के तीन प्रमुख आधार बताये हैं—१. अर्थप्रवृतियाँ २. कार्य की अवस्थाएँ और, ३. संधियाँ। इन्हें हम इस प्रकार समझ सकते हैं।

कथा-विन्यास के उपकरण

अर्थ प्रकृत्तियाँ		कार्यावस्थाएँ		सन्धियाँ
१. बीज	+	१. आरम्भ		[illegible]
२. बिन्दु	+	२. प्रयत्न		[illegible]
३. पताका	+	३. प्राप्त्याशा	=	३. गर्भ सन्धि
४. प्रकरी	+	४. नियताप्ति	=	४. विमर्श सन्धि
५. कार्य	+	५. फलागम	=	५. निर्वहरण सन्धि

'अर्थप्रकृत्तियाँ' वे हैं **जो कथानक को मुख्य फल की ओर ले जाती हैं।** पहली अर्थ प्रकृति 'बीज' है। आरंम्भ में यह छोटे रूप में होती है। पर विस्तार होने पर यह फैल जाती है। जैसे छोटा-सा बीज बाद में बढ़ जाता है।

'बिंदु' अर्थ प्रकृति कथा-सूत्र के विच्छिन्न हो जाने पर उसे जोड़ने का कार्य करती है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार जैसे माली बीज बोने के बाद उसका विकास करने के लिए उस पर जल की बूँदें छिड़कता है, उसी प्रकार नाटककार बीजारोपण करके बिंदु द्वारा उसका विकास करता है।

'पताका' वह अर्थ प्रकृति है जो मूल कथा को फल तक पहुँचाने के लिए अन्त तक साथ चलती है।

प्रकरी में वे छोटी-छोटी कथाएँ आती हैं जो नाटक में कुछ दूर चलकर समाप्त हो जाती हैं।

'कार्य' वह अर्थ प्रकृति है, जिसकी सिद्धि के लिए नाटक में सारी सामग्री एकत्र की जाती है।

कार्य की अवस्थाओं का सम्बन्ध नायक की मानसिक दशा से होता है। 'प्रारम्भ' नामक कार्य की अवस्था में नायक का मुख्य उद्देश्य पता चलता है। 'प्रयत्न' में नायक द्वारा फल-प्राप्ति के लिए किये गये प्रयत्नों का वर्णन होता है। फल-प्राप्ति

की दिशा में विघ्न भी आते हैं। ये विघ्न ही नाटक में 'संघर्ष' को जन्म देते हैं जितना सूक्ष्म होता है, नाटक उतना प्रभावशाली बनता है। ये विघ्न शत्रु द्वारा परिस्थितियों द्वारा अथवा अप्रत्याशित दैवी घटनाओं द्वारा आ जाते हैं। इसके पश्चात् 'प्राप्त्याशा' नामक कार्य की अवस्था आती है जिसमें विघ्न दूर होने लगते हैं और नायक को फल-प्राप्ति की आशा बंधने लगती है। नियताप्ति में विघ्न पूरी तरह दूर हो जाते हैं और नायक को फल-प्राप्ति का निश्चय हो जाता है। फलागम में नायक को फल प्राप्ति होती है।

अर्थ प्रकृत्तियाँ तथा कार्य की अवस्थाओं के योग से पाँच संधियों का जन्म होता है। दशरूपककार ने कहा—

अर्थ प्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः।
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पंचसंधयः॥

'बीज' तथा 'आरम्भ' को मिलाने वाली 'मुख सन्धि' है। इसमें विभिन्न कथाओं, उपकथाओं, रसों तथा वस्तुओं की उद्भावना होती है।

'बिन्दु' तथा 'यत्न' को मिलाने वाली 'प्रतिमुख' सन्धि है। 'मुख' सन्धि में उत्पन्न होने वाला बीज इसमें कभी लक्षित रहता है और कभी अलक्षित रहता है।

'गर्भ-सन्धि' में 'पताका' तथा 'प्राप्त्याशा' का योग रहता है। 'पताका' चाहे सर्वत्र न रहे, पर प्राप्त्याशा इसमें सर्वत्र रहनी चाहिए। इसमें बीज नष्ट तो नहीं होता, पर दब अवश्य जाता है। बीज के गर्भस्थ रहने के कारण इसे 'गर्भ-सन्धि' कहा गया है।

विमर्श' या 'अवमर्श' संधि में 'नियताप्ति' और 'प्रकरी' का योग रहता है। 'नियताप्ति' का होना इसमें आवश्यक है। प्रकरी की स्थिति वैकल्पिक है। इसमें फलोन्मुखता तो होती है, पर क्रोध, शाप, विपत्ति आदि के कारण बाधा भी उत्पन्न हो सकती है। किन्तु 'गर्भसन्धि' की अपेक्षा फल-प्राप्ति का योग अधिक होता है।

'निर्वहण' सन्धि नाटक का उपसंहार होती है। इसे 'उपसंहृति' भी कहते हैं। 'फलागम' अवस्था और 'कार्य' नामक अर्थ प्रकृति का इसमें योग होता है और प्रयोजन की सिद्धि हो जाती है।

कथावस्तु के सम्बन्ध में पाश्चात्य विचारकों की भी निजी मान्यताएँ हैं। संधियों का वहाँ कोई विवेचन नहीं है। कार्य की अवस्थाएँ भारतीय नाट्यशास्त्रियों की भाँति ही हैं, केवल नाम का अन्तर है—आरम्भ, विकास, चरम सीमा, निगति और परिसमाप्ति। अरस्तू ने कथाएँ तीन प्रकार की मानी हैं—दन्त कथा मूलक, कल्पना मूलक तथा इतिहास मूलक। भारतीय दृष्टिकोण यह है कि नाटक सुखान्त होना चाहिए, जबकि पाश्चात्य दृष्टि से नाटक के दुखान्त होने पर बल दिया जाता है। इस दृष्टि भेद के कारण भारतीय और पाश्चात्य नाटकों के कथा-विकास, दृश्य-विधान आदि में पर्याप्त अन्तर आ जाता है। संस्कृत नाटकों में जो दृश्य वर्जित हैं, वे पाश्चात्य नाटकों में नहीं हैं। संस्कृत नाटकों में नायक को अन्त में फल-प्राप्ति होती है, जबकि

पाश्चात्य नाटकों में दुखान्त होने के कारण नायक वहाँ तक नहीं पहुँच पाते।

नाटक की कथावस्तु के सम्बन्ध में कुछ विशेष बातों का ध्यान रखना चाहिए। चूँकि नाटक दृश्य काव्य है, इसलिए उसकी कथावस्तु का विस्तार उतना ही होना चाहिए, जितना एक बैठक में देखा जा सके। कथानक रोचक होना चाहिए तभी वह दर्शकों को बाँध रखने में समर्थ होगा। उसका समन्वित प्रभाव ऐसा होना चाहिए जिससे देर तक दर्शकों का मानस अभिभूत बना रहे।

पात्र—नाटक का दूसरा महत्वपूर्ण तत्व पात्र है। नाटक की सफलता उसके सजीव स्वाभाविक पात्रों के नियोजन पर निर्भर रहती है। संस्कृत नाटकों में नेता का विस्तृत विवेचन किया गया है। नेता या नायक वह प्रधान पुरुष पात्र होता है जो कथा को फल की ओर ले जाता है। संस्कृत आचार्यों के अनुसार उसमें अनेक गुण होने चाहिए। उसे मधुर, विनीत, चतुर, त्यागी, मिष्ठभाषी, लोकप्रिय, उच्चवंशी, स्थिर स्वभाव वाला, युवा, बुद्धिमान, उत्साही, कलाविद्, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्रज्ञ और धार्मिक होना चाहिए। इस प्रकार प्राचीन मान्यता नायक के उच्चवंशी एवं देवोपम होने पर बल देती थी, किन्तु आजकल साधारण व्यक्ति को भी नायक बना दिया जाता है। हाँ, उसका उद्देश्य महान होना चाहिए।

संस्कृत नाट्यशास्त्र में नायक चार प्रकार के माने गये हैं—१. धीरोदात्त, २. धीरललित, ३. धीर प्रशान्त और ४. धीरोद्धत।

धीरोदात्त—दशरूपक में धीरोदात्त नायक का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—यह संवेगों पर नियन्त्रण रखने वाला, अत्यन्त गम्भीर, क्षमावान, अहंकार से रहित तथा दृढ़व्रती होता है। मर्यादापुरुषोत्तम राम इसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं।

धीरललित—दशरूपककार के अनुसार यह नायक कोमल स्वभाव का, कलावान, सुख का अन्वेषी एवं निश्चिन्त प्रकृति का होता है। कालिदास का दुष्यन्त इसी कोटि का नायक है।

धीरप्रशान्त—दशरूपककार के अनुसार इस नायक में सामान्य गुणों के अतिरिक्त शांति और सन्तोष विशेष रूप से रहते हैं। इसीलिए ऐसा नायक ब्राह्मण या वैश्य होता है, क्षत्रिय नहीं। 'मालती माधव' का माधव ऐसा ही नायक है।

धीरोद्धत—दशरूपककार के अनुसार इस नायक में आत्मश्लाघा, अहंकार-दर्प, छल-कपट, उग्रता रहती है। भीमसेन, मेघनाद इसी कोटि के नायक हैं।

शृङ्गार रस की दृष्टि से नायक के चार भेद किए गए हैं—अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट, तथा शठ।

नायिका—नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में इसका भी विस्तृत विवेचन मिलता है। नायक की प्रिया अथवा पत्नी को भारतीय आचार्यों ने नायिका कहा है। नाटक की प्रधान नारी पात्र को भी नायिका कह सकते हैं। नायिका के गुण नायकों के समान ही होते हैं। तदनुसार नायिकाओं के निम्न भेद मिलते हैं—दिव्या, कुल स्त्री तथा गणिका। नायक के सम्बन्ध के आधार पर निम्न तीन भेद भी साहित्य में मिलते हैं—

स्वकीया, परकीया और सामान्या। तीसरा भेद नायिका की अवस्था पर आधृत है, जैसे—मुग्धा, मध्या तथा प्रौढ़ा या प्रगल्भा। एक भेद प्रेम दशा के आधार पर किया जाता है। इसके आधार नायिका आठ प्रकार की होती है—स्वाधीन पतिका, वासकसज्जा, विरहोत्कठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितपतिका, तथा अभिसारिका।

नाटकों में नायक का विरोधी पात्र भी होता है। भारतीय आचार्य इसे 'प्रतिनायक' अथवा खलनायक कहते हैं। इसमें अनेक दुर्गुण होते हैं, यह वीर भी होता है। नायक का प्रधान सहायक पात्र 'पीठमर्द' कहलाता है। नाटकों में हास्य के द्वारा प्रमुख पात्रों का मनोरंजन करने वाला पात्र 'विदूषक' कहलाता है। इन पात्रों के अतिरिक्त नायक एवं नायिकाओं के सहयोगी अनेक पात्र होते हैं। भारतीय नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में इनका विस्तार से विवेचन मिलता है।

रस—भारतीय नाट्यशास्त्र में 'रस' का महत्वपूर्ण स्थान है। रस काव्य की आत्मा भी माना गया है। दृश्य काव्य में 'रस' का महत्व नाटयशास्त्री भरत के पूर्व से ही स्वीकृत हो चुका था। अत: दृश्यकाव्य के तत्वों में 'रस' एक प्रमुख तत्व है। "रस की व्यजना करना, सामाजिकों के हृदय में रसोद्रेक उत्पन्न करना दृश्य काव्य का प्रमुख लक्ष्य है। दृश्यकाव्य में नटों का यही उद्देश्य है कि उनके अभिनय के द्वारा सामाजिकों में रसोद्बोध हो।" रस वस्तुत: एक आनन्दानुभूति है। जो काव्य या साहित्य को पढ़कर अथवा नाटक को देखकर होती है। यह आनन्दानुभूति ही रस है। रसानुभूति के साधन हैं—विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव, इनके संयोग से ही रस निष्पत्ति होती है। भरत ने नाटयशास्त्र में लिखा है—**'विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रस-निष्पत्ति:।"**

नाटक में कोई एक रस प्रधान होता है, अत: किसी स्थायीभाव विशेष को पुष्ट कर रस अवस्था तक नाटककार पहुँचाता है। शेष रस या स्थायीभाव गौण रह कर उसी प्रधान रस को पुष्ट करते हैं। भारतीय आचार्यों ने नाटक में शृङ्गार अथवा वीर रस प्रधान रस स्वीकार किया है। इनमें से किसी एक रस की स्थिति प्रधान रहती है। शेष उसके अङ्गभूत रहते हैं—**"एक एव भवेदङ्गी शृंगारो वीर एव वा।"**[1] अनेक रस परस्पर विरोधी होते हैं। अत: रस का प्रयोग करते समय नाटककार को इस दिशा में विशेष सावधान रहने की आवश्यकता होती है।

रूपक—नाटक के उक्त तीन प्रमुख तत्त्व हैं। इनके अतिरिक्त नाटकीय वृत्तियाँ, संगीत और नृत्य का भी प्रमुख स्थान है। "नाटकीय वृत्तियों को एक ओर नायक का व्यापार बताया गया है, दूसरी ओर रसों से भी उनका सम्बन्ध स्थापित किया गया है। वृत्तियाँ चार हैं—कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी तथा भारती।" भारती

१. साहित्यदर्पण ६।० ।

दशरूपक ३।३३-३४ एको रसोऽङ्गी कर्त्तव्यो वीर: शृंगार एवं वा।
अङ्गमन्ये रसा: सर्वे कुर्यान्निर्वहणेऽद्भुतम्॥

शाब्दिक वृत्ति है। उसका प्रयोग विशेषतः प्रस्तावना में होता है। कैशिकी वृत्ति श्रृंगार रस के अनुकूल है। सात्वती वृत्ति वीर, अद्भुत तथा भयानक रस के उपयुक्त है। इसका प्रयोग करुण तथा श्रृंगार रस में भी हो सकता है। आरभटी वृत्ति का प्रयोग भयानक, वीभत्स और रौद्र रसों में होता है।

रूपक के भेद—भारतीय आचार्यों ने रूपक के निम्न दस भेद माने हैं—

१. **नाटक**—पाँच सन्धियों से समन्वित पौराणिक या ऐतिहासिक कथावस्तु, ५ से १० तक अङ्क, धीरोदात्त नायक, श्रृंगार या वीर रस प्रधान रचना।

२. **प्रकरण**—कल्पित कथावस्तु से युक्त ५ से १० तक अङ्क, पंचसन्धि समन्वित रचना, धीर प्रशान्त नायक तथा श्रृंगार रस वाली रचना।

३. **भाण**—धूर्त चरितवाली कल्पित कथावस्तु, एक अंक, कलाविद् विटनायक, एक ही पात्र द्वारा उक्ति-प्रयुक्ति का प्रयोग (Mono acting) वीर तथा श्रृंगार रस वाली रचना।

४. **प्रहसन**—एक अंक तथा कल्पित कथावस्तु प्रधान, पाखंडी, कामुक, धूर्त पात्र तथा हास्य प्रधान रचना।

५. **डिम**—पौराणिक कथा वाली चार अंकों की रचना, विमर्श रहित चार संधियों से समन्वित धीरोद्धत नायक, हास्य तथा श्रृंगार से भिन्न रस वाली रचना डिम होती है।

६. **व्यायोग**—पौराणिक कथा को लेकर गर्भ तथा विमर्श रहित सन्धियों से युक्त रचना, एक अंक, धीरोद्धत नायक, पुरुषपात्र प्रधान, श्रृंगार तथा हास्य से भिन्न छह रसों में से किसी एक रस वाली रचना व्यायोग होती है।

७. **समवकार**—'देव-दैत्यों से सम्बन्ध प्रसिद्ध पौराणिक कथावस्तु, विमर्श रहित शेष चार संधियों से सुसज्जित तीन अंक, धीरोदात्त तथा धीरोद्धत नायक वाली, वीर रस प्रधान रचना 'समवकार' होती है।

८. **वीथी**—कल्पित कथावस्तु, एक अंक श्रृंगार प्रिय नायक तथा श्रृंगार प्रधान रचना 'वीथी' कहलाती है।

अङ्क—'प्रसिद्ध पौराणिक कथावस्तु, एक अंक, करुण रस प्रधान रचना तथा इसमें प्राकृत पुरुष नायक होता है।

ईहामृग—मिश्रित कथावस्तु, चार अंक गर्भवविमर्श रहित तीन संधियों से समन्वित धीरोद्धत नायक वाली श्रृंगार प्रधान रचना ईहामृग होती है।

भारतीय नाटयशास्त्रीय दृष्टि आज लोकप्रिय नहीं रही है। परिवर्तित युग एवं परिस्थितियों में हिन्दी नाटक भी पाश्चात्य नाट्य-सिद्धान्तों से प्रभावित है। प्राच्य-सिद्धान्तों की अपेक्षा पाश्चात्यनाट्य-सिद्धान्त ही आलोचना के मानक बन गये हैं।

पाश्चात्य नाट्य सिद्धान्त निम्न हैं—कथानक, पात्र तथा चरित्र-चित्रण, कथोपकथन अथवा संवाद, देशकाल और वातावरण, उद्देश्य तथा भाषा-शैली। इनके अतिरिक्त संकलन-त्रय, द्वन्द्व योजना एवं रंगमंच की भी नाटकों में प्रभावी भूमिका सिद्ध

हो रही

कथानक—नाटक की मूल कथा—जिसे मंच पर अभिनय के द्वारा प्रस्तुत किया जाता ' कथानक, कथावस्तु (Plot) आदि नामों से अभिहित होती है। पाश्चात्य नाट्यशास्त्रियों ने नाटक के कथानक की विकास की पाँच अवस्थाएँ मानी हैं—(१) प्रारम्भ में कुछ संघर्ष को जन्म देने वाली घटना या घटनाएँ घटित होती हैं, इन्हें (Initiol action) कहते हैं। (२) विकास (Risingaction) संघर्ष उत्तरोत्तर चरम सीमा की ओर बढ़ता हुआ जटिल और व्यापक होता है, इसमें द्वन्द्व एवं संघर्ष वृद्धि पर होता है, इस अवस्था को 'विकास' नामक द्वितीय अवस्था कहते हैं। (३) चरम सीमा (Climax) इस अवस्था में विरोधी आदर्श अथवा परिस्थितियों का संघर्ष चरम सीमा पर पहुँच जाता है और नाटक की उत्सुकता भी चरम सीमा पर होती है, अब क्या होगा ? का प्रश्न चरम पर होता है। इस अवस्था का नाम 'चरम सीमा' है। (४) **'निगति' या 'उतार'** (Denoument) इस अवस्था में कथा उतार की ओर होती और एक पक्ष की विजय निश्चित सी हो जाती है और दूसरा पक्ष पराजय की ओर होता है। विजय और पराजय की यह स्थिति जिस स्थल पर होती है, वह 'निगति' नामक अवस्था है। (५) **अन्त या समाप्ति**—(Catastrophe) यह नाटक के कथानक की अन्तिम अवस्था होती है, यहाँ समस्त संघर्ष समाप्ति की ओर होता है। यह दुखद भी हो सकता है और सुखद भी। प्रायः संघर्ष मृत्यु, नाश आदि में परिणत होता है। इस स्थिति में नाटक के प्रारम्भ में उत्पन्न संघर्ष का अन्त हो जाता है।

कथानक की उक्त पाँचों अवस्थाएँ संघर्ष मूलक हैं। प्राच्य और पाश्चात्य दृष्टिकोण के अन्तर के कारण ही यह अन्तर है अन्यथा "ये पाश्चात्य विकास दशायें भारतीय कार्य अवस्थाओं से अद्भुत साम्य रखती हैं, केवल फल और संघर्ष का अन्तर है।" पाश्चात्य नाटक में संघर्ष को महत्व प्राप्त है, जबकि भारतीय नाटक में नेता और उसके आदर्श को। भारतीय नाटकों में भी संघर्ष देखा जा सकता है किन्तु उसकी स्थिति सीधी और स्पष्ट होती है।

पात्र और चरित्र-चित्रण—नाटक का समस्त प्रबन्ध तन्त्र पात्र आश्रित होता है। पात्र ही कथानक को नाना अवस्थाओं के मध्य से गुजरता हुआ अन्त की ओर ले जाता है। वह कथा का संवाहक होता है। पाश्चात्य नाट्यकला में भारतीय नाट्यकला की भाँति नायक का कोई सुनिश्चित स्वरूप नहीं है, वह साधारण और असाधारण किसी भी स्थिति का हो सकता है। आधुनिक नाटकों में पात्रों का चरित्र-चित्रण आदर्श से हटकर यथार्थवादी पद्धति पर किया जा रहा है। पात्र सहज और स्वाभाविक होने चाहिए। उनका विकास मनोवैज्ञानिक रूप में होना चाहिए। पात्रों को **व्यक्ति पात्र** तथा **प्रतिनिधि** पात्र इन दो भेदों में विभक्त किया जा सकता है। वर्ग-पात्र वर्ग विशेष की विशेषताओं को प्रतिविम्बित करते हैं और व्यक्ति पात्र अपनी विशिष्टताओं को लिए हुए स्थिर और गतिशील हो सकते हैं।

कथोपकथन—नाटक संवादों के द्वारा लिखा जाता है। पात्र का चरित्र-चित्रण,

कथा का विकास, रोचकता और वातावरण सृजन भी संवादों से ही होता है। वस्तुतः संवाद या कथोपकथन नाटक का प्राण-तत्व है। इस तत्व के अभाव में नाटक की कल्पना ही साकार नहीं हो सकती। प्रसङ्ग-परिस्थिति-पात्रानुरूपता संवाद के मूल तत्व या गुण हैं। संवाद जितने सार्थक संक्षिप्त, वक्र और अन्तःशक्ति सम्पन्न होते हैं, नाटक उतना ही सफल होता है। अतः संवादों की भाषा सरल, सुबोध, और प्रवाहपूर्ण होनी चाहिए।

देशकाल वातावरण—नाटक में देशकाल का निर्वाह आवश्यक है। भारतीय नाट्यशास्त्रीय दृष्टि इस तत्व का निर्वाह अभिनय, दृश्यविधान और रंग संकेत आदि के द्वारा सिद्ध मानती थी। युगीन सन्दर्भों को रूपायित करने के लिए नाटक में देश-काल के अनुरूप ही पात्र की वेषभूषा, परिस्थितियाँ आचार-विचार आदि होने चाहिये, इनके सफल निर्वाह से पात्र सजीव प्रतीत होते हैं। कथा के युग के अनुसार ही समाज, राजनीति और परिस्थितियों का अंकन भी होना चाहिए। ऐतिहासिक नाटकों में उक्त तत्वों का निर्वाह अत्यन्त अपरिहार्य है। सफल नाटककार दृश्यविधान, मंचव्यवस्था, वेषभूषा और अभिनय आदि के द्वारा सजीव वातावरण की सृष्टि कर लेता है।

भाषा-शैली—नाटक एक दृश्य विधा है, दर्शक संवादों के माध्यम से ही कथ्य को ग्रहण करता है, अभिनय उसे हृदय में उतार देता है अतः भाषा सरल, स्पष्ट और सजीव होने पर ही श्रोता और दर्शक को रसानुभूति कराने में समर्थ होगी। अतः शब्द, वाक्य एवं भाषा का ऐसा प्रयोग होना चाहिए जो सहज ग्राह्य हों। नाटक में भाषा-शैली की सरलता अनिवार्य शर्त है। भाषा-शैली विषयानुरूप, प्रसाद, ओज और माधुर्य गुण-समन्वित हो। साथ ही वह कलात्मक एवं प्रभावशाली भी होनी चाहिए। भाषा के अलंकृत, लाक्षणिक, वक्र और प्रवाहपूर्ण होने पर नाटक का सौन्दर्य और अधिक बढ़ जाता है।

उद्देश्य—भारतीय नाट्यशात्र में धर्म, अर्थ काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय को नाटक का मुख्य उद्देश्य माना गया है। रसानुभूति भी एक नाट्य प्रयोजन है। इनके अतिरिक्त आदर्शवादी चेतना भी भारतीय नाट्य का मुख्य उद्देश्य था। किन्तु वर्तमान नाटक जीवन का चित्रण करते हैं अतः जीवन की समस्याओं की प्रस्तुती और उनकी व्याख्या तथा समाधान नाटकों का उद्देश्य है। नाटककार इस उद्देश्य की सिद्धि पात्रों के संवाद, उनके कार्यकलाप और नाना घटनाओं के द्वारा करता है। प्रायः नाटक में उद्देश्य अभिव्यंजित कियाजाता है। कभी-कभी विशिष्ट पात्र के द्वारा वह उद्देश्य को व्यक्त करता है। "नाटक के जिन पात्रों से हमारा भाव-तादात्म्य होता है, नाटककार उन्हीं में बोलता है। इस प्रकार नाटक में नाटककार जीवन की व्याख्या परोक्ष रूप में व्यंजित करता है। जितना ही उद्देश्य महान् होगा, उतनी ही रचना श्रेष्ठ होगी। जो लेखक जितनी अधिक उदात्त मानवीय संवेदना के रूप में अपना जीवनोद्देश्य प्रकट करता है. वह उतना ही महान् कलाकार बनता है। उद्देश्य की सिद्धि उदान्त रागों के रस-रूप में ही करनी चाहिए, अन्यथा लेखक के उपदेशक या जीवन-व्याख्याता बन

जाने का डर रहता है।"

संकलन-त्रय—उपर्युक्त मुख्य तत्वों के अतिरिक्त पाश्चात्य नाट्यकला में संकलन-त्रय की पर्याप्त चर्चा है। संकलन-त्रय को कुछ विद्वान् देशकाल-वातावरण में समाहित कर लेते हैं। यूनानी चिन्तकों ने स्थान, समय और घटना की अन्विति का प्रबल आग्रह किया है। स्थान, काल और घटना की अन्विति ही संकलन-त्रय कहलाती है। इन तीनों की एकता नाटक में स्वाभाविकता, सजीवता एवं रोचकता को उत्पन्न करने में सहयोगी रही है किन्तु आज का जीवन और परिस्थितियाँ निरन्तर जटिल से जटिलतर हो रही हैं, स्थान और समय की दूरी समाप्त होती जा रही है, व्यक्ति अत्यंत व्यस्त होता जा रहा है, फलस्वरूप इन तीनों अन्वितियों के प्रति आग्रह क्षीण हो रहा है, केवल घटना की अन्विति प्रधान रह गयी है। आज की अनेक रचनाओं में स्थान एवं समय की अन्विति का प्रायः अभाव होता है फिर भी घटना की एकता के कारण रचना अत्यन्त प्रभावशाली होती है।

यूनानी नाटककारों का आग्रह था कि जो घटनाएँ नाटक में प्रस्तुत की जायें वो एक ही स्थान से सम्बद्ध हों, इसके लिए वे प्रायः एक ही दृश्य की योजना करते थे। यह स्थान या स्थल संकलन कहा जाता था। वास्तव में यूनानी नाट्यकला की यह अविकसित स्थिति थी, उसमें दृश्य परिबर्तन की व्यवस्था नहीं थी, गर्भांक आदि का प्रदर्शन भी नहीं होता था, दूसरी ओर संस्कृत के नाटकों तथा परवर्ती पाश्चात्य नाटक इस नियम से मुक्त थे।

स्थान की एकता का आज अभिप्राय यह लिया जाता है कि जो पात्र अभी एक दृश्य में आगरा दिखाया गया है, वह तुरन्त दूसरे दृश्य में बम्बई या कलकत्ता न दिखाया जाय। ऐसा होने पर स्थान और काल का दोष संभावित है, निश्चय ही कुछ ही क्षणों में दूरस्थ स्थान का मंचन अस्वाभाविक एवं अग्राह्य प्रतीत होता है। भिन्न-भिन्न स्थानों को प्रस्तुत करते समय—काल, स्थान और कार्य के औचित्य का ध्यान रखा जाता है और रखा भी जाना चाहिए।

काल-संकलन का आशय यह था कि "जो कार्य-व्यापार या घटना जितने समय में वस्तुतः घटी हो, उसका अभिनय भी उतने ही समय में होना चाहिये। प्राचीन यूनानी नाटक दिन-भर या रात-भर चलते रहते थे। अरस्तू के समय में २४ घंटे की सामग्री को रात में प्रस्तुत करने का नियम प्रचलित हुआ। बाद में यह सीमा ३० घंटे तक बढ़ी।" कुछ समय बाद इस नियम को भी अस्वीकार कर दिया गया।

संस्कृत के नाटकों में विशेष सावधानी के साथ इस संकलन का प्रयोग किया जाता था—गर्भाङ्कादि का प्रयोग इन्हीं दोषों के निराकरण के लिए था। प्रसाद जी के चन्द्रगुप्त में भी ऐसा दोष विद्यमान है। अतः काल के व्यवधान के निराकरण एवं घटना की सफल प्रस्तुती के लिए अत्यन्त सावधानी की अपेक्षा है।

कार्य-संकलन—कार्य (घटना) संकलन का आशय यह है कि नाटक की घटना एक ही हो अर्थात् एक दिन में एक स्थान पर जो कार्य-व्यापार या घटना घटी हो, उसी

का एक धारा में प्रदर्शन हो। उसमें प्रासंगिक-अवान्तर घटनाओं का विस्तार एवं भीड़ न हो। वस्तुत: प्रासंगिक घटनाएँ नाटक में रोचकता उत्पन्न करती हैं, प्रमुख पात्र के चरित्र को भी उभारती हैं, अतः इनका सन्तुलित प्रयोग होना ही चाहिये।

आज की नाट्यकला में कार्य-संकलन कथा-सगठन के अर्थ में प्रयुक्त हो रहा है। कथावस्तु में क्रम बद्धता, एकता, एवं समन्वय नाटक को प्रभावशाली बनाता है और तभी नाटक सफल कहा जाता है। अतः इसका ध्यान आवश्यक है।

द्वन्द्व-योजना—पाश्चात्य नाट्यकाल में संघर्ष का प्राधान्य है। यह संघर्ष बाह्य एवं आन्तरिक दोनों रूपों में होता है। नाटक में घटनाओं का घात-प्रतिघात, पारस्परिक विरोध और संघर्ष प्रस्तुत करते हुए कथावस्तु का विकास दिखलाया जाता था। इस संघर्ष या द्वन्द्व योजना के सफल प्रयोग से नाटक में रोचकता, गति और उत्सुकता निरन्तर बनी रहती। इस संघर्ष से पात्र का चारित्रिक विकास भी गतिशील बना रहता है। पात्र की विभिन्न मानसिक स्थितियों का चित्रण मानव मन को समझने में सहयोग देता है। आशय यह है बाह्य द्वन्द्व एवं अन्तर्द्वन्द्व नाटक के आज आवश्यक उपकरण बन गये हैं। आज के हिन्दी नाटकों में द्वन्द्व योजना का सफल प्रयोग देखा जा सकता है।

पाश्चात्य नाट्यकला में कार्य-व्यापार की पाँच स्थितियों का क्रमिक विकास इसी द्वन्द्व पर ही आधृत है। संघर्ष या चरम सीमा (क्राईसिस, क्लाईमेक्स) नाटक का महत्वपूर्ण स्थल है, इसी द्वन्द्व की समाप्ति पर परिणाम उभरता है। आशय यह है कि संघर्ष उत्पन्न करने वाली घटना नाटक में अनिवार्य है। "इस संघर्ष का चाहे अन्त में समाधान हो या न हो, पर नाटक में इसकी उपस्थिति अनिवार्य है। मनुष्य की अनुकरण-प्रवृत्ति तभी नाटक का रूप ग्रहण कर सकती है, जब कि वह कोई मानसिक एवं भौतिक संघर्ष प्रस्तुत करती हो।"

रंगमंच—रंगमंच नाटक का अनिवार्य उपकरण है। नाटक दृश्य काव्य है। दृश्यकाव्य को अभिनय के द्वारा मंचित किया जाता है। जो नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत न हो सके, उसे नाटक कहना भी उचित नहीं है, भले ही वह पढ़ने पर कितना ही रोचक और मार्मिक क्यों न लगे। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अभिनय नाटका, अभिन्न तत्व है। रंगमंच पर अभिनय के द्वारा प्रस्तुत होने पर ही नाटक की सार्थकता सिद्ध होती है। यह निर्विवाद सिद्ध है कि नाटक अभिनय के योग्य होना ही चाहिए।

कुछ विद्वान भले ही इसे पाठ्य-विधा के रूप में स्वीकारें कर एक साहित्यिक शैली के नाटक को अभिनय के अभाव में भी महत्वपूर्ण रचना मान लें, किन्तु उसे अभिनेयता के अभाव से ग्रस्त सदोष रचना तो माना ही जाएगा। इस प्रसंग में डा० कृष्णदेव झारी ने ठीक ही लिखा है कि : "रंगमंच की इस प्रकार अवहेलना से रंगमंच के विकास में बाधा उत्पन्न हो सकती है।........हिन्दी में रंगमंच का वैसे ही अभाव है, नाटककार की इस उपेक्षा से तो कभी भी रंगमंच का विकास नहीं हो सकेगा।........रंगमंच के योग्य नाटक का भी पाठ्य महत्व वही है जो रंगमंच

निरपेक्ष नाटक का। अतः यदि नाटककार को नाटक की ही रचना करनी है तो वह रंगमंच की दृष्टि से अधूरे नाटक की ही रचना क्यों करे ? रंगमंच के प्रतिकूल पाठ्य-नाटक लिखने की बजाय तो उसे उपन्यास या कहानी लिखने में ही प्रवृत होना चाहिए।"

भारतीय नाट्यशास्त्र में अभिनय के चार प्रकारों—आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक का उल्लेख है। जो नाटक और अभिनय की सफलता में सहयोग देते थे। अनेक ऐसे दृश्य एवं घटनाएँ थीं, जिन्हें जीवन का सत्य मानते हुए भी मंच के लिए वर्जित कहा गया था—संभोग, वध, स्नान, युद्ध आदि।

आशय यह है कि अभिनय या रंगमंच नाटक के आवश्यक तत्व हैं, नाटक की सफलता की यह महत्वपूर्ण कसौटी है, अतः रंगमंच की सीमा का ध्यान रखकर ही नाटक सृजन करना चाहिए। आज हिन्दी रंगमंच निरन्तर विकास की ओर उन्मुख है और भविष्य के लिए अपार सम्भावनाओं को लिए हुए है।

प्रश्न ८८—(१) नाट्य कला और उपन्यास कला का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।

(२) नाटक तथा उपन्यास में कुछ साम्य होते हुए भी बहुत बड़ा अन्तर है; इस साम्य तथा वैषम्य का स्पष्टीकरण कीजिए।

नाटक एवं उपन्यास साहित्य की दो महत्वपूर्ण विधाए हैं। यदि हडसन नाटक और उपन्यास को विषय-वस्तु के वर्णन और चित्रण के कारण समान मानते हैं तो मैरियन फॉक्स उपन्यास को जेबी नाटक (थियेटर) कहते हैं तदनुसार दोनों विधाओं में पर्याप्त साम्य है। निश्चय ही इन दोनों के माध्यम से मानव-मन की जिज्ञासु प्रवृत्ति का समाधान होता है। दोनों विधाएँ मानव जीवन का चित्रण करती हैं। उसकी समस्याओं का समाधान करती हैं। श्री प्रेमचन्द ने ठीक ही लिखा है कि "मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्रमात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।" दूसरी ओर नाटक मानव जीवन की विभिन्न अवस्थाओं एवं भावों का अनुकरण प्रस्तुत करता है—"अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्"। यह अवस्था का अनुकरण भी मानव जीवन का चित्रण है। "नाटक जीवन के प्रति निकट, मानव-समाज का सजीव प्रतिविम्ब और स्वाभाविक रूप है। नाटक में अनुकरण, आत्मविस्तार तथा जाति की रक्षा आदि मूल प्रवृत्तियों के रूप मिलते हैं। इसमें लोक-हित, लोकरंजन तथा समाज सुधार की क्षमता विपुल मात्रा में मिलती है। उपन्यास भी मनोरंजन का एक साधन है। उपन्यास का प्रणयन देश के राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक आन्दोलनों को साहित्यिक रूप देने के लिए होता है। उपन्यास का कथानक समस्या प्रधान तथा विश्लेषणात्मक होता है।" इन दोनों विधाओं के तत्व समान होते हुए भी प्रयोग के आधार पर दोनों में अन्तर प्रकट होता है। कुछ विषमताएँ इस प्रकार हैं—

(१) उपन्यास श्रव्यकाव्य है और नाटक दृश्यकाव्य। एक का आनन्द पढ़कर और सुनकर लिया जाता है जबकि दूसरे का आनन्द रंगमंच पर अभिनय देखकर लिया

जाता है।

(२) नाटककार के पास अपने भावों को व्यक्त करने के लिए अनेक साधन, गीत, संगीत, चित्र, सजे-सजाये पात्र, दृश्यपट, रंगमंच आदि सुलभ हैं, जबकि उपन्यास-कार केवल शब्दों के द्वारा अपना सम्पूर्ण मनोभाव व्यक्त करता है।

(३) नाटककार रंगमंच के आश्रित है, अतः उसकी कुछ सीमाएँ हैं, जबकि उपन्यासकार को पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त है। इसीलिए नाटक के चरित्र उतनी सफलता से चित्रित नहीं होते हैं जितनी कि उपन्यास के।

(४) नाटककार के ऊपर समय और आकार का प्रतिबन्ध होता है जबकि उपन्यासकार इस दृष्टि से स्वतन्त्र है। हजारों पृष्ठ वाले उपन्यास भी आज उपलब्ध हैं। इस विषय में हडसन ने लिखा है कि—

"उपन्यास को विकास के लिए वह स्वतन्त्रता प्राप्त है, जो नाटक को दूर भविष्य में भी प्राप्त होने की सम्भावना नहीं है।" इसी आशय को वह अन्यत्र इन शब्दों में व्यक्त करता है—"नाटक जितना अधिक वैधानिक नियन्त्रण में रहता है, उपन्यास को उतनी ही अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त है।"

डा० भगीरथ मिश्र ने नाटक एवं उपन्यास के अन्तर को निम्न संकेतों के आधार पर स्पष्ट किया है।

नाटक	उपन्यास
१. नाटक में अतीत की घटनाओं को वर्तमान में प्रत्यक्ष घटित होते दिखलाया जाता है।	१. अतीत की घटनाओं का अतीत में घटित रूप में ही वर्णन होता है।
२. नाटककार अपनी समस्त रचना में अप्रत्यक्ष रहता है वह स्वयं कुछ नहीं कहता। उसे जो कुछ कहना होता है वह पात्रों के वार्तालाप या स्वगत कथन के रूप में प्रकट करता है। पात्रों के कथोपकथन और क्रियाकलाप ही उनके चरित्र को अभिव्यक्त करते हैं।	२. उपन्यास अपनी कृति में प्रगट और प्रत्यक्ष रूप में आता है और पात्रों के चरित्रों, आन्तरिक मनोभावों और विचारों पर प्रकाश डालता और टीका-टिप्पणी करता है। वह चरित्र-चित्रण के विश्लेषणात्मक और नाटकीय दोनों ही ढंगों का प्रयोग करता है और कथानक के विकास और चरित्रों के परिचय सम्बन्धों सूचना तथा देशकाल या युग की पृष्ठभूमि का विवरण स्वयं उपस्थित करता है।
३. नाटक में पात्र अपने भाव और अर्थ को कथोपकथन और अभिनय द्वारा पूर्णतया प्रकट करते हैं और दर्शक की कल्पना पर अधिक जोर नहीं देना पड़ता। देशकाल का संकेत 'सीन-सीनरी' आदि	३. उपन्यासकार का माध्यम केवल शब्द है। अतः उसे अपनी वर्णन-शैली को स्वाभाविक, सहजग्राह्य और प्रभावशाली बनाना पड़ता है। साथ ही पाठक के लिए भी कल्पनाशीलता और संवेदना की

द्वारा होता है इस कारण अर्थ और भाव अधिक सहजग्राह्य तथा अधिक प्रभावकारी रूप में प्रकट होते हैं।

अधिक अपेक्षा रहती है। कथासूत्र को स्मृति और बुद्धि द्वारा जोड़ना होता है।

४. नाटक का दर्शक नियत समय के लिए ही नाटक का आनन्द ले सकता है। बीच में छोड़कर और जब तक इच्छा हो, तब तक नाटक का आनन्द नहीं लिया जा सकता।

४. उपन्यास-पाठक के लिए समय का कोई प्रतिबन्ध नहीं। जब इच्छा और जब समय हो, तब पढ़ा और उसका आनन्द प्राप्त किया जा सकता है।

५. नाटक में प्रभाव का ध्यान अधिक रख जा सकता है।

५. उपन्यास का प्रमुख ध्येय वास्तविकता है। वह हमारे अनुभूत जीवन को चित्रित करने का प्रयास करता है।

प्रश्न ८९—एकांकी के स्वरूप, परिभाषा एवं तत्वों का विवेचन कीजिए।

हिन्दी साहित्य में एकाङ्की एक नवीनतम विधा है, इसका आविर्भाव उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ है। जिस प्रकार उपन्यास के क्षेत्र में 'कहानी का उदय हुआ, ठीक उसी प्रकार नाटक के अन्तर्गत एकाङ्की नामक विधा का उदय हुआ है। आज के व्यक्ति का जीवन व्यस्त है, जटिल है और विषम परिस्थितियों में फँसा हुआ है। अतः वह विशालकाय महाकाव्य, महाकाय नाटक तथा वृहदाकार उपन्यास पढ़ने के लिए समय नहीं पाता है, उसे तो एक छोटी-सी 'रचना' चाहिए, जो उसका मनोरंजन कर सके। इस दृष्टि से एकांकी नाटक तथा कहानी आते हैं ये दोनों ही आज के युग में लोकप्रिय हो रहे हैं; व्यक्ति थोड़े से समय में, कम पैसा खर्चकर अधिक आनन्द की प्राप्ति चाहता है, जीवन की विषम समस्याओं का समाधान चाहता है।

कहानी की अपेक्षा एकांकी अधिक महत्वपूर्ण, सरस तथा मनोरम है। क्योंकि इसमें कथा, संगीत, अभिनय, चरित्र-चित्रण और संवादों का आनन्द एक साथ मिलता है। इसमें प्रत्यक्ष आनन्द मिलता है। इसमें जो शिक्षा मिलती है, वह आँखों के समक्ष प्रत्यक्ष घटित होती हुई सी प्रतीत होती है, जो भी समस्या इसमें हल की जाती है, उसका चित्र आँखों के सामने प्रत्यक्ष घूम जाता है। उसकी अच्छाई, बुराई स्पष्ट हो जाती है, अतः एकांकी आज के युग में एक महत्वपूर्ण विश्वसनीय विधा है "जिन कारणों ने उपन्यास क्षेत्र में कहानी अथवा गल्प को जन्म दिया है, वे ही कारण नाटक-क्षेत्र में एकांकी के जन्म के लिए भी उत्तरदायी हैं। यन्त्रयुग का मनुष्य अपने दैनिक कार्यभार में इतना तल्लीन रहता है कि अनेक अंगों और दृश्यों वाला महानाटक देखने अथवा पढ़ने के लिए उसके पास समय ही नहीं रहता। उसका अधिकांश समय दैनिक कार्य-व्यापार में व्यतीत होता है अतएव यह स्वाभाविक ही था कि वह मनोरंजन के ऐसे साधनों को अपनाये जो अपेक्षाकृत कम समय में ही पूर्ण हो जायें।" निश्चय ही एकांकी इस समस्या का समाधान पूर्ण रूप से करता है क्योंकि एकांकी एक छोटी रचना है, इसमें एक अंक होता है, इसमें कथा का फैलाव अधिक न होकर संक्षिप्त होता है।

इसी संक्षिप्तता के कारण उसकी गति तीव्र होती है और चरमोत्कर्ष पर जाकर वह इतनी व्यंजक हो जाती है कि पाठक मर्माहत होकर रह जाता है।

एकाङ्कीकार आधुनिक जीवन को अभिव्यक्ति देता है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन की अभिव्यक्ति को उद्देश्य मानने के कारण मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व और पात्रो का भावनात्मक घात-प्रतिघात दिखाते हुए नाटकीय घटनाओं को चरम-उत्कर्ष तक ले जाता है यही आज के एकाङ्की की विशिष्ट कलात्मक सिद्धि है।

आधुनिक हिन्दी एकाङ्की पश्चिम की देन है। पश्चिम में भी इसका उदय अभी हुआ है, वहाँ भी पहले विशालकाय नाटकों का ही प्रचार था। इन्हीं बड़े-बड़े नाटकों के मध्य दर्शकों के मनोरंजन के लिए छोटे-छोटे नाटक खेले जाते थे—जिन्हें **'कर्टेन रेजर्स'** कहा जाता था। यही 'कर्टेन रेजर्स' महायुद्ध के बाद स्वतन्त्र अस्तित्व धारण कर एकाङ्की के रूप में उदित हुए हैं। जिन्हें परिस्थितियों ने महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया है।

एकांकी की परिभाषा—हिन्दी के नाटककारों ने एकांकी की अनेक परिभाषाएँ की हैं। डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार "जब समस्त जीवन अथवा जीवन के विस्तृत भाग की अपेक्षा उसके केवल एक भाग या भावना के चित्रण की आवश्यकता पड़ती है तो एकांकी नाटक की रचना की जाती है।"[1] वर्मा जी ने आगे भी लिखा है कि एकांकी में एक भावना और एक घटना का प्राधान्य होता है वही एक घटना कली के समान खिलकर पुष्प के रूप में विकसित हो मानव हृदय को आह्लादित करती है। विष्णु प्रभाकर की दृष्टि में एकांकी नाटक का छोटा रूप नहीं है अपितु "बड़ा नाटक उपवन के समान है और एकांकी गमले के समान।"[2] सेठ गोविन्ददास एकांकी में कोई मूल विचार या समस्या का होना आवश्यक मानते हैं। सेठ जी के मतानुसार "विचार, संघर्ष, कथानक आदि नाटक के मुख्य तत्व हैं किन्तु प्रभाव एकता को वे सबसे अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं।" डा० नगेन्द्र का मत है कि "एकांकी में हमें जीवन का क्रमबद्ध विवेचन न मिलकर एक पहलू, एक महत्वपूर्ण घटना, एक विशेष परिस्थिति, अथवा एक उद्दीप्त क्षण का चित्रण मिलेगा।"[3] डा० राम चरण महेन्द्र का विचार है कि "एकांकी मानव जीवन या समाज के एक पहलू या उद्दीप्त क्षण का चित्र है। इसका निर्माण एक आधारभूत मुख्य विचार, विशेष समस्या, एक सुनिश्चित सुकल्पित लक्ष्य, एक ही महत्वपूर्ण घटना विशेष परिस्थिति पर ही हो सकता है।"[4]

उपर्युक्त परिभाषाएँ एकांकी के वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन करती हैं। प्रारम्भ में विद्वान एकांकी को नाटक का लघुसंस्करण मानते थे किन्तु आज उस भ्रम का निराकरण हो चुका है। रूपक के इन दोनों रूपों में काफी अन्तर है। दोनों का

१. शिवाजी, भूमिका, पृ० ९।
२. अशोक तथा अन्य एकांकी, भूमिका, पृ० १५।
३. आधुनिक हिन्दी नाटक, पृ० १२०।
४. हिन्दी एकांकी : उद्भव और विकास, पृ० ३१।

अस्तित्व स्वतन्त्र है। निश्चिय ही यह विधा मानव मन की समस्याओं के समाधान में बहुत बड़ा योगदान दे रही है। साहित्य के इस नाटयप्रधान रूप के द्वारा—"मानव जीवन के किसी एक पक्ष, एक चरित्र, एक कार्य, एक परिपार्श्व, एक भाव की ऐसी कलात्मक व्यंजना की जाती है कि ये एक अविकल भाव से अनेक की सहानुभूति और आत्मीयता प्राप्त कर लेते हैं।"

एकांकी के तत्व—एकांकी नाटक के निम्न तत्व हैं—कथानक, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, संकलनत्रय 'संघर्ष', अभिनेयता, प्रभाव की एकता या उद्देश्य।

कथानक—कथानक नाटक, उपन्यास, कहानी की भाँति इसका एक अनिवार्य तत्व है। 'एकांकी की कथावस्तु एक तीव्र अनुभूति है। एकांकी की कथावस्तु में कुतूहल एवं चरम सीमा का विशेष महत्व है। वर्मा जी के अनुसार "एकांकी के कथानक का रूप हमारे सामने तब आता है, जब आधी से अधिक घटना बीत चुकी होती है। इस लिए उसके आरम्भिक वाक्य में ही कौतूहल और विज्ञान की अपरिमित शक्ति भरी रहती है।" एकांकी की कथावस्तु में एक घटना ही रहती है घटनाधिक्य का समावेश उचित नहीं होता फिर भी वह एकांकीकार एक ही अंक में अनेक दृश्यों की योजना कर देते हैं किन्तु रामकुमार वर्मा जैसे समर्थ एकांकीकार इसे उचित नहीं समझते। निश्चय ही संक्षिप्तता और सांकेतिकता एकांकी का अनिवार्य तत्व है। उपेन्द्रनाथ अश्क का मत है कि "एकांकी लेखक किसी मूलभूत विचार को उसकी समस्त भावनाओं के साथ व्यक्त नहीं करता, उसका संकेत मात्र करता है।"[1] उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि मार्मिकता, संवेदना, परिधिसंकोच और प्रभावान्विति एकांकी के अच्छे कथानक के अनिवार्य गुण हैं। क्षिप्तता और गति से कथा चरमोत्कर्ष की ओर बढ़ने में सहायक होती है।

एकांकी की कथा जीवन के किसी अङ्ग से ली जा सकती है उसके लिए ऐसा कोई आग्रह नहीं है कि कथा राजनीतिक हो या ऐतिहासिक आदि।

चरित्र-चित्रण—एकांकी के लिए चरित्र-चित्रण एक अनिवार्य तत्व है। किन्तु पात्राधिक्य एकांकी के सौन्दर्य को कम ही नहीं कर देते हैं अपितु नष्ट भी कर देते हैं अतः प्रत्येक पात्र की अपनी आवश्यकता एवं विशेषता सिद्ध होनी चाहिए तभी उसकी उपयोगिता और सौन्दर्य की वृद्धि हो सकेगी। पात्र के अन्तर में विद्यमान संघर्ष एकांकी को सौन्दर्य प्रदान करता है। पात्रों की मनःस्थिति और उसके रहस्यों का उद्घाटन चरित्र-चित्रण में आवश्यक माना जाता है। डा० रामकुमार वर्मा ने इस सन्दर्भ में लिखा है कि "घटना से अधिक शक्तिशाली पात्र होते हैं।....एकांकी में पात्र महारथी होता है घटनाएँ रथ बनकर समस्या संग्राम में उसे गति प्रदान करती हैं। मेरी दृष्टि में पात्र-प्रधान एकांकी कला की दृष्टि से अधिक शक्तिशाली हुआ करते हैं।"[2] वस्तुतः पात्र

१. रेखाएँ और चित्र, पृ० ११७।
२. ऋतुराज, भूमिका, पृ० १४।

और उसका चरित्र ही वह तत्व है जिसकी प्ररणा से एकांकीकार नाटक सृजन के लिए प्रस्तुत होता है। अतः कथानक के समान ही चरित्र-चित्रण एकांकी का अनिवार्य तत्व है।

किन्तु एकांकी की सफलता के लिए पात्रों की संख्या, सीमित चारित्रिक विविधता तथा गतिशीलता एक अनिवार्य तत्व है।

कथोपकथन—कथोपकथन या संवाद एकांकी का सर्वस्व है। सुन्दर कथावस्तु और चरित्र-चित्रण की सफलता तभी सम्भव है जब कथोपकथन तदनुरूप हो, संक्षिप्त हो, मार्मिक हो और ध्वन्यात्मक हो। अनावश्यक एवं विस्तृत संवाद एकांकी के सौन्दर्य को नष्ट करने वाले होते हैं। अतः निरर्थक एवं निष्प्रयोजन संवादों का नाटक में कोई स्थान नहीं है। उपेन्द्रनाथ अश्क संवाद को एकांकी का महत्वपूर्ण तत्व स्वीकर करते हैं किन्तु संवाद को ही एकांकी नहीं कहा जा सकता। कुछ आलोचकों का मत है कि "एकांकी सम्भाषण का दूसरा नाम है; यह उतना ही सत्य है जितना यह कि ईटों का ही दूसरा नाम मकान है।"[१] डा० रामचरण महेन्द्र के अनुसार "संवादों की स्वाभाविकता के साथ सजीवता बड़ा आवश्यक गुण है। वे संक्षिप्त, मर्मस्पर्शी, वाग्वैदग्ध्य पूर्ण, पात्रों की चारित्रिकता को स्पष्ट करने वाले तथा कथासूत्र को आगे बढ़ाने वाले होने चाहिये।"[२] स्वगत के सम्बन्ध में एकांकी में उनके महत्व एवं उपयोगिता के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है किन्तु यह निश्चय है कि एक-दो छोटे-छोटे स्वगत कथन तो एकांकी का सौन्दर्य बढ़ा सकते हैं किन्तु लम्बे-लम्बे स्वगत कथन सौन्दर्य को नष्ट भी कर देते हैं।

सङ्कलन-त्रय—एकांकी एक स्वल्पकाय किन्तु तीव्र गति वाली रचना है अतः उसमें स्थान, समय और कार्य-घटना की एकता नितान्त आवश्यक है। हिन्दी के एकांकीकारों में इस विषय में मतभेद है। डा० रामकुमार वर्मा में संकलन-त्रय के निर्वाह के लिए विशेष आग्रह है। उनका विचार है कि "मेरी दृष्टि में एकांकी में संकलन-त्रय का महत्वपूर्ण स्थान है। एक सम्पूर्ण कार्य एक स्थान पर ही एक ही समय में जो जाना मैं एकांकी के लिए आवश्यक समझता हूँ।"[३] विष्णु प्रभाकर भी इसके निर्वाह के समर्थक हैं "जहाँ तक सम्भव हो उसमें दूसरी बार पर्दा न उठाना पड़े। कम से कम सेट से काम चल सके तो अच्छा है।"[४] लेकिन डा० नगेन्द्र इनके निर्वाह के लिए विशेष आग्रहवान नहीं हैं। उनका विचार यह है कि "प्रभाव और वस्तु का ऐक्य तो अनिवार्य है ही, लेकिन स्थान और काल की एकता का निर्वाह किए बिना भी सफल एकांकी की रचना की जा सकती है।"[५] वस्तुतः संकलन-त्रय के अभाव में भी यदि एकाग्रता और

---

१. अश्क, रेखाएँ और चित्र, पृ० १२१।
२. हिन्दी एकांकी : उद्भव और विकास, पृ० ३४।
३. ऋतुराज की भूमिका, पृ० १५।
४. मैं इनसे मिला (दूसरी किस्त), पृ० २३०।
५. एकांकी, भूमिका, पृ० ३।

प्रभावगत एकता है तो इसके लिए अधिक आग्रह नहीं करना चाहिए। फिर भी एकांकी का सौन्दर्यवर्द्धन तो संकलन-त्रय के निर्वाह से होता ही है।

संघर्ष—आज का एकांकीकार एकांकी में संघर्ष पर अधिक बल देता है। मानव जीवन की विभिन्न समस्याओं से उत्पन्न घात-प्रतिघात को एकांकी में व्यक्त रहता है। अतः द्वन्द्व मानव-चरित्र के उद्‌घाटन में सहयोग देता है। इससे गति आती है।

अभिनेयता—एकांकी एक दृश्यकाव्य हैं। अतः अभिनेय होना ही चाहिए। एकांकी का यह तत्व सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है इसीलिए आज हिन्दी का प्रत्येक एकांकीकार अपनी रचना में रंग—निर्देश और रंगमंच का विशेष ध्यान रखता है। भाषा की सरलता, संवादों की मार्मिकता आदि एकांकी की रंगमंचीयता में सहयोग देते हैं। आज का हिन्दी एकांकीकार रंगमच पर विशेष ध्यान देने लगा है।

उद्देश्य या प्रभाव—रचनाकार किसी न किसी उद्देश्य को लेकर चलता है। इसी उद्देश्य के माध्यम से वह प्रभाव डालने की भरसक चेष्टा करता है। एकांकी का रचना विधान और उसकी शैली इसमें सहयोग देती है। कथानक—आरम्भ, नाटकीय स्थल, द्वन्द्व, चरमसीमा और उपसंहार के रूप में विभाजित रहता है। चरमसीमा पर जाकर कथा का अन्त हो जाता है और पाठक या दर्शक के मन पर प्रभाव डालने में वह समर्थ होती है। निश्चय ही एकांकी में चरमसीमा का विशेष महत्व है।

आज के युग में मानव जीवन की व्यस्तता के कारण एकांकी निरन्तर लोकप्रिय होते जा रहे हैं। क्योंकि एक छोटी सी रचना के द्वारा दर्शक या पाठक पूर्ण रसास्वादन करता है। निश्चय ही एकांकी एक लोकप्रिय विधा है।

प्रश्न ९०—आधुनिक गद्य की निम्नलिखित विधाओं पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए।

(१) संस्मरण,
(२) रेखाचित्र,
(३) रेडियोनाटक,
(४) रिपोर्ताज,
(५) इण्टरव्यू,
(६) गद्यगीत,
(७) लघुकथा,
(८) डायरी विधा,
(९) पत्र साहित्य,
(१०) यात्रा साहित्य
(११) जीवनी साहित्य
(१२) आत्मकथा साहित्य

संस्मरण एवं रेखाचित्र आधुनिक हिन्दी गद्य साहित्य की महत्वपूर्ण विधाएँ हैं। 'संस्मरण' किसी स्मर्यमाण की स्मृति का शब्दाङ्कन है। स्मर्यमाण के जीवन के वे पहलू, वे संदर्भ, और वे चारित्रिक वैशिष्ट्य जो स्मरणकर्त्ता को स्मृत रह जाते हैं, उन्हें वह शब्दाङ्कित करता है। स्मरण वही रह जाता है जो महत्, विशिष्ट, विचित्र और प्रिय हो। स्मर्यमाण को अंकित करते हुए लेखक स्वयं भी अंकित होता चलता है। संस्मरण में विषय और विषयी दोनों ही संपादित होते हैं। इसलिए इसमें स्मरणकर्त्ता पूर्णतः तटस्थ नहीं रह पाता। अपने स्व का पूर्ण विसर्जन वह नहीं कर पाता। वस्तुतः वह

स्मर्यमाण के संदर्भित अपने 'स्व' का पुनः सर्जन करता है।"[१] उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि संस्मरण में—(i) स्मृति के आधार पर किसी विषय या व्यक्ति के सम्बन्ध में लिखित रचना संस्मरण है। (ii) संस्मरण में वर्ण्य वस्तु-व्यक्ति के अतिरिक्त लेखक स्वयं भी अंकित होता चलता है। (iii) संस्मरण में लेखक तटस्थ नहीं रह पाता है। (iv) संस्मरण में लेखक जो स्वयं देखता है, अनुभव करता है, उसी का वर्णन करता है। उसमें लेखक की स्वयं की अनुभूतियाँ—संवेदना भी रहती है। (v) शैली की दृष्टि से संस्मरण निबन्ध के अधिक निकट होता है। (vi) संस्मरण विवरणात्मक अधिक होता है। (vii) विद्वान संस्मरण को जीवनी साहित्य के अन्तर्गत समाहित करते हैं।

संस्मरण घटनात्मक अधिक होते हैं, किन्तु ये घटनाएँ प्रायः सत्य होती हैं और वर्णित व्यक्ति या वस्तु के चरित्र का परिचय देती हैं। हिन्दी साहित्य में संस्मरण लेखकों में श्री बनारसीदास चतुर्वेदी की 'रचना संस्मरण,' हमारे आराध्य,' महादेवी वर्मा का 'अतीत के चल-चित्र,' 'स्मृति की रेखायें,' 'पथ के साथी,' बेनीपुरी की 'माटी की मूरतें' शिवपूजन सहाय कृत 'वे दिन वे लोग,' माखनलाल चतुर्वेदी की 'समय के पाँव' आदि अनेक रचनाएँ हिन्दी साहित्य की इस विधा में मिलती है।

इस सन्दर्भ में एक बात ध्यान देने की यह है कि इन दोनों में रचना की दृष्टि से इतना अधिक नैकट्य है कि दोनों की चर्चा प्रायः एक साथ होती है।

रेखाचित्र—संस्मरण एवं रेखाचित्र में भेद करना कठिन है। श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने लिखा है कि "संस्मरण, रेखाचित्र और आत्म-चरित्र इन तीनों का एक दूसरे से इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि एक की सीमा दूसरे से कहाँ मिलती है और कहाँ अलग हो जाती है, इसका निर्णय करना कठिन है।"[२] महादेवी वर्मा ने भी इस प्रसङ्ग में लिखा है कि "इन स्मृतिचित्रों में मेरा जीवन भी आ गया है। यह स्वाभाविक भी था। अँधेरे की वस्तुओं को हम अपने प्रकाश की धुँधली या उजली परिधि में लाकर ही देख पाते हैं, उसके बाहर तो वे अनन्त अंधकार के अंश हैं। परन्तु मेरी निकटता जनित आत्म-विज्ञापन उस राख से अधिक महत्व नहीं रखता, जो आग को बहुत समय तक सजीव रखने के लिए ही अंगारों को घेरे रहती है।"[3] संस्मरण एवं रेखाचित्रों की अति निकटता के कारण विद्वान इनकी साथ-साथ ही चर्चा करते हैं—'रेखाचित्र' में किसी व्यक्ति, वस्तु या प्रसङ्ग का अंकन किया जाता है। यह अकन पूर्णतया तटस्थ भाव से ही किया जाता है। रेखाचित्र में रेखाएँ बोलती हैं। जिस प्रकार कुछ थोड़ी-सी रेखाओं का प्रयोग करके रेखा-चित्रकार किसी व्यक्ति या वस्तु की मूलभूत विशेषता को उभार देता है। उसी प्रकार कुछ थोड़े से शब्दों का प्रयोग करके साहित्यकार किसी व्यक्ति, वस्तु को उसकी मूल-भूत विशेषता के साथ सजीव कर

१. हिन्दी का गद्य साहित्य, डा० तिवारी, पृ० १६७।
२. संस्मरण, पं० बनारसी दास चतुर्वेदी, पृ० ४।
३. अतीत के चलचित्र, महादेवी वर्मा अपनी बात, पृ० २

देता है। रेखांकन करते समय यह अपने को तटस्थ रखने की चेष्टा करता है। वस्तु को ही महत्व देता है। विषय को रूपायित करता है। जब कभी उसकी तटस्थता भंग होती है तो रंगों की चटक रेखाएँ डूब जाती हैं।[1] रेखाकंन व्यक्ति के अन्तर एवं बाह्य दोनों का होता है। रेखाचित्र में वस्तुपरकता का आधिक्य होता है। हिन्दी रेखाचित्रकारों में पं० पद्मसिंह शर्मा व श्री राम शर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी, रामवृक्ष बेनीपुरी, प्रकाशचन्द्र गुप्त, महादेवी वर्मा, माखन लाल चतुर्वेदी, सेठ गोविन्द दास, डा० नगेन्द्र, विनय मोहन शर्मा, जगदीशचन्द्र माथुर आदि महत्वपूर्ण प्रतिभाएँ हैं।

रेडियो नाटक—"आज का युग विज्ञान का है अत: रेडियो की लोकप्रियता निरन्तर वृद्धि पर है। इसीलिए रेडियो के माध्यम से साहित्यिक रचनाओं का प्रचार और प्रसार किया जा रहा है। रेडियो द्वारा प्रसारणार्थ 'लिरिक्स नाटक' रेडियो नाटक कहा जाता है। चूंकि यह मात्र श्रव्य होता है, अत: इसे 'श्रव्य नाटक' भी कहते हैं और चूँकि इसमें ध्वनि की प्रधानता होती है, अत: 'ध्वनि नाटक' भी कहते हैं, पर रेडियो नाटक अथवा रेडियो नाट्य नाम ही अधिक प्रचलित एवं व्यवहृत है।"

रेडियो नाटक में अङ्क का प्रश्न ही नहीं उठता है। इसमें एक ओर अनेक दृश्य तो हो सकते हैं किन्तु अङ्क नहीं। दृश्यों पर भी किसी तरह का प्रतिबन्ध नहीं है दो पंक्तियों का भी दृश्य हो सकता है और दो सौ का भी।

प्राचीन नाटकों में जो दृश्य था। वह रेडियो नाटक में श्रव्य हो गया है। रंगमंच नाटकों में प्रत्येक वस्तु दृष्य होती है किन्तु रेडियो नाटक में ऐसा नहीं है। रेडियो नाटक में श्रोताओं को सहज बोध कराने के लिए विशेष सावधानी की आवश्यकता है। रेडियो नाटक में पात्रों की संख्या न्यूनतम होती है न्यूनता के कारण ही वह सहज रूप में पहचाने जा सकते हैं। ये नाटक अधिक लम्बे नहीं होते अधिक से अधिक आध घण्टे का रेडियो नाटक आदर्श हो सकता है वैसे दस-पन्द्रह मिनट वाले नाटकों ने अधिक लोकप्रियता अर्जित की है।

रेडियो नाटक का मूल आधार ध्वनि है। ध्वनि भावाभिव्यक्ति का एक सहज किन्तु प्रमुख साधन है। एक शब्द विभिन्न मुद्राओं भंगिमाओं से कहा जाने पर विभिन्न भावनाओं की अभिव्यक्ति करता है। रेडियो नाटक में ध्वनि का उपयोग तीन रूपों में होता है भाषा, ध्वनि प्रभाव और संगीत।

श्रव्य भाषा ही रेडियो नाटक का मूल आधार है। यह भाषा सरल स्वाभाविक और भावाभिव्यंजक होनी चाहिए, जिसे श्रोता सहज हृदयंगम कर सकें। रेडियो नाटक में भाषा का प्रयोग दो रूपों—**कथोपकथन या संलाप के रूप में** तथा नैरेशन —या प्रवक्ता के कथन के रूप में होता है।" नैरेशन से तात्पर्य नाटक के उस अंश से होता है, जिसमें पात्र नाटक के क्रिया-कलाप का वातावरण निर्मित करता है, आवश्यक विवरण देता है, घटनाओं की शृंखला जोड़ता अथवा घटनाओं की आलोचना करता है।"

1. हिन्दी का गद्य साहित्य, पृ० १६८।

यद्यपि रेडियो रूपक में नैरेटर सरलता से आ सकता किन्तु रेडियो नाटक में वह जितना ही कम आये उतना ही अच्छा है ।

ध्वनि से आशय यह है कि रेल, वर्षा, बादल आदि की ध्वनियाँ जिनका नाटक के प्रसारण में उपयोग किया जाता है "ध्वनि-प्रभाव और वाद्य संगीत की आवश्यकता पात्रों के कार्यों के लिए पृष्ठभूमि एवं वातावरण निर्माण, भावाभिव्यंजन, दृश्यान्तर, देशकाल-परिचय आदि के लिए होती है। इनके द्वारा नाटक में सजीवता एवं प्रभावोत्पादकता आती है।"

शिल्प की दृष्टि से रेडियो नाटक के निम्न रूप हैं—रेडियो नाटक, रेडियो रूपक, रेडियो रूपान्तर, रेडियो फैन्टेसी या अति कल्पना, मोनोलॉग या स्वगत नाट्य, एक पात्रीय नाटक, संगीत, रूपक, झलकियां आदि ।

रेडियो नाटक की कथा अति संक्षिप्त एवं सरल होती है। उसमें तीव्र वेग भी होता है। इस दृष्टि से यह एकांकी नाटक के अधिक निकट है। चरित्र-चित्रण आदि की दृष्टि से भी एकांकी की भांति लाघव की अपेक्षा होती है।

रेडियो एकांकी के भेद—रेडियो-एकांकी में एक तथा एक से अधिक भी दृश्य हो सकते हैं। पात्र के माध्यम से कथा कौतुहल का सृजन करती हुई चरम सीमा पर एकांकी का समापन होता है। इसमें कार्य संकलन का पूर्ण ध्यान रखा जाता है। डा० वर्मा का 'कलंकरेखा,' अश्क का 'अधिकार का रक्षक,' भट्ट का 'जवानी' इस वर्ग के एकांकी हैं।

रेडियो रूपक—इसे 'फीचर' भी कहते हैं। इसमें तथ्यों को नाट्य-रूप में प्रस्तुत करते हैं। वाचक (नैरेटर) कथानक तथा वातावरण का परिचय देता हुआ कथा-प्रसंगों को नाटकीय अभिनय के द्वारा प्रस्तुत करता है। इस प्रकार रेडियो रूपक मूलतः वास्तविक घटना का नाटकीय रूप है। इसके दो भेद होते हैं—आलेख्य रूपक तथा सामान्य रूपक। तथ्य प्रधान और शृंखलाबद्ध आलेख्य रूपक होता है और तथ्यों के साथ कल्पना का भी जिसमें प्रयोग होता है, उसे सामान्य रूपक कहते हैं। जैसे 'भरत का भाग्य' और 'ऋतुराज'।

रेडियो फेंटेसी—जो घटना वास्तविक जीवन में घटित न हो, केवल कल्पना के द्वारा नाट्य रूप में प्रस्तुत हो उसे नाट्य फेंटेसी कहते हैं जैसे भारतभूषण का 'अजन्ता की गूँज।' इसमें कथा पूर्णतः कल्पित और अलौकिक होती है। इसमें गहरी मनोरागात्मकता का चित्रण होता है इसे 'स्वप्नकथात्मक एकांकी' भी कहते हैं। कभी-कभी फेंटेसी एकांकी न होकर अनेकांकी भी लिखे जाते हैं।

स्वगत नाट्य—इसे अंग्रेजी में मोनोलोग (Monologue) कहते हैं। इसमें एक पात्र आरम्भ से अन्त तक अपने जीवन की घटना को प्रस्तुत करता है।

संगीत रूपक—यह गीत प्रधान एकांकी है। एक या दो पात्र घटनाओं को गीतों के द्वारा एक दूसरे से सम्बद्ध करते चलते हैं। गिरिजा कुमार माथुर और उदयशंकर भट्ट ने इस प्रकार के संगीत रूपक लिखे हैं।

स्किट या झलकी—हास्य विनोद से युक्त अत्यन्त लघु नाटिकाएँ झलकी या स्किट कहलाती हैं। यह रेडियो की ही देन है।

संगीतिका या आपेरा—गीत, संगीत और नृत्य के माध्यम से प्रस्तुत किया जाने वाला एकांकी 'आपेरा' कहलाता है। हिन्दी में इसको 'संगीतिका' नाम दिया गया है। जैसे चिरंजीत का पृथ्वीपुत्र।

झाँकी या टैब्लो—झांकी में एक छोटे से दृश्य में संकलन-त्रय का निर्वाह करते हुए जीवन के किसी उद्दीप्त क्षण की स्थिति को प्रस्तुत किया जाता है।

रिपोर्ताज—यह शब्द फ्रेंच का है। आज यह इसी रूप में एक विधा के रूप में स्थिर हो गया है। द्वितीय महायुद्ध के आस-पास इस विधा का उदय हुआ है। किसी घटना विशेष को अपनी मानसिक इमेज की पृष्ठभूमि में पुनः मूर्त रूप में प्रस्तुत करना 'रिपोर्ताज' का सहज धर्म है। "वास्तविक घटना को ज्यों का त्यों प्रस्तुत कर देना "रिपोर्ट" है। ठेठ हिन्दी में इसे 'रपट लिखाना' कहते हैं। जब सफल पत्रकार या साहित्यकार वास्तविक घटना को अपने भीतर निहित मूल्यों के अनुसार एक विशेष दृष्टिकोण से उपस्थित करके प्रभावपूर्ण बना देता है तो वह '**रिपोर्ताज**' की कला सृष्टि करता है।"

हिन्दी साहित्य में रिपोर्ताज विधा का तेजी से विकास हो रहा है। रांगेय राघव, प्रकाश चन्द्र गुप्त, अमृतराय, प्रभाकर माचवे, फणीश्वर नाथ रेणु, ठाकुर प्रसाद सिंह, धर्मवीर भारती, विष्णु कान्त शास्त्री आदि ने श्रेष्ठ रिपोर्ताज लिखे हैं।

जब एक पत्रकार पत्रकारिता के स्तर से उठकर संवेदनशील साहित्यकार बन जाता है तो वह प्रभावपूर्ण रिपोर्ताज का सृजन करता है।

मानव मन को झकझोर देने वाली अकाल, युद्ध, महामारी आदि की विभीषिका को 'रिपोर्ताज' शैली में एक पत्रकार या साहित्यकार प्रस्तुत करता है तो वह 'रिपोर्ताज' कहलाता है।

बंगला देश के युद्ध, मिर्जापुर, बिहार के अकाल आदि को लेकर हिन्दी में सुन्दर 'रिपोर्ताज' लिखे गये हैं। भविष्य में इस विधा को विकास की अधिक संभावनाएँ हैं। आज भी हिन्दी की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं—धर्मयुग, नया पथ, ज्ञानोदय, रविवार आदि में निरन्तर रिपोर्ताज प्रकाशित हो रहे हैं।

'इण्टरव्यू'—हिन्दी साहित्य में इण्टरव्यू भी लिखे जाने लगे हैं किन्तु इस विधा का विकास तीव्र गति से नहीं हो रहा है। फिर भी बड़े-बड़े साहित्यकार, राजनीतिक नेता, कलाकारों आदि के 'इण्टरव्यू' पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो रहे हैं। "इण्टरव्यू में कला, साहित्य, राजनीति, दर्शन' अध्यात्म, विज्ञान आदि किसी भी क्षेत्र की महान् और मान्य विभूतियों से मिलकर किन्हीं प्रश्नों के संदर्भ में उनके विचार या दृष्टिकोण जानने और उन्हें उसी की शैली भाषा और भंगिया में व्यक्त करनें की चेष्टा की जाती है। मिलने वाला सुविधा की दृष्टि से कुछ प्रश्न तैयार कर लेता है और क्रमशः उन प्रश्नों के उत्तर के रूप में वह उस विख्यात, विशिष्ट, अनुभवी और महान् व्यक्ति के

विचार जान जान लेने की चेष्टा करता है।"

'इण्टरव्यू' लघु और बड़े के बीच अधिक आकर्षक बनता है। इण्टरव्यू में व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों ही प्रकार के प्रश्न हो सकते हैं। उत्तर देने वाला कभी मुस्कराकर, कभी हँसकर या प्रसङ्गान्तर आदि विभिन्न मुद्राओं से उत्तर दे सकता है, टाल सकता है।

हिन्दी में यथार्थ तथा काल्पनिक दोनों ही प्रकार के इण्टरव्यू मिलते हैं। पद्मसिंह शर्मा, 'कमलेश' ने "मैं इनसे मिला" (दो भागों) में हिन्दी के प्रख्यात साहित्यकारों के इण्टरव्यू प्रस्तुत किये हैं। लक्ष्मी चन्द्र जैन, और शरद देवडा ने कुछ काल्पनिक इण्टरव्यू लिखे हैं। इधर साहित्यकारों को लेकर इण्टरव्यू कम ही लिखे जा रहे हैं किन्तु कलाकारों को लेकर नित नये-नये 'इण्टरव्यू' पत्र-पत्रिकाओं में छप रहे हैं।

गद्यगीत—गद्यकाव्य के अन्तर्गत प्राचीन काल में कथा, वृत्त और आख्यायिका आदि का परिगणन किया गया था, किन्तु आज इस व्यापक अर्थ के अतिरिक्त इस शब्द का संकुचित अर्थ में भी प्रयोग हो रहा है, और भविष्य में यह शब्द इसी अर्थ में रूढ़ भी हो जाएगा। "गद्य-काव्य वह रचना है, जिसमें कविता जैसी संवेदनशीलता और रसात्मकता होती है। फलस्वरूप उसका बाह्य रूप भी साधारण गद्य की अपेक्षा अधिक लययुक्त, अलंकृत और सधा हुआ होता है।........गद्य-काव्य से वस्तुतः गद्यगीति का ही बोध होता है। परन्तु कहानी, संस्मरण, निबन्ध आदि भी गद्य काव्यात्मक हो सकते हैं तथा नाटक के कथोपकथन और स्वगत कथन तथा उपन्यास के वर्णन, चित्रण तथा कभी-कभी कथोपकथन में भी गद्य काव्यात्मक शैली का प्रयोग हो सकता है। इस प्रकार गद्य-काव्य एक साहित्य रूप भी है और एक शैली वैशिष्ट्य भी।"[1] गद्यगीति में वैयक्तिक आत्मनिष्ठता, तीव्र भावात्मकता, अन्तर्निहित ध्वनि संगीत भाव की एकात्मकता या भाव संकलन और गीति के लिए अपेक्षित भाव विकास और उसकी परिणति आदि लक्षण थोड़े-बहुत अंश में रहते हैं।

साहित्य की इस विधा का सृजन छायावाद युग में हुआ है। इसी युग में यह पूर्ण विकास को भी प्राप्त हुई। रायकृष्ण दास, वियोगी हरि, माखनलाल चतुर्वेदी आदि इसके प्रारम्भिक स्रष्टा हैं। बाद में तो हिन्दी गद्य साहित्य के आकाश में गद्यगीतों की घटा ही छा गई।

गद्यगीतों की रचना की प्रेरणा रवीन्द्र की गीताञ्जली के हिन्दी अनुवाद से मिली है। इस रचना के द्वारा रहस्यमयी परोक्षसत्ता के प्रति आध्यात्मिक अनुराग, राष्ट्र प्रेम, प्रकृति प्रेम, करुणा की भावना आदि की अभिव्यक्ति की जाती है। भावोच्छ्वास की गहनता, आन्तरिकता, तरलता और वेग के कारण इन गद्यगीतों की शैली में भी अन्तर हो जाता है। साधारणतः गद्यगीत भाव प्रधान होते हैं अतः इनकी शैली भावात्मक ही होती है।

१. हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, पृ० २८२

आज का युग यथार्थ का है, जीवन दृष्टि वैज्ञानिक और भौतिकवादी है अतः नवीन लेखक इस ओर कम प्रवृत्त हो रहे हैं। सम्भावना है कि भविष्य में बहुत कम गद्यगीत लिखे जायें।

लघुकथा—हिन्दी में लघु कथाएँ भी लिखी गई हैं। आकार एवं प्रकार में ये गद्यगीतों के अधिक निकट हैं। 'लघुकथाओं में जीवन के किसी गूढ़ अन्तर्वर्ती सत्य, सन्देश, विचार या अनुभूति को छोटी-सी साधारण प्रतीत होने वाली कहानी के रूप में प्रस्तुत करते हैं, कभी-कभी इन्हें 'वोध-कथा' भी कहा गया है।" इन लघुकथाओं से जीवन के सत्य का बोध होता है।

हिन्दी साहित्य में कन्हैया लाल मिश्र प्रभाकर कृत **'आकाश के तारे धरती के फूल'**, 'रावी कृत **'मेरे कथा गुरु का कहना है,'** जगदीश चन्द्र मिश्र कृत **'मौत की खोज'**, **'उड़ते पंख'** आदि लेखक और इनकी कृतियाँ इस दिशा में प्रारम्भिक चरण हैं।

लघुकथाओं में प्रतीकात्मकता और रहस्यात्मकता का भी पुट रहता है। जीवन के सत्य को भी व्यंग्य के माध्यम से व्यक्त किया जा सकता है। लेकिन एक बात यह भी ध्यान देने की है कि लघुकथाओं में जीवन के अमर सन्देशों को प्रकट करना कोई सरल कार्य नहीं है अतः अन्य विधाओं की तुलना में इसका विकास अधिक सम्भव नहीं है।

डायरी

कलाकार अपने हृदय में उत्पन्न विचारों की अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न माध्यमों की तलाश कर लेता है। इसी प्रकार शैलियों का जन्म होता है। डायरी इसी प्रकार की एक शैली है। डायरी यों तो किसी व्यक्ति की नितान्त वैयक्तिक सम्पत्ति होती है, किन्तु प्रकाश में आने पर अपनी सार्वजनीन एवं सार्वकालिक तत्व राशि के कारण साहित्य-जगत् की सम्पत्ति बन जाती है। यदि डायरी लेखक कोई प्रतिभाशाली अथवा लोक प्रख्यात व्यक्ति है, तो उसकी डायरी और अधिक मूल्यवान बन जाती है।

'डायरी' अंग्रेजी का शब्द है और लैटिन भाषा के 'डायस' शब्द से बना है। 'डायस' शब्द संस्कृत के 'दिवस' शब्द का समानार्थक है। डायरी के पर्यायवाची शब्द दैनिकी, रोजनामचा, दैनन्दिनी आदि हैं। इसमें तिथिवार, दिनांक, सन् संवत आदि का उल्लेख करते हुए दैनिक जीवन की महत्वपूर्ण घटनाएँ अंकित की जाती हैं। यों तो सभी व्यक्तियों के दैनिक जीवन में ऐसी घटनायें घटित होती हैं। जो उनमें हर्ष, विषाद, स्फूर्ति, नैराश्य, खीझ अथवा वितृष्णा भर देती हैं, परन्तु सामान्य व्यक्ति इन घटनाओं पर क्षणिक विचार करने के उपरान्त भूल जाता है। दूसरी ओर कलाकार का संवेदनशील हृदय एकान्त क्षणों में इन पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिए आतुर हो उठता है। इसी स्थिति ने डायरी-लेखन की शैली को जन्म दिया। वस्तुतः "किसी दैनिक घटना के संबंध में अपने मन की उधेड़बुन व्यक्त करने के लिए 'डायरी' सर्वोत्तम

माध्यम है।[१] लेखक के व्यक्तित्व को जानने का यह प्रामाणिक माध्यम भी है क्योंकि इसमें लेखक के मनोभावों का निश्छल प्रकाशन होता है। विशुद्ध डायरी निश्चय ही इस दृष्टि से कभी नहीं लिखी जाती कि बाद में उसका प्रकाशन होगा।

पाश्चात्य समीक्षकों ने डायरी के दो भेद किए हैं—व्यक्तिनिष्ठ तथा वस्तुनिष्ठ प्रथम में किसी महत्वपूर्ण व्यक्ति के व्यक्तित्व का उद्घाटन होता है। द्वितीय में मानव इतिहास के किसी कालखण्ड अथवा मानव-समाज के किसी वर्ग-विशेष का अंकन रहता है। वस्तुतः डायरी के ये दोनों रूप परस्पर गुंफित हैं। व्यक्तित्व का उद्घाटन करने वाली डायरी पूर्ण रूप से घटना-शून्य नहीं हो सकती और घटनाओं का विवरण देने वाली डायरी में व्यक्ति की पूर्ण अनुपस्थिति नहीं हो सकती। डायरी के इन दोनों रूपों को पाश्चात्य साहित्य में मान्यता मिली है।

डायरी गद्य की एक विधा भी है और अभिव्यक्ति की एक शैली भी। जब वह डायरी-लेखक के निजी जीवन पर आधारित होती है, तब एक विधा है। जब कोई काल्पनिक कहानी या उपन्यास डायरी-शैली में लिखा जाता है उस रूप में यह एक शैली मात्र है। अपनी काल्पनिक घटनाओं को विश्वसनीय और प्रभावशाली बनाने के लिए लेखक तिथि और स्थान का निर्देश करते हुए उनका वर्णन करते हैं। उदाहरण के लिए डा० देवराज का 'अजय की डायरी' के नाम से डायरी-शैली में लिखा उपन्यास।

डायरी कोई विशेष कलापूर्ण साहित्य रूप नहीं है। कदाचित् अपने मूल अभिप्राय में वह साहित्य रूप है ही नहीं, क्योंकि एकान्त क्षणों में लिखी जाने वाली डायरी कभी इस अभिप्राय से नहीं लिखी जाती कि वह साहित्यिक संपत्ति बनेगी। लेखक के सद्यः स्फुरित भावों और विचारों का प्रकाशन होने के कारण उसमें बहुधा संबद्धता, संगति और शिल्पगत कलात्मकता का अभाव हो सकता है। पर इन अभावों की पूर्ति इसमें निहित स्पष्टोक्ति, निकटता, आत्मीयता आदि गुणों से हो जाती है।

डायरी आत्मकथा का ही एक परिवर्तित रूप है। आत्मकथा में अपने सारे अतीत पर लेखक एक साथ और कहीं अधिक परपक्व व तटस्थ दृष्टि से विचार करता है। डायरी में आमतौर पर ताजे अनुभवों को ही लिखा जाता है। कभी-कभी पुराने अनुभवों का भी पुनर्मूल्यांकन कर लिया जाता है।

हिन्दी में स्वतंत्र कृति के रूप में डायरी साहित्य बहुत कम लिखा गया है। सुन्दरलाल त्रिपाठी कृत 'दैनन्दिनी' (१९४५ ई०), डा० धीरेन्द्र वर्मा कृत 'मेरी कालिज डायरी' (१९५४ ई०) तथा घनश्याम दास बिड़ला कृत 'डायरी के पन्ने', सियाराम शरण गुप्त रचित 'दैनिकी' जैसी इनी-गिनी रचनायें ही उपलब्ध हैं। इधर लक्ष्मीकांत वर्मा, नरेश मेहता और अजित कुमार ने भी डायरियाँ लिखी हैं। कभी-कभी पत्र-पत्रिकाओं में किसी पुराने साहित्यकार की डायरी के अंश भी प्रकाशित दिखाई दे जाते

हैं। 'विशाल भारत' में पं० श्रीराम शर्मा की 'सेवाग्राम की डायरी' के अंश प्रकाशित हुए थे।

हिन्दी की कुछ डायरियाँ साहित्यकारों द्वारा लिखी हुई न होकर अन्य क्षेत्रों के गणमान्य व्यक्तियों द्वारा खिली गई हैं। इस प्रकार के डायरी-लेखन के प्रेरणा-स्रोत महात्मा गाँधी थे। वे डायरी को एक बहुमूल्य वस्तु समझते थे और सत्य की आराधना करने वालों के लिए डायरी को एक पहरेदार की भाँति बताते थे। उनका विश्वास था कि डायरी में हमें सत्य ही लिखना होता है अतः डायरी हमें दोषों से बचाती है। गांधी युग के डायरी-लेखकों में महादेव देसाई, जमुनादास बजाज, बाबू राजेन्द्रप्रसाद, सुशोला नायर, मनु बहन आदि महत्वपूर्ण हैं।

हिन्दी में डायरी-विधा विकास के पथ पर अग्रसर होती हुई अपने नये चरण-चिह्न बनाती जा रही है। इस क्षेत्र के कुछ महत्वपूर्ण नाम हैं—पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, गजानन माधव मुक्तिबोध, प्रभाकर माचवे, अमृतराय, धर्मवीर भारती, राजकमल चौधरी, मोहन राकेश और अजित कुमार।

पत्र-साहित्य

दूरस्थ प्रिय के पास पत्र लिखकर सन्देश प्रेषित करने की प्रथा प्राचीन है। पत्र में मनोगत भावों की व्यंजना होती है। पत्र का अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द 'लेटर' है। 'पत्र' अथवा लेटर' किसी बात को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक तथा एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचा देता है। हिन्दी में इसीलिए अखबारों तथा मैगजीनों को समाचार पत्र, पाक्षिक पत्र, मासिक पत्र आदि कहा जाता है क्योंकि इनमें भी बहुत-सी बातों के संप्रेषण का भाव निहित रहता है। प्राचीन काल में दूत द्वारा पत्र भेजने की प्रथा थी और यह दूत सन्देश को पढ़कर सुनाता था। आजकल पत्र सामान्यतः डाक द्वारा भेजा जाता है और लिखित होता है।

पत्र लिखने की प्रथा नई नहीं है किन्तु पत्र-साहित्य हिन्दी गद्य की नवीनतम विधाओं में से है। पत्र-साहित्य का महत्व इसलिए है क्योंकि उसमें पत्र-लेखक स्वयं को मुक्त होकर व्यक्त करता है। हृदय की भावनाओं का उन्मुक्त प्रकाशन पत्र द्वारा ही सम्भव है। यह दो हृदयों का सहज आदान-प्रदान है। तीसरे के लिए इसमें कोई स्थान नहीं। पत्र लिखने वाला जिन शब्दों में अपने हृदय की बात कहता है, जिस प्रकार अपने मन के रहस्य उजागर करता है, जिस विश्वास और आश्वासन को व्यक्त करता है, वह उसके हृदय की भाषा होती है। परदेश गए प्रियतम को पत्र द्वारा संदेश भेजा जाता है, यह बात कबीरदास की इन पंक्तियों से प्रकट है—

"प्रीतम को पतियाँ लिखूँ जो कहूं होय बिदेश।
तन में मन में नैन में ताको कहा सन्देश॥"

इस प्रकार पत्र की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है—वैयक्तिकता। पर पत्र की आत्मीयता तभी तक रहती है जब प्रेषक और प्रेष्य (भेजने और पाने वाले) के बीच किसी तीसरे की उपस्थिति न हो। मध्यस्थ के होने पर पत्र की सारी हार्दिकता व

तरलता नष्ट हो जाती है और वह औपचारिक सन्देश मात्र रह जाता है।

सभी पत्र निजी नहीं होते। कुछ पत्र सार्वजनिक भी होते हैं। किसी समाचार पत्र में सम्पादक के नाम भेजा गया पत्र भले ही सम्पादक को सम्बोधित करके लिखा गया हो, पर पत्र-लेखक का उद्देश्य यही रहता है कि उसे सभी पढ़ सकें। ऐसे पत्र या तो किसी विषय अथवा समस्या पर प्रकाश डालते हैं या उपदेशात्मक होते हैं। इसी प्रकार एक व्यापारी दूसरे को व्यापार सम्बन्धी पत्र लिखता है। परिचितों को उनकी उपलब्धियों पर बधाई के पत्र भेजे जाते हैं। किन्तु ये सभी पत्र साहित्यिक महत्व नहीं रखते। साहित्य में उन्ही पत्रों को महत्व मिलता है जो व्यक्तिगत होते हैं और पत्र-लेखक के अन्तःकरण की एकान्तिक भावभूमि का साक्षात्कार कराते हैं।

वही पत्र साहित्यिक महत्व का अधिकारी है, जिसमें कुछ विशेषताएँ हों। डेमेट्रियस के अनुसार पत्र में मैत्रीपूर्ण भावना विद्यमान होनी चाहिए और उसकी शैली सरल, संक्षिप्त, सादी होते हुए भी भव्य होनी चाहिए। पत्र में अलंकरण को प्रधानता देना भावावेग का हनन कर देता है। ऐसे पत्र बोझीले हो जाते हैं। मध्ययुग में ऐसे ही अलंकरण प्रधान पत्रों की परम्परा चली, परन्तु बाद में इसे छोड़ दिया गया तथा सादे और हार्दिकतापूर्ण पत्रों को अपनाया जाने लगा।

हिन्दी में पुस्तकाकार प्रकाशित पत्र-साहित्य बहुत कम है। पत्र-पत्रिकाओं में अवश्य कभी-कभी साहित्यकारों के पत्र प्रकाशित होते रहते हैं। जीवनियों में भी चरित नायक के विचारों पर प्रकाश डालने के लिए उनके महत्वपूर्ण पत्रों को उद्धृत किया जाता है। हिन्दी का उल्लेखनीय पत्र-साहित्य इस प्रकार है—बैजनाथ सिंह 'विनोद' द्वारा संकलित 'द्विवेदी पत्रावली' (१९५४ ई०), 'द्विवेदी युग के साहित्यकारों के कुछ पत्र' (१९५८ ई०), बनारसीदास चतुर्वेदी और हरिशंकर शर्मा द्वारा संकलित 'पद्म-सिंह शर्मा के पत्र' (१९५६), किशोरीदास वाजपेयी द्वारा संकलित 'साहित्यिकों के पत्र' (१९५८ ई०)। इसके अतिरिक्त कुछ महत्वपूर्ण पत्र-साहित्य इस प्रकार है—श्री अमृत राय द्वारा उनके पिता प्रेमचन्द के 'चिट्ठी-पत्री' नाम से प्रकाशित पत्र, वियोगी हरि द्वारा संकलित 'बड़ों के प्रेरणादायक कुछ पत्र', जानकीवल्लभ शास्त्री द्वारा संकलित 'निराला के पत्र', बाबू वृन्दावन दास द्वारा संकलित 'डा० बनारसीदास चतुर्वेदी के पत्र', तथा 'डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के पत्र', डा० हरिवंशराय बच्चन द्वारा संकलित 'पन्त के दो सौ पत्र बच्चन के नाम', जीवन प्रकाश जोशी द्वारा संकलित 'बच्चन पत्रों में।' इस प्रकार हिन्दी की यह नवीनतम गद्य-विधा अब समृद्ध होने लगी है और इसका भविष्य उज्ज्वल है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि किसी व्यक्ति के जीवन और व्यक्तित्व को समझने के लिए उसके पत्र एक महत्वपूर्ण सूत्र हैं। इसीलिए पत्र-साहित्य का महत्व असंदिग्ध है। कुछ उपन्यास, निबन्ध, कहानियां आदि भी पत्र-शैली में लिखी जाती है। बालमुकुन्द गुप्त के 'शिवशम्भु के चिट्ठे' तथा विश्वम्भर शर्मा 'कौशिक' की 'दुबेजी की चिट्ठी' पत्र-शैली में रची रचनाएं हैं। विद्वानों और साहित्यिकों के पत्रों के

संकलन और संपादन का और अधिक प्रयास आवश्यक है।

यात्रा-साहित्य

यात्रा शब्द की निष्पत्ति या+ष्ट्रन् शब्द से हुई है। यात्रा का वास्तविक अर्थ एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की क्रिया है। जीवनगत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानव आदि काल से ही सुदूरवर्ती प्रदेशों की यात्रा करता आया है। यात्रा के अनेक उद्देश्य रहते हैं—मनोरंजन, तीर्थ-दर्शन, भ्रमण, प्रकृति-सौन्दर्य निरीक्षण, मिलना-जुलना तथा धर्म-साधन।

प्राचीन-काल में मानव अपनी यात्रा की रोचक और रोमांचक कहानी निश्चय ही अपने बन्धु-बन्धवों को सुनाता होगा, किन्तु भारतीय साहित्य में इन वृत्तान्तों को लिपिबद्ध करने की परम्परा परिलक्षित नहीं होती। डा० रामचन्द्र तिवारी ने यात्रा-साहित्य की सर्जना-प्रक्रिया पर विचार करते हुए लिखा है—"यात्रा-वृत्तान्तों में देश-विदेश के प्राकृतिक दृश्यों की रमणीयता, नर-नारियों के विविध जीवन-सन्दर्भ, प्राचीन एवं नवीन सौन्दर्य चेतना की प्रतीक कला-कृतियों की भव्यता तथा मानवीय सभ्यता के विकास के द्योतक अनेक वस्तु-चित्र यायावर के मानस में रूपायित होकर वैयक्तिक रागात्मक ऊष्मा से दीप्त हो जाते हैं। लेखक अपनी बिम्ब-विधायिनी कल्पना शक्ति से उन्हें पुनः मूर्त्त करके पाठकों की जिज्ञासा वृत्ति को तृप्त कर देता है।"[१]

यात्रा-साहित्य के तत्वों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं। प्रथम कोटि में वे तत्व आते हैं जो अन्य विधाओं में नहीं मिलते, पर यात्रा-साहित्य में अवश्यम्भाव रूप से मिलते हैं। ये तत्व हैं—स्थानीयता तथा तथ्यात्मकता। द्वितीय कोटि में वे तत्व आते हैं जो अन्य विधाओं में भी मिल सकते हैं और यात्रा-वृत्त में भी रहते हैं। ये तत्व हैं—आत्मीयता, वैयक्तिकता, कल्पना-प्रवणता तथा रोचकता।

डा० त्रिगुणायत ने यात्रा-साहित्य के पाँच प्रकार बताये हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) सूचना और विवरण-प्रधान यात्रा वृत्त—इस कोटि में राहुल सांकृत्यायन का 'किन्नर देश में' तथा 'हिमालय परिचय' और सेठ गोविन्ददास का 'सुदूर दक्षिण में' तथा 'पृथ्वी परिक्रमा' आदि आते हैं।

(२) प्रकृति के संसर्ग से उद्भूत उल्लासाधृत यात्रावृत्त—इस कोटि में बेनीपुरी का 'पैरों में पंख बांधकर' तथा भगवत्शरण उपाध्याय का 'वह दुनियाँ' रचनाएँ आती हैं।

(३) जीवन-दर्शन का संकेत करने वाले यात्रावृत्त—इस वर्ग में देवेन्द्र सत्यार्थी का 'धरती गाती है', रांगेय राघव का 'तूफानों के बीच', यशपाल का 'लोहे की दीवारों के दोनों ओर' यात्रावृत्त आते हैं।

(४) डायरी के रूप में संस्मरणात्मक यात्रावृत्त—इस कोटि में राहुल सांकृत्यायन

१. हिन्दी का गद्य साहित्य, पृ० १६७।

का 'यात्रा के पन्ने' आता है।

(५) व्यक्तिगत पत्रों के रूप में लिखे गये यात्रावृत्त—इस कोटि में डा० धीरेन्द्र वर्मा का 'यूरोप के पत्र' शीर्षक यात्रावृत्त आता है।

यात्रावृत्त की परम्परा का उद्भव हिन्दी साहित्य के इतिहास के भारतेन्दु-युग में हुआ। भारतेन्दु ने 'सरयूपार की यात्रा', 'लखनऊ की यात्रा', 'मेहदावल की यात्रा', 'हरिद्वार की यात्रा', 'बैजनाथ की यात्रा' आदि अनेक सुन्दर यात्रा-वृत्तान्त लिखे, किन्तु उन्हें समीक्षकों ने निबंध के अन्तर्गत ही मान लिया है। इसके पश्चात् यात्रा-साहित्य पर स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना होने लगी। मुद्रित रूप में यात्रा साहित्य पर सर्वप्रथम ग्रन्थ हरदेवी की 'लन्दन यात्रा' (१८८२ ई०) है। यात्रा-साहित्य की कुछ महत्वपूर्ण कृतियों के नाम इस प्रकार हैं—भगवानदास वर्मा कृत 'लन्दन का यात्री', पं० दामोदर शास्त्री कृत 'मेरी पूर्व दिग्यात्रा', देवीप्रसाद खत्री की 'रामेश्वर यात्रा' तथा 'बदरिकाश्रम यात्रा', सत्यदेव परिव्राजक की 'मेरी कैलाश यात्रा', 'मेरी जर्मन यात्रा', कन्हैया लाल मिश्र की 'यूरोप यात्रा में छः मास'। राहुल सांकृत्यायन की यात्रा-साहित्य पर 'मेरी तिब्बत यात्रा', 'मेरी लद्दाख यात्रा', 'किन्नर देश में', 'रूस में २५ मास', प्रकाशित हुई। पं० सूर्य नारायण व्यास की 'दुनिया की सैर', सत्यवती मल्लिक की 'दिल्ली से मास्को', रामवृक्ष बेनीपुरी की 'पैरों में पंख बांधकर' तथा 'उड़ते चलो, उड़ते चलो', यशपाल की 'लोहे की दीवार के दोनों ओर', अज्ञेय की 'एक बूंद सहसा उछली' तथा 'अरे यायावर रहेगा याद' भी महत्वपूर्ण पुस्तकें हैं। पं० जवाहरलाल नेहरू की 'आँखों देखा रूस', डा० भगवत्शरण उपाध्याय की 'कलकत्ता से पेकिंग', तथा 'सागर की लहरों पर', दिनकर की 'देश-विदेश' तथा प्रभाकर माचवे की 'गोरी नजरों में हम' भी महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं। यात्रा-साहित्य के कुछ अन्य लेखक मोहन राकेश, ब्रज किशोर नारायण, डा० रघुवंश, प्रभाकर द्विवेदी, धर्मवीर भारती, निर्मल वर्मा आदि। निर्मल वर्मा की 'चीड़ों पर चाँदनी', मोहन राकेश की 'आखिर चट्टान तक' तथा धर्मवीर भारती की 'ठेले पर हिमालय' उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

आज यात्रा-साहित्य की लोकप्रियता निरन्तर बढ़ती जा रही है। इसके अनेक कारण हैं। यायावरों की साहसिक यात्राएँ मानव की जिजीविषा का उद्घाटन करती हैं। जिजीविषा हर जीवधारी की मूलभूत वृत्ति है। यात्रावृत्तांत को पढ़ने से इसकी तुष्टि होती है, इसीलिए लोग यात्रा-वर्णनों को चाव से पढ़ते हैं। कुछ साहित्यिक यायावर अपनी यात्रा में अपनी दृष्टि, संवेदनाओं और प्रतिक्रियाओं को अधिक महत्व देते हैं, कुछ प्रकृति-सौन्दर्य से अधिक अभिभूत होते हैं और कुछ यात्रा-साहित्य को समग्र जीवन की अभिव्यक्ति के रूप में ग्रहण करते हैं। अन्तिम कोटि के साहित्यिक यायावर सर्वोत्कृष्ट माने जा सकते हैं क्योंकि इनके 'यात्रा साहित्य में महाकाव्य और उपन्यास का विराट् तत्व, कहानी का आकर्षण, गीतिकाव्य की मोहक भावशीलता, संस्मरणों की आत्मीयता, निबन्धों की मुक्ति सब एक साथ मिल जाती है। उत्कृष्ट यात्रा-साहित्य ऐसा ही होता है।"

जीवनी-साहित्य

साहित्यिक विधाओं में जीवनी-साहित्य का भी महत्वपूर्ण स्थान है। किसी व्यक्ति-विशेष का जीवन-वृत्तान्त जीवनी कहलाता है। जीवनी का अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द 'लाइफ' अथवा 'बायोग्राफी' है। हिन्दी में जीवनी को जीवन-चरित्र या जीवन-चरित के नाम से भी अभिहित किया जाता है। सामान्यत: जीवनी में चरित-नायक के सम्पूर्ण जीवन की चर्चा होनी चाहिए, परन्तु यह कोई निश्चित नियम नहीं है। बहुत-सी जीवनियाँ चरितनायक के जीवन-काल में लिखी जाती हैं और उनमें सम्पूर्ण जीवन का सन्निवेश सम्भव नहीं हो सकता। इसीलिए "जीवनी साहित्य का एक छोर स्फुट संस्मरण को माना जा सकता है और दूसरा छोर उस जीवनी को जिसमें जन्म से लेकर मृत्यु तक का इतिहास हो।"

जीवनी आत्मकथा के अत्यन्त निकट है परन्तु यह आत्मकथा से भिन्न है। इन दोनों गद्य-विधाओं में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि आत्मकथा स्वयं के द्वारा लिखी जाती है और जीवनी किसी और के द्वारा। इसीलिए आत्मकथा उत्तम पुरुष की शैली में लिखी जाती है। तथा जीवनी अन्य पुरुष की शैली में। जीवनी लिखते समय जीवनीकार चरित-नायक के जीवन की घटनाओं में तोड़-मरोड़ नहीं कर सकता। उसे घटनाओं का तटस्थ भाव से क्रमिक वर्णन करना पड़ता है। परन्तु जीवनी इतिहास नहीं है। उसके वर्णन इतिहास की भांति तथ्यात्मक होते हुए भी साहित्यिक सरसता से युक्त रहते हैं और व्यक्ति-विशेष के संपूर्ण व्यक्तित्व को उजागर कर देते हैं। व्यक्ति-विशेष के प्रति जीवनीकार की वैयक्तिक श्रद्धा भी अभिव्यक्त हो उठती है। सरसता, रोचकता और साहित्यिक कलात्मकता ही जीवनी को सफल बनाती है।

जीवनी लेखन एक कठिन कार्य है। डा० कमलेश के शब्दों में, "सारांश यह है कि जीवनी लिखना श्रम-साध्य कार्य है और उसमें बहुत कुछ सतर्कता बरतनी पड़ती है। चरित नायक के देवत्व अथवा राक्षसत्व का सन्तुलित रूप समक्ष रखकर ही यह कठिन कार्य सम्पन्न हो सकता है और उसी से पाठक जीवनोपयोगी तथ्यों का संकलन कर सकता है। अत्यधिक प्रशंसा अथवा अत्यधिक निन्दा से बचना जीवनी-लेखक के लिए नितान्त आवश्यक है।"[1]

पं० श्रीराम शर्मा ने जीवनी विधा पर अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए है—"जीवनी किसी व्यक्ति के जीवन का शब्द-चित्र है और इसीलिए जीवनी-लेखक की लेखनी-तूलिका से अंकित चित्र यथार्थ होना चाहिए और उसे निष्पक्ष रूप से, न्यायाधीश की भाँति, जीवनी-नायक के जीवन पर सम्मति देनी चाहिए, जीवन-सामग्री के आधार पर। हाँ, लेखन कला-कौशल इसमें है कि जीवनी चित्र में रंग आवश्यकता से अधिक गहरा या फीका न हो।"[2]

१. हिन्दी वाङ्मय : बीसवीं शती, पृ० ३७२।

२. जीवनी में चिट्ठी-पत्रियों का महत्व—विशाल भारत जनवरी १९४०, पृ० ३७।

हिन्दी का जीवनी साहित्य अधिक समृद्ध नहीं है। यों तो बहुत-सी जीवनियाँ लिखी गई हैं लेकिन वे नाम मात्र के लिए ही हैं। उनमें साहित्यिक सौष्टव एवं कलात्मकता का अभाव है। जैसा कि डा० हरदयाल ने लिखा है "हिन्दी में आधुनिक काल में बहुत बड़ी संख्या में जीवनियाँ लिखी गई हैं। इनमें से ऐसी जीवनियों की संख्या बहुत बड़ी है, जिनका साहित्यिक कृति के रूप में कोई महत्व नहीं है।....इस प्रकार की जीवनियों को यदि हम एक ओर उठाकर रख दें, तो ऐसी जीवनियाँ कम ही बच रहेंगी, जिन्हें आदर की दृष्टि से देखा जा सके और जिनमें साहित्यिक सृजनशीलता का गुण हो।"[1]

हिन्दी का जीवनी साहित्य मात्रा की दृष्टि से कम नहीं है, किन्तु गुण की दृष्टि से पिछड़ा हुआ है। इस कोटि की अधिकाँश कृतियाँ जन्म से लेकर मृत्यु तक की घटनाओं का विवरण मात्र जान पड़ती है। इनमें जीवनी का शरीर मात्र है, आत्मा नहीं है। न तो नायक के चरित्र का प्रभावपूर्ण अंकन हुआ है और न घटनाओं के सरस औपन्यासिक वर्णन हैं। भाषा-शैली की दृष्टि से भी ये निराश करती हैं।

हिन्दी साहित्य के इतिहास के भारतेन्दु युग में जीवनियाँ लिखी गईं। रमाशंकर व्यास, जगन्नाथदास रत्नाकर, प्रतापनारायण मिश्र और बालमुकुंद गुप्त इस काल के प्रमुख जीवनी-लेखक हैं। देवी प्रसाद मुंसिफ, कार्तिक प्रसाद, सम्पूर्णानन्द तथा रायकृष्णदास ने भी जीवनियाँ लिखीं। भक्तों, संतों, महापुरुषों और साहित्यकारों पर ये जीवनियाँ लिखी गई हैं। द्विवेदी युग में महापुरुषों और समाज सुधारकों की जीवनियाँ लिखी गईं क्योंकि यह सुधारवादी भावनाओं का युग था। इसके बाद स्वतन्त्रता-सेनानियों की जीवनियाँ लिखी गईं क्योंकि राष्ट्रीय आन्दोलन तीव्र हो उठा था।

तदुपरान्त हिन्दी में श्रेष्ठ जीवनियों का प्रणयन हुआ। प्रेमचंद, भदन्त आनंद कौशल्यायन, मन्मथनाथ गुप्त, सुन्दरलाल, आनंद प्रकाश जैन, रामनाथ सुमन आदि ने संतों-महात्माओं तथा राजनीतिक नेताओं की जीवनियाँ लिखीं।

मुंशी प्रेमचंद तथा निराला पर श्रेष्ठ जीवनियाँ लिखी गई हैं। अमृतराय द्वारा लिखित 'प्रेमचंद कलम का सिपाही', डा० रामविलास शर्मा द्वारा रचित 'निराला की साहित्य साधना, अत्यंत उत्कृष्ट बन पड़ी हैं। पुत्र होते हुए भी अमृतराय ने जीवनी-लेखक के दायित्व को भली प्रकार निभाया है। डा० रामविलास शर्मा ने भी बड़ी ही रोचक जीवनी लिखी है। डा० हरदयाल ने इसे जीवनी-लेखन का प्रतिमान स्थापित करने वाली जीवनी माना है। सुमंगल प्रकाश द्वारा लाल बहादुर शास्त्री की 'वह नन्हा-सा आदमी' नामक जीवनी भी पर्याप्त प्रसिद्ध हुई है। ओंकार शरद द्वारा रचित राममनोहर लोहिया की जीवनी भी उल्लेखनीय है। राही मासूम रजा ने

१. आधुनिक हिन्दी गद्य साहित्य, पृ० १७०।

अब्दुल हमीद की जीवनी लिखी है। डा० शांति जोशी ने सुमित्रानंदन पंत की जीवनी लिखी है। विष्णु प्रभाकर ने 'आवारा मसीहा' नाम से हरिश्चंद्र की जीवनी तथा भगवती प्रसाद सिंह ने 'मनीषी की लोकयात्रा' नाम से गोपीनाथ कविराज की जीवनी लिखी है। श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान की जीवनी उनकी पुत्री सुधा चौहान ने लिखी है। ये हिन्दी की श्रेष्ठ जीवनियाँ हैं निश्चय ही जीवनी-विधा का भविष्य उज्ज्वल है।

आत्मकथा-साहित्य

आत्मकथा का शाब्दिक अर्थ है—अपनी कहानी। इसमें लेखक अपने जीवन का सिंहावलोकन स्वयं करता है। स्मृति के आधार पर लेखक अपने जीवन की विभिन्न घटनाओं एवं अनुभवों का क्रमिक वर्णन प्रस्तुत करता है। स्मृति के आधार पर लिखी जाने के कारण यह विधा एक ओर संस्मरण के निकट दिखाई देती है तो दूसरी ओर वैयक्तिक घटनाओं के वर्णन के कारण डायरी के समीप जा पहुँचती है। आत्मचरित और आत्मचरित्र हिन्दी में आत्मकथा के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले आरंभिक शब्द हैं। तत्वतः इनमें अन्तर नहीं है। आत्मचरित कही जाने वाली रचना में विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति और विवेक का भाव स्पष्ट रूप में विद्यमान रहता है। आत्मकथा इससे अधिक रोचक होती है।

प्रश्न यह है कि आत्मकथा के लिखने का उद्देश्य क्या रहता है? निश्चय ही इसके दो उद्देश्य होते हैं। एक तो आत्म-निरीक्षण करना तथा अतीत की स्मृतियों को कुरेदने का मोह होना तथा दूसरा यह आकांक्षा होना कि मेरे अनुभवों का लाभ दूसरे लोग भी उठा सकें। कभी-कभी आत्मकथा लिखने के मूल में ख्याति पाने की लालसा भी काम करती है। कलात्मक अभिव्यक्ति की प्रेरणा से भी आत्मकथा लिखी जा सकती है।

आत्मकथा के विभिन्न रूप मिलते हैं। कुछ आत्मकथाएँ धार्मिक वृत्ति प्रधान व्यक्तियों की होती हैं, जैसे—वियोगी हरि की 'मेरा जीवन प्रवाह।' कुछ आत्मकथाएँ राजनीतिक वृत्ति प्रधान व्यक्तियों की होती हैं, जैसे—जवाहरलाल नेहरू की 'मेरी कहानी।' कुछ आत्मकथाएँ साहित्यकारों द्वारा लिखी जाती हैं, जैसे—गुलाबराय की 'मेरी असफलताएँ।'

जैन कवि बनारसीदास की 'अर्धकथा' (१६४१ ई०) हिन्दी की प्रथम आत्म-कथा मानी गई है। यह पद्य में लिखित है।

आधुनिक युग में हिन्दी गद्य का विकास होने पर अन्य विधाओं के साथ ही आत्मकथा की ओर भी लेखकों का ध्यान गया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'कुछ आप बीती, कुछ जगबीती' के नाम से आत्मकथा लिखनी शुरू की। अपने यौवन काल के वातावरण और मुफ्तखोर मुसाहिबों का उन्होंने इसमें रोचक चित्रण किया है। जितना अंश वे लिख सके, वह बड़ा सजीव बन पड़ा है।

कुछ आत्मकथाएँ राजनीतिक एवं सामाजिक नेताओं द्वारा भी लिखी गई हैं

परन्तु उनमें साहित्यिकता का अभाव है। इसलिए वे साहित्यिक विधा की कोटि में नहीं आ सकतीं। बाबू श्यामसुन्दर दास ने 'मेरी आत्म कहानी' (१९४१ ई०) नाम से अपनी आत्मकथा लिखी। इसे हिन्दी की प्रथम महत्वपूर्ण साहित्यिक आत्मकथा होने का गौरव प्राप्त है, परन्तु इसमें कुछ कमियाँ भी हैं। डा० कमलेश के शब्दों में, "आत्मकथा में जिस आत्मनिरीक्षण और सरसता की आवश्यकता होती है, उसका इस आत्मकथा में सर्वथा अभाव है।"

इसके पश्चात् राहुल सांकृत्यायन को 'मेरी जीवन यात्रा' (१९४६ ई०) तथा वियोगीहरि की 'मेरा जीवन प्रवाह' (१९४८ ई०) शीर्षक आत्मकथाएं उल्लेखनीय हैं सेठ गोविन्ददास रचित 'आत्मनिरीक्षण' (तीन भाग, १९५८ ई०), पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' रचित 'अपनी खबर' (१९६० ई०) तथा आचार्य चतुरसेन कृत 'मेरी आत्म कहानी' (१९६३ ई०) भी हिन्दी की महत्वपूर्ण आत्म कथाएँ हैं। बाबू वृन्दावन लाल वर्मा की 'अपनी कहानी' (१९७० ई०) भी इस शृंखला की एक महत्वपूर्ण कड़ी है।

हिन्दी आत्मकथा के क्षेत्र में श्री हरिवंशराय बच्चन का अमूल्य योगदान है। उन्होंने तीन खंडों में अपनी जीवन-कहानी लिखी है इसका प्रथम भाग 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ', द्वितीय भाग 'नीड़ का निर्माण फिर' तथा तृतीय भाग 'बसेरे से दूर' है। बच्चन जी ने इसे अत्यंत ईमानदारी से लिखा है उनकी इस आत्मकथा को पढ़कर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा था—"बच्चन जी को हिन्दी गद्य को पुष्ट करने के लिए कुछ और गद्य की पुस्तकें लिखनी थीं।" बच्चन की तीन खण्डों में प्रस्तुत आत्मकथा की विशेषता है उसकी तटस्थता, तरल संवेदना और ईमानदारी। निश्चय ही उनकी आत्मकथा का प्रथम खण्ड सर्वाधिक भावुकता-स्नात है। उसमें घटनाओं का ऐसा मार्मिक अंकन है कि पाठक भाव-विभोर हुए बिना नहीं रहता।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी में आत्मकथाएँ कम नहीं लिखी गई हैं। परन्तु फिर भी इस विधा का उतना व्यापक लेखन नहीं मिलता, जैसा मिलना चाहिए था। कारण यह है कि बहुत से साहित्यकार अपने विषय में लिखने में संकोच करते हैं। वैसे हिन्दी में राजनीति के क्षेत्र के महापुरुषों की आत्मकथाएँ और साहित्यकारों की आत्मकथाएँ दोनों मिलती हैं। यदि एक ओर महात्मागांधी की 'सत्य के प्रयोग', डा० राजेन्द्र प्रसाद की 'मेरी आत्मकथा', पंडित जवाहरलाल नेहरू की 'मेरी कहानी' हमारा ध्यान खींचती हैं तो दूसरी ओर यशपाल, वियोगीहरि, बाबू गुलाबराय जी, डा० बच्चन की 'आत्मकथा' भी हमें आकर्षित किये बिना नहीं रहती। आत्मकथा-लेखन में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इसके लेखक के पास इतना उन्मुक्त हृदय होना चाहिए, जो अपनी दुर्बलताओं को निःसंकोच स्वीकार कर सके। तभी आत्मकथा लिखने का उद्देश्य पूरा होगा।

प्रश्न ९१—हिन्दी के आँचलिक उपन्यास विषय पर एक लघु लेख लिखिए।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों का एक विशिष्ट रूप 'आंचलिक उपन्यास'

के नाम से अभिहित किया जाता है। यद्यपि हिन्दी उपन्यासों में आंचलिकता का तत्व कोई नया नहीं है और प्रेमचन्द, वृन्दावनलाल वर्मा आदि के उपन्यासों में वह विद्यमान रहा है किन्तु 'आंचलिक उपन्यास' शब्द के गढ़ने तथा साहित्यिकों का उसकी ओर ध्यान आकर्षित करने का श्रेय 'मैला आंचल' के रचयिता फणीश्वरनाथ रेणु को है। रेणुजी ने सन् १९५४ में प्रकाशित इस उपन्यास की भूमिका में लिखा था—"यह है मैला आंचल. एक आंचलिक उपन्यास। कथानक है पूर्णिया।....मैंने इसके एक हिस्से के एक ही गाँव को पिछड़े गाँवों का प्रतीक मानकर इस उपन्यास का कथा-क्षेत्र बनाया है।"

विभिन्न समीक्षकों ने आंचलिक उपन्यास को पारिभाषित करने का प्रयास किया है। डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय का मत है—"आंचलिक उपन्यास उन उपन्यासों को कहते हैं जिनमें किसी विशेष जनपद अंचल (क्षेत्र) के जन-जीवन का समग्र चित्रण होता है। समग्र का अर्थ है—भाषा, वेशभूषा, उत्पादन के साधन, प्रकार, विनिमय।" डा० रामगोपाल सिंह चौहान ने लिखा है, "आंचलिक उपन्यास की परिभाषा में वे उपन्यास आते हैं, जिनमें किसी जनपद या प्रदेश के अंचल-विशेष के लोक-जीवन के लोक-तत्वों का सारवाही समग्र चित्रण हो।" डा० शांति स्वरूप गुप्त के शब्दों में, "अंचल का अर्थ है जनपद या क्षेत्र। जिन उपन्यासों में किसी विशिष्ट प्रदेश के जनजीवन का समग्र बिम्बात्मक चित्रण हो, उन्हें आंचलिक उपन्यास कहा जाता है।"

डा० शम्भूनाथ सिंह ने 'आज' में प्रकाशित अपने एक लेख में आंचलिक चित्रण को दो भागों में विभक्त किया है—आंचलिक संस्पर्श (Regional touch) तथा आंचलिक प्रवृत्ति (Regionalism) प्रथम वर्ग में वे नागार्जुन तथा द्वितीय वर्ग में रेणु को अग्रगण्य मानते हैं। किन्तु यह विभाजन उचित नहीं है। आंचलिक संस्पर्श तो हिन्दी के अनेक उपन्यासों में है, यथा वृन्दावनलाल वर्मा का 'कचनार' व 'मृगनयनी', चतुरसेन शास्त्री का 'वैशाली की नगरवधू', अमृतलाल नागर का 'सेठ बांकेमल' आदि, परन्तु आंचलिक संस्पर्श मात्र से इन उपन्यासों को आंचलिक उपन्यास नहीं माना जा सकता। इस क्षेत्र में केवल वे ही उपन्यास आते हैं जिनकी प्रवृत्ति भी आंचलिक होती है। अतएव आंचलिक का विभाजन करना तर्कसंगत नहीं है और न नागार्जुन को केवल आंचलिक संस्पर्श का उपन्यासकार ही माना जा सकता है। उनमें आंचलिकता की प्रवृत्ति स्पष्टतया परिलक्षित होती है।

हिन्दी में आंचलिक उपन्यास विशुद्ध भारतीय विधा है। उसे प्रेरणा भले ही पश्चिम से मिली हो, परन्तु उसका स्वरूप और आकार नितान्त भारतीय है। पाश्चात्य देशों में प्रदेश-विशेष की भौगोलिक पृष्ठभूमि पर वहाँ की कुछ विशेषताओं को उभारने वाले उपन्यास लिखे गये थे। हार्डी के 'Wessex Novels' इसका उदाहरण है। परन्तु इनमें प्रादेशिक रंग के साथ-साथ उपन्यासकार का ध्यान अन्यत्र भी गया है और उसकी दृष्टि केवल प्रदेश-विशेष के परिवेश के चित्रण पर ही नहीं रही है। अतएव स्पष्ट है कि हिन्दी के आंचलिक उपन्यास अपने स्वरूप-निर्माण के लिए किसी विदेशी उपन्यास पर

आधृत नहीं है। उनका स्वरूप नितान्त निजी है।

अतएव स्पष्ट है कि आंचलिक उपन्यास वह उपन्यास है जिसमें लेखक का आंचलिकता के प्रति विशेष आग्रह रहता है। किसी विशिष्ट अंचल या क्षेत्र के समग्र जीवन का विस्तृत और विविधता से युक्त अंकन किया जाता है। उस जनपद के परिवेश के सजीव प्रस्तुतीकरण के लिए लेखक वहाँ की सभ्यता संस्कृति, रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा, पर्व-त्योहार, नृत्य-गीत, रूढ़ियाँ-विश्वास, लोकोक्तियों मुहावरे आदि का भरपूर उपयोग करता है।

आंचलिक उपन्यास के तत्व—आंचलिक उपन्यास के मूल तत्व अधोलिखित हैं— १. भौगोलिक पृष्ठभूमि का चित्रण, २. कथानक का आंचलिक आधार, ३. लोक संस्कृति का चित्रण, ४. अंचल की राजनीतिक चेतना और धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक स्थिति का चित्रण और ५. जन-जागरण के सन्देश।

आंचलिक उपन्यास का लेखक उस अंचल विशेष की भौगोलिक स्थिति के यथावत चित्रण द्वारा यह प्रकट करता है कि इन्हीं भौगोलिक परिस्थितियों के परिणाम-स्वरूप वहाँ का जीवन ऐसा बना है जैसा उपन्यास में चित्रित है। वहाँ की धरती की सोंधी खुशबू, नदी की कल-कल ध्वनि और पवन के मीठे झकोरे पाठक को गुदगुदाए बिना नहीं रहते हैं। धरती का बंजरपन हो या नदी की बाढ़, सबका आंचलिक उपन्यासकार के लिए जीवित पात्रों की भांति ही महत्व होता है।

आंचलिक उपन्यास की कथावस्तु और उसके पात्र अंचल विशेष से संबद्ध रहते हैं। आंचलिक उपन्यासकार लोक-संस्कृति का अत्यंत दक्ष और सजीव करों से चित्रण करता है। वहाँ के निवासियों का रहन-सहन, खान-पान, पर्व-त्योहार, गीत-नृत्य आदि उपन्यास में चित्रित किये जाते हैं।

आंचलिक उपन्यास में किसी प्रदेश विशेष का ही चित्रण नहीं होता है, एक सीमित कलावधि की घटनाओं को ही लिया जाता है। उदाहरणत: ''मैला आंचल' में सन् १९४२ के बाद से स्वतंत्रता प्राप्ति के कुछ समय बाद तक के राजनीतिक परिवेश का चित्रण है। उस काल-विशेष की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक परिस्थितियों का चित्र प्रस्तुत किया गया है।

जन-जागरण के सन्देश भी आंचलिक उपन्यास में निहित रहते हैं। रूढ़ियों और अंधविश्वासों के विरुद्ध किस प्रकार क्रांति की नई लहर उत्पन्न होती है, इसका चित्रण इनमें मिलता है।

आंचलिक उपन्यासों के संबंध में एक प्रश्न यह उठता है कि ये उपन्यास क्या ग्रामीण अचल से ही संबद्ध होते हैं ? यदि ऐसा है तो उदयशंकर भट्ट का 'सागर लहरें और मनुष्य' इसकी सीमा में कैसे आयेगा, क्योंकि उसमें बंबई जैसी महानगरी में रहने वाले मछुओं के जीवन का चित्रण है। मराठी उपन्यास 'चक्र' में बंबई की 'झोंपड़पट्टी' के जीवन का चित्रण है। यही नहीं, ग्राम्य जीवन को आधार बनाकर लिखे गये

प्रेमचंद के 'गोदान' को तो आंचलिक उपन्यास नहीं कहा जाता। अत: ग्रामीण अंचल या नगर के अंचल से आंचलिक उपन्यास को नहीं बांधा जा सकता। आंचलिक उपन्यास उस प्रदेश का सहज और अकृत्रिम चित्रण होता है जिसके निवासी अपना सीधा-सरल जीवन निष्कपट भाव से जी रहे हैं। उदाहरण के लिए 'मैला आंचल' को देखिए। उसमें इसपिताल, गन्ही, अरथ, महतमा जैसे शब्दों को बोलने वाले लोग हैं। ये ढोल-मंजीरे की ताल पर 'अरे फागुन मास रे गवना मोरा होइल' जैसे राग अलापते हैं। जो 'भारत का डंका लंका में बजवाया वीर जमाहर ने' जैसे 'सुराजी कीर्तन' गाते हैं और 'किरान्ती' तथा 'इनकिलास जिन्दाबाद' के नारे लगाते हैं। इन पात्रों की विशेषता इनके अकृत्रिम जीवन में है, ये सभ्यता के आधुनिक प्रभाव से दूर हैं और सभ्यता की विषैली सांसों से बचे हुए हैं, इनका भोलापन ही इनका सौंदर्य है और इनके गुण-दोष इनके व्यक्तित्व का अंग है। इस प्रकार के जीवन का सर्वाङ्गीण चित्र जिस उपन्यास में है, वह आंचलिक उपन्यास कहलायेगा, भले ही उसके निवासी ग्रामीण अंचल के हों या नगर के समीपवर्ती अंचल के।

आंचलिक उपन्यास के संबंध में एक अन्य विवादास्पद विषय यह है कि हिन्दी का प्रथम आंचलिक उपन्यास कौन सा है। यों तो कुछ लोग आंचलिकता का उद्भव खोजते हुए प्रेमचंद की 'बूढ़ी काकी' व गुलेरी की 'उसने कहा था' में पहुंच जाते हैं और कुछ वृन्दावन-लाल वर्मा के उपन्यासों में आंचलिकता का उद्गम ढूँढ़ने लगते हैं, परन्तु कुछ थोड़े से ग्रामीण शब्दों का प्रयोग अथवा क्षेत्र-विशेष की कथा को अपना लेना ही आंचलिकता नहीं है। उस विशिष्ट जीवन का यथातथ्य अंकन किये बिना आंचलिकता नहीं आती। "आंचलिक उपन्यास, उपन्यास साहित्य में एक नया मोड़ है। वह आधुनिक भौतिकवादी कृत्रिम सभ्यता से अप्रभावित, प्रकृति की गोद में और प्रकृति से संश्लिष्ट, स्वाभाविक जीवन जीने वाले, पिछड़े हुए समझे जाने वाले, सरल, सदय, उदार, भोले और गुण-दोष युक्त मानव-समूह के अन्तर्बाह्य जीवन को, उसकी राजनीतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक चेतना के समय-सापेक्ष सन्दर्भ में व्यक्तित्व और अभिव्यक्ति प्रदान करता है। चूँकि इस प्रकार के 'जीवन' से ग्रामीण समूह विशेष संपृक्त और संयुक्त होता है, अत: आंचलिक उपन्यास का मूल स्वर ग्रामीण होता है।"

अब आती है हिन्दी के प्रथम आंचलिक उपन्यास की बात। आलोचकों का एक वर्ग नागार्जुन के 'रतिनाथ की चाची' को हिन्दी का प्रथम आंचलिक उपन्यास मानता है, तो दूसरा रेणु के 'मैला आंचल' को यह स्थान देता है। डा० रामदरश मिश्र ने नागार्जुन में आंचलिकता के लक्षणों को शत-प्रतिशत रूप में नहीं देखा है। उनके अनुसार, "नागार्जुन के उपन्यास आंचलिक और समाजवादी- उपन्यासों के बीच में पड़ते हैं।....सच्चे अर्थों में नागार्जुन के उपन्यास आंचलिक उपन्यास की संश्लिष्टता नहीं प्राप्त कर पाते। फिर भी परिवेश की आंचलिकता के कारण उन्हें आंचलिक

उपन्यासों की कोटि में रखा जा सकता है।" अतः स्पष्ट है कि रेणु ही हिन्दी के प्रथम आंचलिक उपन्यासकार हैं और 'मैला आंचल' हिन्दी का प्रथम आंचलिक उपन्यास है।

हिन्दी के आँचलिक उपन्यासकार एवं उपन्यास—फणीश्वरनाथ रेणु, नागार्जुन, उदयशंकर भट्ट, शैलेश मटियानी, राँगेय राघव, रामदरश मिश्र और मनहर चौहान आदि के नाम प्रमुख आंचलिक उपन्यासकारों के रूप में लिये जा सकते हैं।

कुछ प्रमुख चर्चित आंचलिक उपन्यासकार निम्न हैं :—

फणीश्वरनाथ रेणु : 'मैला आंचल' (१९५४), परती परिकथा (१९५७)
उदयशंकर भट्ट : लोक-परलोक, सागर, लहरें और मनुष्य (१९५५)
नागार्जुन : बलचनमा (१९५२), वरुण के बेटे, दुख मोचन (१९५७)
रांगेयराघव : कब तक पुकारूं (१९५७)
देवेन्द्र सत्यार्थी : रथ के पहिये, ब्रह्मपुत्र
रामदरस मिश्र : पानी के प्राचीर
शैलेश मटियानी : हौलदार (१९६१)
शिवप्रसाद रुद्रकाशिकेय : बहती गंगा (१९५२)
राजेन्द्र अवस्थी : सूरज किरन की छाँव, जंगल के फूल (१९६०)
बलभद्र ठाकुर : नेपाल की वो बेटी (१९५९)
केशवप्रसाद मिश्र : कोहबर की शर्त (१९६४)
यमुनादत्त वैष्णव : शैलवधू (१९५९)
राही मासूम रजा : आधागाँव, (१९६७)
श्यामू सन्यासी : उत्थान। आदि अनेक लेखक इस दिशा में लेखनरत हैं।

प्रश्न ९२—व्यक्तिपरक अथवा 'ललित निबन्ध' के स्वरूप पर विचार करते हुए उसके विकास का इतिहास प्रस्तुत कीजिए।

'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति', इस प्राचीन उक्ति को लक्ष्य कर आचार्य शुक्ल ने लिखा था—"यदि गद्य कवियों की कसौटी है तो निबंध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबंधों में ही सबसे अधिक संभव होता है।"

कुछ विद्वान गंभीर चिन्तन को निबंध की आत्मा मानते हैं तो कुछ उसमें वैयक्तिकता को महत्व देते हैं। इस प्रकार संपूर्ण निबंध साहित्य को दो रूपों में देखा जा सकता है—१. विचार प्रधान गंभीर निबंध जिसके प्रतिनिधि लेखक आचार्य शुक्ल, डा० नगेन्द्र, नन्ददुलारे वाजपेयी आदि हैं, तथा २. व्यक्तिपरक निबंध, जिनमें हृदय-स्पर्शी भावों का समावेश रहता है तथा जो कलात्मक आधार पर लिखे जाते हैं। भारतेन्दु युगीन सभी निबंधकार इसी कोटि में आते हैं। बाबू गुलाबराय, सियाराम शरण गुप्त, महादेवी वर्मा, हजारीप्रसाद द्विवेदी, शिवप्रसाद सिंह, कुबेरनाथ नाथ और विद्यानिवास मिश्र आदि इस धारा के प्रतिनिधि लेखक हैं।

प्रश्न यह है कि क्या विचारों के आधार पर निबंध को दो भागों में बांटना

उचित है ? डा० विद्यानिवास मिश्र के अनुसार व्यक्ति व्यंजक निबंधों को विचार प्रधान निबंधों से अलग मानना अनुचित है । जो निबंध तर्कपूर्ण विश्लेषण पर आधारित होता है वह समीक्षात्मक होता है । विचार तो प्रत्येक निबंध में विद्यमान होते ही हैं । विचार शून्य निबंध को कोरा गद्य ही मानना चाहिए । व्यक्ति व्यंजक निबंध में कम हो या अधिक, पर विचारों की धारा अवश्य दिखाई देगी ।

डा० मिश्र आज के एक सिद्धहस्त व्यक्तिव्यंजक निबंधकार हैं । उन्होंने इन निबंधों की सृजन-प्रक्रिया की कुछ आवश्यक शर्तें बताई हैं[१]—

१. व्यक्तिव्यंजक निबंध लिखने के लिए एक भीतर की घुमड़न जरूरी होती है । 'मूड' आने पर कविता या कहानी लिखी जा सकती है, पर व्यक्तिपरक निबंध लिखने के लिए वह घुमड़न जरूरी है, जो मन को कई दिनों तक मथती रहे और उससे लाचार होकर लेखक निबंध रचना में प्रवृत्त हो ।

२. यह निबंध तभी लिखा जा सकता है, जब सामान्य जीवन की एक छोटी-सी घटना किसी व्यापक सामाजिक संदर्भ से और उससे आगे जाकर विश्व चेतना के किसी तार से जुड़ जाये । ऐसी अवस्था में सभी तार एक साथ झंकृत हो सकेंगे ।

३. लेखक में सब कुछ कहने के लोभ को संवरण करने की क्षमता हो । निबंधकार 'रिपोर्टर' नहीं है जो सब कुछ कहता जाय । उसके मन में कितना कुछ कहने का लोभ उठेगा, पर वह उसमें से बहुत कुछ छांटकर ही व्यक्तिपरक निबंध लिख सकता है ।

४. लेखक को बहुश्रुत होना चाहिए । वह ज्ञान के विविध स्रोतों से रस ग्रहण करने वाला हो । पर इसका आशय कोरा पांडित्य नहीं है । यदि वह संदर्भों को भर देगा तो निबंध उबाऊ हो जायेगा और यदि वह संदर्भ बिल्कुल न देगा, तो निबंध हल्का हो जायगा । अतएव उसका कौशल इस बात में निहित है कि वह विविध संदर्भों को किस कौशल के साथ अपने निबंध में समायोजित करता है । उसके निबंध में विषय पर बल देने की लाचारी के कारण कभी-कभी एक ही बात कई बार आ जाती है । कारण यह है कि मूल संवेदना उसे बार-बार कुछ करने के लिए उकसाती रहती है । इसलिए इसे पुनरुक्ति न समझना चाहिए ।

स्वरूप एवं नामकरण—वैयक्तिक-निबंध निबंध लेखक की स्वच्छन्द मन:स्थिति की रचना है । यह रचना एक ओर गद्य-रचना के बाह्य उपकरणों से बंधी रहती है, तो दूसरी ओर लेखक के मन की तरंगों से । इस प्रकार के निबंधों में विषय की अपेक्षा लेखक के व्यक्तित्व का महत्व होता है । इन निबंधों में लेखक की अनुभूति, कल्पना, वैयक्तिक चिन्तन और स्वभाव आदि तत्व उन्हें अपूर्व आकर्षण प्रदान करते हैं ।

वैयक्तिक निबंधों को निर्बन्ध, व्यक्तिनिष्ठ, आत्मनिष्ठ, व्यक्तिव्यंजक या ललित निबंध भी कहा जाता है । इन्हें अंग्रेजी के Personal Essay का पर्याय

१. कंटीले तारों के आर-पार, पृ० १०६-११० ।

समझना भूल होगी। "पश्चिम का 'मैं' 'हम' के विरोध में स्पष्ट खड़ा है। इसीलिए वहाँ के व्यक्ति-व्यंजक निबंधों में अनुभव की अद्वितीयता और एकान्तनिष्टता पर विशेष बल है। जबकि ठीक इसके विपरीत कुछ एक अपवादों को छोड़कर हिन्दी का 'मैं' 'हम' के अनुभव का एक शक्तिशाली माध्यम मात्र बनकर उपस्थित होता है। उसमें अकेलापन होते हुए भी 'हम' का आह्वान करने की क्षमता है।"[1]

इसीलिए यह निबंध गद्य-काव्य के अत्यंत निकट पहुँच जाते हैं। सुप्रसिद्ध गद्य-काव्य लेखिका श्रीमती दिनेशनन्दिनी ने लिखा है—"मैं तो व्यक्तिगत ही लिखती हूँ और उसी को जग की अभिव्यक्ति समझती हूँ।" इन निबंधों में निबंधकार अपने मनोगत भावों और विचारों को इस प्रकार प्रदर्शित करता है कि 'स्वान्तः सुखाय' की भावना के माध्यम से वह छोटी सी साधारण बात विश्व-चेतना से संयुक्त होकर प्रभावशाली बन जाती है।

इन निबंधों में लेखक अपनी मानसिक स्थिति का चित्रण विशेष उत्साहपूर्वक करता है। इसे ही डा० विद्यानिवास मिश्र ने 'मुक्त निबंध फक्कड़ भाव' कहा है और श्री जगदीशचंद्र माथुर ने 'मौज' नाम दिया है। उनके शब्दों में, "मन में मौज उठी, देखी हुई दुनिया और भोगे हुए अनुभव की प्रतिक्रिया हुई और साथ ही अभिव्यक्ति के आग्रह ने सताया, तो उस 'इंटेन्स मोमेन्ट'—प्रखर क्षण—को मैंने लेख में बांध लिया।"

प्रश्न यह है कि इन निबंधों को कौन-सा नाम देना सबसे अधिक उपयुक्त है? वस्तुतः इसके सभी नाम हिन्दी में चल रहे हैं। डा० विद्यानिवास मिश्र ने 'आंगन का पंछी और बनजारा मन' में इन्हें ललित निबंध की संज्ञा दी थी—

"हर एक पत्रिका से मांग जरूर आती है, एक ललित निबंध भेज दीजिये। मानो ललित निबंध केवल अशोक की पत्ती है, जिसका एकमात्र उपयोग उत्सव को हरियाली का आभास देना है।"

बाद में उन्होंने अपने 'कंटीले तारों के आर-पार' को स्पष्ट रूप से "व्यक्ति-व्यंजक निबंधों का संग्रह" बताया।

डा० जगदीशचंद्र माथुर ने अपने निबंधों को ललित लेख कहा है—

"ललित लेख लिखने का शौक १६३७ में ही लग गया था।"

श्री अज्ञेय ने इनके लिए व्यक्तित्व-व्यंजक और व्यक्तित्व-रंजित जैसे नामों को प्रस्तुत किया है—

"जहाँ वस्तु को रागरंजित रूप में प्रस्तुत करने का आग्रह न हो, फिर भी व्यक्तित्व की व्यंजना उसमें हो और काम्य रही हो वहाँ निबंध को ललित निबंध कहना ठीक नहीं होगा। इसीलिए व्यक्तित्व-व्यंजक अथवा व्यक्तित्व-रंजित नाम मुझे अधिक सही जान पड़ता है।"

१. कंटीले तारों के आर पार, पृ० १०६-१०७।

नामों की भूल-भुलैया में न भटक कर हमारे लिए यही कहना समीचीन होगा कि हिन्दी साहित्य के भारतेन्दु युग में जन्मी तथा प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त व बाबू गुलाबराय द्वारा पल्लवित की हुई इस निबन्ध-विधा को हजारीप्रसाद द्विवेदी, शिवप्रसाद सिंह, कुबेरनाथ राय और विद्यानिवास मिश्र जैसे निबंधकारों ने सज्जित किया है। "आज यही निबंध विधा भावसंपत्ति, विचारगरिमा, ज्ञान-विज्ञान के सूत्रों पर गुँथे हुए व्यंग्य और हास्य के पुट से युक्त भाषा के सौंदर्य से अभिमंडित कुछ इठलाहटमय प्रवाह से रचना के लालित्य को उभारती है और ललित-निबंध की कोटि में आती है।"[1]

ललित निबंध इस विधा का अधिक प्रचलित नाम है। इसे व्यक्तिपरक अथवा व्यक्तिव्यंजक कहना भी ठीक ही है। इसके यह विविध नाम साहित्य में चल रहे हैं।

विशेषताएं

१. **आत्मीयता**—निजीपन या आत्मीयता व्यक्तिपरक निबंधों का प्राण है। श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी निबंध की इस विशेषता को लक्ष्य करके लिखते हैं—

"निबंध में कोई भी व्यक्ति अपने ही भाव की अभिव्यक्ति के लिए प्रयास करता है। वह उसकी अपनी चेष्टा है। इसलिए अन्य रचनाओं की अपेक्षा उसमें उसका अपना व्यक्तित्व विशेष रूप से प्रस्फुटित होता है।"

हिन्दी के व्यक्तिपरक निबंधों में यह निजत्व प्रकट हुए विना नहीं रहा है। यह विशेषता निबंधों में विषय प्रतिपादन के साथ स्वतः आ गई है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी 'अशोक के फूल' में अपने भावुकतास्नात अन्तर की आकुलता इन शब्दों में प्रकट करते हैं—

"मेरा मन उमड़-घुमड़ कर भारतीय रस-साधना के पिछले हजार वर्ष पर बरस जाना चाहता है।"

डा० विद्यानिवास मिश्र के निबंधों में भी उनका निजत्व प्रायः मुखरित हो उठा है। 'आंगन का पंछी और बनजारा मन' में वे लिखते हैं—

"गौरय्या मेरे लिए छोटी नहीं है, बहुत बड़ी है, वैसे ही जैसे मेरी दो साल की मिनी छोटी होते हुए भी मेरे लिए बहुत बड़ी है। बालसखा के संपादक मित्रवर सोहनलाल द्विवेदी ने एक बार मुझसे बालोपयोगी रचना मांगी। मैंने उन्हें मिनी का फोटोग्राफ भेज दिया और लिखा कि इससे बड़ी रचना मैं आज तक नहीं कर पाया हूँ।"

२. **वैयक्तिकता**—व्यक्तिपरक निबंधों में निबंधकार के व्यक्तित्व की विशेषताएँ उभर आती हैं। उदाहरणतः सियारामशरण गुप्त के निबन्ध देखे जा सकते हैं। आपका

१. हिन्दी साहित्य की नवीन विधाएँ—भूमिका लेखक—डा० सत्येन्द्र।

व्यक्तित्व आडम्बर रहित, स्वभाव सरल और निश्छल था तथा यह व्यक्तित्व निबंधों में समूर्त हो उठा है। बाबू गुलाबराय के अनुसार—"निबंधों में वैयक्तिकता की दृष्टि से सियाराम शरण गुप्त के निबंध बहुत ऊँचा स्थान पाते हैं।"

डा० रामचंद्र तिवारी ने भी लिखा है—"सियारामशरण गुप्त के निबंधों में उनकी आत्मा की आर्द्रता पूर्णतः प्रतिफलित हुई है।" कहीं लेखक का रुग्ण व्यक्तित्व, कहीं उसके अन्तर की संवेदनशीलता और कहीं उसके आदर्श व मान्यताएँ प्रकट हुई हैं। लेखक के व्यक्तित्व को संवेदनशीलता 'छुट्टी' नामक निबंध की इन पंक्तियों में देखिये, जहाँ एक विद्यार्थी की मृत्यु का हृदयस्पर्शी चित्रण हुआ है—

"बच्चे मदरसे से लौटकर आ गये हैं। घर-घर में सन्ध्या के दीपक जल उठे। सब कुछ हुआ, वही एक बच्चा लौटकर नहीं आया। घर पर उसकी पोथियों का बस्ता बंधा पड़ा है। मदरसे में किसी ने उसकी सुधि नहीं ली। अध्यापक उसे भूल गया है। भूली नहीं है, बच्चे की बेचारी माता। उसके हृदय-पटल में अब भी वह अंकित रहेगा। वहाँ से उसे छुट्टी नहीं मिल सकती।"

इसी प्रकार महादेवी जी के निबंधों में भी उनका कवि-हृदय और गरिमामय नारीत्व प्रतिबिंबित हो उठा है।

३. **भावुकता**—व्यक्तिपरक निबंधों में भावुकता का गुण अनुस्यूत रहता है। उदाहरण के लिए सरदार पूर्णसिंह के निबंध देखे जा सकते हैं, जो रस और भाव से छलक रहे हैं। भावुकता भरे छोटे-छोटे वाक्यों ने उनके निबंधों को सप्राण बना दिया है। उनका हृदय भावुकता से कितना सराबोर था, इसका प्रमाण उनके जीवन की एक घटना से लगाया जा सकता है। इनके घर पर साधु-सन्तों की सदैव भीड़ लगी रहती थी। एक दिन ये घर पर न थे, इनकी साध्वी पत्नी भी कार्य में व्यस्त थीं। उसी समय एक साधु आया। इनके पिता की साधुओं पर अधिक आस्था न थी। शायद वे कुछ बोल दिये और साधु बड़बड़ाते हुए वहाँ से जाने लगा। तभी पूर्णसिंह आ गये और उन्होंने साधु को बहुत मनाया। पर साधु का क्रोध शान्त न होता देख विह्वल होकर आंखों से आंसू बहाते हुए उसके पांवों पर गिर पड़े। अपने व्यक्तिगत जीवन में जो व्यक्ति इतना भावुक हो, उसके निबंधों में भावुकता का ओर-छोर कैसे रह सकता है? श्रृंगार का प्रसंग हो या करुणा का, वियोग हो या प्रेम अथवा देशप्रेम, उनकी लेखनी से रस की सरिता बांध तोड़कर बह निकलती है। डा० जयचंद्र राय ने लिखा है कि—

"ललित निबंध की जो धारणा आज प्रचलित है, उसका प्रत्यक्ष निदर्शन उनके तीन निबंधों—'आचरण की सभ्यता', 'मजदूरी और प्रेम' और 'सच्ची वीरता'—में मिल जाता है।"

पं० माखनलाल चतुर्वेदी के निबंधों में भी यह विशेषता पूर्णतः प्राप्त होती है। भावुकता से विभोर होकर निबंधकार कभी अपने अंतर के देश प्रेम को वाणी देता है तो कभी सामाजिक समस्याओं पर भावोद्गार व्यक्त करता है और कभी अपने अंतर

की करुणा, सहानुभूति और संबेदना को रूपायित करता है।

४. **विचारात्मकता**—वैयक्तिक निबंध भले ही मन की तरंग में लिखे जाते हों, पर उनमें विचारों का अभाव नहीं होता। जैसा कि आचार्य शुक्ल ने लिखा है—"व्यक्तिगत विशेषता से यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों की शृंखला रखी ही न जाय या जान-बूझ कर जगह-जगह से तोड़ दी जाय।"

इसी भाव को स्वीकार करते हुए डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—"निबंधों के व्यक्तिगत होने का अर्थ यह नहीं है कि उनमें विचार-शृंखला न हो। ऐसा होने से तो वे 'प्रलाप' कहे जायेंगे।

५. **व्यंग्य-विनोद**—भारतेन्दु युग में लिखे गये समस्त व्यक्तिपरक निबंधों में व्यंग्य-विनोद की सुन्दर छटा विद्यमान है। निम्न पंक्तियों में पं० बालकृष्ण भट्ट ने लोगों की 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' की मनोवृत्ति पर चुटीला व्यंग्य किया है—

"पढ़े लिखे बड़े भारी दिमाग, काम पड़े तो कहो ऐसा लेक्चर झाड़ें कि पक्के घंटे भर बाद दम लें किन्तु समय पर लेक्चर में कही हुई बात को करने में दुम दबाय कोसों दूर भागेंगे।"

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'आपने मेरी रचना पढ़ी' निबंध से व्यंग्य का एक उदाहरण देखिए—

"आसमान में निरन्तर मुक्का मारने में कम श्रम नहीं है और मैं निश्चित जानता हूँ कि रहस्यवादी आलोचना लिखना कुछ हंसी-खेल नहीं है। पुस्तक को छुआ तक नहीं और आलोचना ऐसी लिखी कि—त्रैलोक्य विकंपित! यह क्या कम साधना है?"

६. **स्वच्छन्दता**—स्वच्छंद रमण करना व्यक्तिपरक निबंधों की एक मुख्य विशेषता है। बात कहीं से आरंभ होती है और पता नहीं कहाँ से कहाँ पहुँचती है। लेखक स्वच्छन्द भावनाओं के साथ अपनी लेखनी चलाता है। अभी साहित्य की बात है तो अगले पल राजनीति, फिर घर-गृहस्थी और उसके बाद फिर साहित्य। उदाहरण के लिए बाबू गुलाबराय के 'शीर्षकहीन लेख' की निम्न पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

"नवीनता की धुन में कविता में प्रयोगवाद चल पड़ा है। उसमें छिपकली नहीं तो छिपकली जैसे विषयों पर कविताएँ लिखी गई हैं। मैंने भी छिपकली पर लेख लिखना चाहा। छिपकलियों का मेरे घर में बाहुल्य रहते हुए भी मैं उसके संबंध में इतना ही जानता हूँ कि वह साँप की भाँति अंडज है परन्तु यह नहीं जानता कि विकासक्रम में पहले सांप आया या छिपकली। उसके विषैले होने की कथाएँ भी सुनी थीं। मेरे फारसी के अध्यापक ने (उनका असली नाम तो याद नहीं रहा, उनको मौलवी मियाँजान कहते थे) एक फारसी प्रिय लाला की कथा सुनाई थी।"

७. **पांडित्य-प्रदर्शन**—पांडित्य भी एक आवश्यक तत्व है जिसके अभाव में व्यक्तिपरक निबंध में विचार-सूत्र का पल्लवन नहीं हो सकता है। पांडित्य-प्रदर्शन

द्वारा लेखक अपने निबंध में गुरुता और गंभीरता लाता है। ज्योतिष, दर्शन, पुरातत्व, भाषा-विज्ञान, इतिहास-पुराण के संदर्भ सामने लाकर वह निबंध को गांभीर्य प्रदान करता है। उदाहरण के लिए डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'आम फिर बौरा गये' नामक निबंध देखा जा सकता है। इसमें लेखक को सार रूप में केवल यह कहना था कि बसन्त के आगमन की अब कोई परवाह नहीं करता, पर इस बात को कहने के लिए लोक संस्कृति, लोक परम्परा, लोक विश्वास आदि व्यक्त किये गये हैं। साथ ही मदनोत्सव मनाने की परम्परा एवं पद्धति आदि का विशद विवेचन है। पुरातत्व व भाषा विज्ञान विषयक ज्ञान भी दिया गया है कि गेहूँ को 'गोधूम लता' कहते थे और यह एक घास थी जो पशुओं के जाड़े में मच्छर भगाने के लिए धुआँ करने के काम में आती थी। इस प्रकार विविध विषयों की जानकारी भी व्यक्तिपरक निबंधकार प्रदान करता है।

कलापरक विशेषताएँ

भाषा—ललित अथवा व्यक्तिपरक निबंधों की भाषा भी लालित्यपूर्ण रहती है। शब्दों की रुन-झुन पाठकों के हृदय में देर तक गूँजती रहती है। इनमें कहानी की सी रोचकता समाहित रहती है जो पाठकों को ऊबने नहीं देती। सूक्तियों का प्रयोग, कहावतों और मुहावरों का प्रयोग, अलंकारों की छटा भाषा को संपन्न बनाता है। प्रतापनारायण मिश्र के 'बात' निबंध में मुहावरों की लड़ी देखिए—

"बात बनती है, बात बिगड़ती है, बात आ पड़ती है, बात जाती रहती है, बात जमती है, बात उखड़ती है, बात खुलती है, बात छिपती है, बात चलती है, बात अड़ती है, हमारे तुम्हारे भी सभी काम बात पर निर्भर हैं।"

श्री शिवपूजन सहाय की कलम की नोंक पर भी न जाने कितने मुहावरे रहते हैं—

"अगर प्रकाशकों से लेखक चूसे और ठगे गये हैं, तो कितने ही लेखकों ने भी प्रकाशकों को चूना लगाया है और उल्टे छुरे से मूँड़ा है। कहीं-कहीं जैसे को तैसा मिला है, कहीं गेहूँ के साथ घुन पिस गया है, कहीं बुरे ने भले की राह बिगाड़ी है, कहीं दोनों ने लुटिया डुबोई है।"

डा० विद्यानिवास मिश्र के निबंधों से कुछ आलंकारिक भाषा के उदाहरण देखिए-—

(क) खीज कर मन रीत गया, जेठ के तीसरे पहर की बतास की तरह।

(ख) तुम्हारा बनजारापन तो छूट गया, पर मेरा बनजारापन नहीं छूटा, नख में लगे पावस की मेंहदी के रंग की तरह।

व्यक्तिपरक निबंधों में कोमलकांत पदावली का स्वरूप देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए कुबेरनाथ राय के 'महाकवि की तर्जनी' की निम्न पंक्तियों को देखिए—

"दूसरे दिन प्रातःकाल/तमसा तट/उंदुवर की एक शाखा पर दो क्रौंच पक्षी बैठे हैं और परस्पर चोंच से चोंच, गर्दन से गर्दन मिला रहे हैं। ये पक्षी साधारण क्रौंचों जैसे नहीं लगते। क्रौंच इतने सुन्दर, चित्र-विचित्र कहाँ होते हैं। ये नील-मराल हैं, या कश्यप समुद्र के नील सुपर्ण हैं, या किरातों के पीत सागर के अनामा मरकत पाँखी हैं जो पीत सागर से इरावती के स्रोत तक शरद और बसन्त का सन्देश बांटते चलते हैं।"

शैली—व्यक्तिपरक निबंधों में शैली के विविध रूपों के दर्शन होते हैं। कहीं शैली चित्रोपम होती है तो कहीं काव्यात्मक, कहीं भावात्मक होती है तो कहीं आलंकारिक।

चित्रोपम शैली के दर्शन पं० विद्यानिवास मिश्र के 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' की इन पंक्तियों में कीजिये—

"सबसे मार्मिक स्थल वहाँ का फूल बाग है, बेला की क्यारियों के बीच एक छोटा-सा मण्डप है। उस मंडप की छत एकदम जीर्ण-शीर्ण हो गई है। जैसे-तैसे ईंटों के खंभों पर थमी हुई है और असंख्य लाल भुजंगों से आक्रांत हरदौल की समाधि है।"

भावात्मक शैली के दर्शन जगदीशचंद्र माथुर के 'बोलते क्षण' की इन पंक्तियों में कीजिए—

"कृष्ण, कब मौन हुई है तुम्हारी बंसी ? कितने ही छितरे और एक दूसरे से विभिन्न गीतों ने तुम्हारी बंसी के छिद्रों में घोंसले बना रखे हैं। फिर भी वही तो बंसी है—एक !—वही तो महागान है, केवल एक।"

डा० प्रभाकर माचवे ने ललित निबंध लेखक के लिए इन गुणों का होना आवश्यक बताया है—

विद्वत्ता, फक्कड़पन, यायावरी वृत्ति, लोक-कथा प्रेम, सूक्ष्म विचार-शैली और गद्य काव्य की शैली।

डा० हरिनाथ द्विवेदी ने ललित निबंधों की निम्न विशेषताएँ बताई हैं—निःसंग वैज्ञानिकता, शब्द चिन्तन, वैयक्तिकता का संस्पर्श, पांडित्य प्रदर्शन, फक्कड़पन, यायावरी वृत्ति, लोकजीवन और लोक साहित्य के प्रति प्रेम, सूक्ष्म किन्तु प्रच्छन्न विचार शक्ति।

विकास-क्रम—व्यक्तिपरक निबंधों का आरंभ भारतेन्दु युग में हो गया था। प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त, माधवप्रसाद मिश्र, चंद्रधर शर्मा गुलेरी और पूर्णसिंह के निबंधों में इस विधा के बीज पाये जाते हैं। आचार्य शुक्ल ने व्यक्तिपरक निबंधों के लेखन में मील के पत्थर का काम किया। बाबू गुलाबराय ने इन निबंधों में हास्य और व्यंग्य का पुट दिया। 'मेरे निबंध' तथा 'मेरी असफलताएँ' के निबंधों में उनके व्यक्तित्व का संस्पर्श निहित है। डा० नगेन्द्र के शब्दों में, "अहंकार की उग्रता से मुक्त भीनी गंध इनके ललित निबंधों की प्रमुख विशेषता है।"

व्यक्तिपरक निबंध के क्षेत्र में पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का योगदान भी कम कीमती नहीं है।

'कुछ' और 'मकरंद बिंदु' में उनके अनेक व्यक्तिपरक निबंध मिलते हैं। शांतिप्रिय द्विवेदी के 'पथ-चिह्न' में भी अनेक ऐसे निबंध संकलित हैं। शिवपूजन सहाय के इस कोटि के निबंधों में मौज-मस्ती और जिंदादिली की बहार देखने योग्य है। सियारामशरण गुप्त का निष्कपट व्यक्तित्व उनके व्यक्तिपरक निबंधों में झलके बिना नहीं रहा है। मौज और मस्ती में डूबना हो तो माखनलाल चतुर्वेदी के 'साहित्य-देवता' के व्यक्तिपरक निबंध उठाये जा सकते हैं। राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, जैनेंद्र, उग्र, रायकृष्णदास, वासुदेवशरण अग्रवाल प्रभृति लेखकों के निबंधों में भी यत्र-तत्र व्यक्तिपरक निबंधों की झांकी मिल जाती है। लक्ष्मीकान्त झा के 'मैंने कहा' तथा भदन्त आनंद के 'जो मैं भूल न सका', 'जो मुझे लिखना पड़ा' आदि संग्रहों में भी व्यक्तिपरक निबंध मिलते हैं।

व्यक्तिपरक निबंधकारों में मूर्धन्य हैं—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी। उनके निबंधों में उनके व्यक्तित्व की झलक विद्यमान है। उनका अप्रतिम पांडित्य, इतिहास-पुरातत्व-प्रेम, मानवतावादी दृष्टिकोण उनके निबंधों में दिखाई देता है। "इनमें कल्पना की ऊँची-ऊँची उड़ानें हैं, भावनाओं का क्रीड़ा-विनोद है, संवेदनाओं की तीव्र बाढ़ है, अनुभूतियों की उद्दाम झंकार है, कवित्व की अद्‌भुत मधुरिमा है और वैयक्तिक जीवन की अमिट छाप है।"

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'अशोक के फूल', 'कल्पलता', 'कुटज' तथा 'आलोक पर्व' नामक निबंध-संग्रहों में विविध प्रकार के निबंध संगृहीत हैं। इनमें संकलित कुछ महत्वपूर्ण व्यक्तिपरक निबंधों के नाम हैं—अशोक के फूल, बसंत आ गया है, आपने मेरी रचना पढ़ी, एक कुत्ता और एक मैना, नाखून क्यों बढ़ते हैं, आम फिर बौरा गये, कुटज, देवदारू, हिमालय, अंधकार से जूझना है, आदि।

व्यक्तिपरक निबंधकारों में महादेवी वर्मा भी महत्वपूर्ण हैं। उनके व्यक्तित्व की झांकी उनके निबंधों में ऐसे स्थलों पर मिल जाती है, जहाँ उनकी करुणा, दया और ममता आदि झलकती है।

इस निबंध-धारा में अज्ञेय का नाम भी उल्लेखनीय है। 'आत्मनेपद' के अनेक निबंधों में उनका 'आत्मकथ्य' प्रधान हो गया है। मन से परे, जो न लिख सका, मैं क्यों लिखता हूँ, शारदीया धूप आदि निबंध इस दृष्टि से देखे जा सकते हैं। अज्ञेय के व्यक्तित्व का फक्कड़पन, यायावरी वृत्ति और मस्ती उनके निबंधों को लालित्य प्रदान करती है। 'लिखि कागद कोरे' संग्रह के भी अज्ञेय की अपनी निगाह में, 'लेखक के चारों ओर' जैसे निबंध व्यक्तिपरक है। 'आल बाल', 'जोग लिखी' संग्रहों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है।

डा० धर्मवीर भारती के 'पश्यन्ती', 'ठेले पर हिमालय' तथा 'कहनी अनकहनी' संग्रहों में भी कुछ व्यक्तिपरक निबंध मिलते हैं। इनमें भाषा की कोमल कांत पदावली,

माधुर्य आदि चाहे न हो पर फक्कड़पन, रवानगी, सहजता जैसी विशेषताएँ अवश्य विद्यमान हैं।

कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर ने 'महके आंगन चहके द्वार', तथा 'बाजे पायलिया के घंघरू' संग्रहों के अनेक व्यक्तिपरक निबंधों के द्वारा इस विधा को संपन्न बनाने में अपना योगदान दिया है। डा० नामवरसिंह की 'बकलम खुद' तथा डा० शिवप्रसाद सिंह की 'शिखरों का सेतु', 'कस्तूरी मृग' और 'चतुर्दिक' भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण कृतियां हैं। वह एक सशक्त व्यक्तिव्यंजक निबंधकार के रूप में हमारे सामने आते हैं।

पं० विद्यानिवास मिश्र का शक्तिपरक निबन्धों के क्षेत्र में अत्यंत गौरवशाली स्थान है उनका पहला निबन्ध संग्रह है 'छितवन की छांह', जिसमें लोकजीवन एवं लोकसंस्कृति से सम्बद्ध तथा प्रकृति परक वैयक्तिक निबन्ध संगृहीत है। 'कदम की फूली छांह' तथा 'आंगन का पंछी और 'बन जाएमन' उनके इसके बाद के निबन्ध संग्रह हैं। इन संग्रहों के महत्वपूर्ण निबन्ध हैं—आंगन का पंछी, पार्थिव धर्म, आम्र-मंजरी, दिये बाती का मेल आदि। 'मैंने सिल पहुंचाई' नामक निबन्ध संग्रह में विविध प्रकार के निबन्ध संगृहीत है, जिनमें कुछ प्रकृतिपरक, कुछ पत्रात्मक शैली में तथा कुछ समसामयिक ज्वलंत समस्याओं को लेकर लिखे गये हैं। 'बसंत आ गया पर कोई उत्कंठा नहीं' में भी अनेक निबंध समसामयिक प्रश्नों को लेकर लिखे गये हैं। इस संग्रह के कुछ महत्वपूर्ण व्यक्तिपरक निबन्ध हैं—बर्फ और धूप, अभी-अभी हूं अभी-अभी नहीं, बन्दउँ तव, बसन्त आ गया पर कोई उत्कंठा नहीं, अस्ति की पुकार—हिमालय, इन टूटे हुए दियों से काम चलाओ। 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' संग्रह के भी पूर्वार्द्ध के निबन्ध यात्रापरक तथा उत्तरार्द्ध के व्यक्तिपरक हैं। मेरे राम का मुकुट भीग रहा है, अयोध्या उदास लगती है, एक निर्वासित श्यामा तथा सावनी। स्वाधीनता इस संग्रह के श्रेष्ठ व्यक्तिपरक निबन्ध पर 'कटीले तारों के आर पार' संग्रह के व्यक्तिपरक निबन्ध भी उत्कृष्ट बन पड़े हैं। मिश्रजी का नवीनतम संग्रह 'कौन तू फुलवा बीननिहारी' है, जिसमें लोकजीवन, लोकसंस्कृति, राष्ट्रीय गौरव, समसामयिक समस्याओं का चित्रण आदि उभरकर सामने आया है।

डा० शिवप्रसाद सिंह ने लिखा है—"विद्यानिवास जी हिन्दी के एक सिद्धहस्त शैलीकार हैं।....गद्य उनके लिए निकष नहीं, जीवन है। परिणामतः इनकी भाषा में आपको भोजपुरी संस्कारिता, राप्ती की प्रखर धारा, हिमालय की तलहटी में रहने वाले व्यक्तित्व के उत्तुंग शृंग और संस्कत में पले एक खांटी ब्राह्मण की वदान्यता से पुष्ट वैदुष्य और सबके ऊपर एक आधुनिक बुद्धिजीवी की अपने ही भीतर के देवता और दैत्य से निरन्तर युद्धरत रहने की सरगर्मी भी मिलेगी।"

श्री जगदीशचन्द्र माथुर ने "बोलते क्षण' लिखकर व्यक्तिपरक निबन्धों के क्षेत्र में प्रवेश किया। मन की मौज और मस्ती उनके निबन्धों का प्राण है।

कुबेरनाथ राय ने व्यक्तिपरक निबन्धों की परम्परा को आगे बढ़ाने में महत्व-पूर्ण योगदान दिया है 'प्रिया नीलकंठी' उनका पहला निबन्ध संग्रह है। इसमें प्रकृति

पौराणिक मिथक एवं लोकवार्ता से सम्बद्ध सुन्दर व्यक्तिपरक निबन्ध संगृहीत हैं। 'रस आखेटक' में उनकी राजनीतिक चेतना, जागरुकता और बुद्धिजीवी का आक्रोश दर्शनीय है। 'गंधमादन' संग्रह में रिपोर्ताज और विषय प्रधान निबन्धों के साथ कुछ बहुत सुन्दर ललित निबन्ध भी समाहित हैं। 'विषाद योग' संग्रह के निबन्धों में लालित्य तो है, पर वैचारिकता को साथ लेकर है। इस संग्रह के पांच निबन्ध राम-कथा से सम्बद्ध हैं। 'निषाद बांसुरी' के निबन्धों में निषादों की लोक-संस्कृति एवं लोक-जीवन का उद्‌घाटन हुआ है। 'पर्ण मुकुट' में लेखक पुनः 'प्रिया नीलकंठी' की भावभूमि पर लौट आया है और प्रकृति सौंदर्य की माधुरी पर रीझ उठा है। भारतीय आर्यों की दार्शनिक-सांस्कृतिक यात्रा का इनमें समुज्ज्वल रूप समाहित है। 'महाकवि की तर्जनी' में लेखक केवल राम-कथा तक ही सीमित रहा है। 'कामधेनु' संग्रह में उनके शोधपूर्ण निबन्ध संगृहीत हैं।

इस विधा के एक नये हस्ताक्षर हैं—विवेकी राय। इन्हें भी आंचलिकता प्रिय है तथा संस्कृत साहित्य व भारतीय संस्कृति से अनुराग है।

निश्चय ही व्यक्तिपरक निबन्धों का भविष्य उज्ज्वल है। आज इनका जो समृद्ध रूप मिल रहा है, उस पर हम गर्व कर सकते हैं।

प्रश्न ९३—बिम्ब-विधान पर एक लघु लेख लिखिए।

बिम्ब साहित्य का महत्वपूर्ण तत्व है। इसका अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द Image है, जिसका अर्थ है किसी पदार्थ को समूर्त बनाना, चित्रबद्ध करना अथवा प्रतिबिम्बित करना। प्रसिद्ध पाश्चात्य समीक्षक लेविस इसे काव्य का शाश्वत धर्म स्वीकार करते हुए कहते हैं—"प्रवृत्तियाँ आती हैं, चली जाती हैं, भाषा परिवर्तित होती रहती है यहाँ तक कि तात्विक विषय-वस्तु तक बदल सकती है, किन्तु बिम्ब काव्य के प्राणतत्व के रूप में बना रहता है। यही बिम्ब काव्य की मुख्य कसौटी तथा कवि की कीर्ति का मूल है।"

प्रख्यात अंग्रेज़ी कवि ड्रायडन ने बिम्ब को "काव्य की महानता, उत्कृष्टता तथा जीवन्तता का विधायक" माना है। चित्रमयता काव्य-भाषा की अनिवार्यता है। तभी आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कहा है—"कविता में कही गई बात चित्र रूप में हमारे सामने आनी चाहिए। कविता में यह विशेषता बिम्ब योजना द्वारा ही आती है।" कविवर सुमित्रानंदन पन्त ने भी चित्रभाषा के महत्व को स्वीकार किया है—"कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है, उसके शब्द सस्वर होने चाहिए जो बोलते हों, सेब की तरह जिसके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े, जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झंकार में चित्र और चित्र में झंकार हों।"

भाषा में चित्रमयता बिम्ब-विधान द्वारा ही आती है। पाश्चात्य लेखक एजरा पाउन्ड ने तो यहाँ तक कहा है, "कवि द्वारा जीवन में अनेक ग्रंथों का निर्माण करने की अपेक्षा केवल एक सफल बिम्ब का सृजन कहीं अधिक श्रेष्ठ है।"

बिम्ब एक प्रकार का शब्द-चित्र होता है, परन्तु उसमें रेखाओं और रंगों के साथ-साथ भाव भी समायोजित रहता है। यदि वह भावोद्रेक करने में सक्षम नहीं है तो कितना भी सुन्दर क्यों न हो, सफल नहीं कहा जा सकता। इसीलिए डा० नगेन्द्र ने लिखा है, "काव्य-बिम्ब शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस-छवि है जिसके मूल में भाव की प्रेरणा रहती है।"

विभिन्न कोषों में बिम्ब को इस प्रकार परिभाषित किया गया है—

(क) व्यक्ति अथवा वस्तु का प्रत्यक्ष प्रतिवेदन।
(ख) मूर्त और दृष्ट प्रत्यंकन।
(ग) छाया और प्रतिच्छाया चित्र।
(घ) किसी पदार्थ की मानसी प्रतिकृति।
(ङ) सजीव या निर्जीव का प्रतिबिम्ब।
(च) शाब्दिक चित्र मात्र।

बिम्ब की सृजन-प्रक्रिया में भाव के साथ-साथ कुछ अन्य तत्व भी समाविष्ट रहते हैं। ये हैं—कल्पना, स्मृति, ज्ञानेन्द्रियां, सार्थक भाषा आदि। कल्पना हृदय में प्रसुप्त अनुभूतियों को जागृत करती है तथा अमूर्त छाया प्रतिमाओं का बिम्ब ग्रहण करती है। स्मृति भी बिम्ब-निर्माण में अपना सहयोग देती है लेविस ने लिखा है, "बिम्बोत्पादन का संबंध धूमिल अवचेतन को स्पष्ट करने वाली मानसिक प्रक्रिया से है।" सार्थक शब्द बिम्बांकन को मूर्त करते हैं। एक पाश्चात्य विचारक के अनुसार, "बिम्ब मात्र सज्जा नहीं, वरन् सहज भाषा का सार होते हैं!"

बिम्ब के गुण—बिम्ब के सफल और सार्थक होने के लिए उसमें कुछ गुणों का होना आवश्यक है। उसमें नवीनता होनी चाहिए। पुराने घिसे-पिटे और रूढ़ बिम्ब नवीनता प्रेमी पाठक को आकृष्ट नहीं कर सकते। बदलते हुए जीवन-मूल्य, नवीन सन्दर्भ, जन-जागरण के नये पहलू और दिशाएँ भी इस बात की अपेक्षा करते हैं कि कविता में नये बिम्बों का प्रवेश हो। कविवर सुमित्रानंदन पन्त की मान्यता है—

'पुरातनता का यह निर्मोक
सहन करती न प्रकृति पल एक

जर्जर प्राचीन के ध्वन्सावशेष पर नवीन प्रादुर्भूत होता है। किन्तु इसका यह आशय नहीं कि केवल नवीनता की सृष्टि के लिए अटपटे, बेमेल और हास्यास्पद बिम्बों का विधान किया जाये। नवीनता वहीं तक लानी चाहिए, जहाँ तक वह भावोद्दीपन में समर्थ हो। नवीन बिम्बों का प्रयोग करते समय साहित्यकार को यह ध्यान रखना चाहिए कि वे केवल चमत्कार-सृष्टि ही न करें अपितु अपनी संवेदनशीलता और मार्मिकता में भी विशिष्ट हों।

बिम्ब विषयानुरूप भी होना चाहिए। यदि वह विषय के अनुरूप न होगा तो अभीष्ट सफलता न पा सकेगा।

विम्ब के लिए ताजगी एवं सघनता भी आवश्यक गुण हैं। उसकी भाषा, शैली आदि ऐसी हो जो पाठक को चमत्कृत बना दे और वह यह सोचने पर विवश हो जाये कि अभी तक यह इतना सुन्दर सादृश्य मेरे ध्यान में क्यों नहीं आया था? सघनता तभी आती है जब कवि का भावा पर अबाध अधिकार होता है। तभी वह ऐसा सार्थक विम्ब प्रस्तुत करता है कि पाठक मन्त्रमुग्ध हो जाता है। कम-से-कम शब्दों में विराट अनुभूति का चित्रण कर सकने में सफल होता है।

बिम्ब स्वाभाविक भी होने चाहिए। यदि उनमें कृत्रिमता है तो वे क्षणिक चमत्कार भले ही उत्पन्न कर दें, गहन प्रभाव डालने में असमर्थ रहेंगे।

विम्ब के कुछ अन्य आवश्यक गुण इस प्रकार हैं—

१. पूर्व स्मृति को जाग्रत करने की क्षमता।

२. तीव्र भावोद्रेक।

३. अभिनव अभिव्यक्ति।

४. उर्वरता।

५. संगति।

बिम्बों का वर्गीकरण

विम्बों का वर्गीकरण अनेक आधारों पर किया गया है—

१. **सृजन प्रेरणा पर आधारित बिम्ब**—ये विम्ब दो कोटियों में विभक्त किये जा सकते हैं—स्मृति पर आधारित बिम्ब, जो स्मृत बिम्ब कहलाते हैं तथा कल्पना पर आधारित बिम्ब, जो कल्पित बिम्ब कहलाते हैं।

२. **ज्ञानेन्द्रियों पर आधारित संवेद्य बिम्ब**—इन बिम्बों का आधार ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं। संवेदनापरक होने के कारण वे संवेद्य बिम्ब भी कहलाते हैं। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के आधार पर इन्हें पाँच भागों में विभक्त किया गया है—चाक्षुष, श्रौत, स्पृश्य, घ्रातव्य और रस्य।

३. **वर्ण्य-विषय पर आधारित बिम्ब**—इन बिम्बों को भी दो भागों में विभक्त किया गया है—सरल बिम्ब तथा संश्लिष्ट बिम्ब। सरल बिम्ब वे होते हैं जिनमें सरल सादृश्यमूलक अभिव्यक्ति के द्वारा बिम्ब विधान किया जाता है। संश्लिष्ट विम्ब वे होते हैं जिनमें अनेक उपादानों का सहारा लेकर संश्लिष्ट, भाव संकुल बिम्बांकन किया जाता है।

४. **अनुभूतिपरक बिम्ब**—जीवन और जगत् की तीव्र अनुभूतियों के आधार पर अनुभूतिपरक बिम्बों का निर्माण होते हैं। इनके भी दो उपविभाग हैं—विवृत बिम्ब, जिन्हें खण्डित बिम्ब भी कहते हैं, तथा संवृत बिम्ब, जिन्हें पूर्ण बिम्ब कहा जाता है। प्रथम में बिम्ब पूर्ण रूप से नहीं उभरता वरन् उसका खण्डित रूप सामने आता है। द्वितीय में बिम्ब अपनी सम्पूर्ण ऊष्मा के साथ रूपायित हो उठता है और उसका स्पष्ट व समग्र रूप सामने आता है।

५. अभिव्यंजना पर आधारित बिम्ब—अभिव्यंजना पर आधारित बिम्ब भी दो प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्ष बिम्ब व अलंकृत बिम्ब। जिन बिम्बों के चित्रांकन में अलंकरण का उपयोग न्यूनतम होता है तथा जहाँ प्रत्यक्ष विवरण को ही आधार मानकर बिम्बांकन किया जाता है, उन्हें प्रत्यक्ष बिम्ब कहते हैं। ऐसे बिम्ब विषयवस्तु को यथातथ्य उभारने में सक्षम होते हैं। जहाँ अलंकरण का उपयोग करते हुए बिम्ब-विधान किया जाता है वहाँ अलंकृत बिम्ब होता है।

उपर्युक्त कोटियों के अतिरिक्त बिम्बों के और भी बहुत से रूप हो सकते हैं। बिम्ब स्थिर अथवा गत्यात्मक हो सकता है। रंगों पर आधृत बिम्ब भी हो सकते हैं। कवि अपने रचना-कौशल द्वारा नये-नये बिम्बों की सृष्टि कर लेता है। कुछ बिम्बों के उदाहरण इस प्रकार देखे जा सकते हैं—

(क) स्पृश बिम्ब— **सेमल की गरमीली हल्की रुई समान**
जाड़ों की धूप खिली असमान में।
(गिरिजाकुमार माथुर)

(ख) अनुभूतिपरक बिम्ब— **ढल गई शाम**
अब रात साँवली सूनी-सूनी उठ आई
दीपक की लौ पर काजल की ज्यों रेखाएं।
(गिरिजाकुमार माथुर)

(ग) अलंकृत बिम्ब— **चाँद पूरा साफ**
आर्ट पेपर ज्यों कटा हो गोल।
(गिरिजाकुमार माथुर)

तथा

कभी आँगन में अकेले सद्यः जागे मुग्ध शिशु जैसा
स्वतः सम्पूर्ण
तारा चमक आता है।
(अज्ञेय)

(घ) गत्यात्मक बिम्ब— **आ रही वह खोल झोंटा**
एक पुटली एक लोटा
थूंक सुरती पोंछ डाला
शीघ्र अपना होंठ मोटा
एक क्षण पिचके कपोलों में गई कुछ दौड़ लाली
चल रही उसकी कुदाली।
(शिवमंगल सिंह सुमन)

(क) **बिम्ब और कल्पना**—बिम्ब और कल्पना में कार्य-कारण का-सा घनिष्ट संबंध है। मानव के दृष्टि-पथ से ओझल हो जाने के उपरान्त भी पदार्थ विशेष सुप्त संस्कारों के रूप में उसके अन्तःपटल पर विद्यमान रहता है। इन प्रसुप्त संस्कारों को

जागृत करके उनका बिम्ब ग्रहण कराने वाला उपादान कल्पना ही है। डा० कृष्णकान्त शर्मा के मतानुसार, "कल्पना मानव मस्तिष्क की एक विशिष्ट प्रक्रिया है जो अपने सचेष्ट क्षणों में उन नूतन और अनेक रूप छाया-छवियों का बिम्ब ग्रहण किया करती है जो कभी दृष्टिपथ या अनुभूति की परिधि में आ जाने के कारण अन्त:पटल पर सुप्त अथवा जागृत संस्कारों के रूप में पड़ी रहती हैं।" निर्विवाद रूप से कल्पना बिम्ब प्रक्रिया का एक आधारभूत सहधर्मी आदान है।

(ख) **बिम्ब एवं प्रतीक**—बिम्ब एवं प्रतीक में साम्य एवं वैषम्य दोनों हैं। पहले हम इनके वैषम्ब पर विचार करेंगे—

१. प्रतीक संक्षिप्त तथा सांकेतिक होता है जबकि बिम्ब यथातथ्य व सर्वाङ्गीण है।

२. प्रतीक सदैव विशिष्ट वस्तुओं का ही प्रतिनिधित्व करता है जबकि बिम्ब द्वारा अविच्छिन्न वस्तु-व्यापार का भी प्रतिपादन होता है।

३. प्रतीक का अर्थ परम्परामूलक होने के कारण सबके लिए समान होता है जबकि बिम्ब का अर्थ प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वानुभव के आधार पर ग्रहण करता है।

४. प्रतीक परम्परा-सापेक्ष होता है, जबकि बिम्ब सर्वथा मौलिक।

५. प्रतीक एकार्थ व्यंजक होता है, जबकि बिम्ब अनेकार्थ व्यंजक।

प्रतीक एवं बिम्ब में साम्य यही है कि दोनों ही किसी अदृश्य या अव्यक्त सत्ता के दृश्य या व्यक्त रूप हैं।

बिम्ब एवं प्रतीक की समानधर्मिता पर विचार करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है—"प्रतीक एक प्रकार का अचल बिम्ब है, जिसके आयाम सिमटकर अपने भीतर बन्द हो जाते हैं।"

(ग) **बिम्ब एवं उपमान**—यद्यपि उपमान और बिम्ब एक दूसरे के बहुत निकट हैं किन्तु उपमान की अपेक्षा बिम्ब की परिधि व्यापक है। उपमान मात्र अप्रस्तुत होता है, जबकि बिम्ब प्रस्तुत व अप्रस्तुत दोनों हो सकता है। उपमान के लिए भाव-संवेद्य होना आवश्यक नहीं क्योंकि उसका प्रधान लक्ष्य सादृश्य प्रस्तुत करना है। इसके विपरीत बिम्ब को सदैव भाव प्रेरित होना चाहिए। उपमान मूर्त एवं अमूर्त दोनों प्रकार के होते हैं। अमूर्त उपमानों के बार-बार आने से बिम्ब विशृंखलित हो सकता है। किन्तु मूर्त उपमानों के प्रयोग से सुन्दर, सार्थक और पूर्ण बिम्ब का निर्माण होता है।

बिम्ब एवं अलंकार—अलंकार भी बिम्ब-सृजन की प्रक्रिया में अपना योगदान देते हैं। किन्तु इस संबंध में ध्यान रखना चाहिए कि वे बिम्ब को दुरुह तथा बोझिल न बनावें। यदि अलंकरण से बिम्ब स्पष्ट न उभरे तो उसकी कोई सार्थकता नहीं है। जो सादृश्यमूलक अलंकार ऐंद्रियता, मूर्तिमत्ता तथा भावोद्रेक से आपूरित बिम्ब का का निर्माण कर सकें उन्हीं की बिम्ब-निर्माण में यथार्थ उपयोगिता है।

बिम्ब-योजना के प्रमुख कार्य—साहित्य-सृजन की पृष्ठभूमि में बिम्ब अनेक

महत्वपूर्ण कार्य करता है। वह कवि अथवा कलाकार के मस्तिष्क में प्रसुप्त भावों को जगाता है तथा कलाकार की रचना-प्रक्रिया से उनका तादात्म्य स्थापित करता है। कौसानी के पर्वतीय सौंदर्य ने कविवर पन्त के चतुर्दिक अपने नीरव सम्मोहन का जाल बुन दिया था। उन विगत स्मृतियों का तादात्म्य कवि को बिम्ब-विधान द्वारा ही होता है।

बिम्ब-योजना का दूसरा प्रमुख कार्य अन्तःकरण में स्थित संवेदनाओं को जाग्रत कर उन्हें तीव्रता प्रदान करना है। आई० ए० रिचर्डस के मतानुसार बिम्ब की सारी गरिमा संवेदना में ही निर्मित है—"बिम्ब का महत्व इसीलिए है कि यह संवेदना का प्रतिनिधित्व करता है।"

बिम्ब का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य अमूर्त भावों का मूर्तिकरण करना है। पाश्चात्य विचारक जी० ह्वले के अनुसार, "अमूर्त भावों के अभिव्यक्त मूर्त रूप को ही बिम्ब कहते हैं।" अज्ञेय की निम्न पंक्तियाँ हल्के विषाद की सृष्टि करने वाले भाव बिम्ब का सुन्दर उदाहरण है—

> "सीपियों से ये शुभ्र नीलम
> दर्द की आँखें फटी-सी
> जो कभी अब नहीं मोती दे सकेंगी।"

बिम्ब का एक अन्य कार्य प्रभावात्मकता की सृष्टि है। निराला की निम्न पंक्तियां प्रभावात्मकता में बेजोड़ हैं जिनके द्वारा भिक्षुक का बिम्ब प्रस्तुत किया गया है—

> "वह आता—
> दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
> पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
> चल रहा लकुटिया टेक,
> मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को,
> मुंह फटी-पुरानी झोली का फैलाता।

बिम्ब-विधान से रचनाकार के भावनात्मक तथा रागात्मक संबंधों का प्रकाशन भी होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बिम्ब साहित्य का अतीव उपयोगी अवयव है। यह काव्य को उत्कृष्ट व जीवन्त बनाता है और उसमें मूर्तिमत्ता की सृष्टि करता है। उत्तम काव्य-रचना के लिए सफल बिम्ब विधान अत्यंत आवश्यक है।